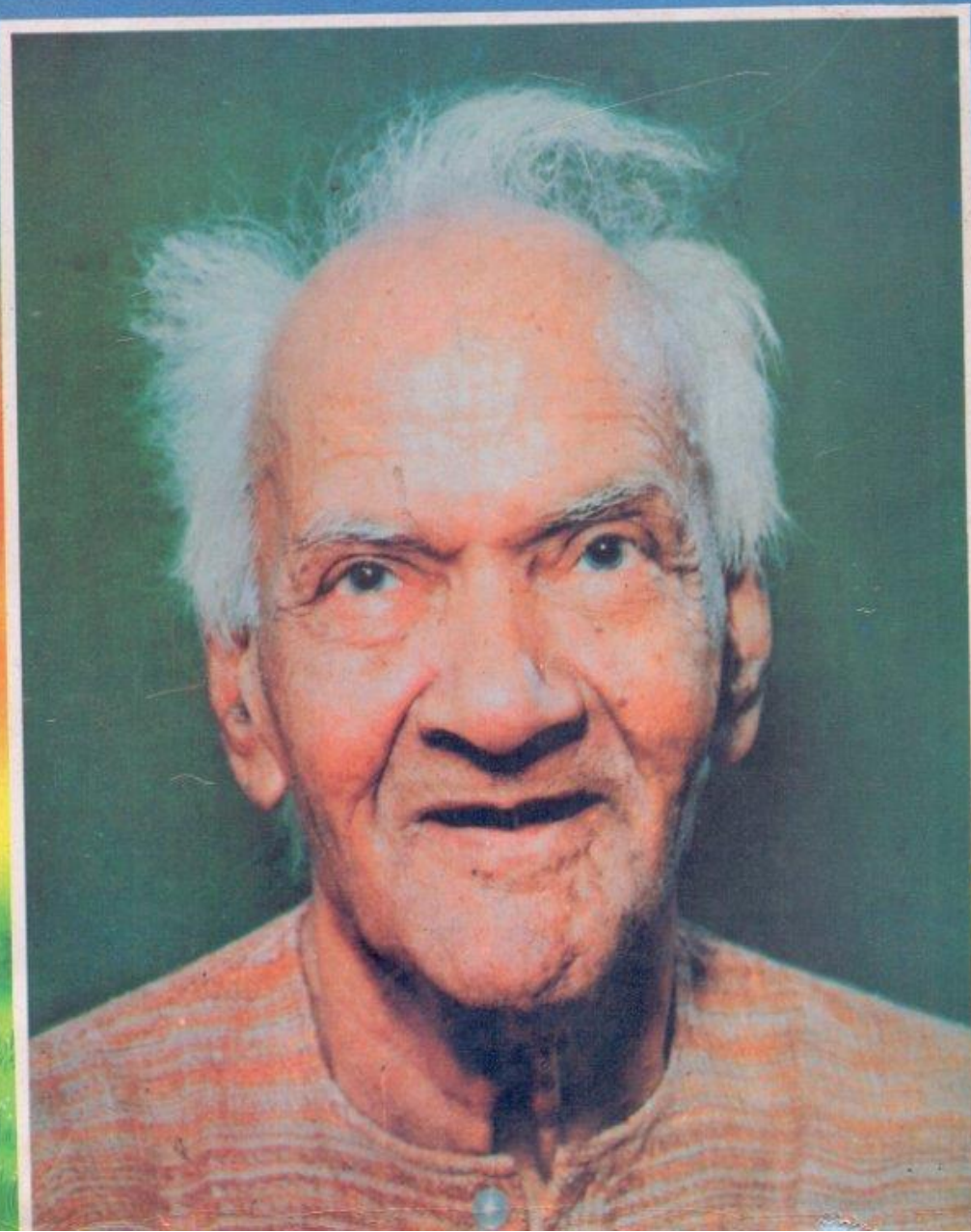


पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण



प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा-२८१ ००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८g

www.vicharkrantibooks.org

|



मूल्य १२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा

समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

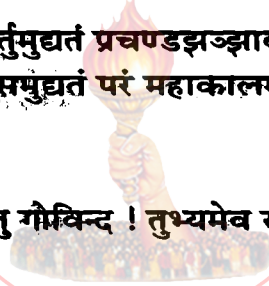
मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसन्तान्यै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ॥

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृत्तिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।



भूमिका

आज के बालक ही कल के विश्व के, इक्कीसवीं सदी के नागरिक होंगे। उनका निर्माण उनकी परिपक्व आयु उपलब्ध होने पर नहीं, बाल्यकाल में ही संभव है, जब उनमें संस्कारों का समावेश किया जाता है। संतानोत्पादन के बाद सबसे महत्वपूर्ण उपक्रम है उन्हें बड़ा करना, उन्हें शिक्षा व विद्या दोनों देना तथा संस्कारों से अनुप्राणित कर उनके समग्र विकास को गतिशील बनाना। सद्गुणों की सम्पत्ति ही वह निधि है जो बालकों का सही निर्माण कर सकती है। इसी धुरी पर वाङ्मय का यह खण्ड केन्द्रित है।

परमपूज्य गुरुदेव लिखते हैं कि अन्यान्य पशु, जीव-जन्तु आदि प्रकृति प्रेरणा से ही अपना विकास कर वैसा जीवन जीने लगते हैं जैसा कि शिशुनोदर परायण होने के नाते उन्हें जीना चाहिए। भ्रूण से विकसित होते ही जल की मछली अपना भोजन अपने आप ढूँढ़ लेती है, कुत्ते अपना ठिकाना जमा लेते हैं किंतु अभागे इन्सान के बच्चे में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह पास लेटी माँ के स्तन को ढूँढ़ कर अपनी क्षुधा-तृप्ति कर सके। वह तो मात्र रोना जानता है। गीली मिट्टी की तरह वह बच्चा जिस साँचे में ढाला जाएगा, ढलता चला जाता है। बच्चा निश्चित ही कुछ संस्कारों को पूर्व जन्म की संचित निधि के रूप में साथ लाता है, फिर भी उसका विकास बहुत अधिक माता-पिता, शिक्षक, गुरु एवं वातावरण पर निर्भर करता है। उपेक्षा और उदासीनता के द्वारा जिस प्रकार बच्चों को क्रूर एवं निकम्मा बनाया जाता है, उसी प्रकार प्रयत्न और भावनापूर्वक उन्हें तेजस्वी और मन्स्वी भी बनाया जा सकता है, प्राचीनकाल में यही व्यवस्था थी। प्यार के साथ सुधार की, तप-तितीक्षा-योगाभ्यास की व्यवस्था बनी रहने से एक समग्र व्यक्तित्व विकसित होता था। दुर्भाग्य से अपने देश से वह वातावरण गुरुकुलों, आश्रमों, आरण्यकों के समापन के साथ ही समाप्त होता चला गया, इसीलिए आज हमारी संतति निस्तेज, खोखली होती चली जा रही है। यह हमारी उपेक्षा, वातावरण की विषाक्तता एवं सांस्कृतिक मूल्यों को भूल जाने का ही परिणाम है। भोगवाद की दौड़ में हमने संततियों की उपेक्षा की है, उसी का परिणाम आज भोग रहे हैं।

बालक-बालिकाओं के निर्माण में माता का अंश अधिक होता है। पिता तो बिन्दु मात्र का सहयोगी होता है, शेष रचना तो माता करती है। नौ माह तक वह अपने गर्भ में अपने जीवन तत्व से उसे पालती और जन्म के बाद भी स्तनों द्वारा अपना जीवन तत्व पिलाकर अनेक वर्षों तक उसे पालती है। जब तक उसके शरीर व चेतना का विकास नहीं हुआ होता है, वह माता पर ही निर्भर होता है। भविष्य का सारा स्वरूप गर्भावस्था से किशोरावस्था तक दिए गए शिक्षण के अनुसार ही निर्धारित होता है। वस्तुतः माता जिस तरह के संकल्प और विचार बच्चे में पैदा करती है, वैसी ही उसमें ग्रहणशीलता का आविर्भाव हो जाता है और बाद में उसी तरह के तत्व वह संसार में ढूँढ़ कर अपने संस्कारजन्य गुणों में वृद्धि करता चला जाता है। संस्कारवान माताएँ बच्चों के चरित्र की नींव बाल्यावस्था में डालती हैं, जबकि उन्हें दिग्भ्रान्त कर आचरणहीन बनाने में भी प्रमुखतः हाथ उन्हीं का होता है।

शिशु-अवस्था वस्तुतः कोरे कागज के समान है। इस कोरे कागज पर चाहे काली स्याही से लिख दें अथवा रंगीन कलाकृति ढाल दें। बालक वस्तुतः उस रूप में ढलता चला जाता है जैसा वह बड़ों को, औरों को करते देखता है। माँ के साथ वह पिता, मित्रों, परिवेश, अपने शिक्षकों को देखता है व उनके आचरण के अनुरूप ही ढलता चला जाता है। परमपूज्य गुरुदेव इस नाजुक अवस्था का विशद् विवेचन कर मनोवैज्ञानिक आधार पर यह प्रतिपादन करने का प्रयास करते हैं

कि यदि इस समय का सही उपयोग कर संस्कारों की गहरी छाप डाली जा सके तो जैसा हम चाहते हैं, वैसा ही नागरिक ढाला जा सकना संभव है। पूज्यवर लिखते हैं कि प्रेम, प्रोत्साहन, सम्मान तथा सुरक्षा की आवश्यकता बड़ों से अधिक बच्चों को है। एक अनचाहा, उपेक्षित बच्चा एक रोगी व समस्यापूर्ण बच्चा ही नहीं, अपराधी भी बन सकता है। मात्र थोड़े से स्नेह व दुलार-सुधार की समन्वित नीति से बच्चों को वह दिशा दी जा सकती है जिससे वे राष्ट्र के एक जिम्मेदार नागरिक बन सकें।

वाङ्मय के इस खण्ड में अनेकानेक उदाहरणों के साथ माता-पिता, वातावरण एवं शिक्षा-दीक्षा से बालकों के विकास की प्रक्रिया का विवेचन अनेकानेक प्रतिपादनों के साथ प्रस्तुत किया गया है। बाल मनोविज्ञान पर पूज्यवर की बड़ी गहरी पकड़ दिखाई देती है एवं जन्म से पूर्व से लेकर किशोरावस्था तक के विकास के एक भी पक्ष को उनने छोड़ा नहीं है। निश्चित ही समाज एवं राष्ट्र के नवनिर्माण के विषय में चिन्तित रहने वालों के लिए यह वाङ्मय का खण्ड एक बहुमूल्य सामग्री का प्रस्तुतीकरण कर उनका सही मार्गदर्शन करेगा।

सबसे विलक्षण पक्ष तो इसका यह है कि इसमें सभ्यता एवं संस्कृति के समन्वित विकास का बड़ा ही व्यावहारिक प्रस्तुतीकरण है। सभ्यता की दृष्टि से बहिरंग जीवन में कैसा व्यवहार बालकों का होना चाहिए- शालीनता, सुव्यवस्था, समय की पाबंदी, नागरिकों नियमों का पालन, सहकारिता आदि सद्गुणों को किस कुशलता के साथ बच्चों के जीवन में प्रविष्ट कराया जाय इसका आमूलचूल शिक्षण इस खण्ड में उपलब्ध है। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से बच्चों में जिज्ञासा की सहज वृत्ति का समाधान, संवेदनशीलता का जागरण व व्यावहारिक नियोजन, सहृदयता-परमार्थ-परायणता-आस्तिकता, बड़ों के प्रति सम्मान व कृतज्ञता आदि सत्प्रवृत्तियों के दैनन्दिन जीवन में समावेश का बिन्दुवार शिक्षण परिजन इसमें पा सकते हैं।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि राष्ट्र का आधार है समर्थ सशक्त भावी पीढ़ी, जो संस्कारवान हो। आज के आस्था-संकट व सांस्कृतिक प्रदूषण के युग में यह एक अनिवार्य आवश्यकता है कि भौतिक विकास के साथ-साथ बालकों के भावनात्मक नवनिर्माण व सर्वांगीण विकास पर भी समान रूप से ध्यान दिया जाय। उस संबंध में क्या किया जाय, कैसे किया जाय, यह समग्र मार्गदर्शन वाङ्मय के इस खण्ड में मिलता है।

—ब्रह्मवर्चस

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनो का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवन्दनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीयों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट् परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनो के अन्तःस्तल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो इनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विश्वज्ञ से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनसे चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए भौच में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनसे प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनसे संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साधियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनसे भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनसे झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनसे मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनसे पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनसे प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिधर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनसे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनसे अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनसे परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अन्तःस्तल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भावभरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रान्ति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनसे महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलधाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्रद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अध्याय-१		स्तनपान बच्चे के स्वास्थ्य का वरदान	१.४८
सुसंतति-निर्माण का शुभारम्भ कहाँ से		दुग्धपान बनाम पयपान	१.४९
और कैसे हो ?	१.१	सन्तान के व्यक्तित्व का आरम्भ	१.५२
चरित्रवान माता-पिता ही सुसंस्कृत संतान		बच्चों के सुशिक्षण का शुभारम्भ	१.५४
बनाते हैं	१.१	सांस्कृतिक उत्थान की नींव बाल-उत्थान	१.५५
शिशु-निर्माण माता के गर्भ में	१.२	शिशु को आहार और सहयोग ही नहीं	
शिशु का निर्माण गर्भावस्था से	१.३	स्नेह भी चाहिए	१.५७
औषधि अवघ्राण	१.६	शैशव का विकास-क्रम	१.५९
आश्वास्तना	१.७	प्रजनन-एक आमन्त्रित संकट	१.६३
चरु प्रदान	१.८	आमन्त्रितों को दुर्दशा के गर्त में न धकेलें	१.६४
सद्भाव एवं शुभकामना संचय	१.९	संतान को सुसंस्कारवान भी बनाएँ	१.६६
गर्भ में बालक का विकास	१.१०	भावी पीढ़ी की चिन्ताजनक स्थिति	१.६८
गर्भस्थ शिशु का पोषण	१.११	हम कहते हैं कि हम बुद्धिमान हैं	१.६९
गर्भवती स्त्री की सावधानियाँ	१.१२	भावी पीढ़ी का निर्माण यों कीजिए	१.७०
गर्भवती की परिचर्या	१.१५	बच्चों का नैतिक विकास	१.७२
पारिवारिक वातावरण और गर्भिणी के प्रति		बच्चों का निर्माण वाणी से नहीं, आचरण	
उनका कर्तव्य	१.१६	से किया जाए	१.७८
गर्भिणी की इच्छाओं की पूर्ति	१.१८	पहले अभिभावकों को ही शालीनता का	
वंशानुक्रम तथा वातावरण का प्रभाव	१.१९	पाठ पढ़ना पड़ेगा	१.७९
नामकरण संस्कार	१.२१	बाल मनोविज्ञान को समझें, उन्हें सही	
नामकरण संस्कार का उद्देश्य	१.२१	दिशा दें	१.८०
अन्नप्राशन संस्कार	१.२३	बच्चों को कहानियाँ सुनाइए	१.८१
विद्यारम्भ संस्कार	१.२६	कथा-कहानियों का महत्व समझें	१.८५
बच्चे की प्रारम्भिक देखभाल	१.२८	बच्चों को कहानियाँ ऐसे सुनाएँ	१.८६
शिशुओं के साथ सावधानी बरतें	१.३१	हारिये न हिम्मत	१.९१
छोटे बालकों की स्वास्थ्य समस्याएँ	१.३३	मनुष्य मात्र एक कोरा कागज है	१.९५
बालकों को स्वस्थ बनाइए	१.३४	नन्हें शिशुओं की प्रकृति का अध्ययन	
छोटे बच्चे रोते क्यों हैं	१.३६	कीजिए	१.९५
बच्चों को दूध पिलाने का महत्व ठीक		बच्चों के सद्गुण जगाये और बढ़ाये जाएँ	१.९७
से समझें	१.३८	बच्चों का निर्माण-आवश्यक सावधानियाँ	१.९९
भावी पीढ़ी को इस अमृत से वंचित न करें	१.४०	बच्चों का निर्माण उपदेश से नहीं	
डिब्बे का नहीं, माँ का दूध पिलाएँ	१.४२	आचरण से	१.१०१
माताएँ शिशुओं को स्तनपान कराने में		बालकों के निर्माण में अभिभावकों के	
संकोच न करें	१.४३	उत्तरदायित्व	१.१०३
माँ का दूध-अमृत समान	१.४७	बच्चे ऐसे सुधारे जाते हैं	१.१०४

विषय

बाल-निर्माण में अभिभावकों का योगदान
माँ के दिए संस्कार सफल हुए
अभिभावक अपना कर्तव्य समझें
और निवाहें
एक्टिंग कैसी रही ?
बच्चों का पालन-पोषण कैसे करें ?
निर्दयता का दुष्परिणाम भी नृशंस ही
नवनिर्माण में नारी का योगदान आवश्यक
बच्चों को आत्महीनता के दोष से बचायें
बालकों में चौरवृत्ति न आने दें
बच्चे जन्म से अपराधी नहीं होते
बच्चे अपराधी क्यों बनते हैं ?
बालकों को अपराधी बनाने वाला-
अपराधी समाज
बढ़ते हुए बाल अपराध
बाल अपराध बढ़े तो राष्ट्र गिर जाएगा
बालकों में अपराध-वृत्ति और उसके कारण
बाल अपराध-कारण और निवारण
बच्चों का सुधार कैसे हो ?
बालकों को रचनात्मक ढंग से सुधारें
बच्चों की दण्ड व्यवस्था
क्या दण्ड से बच्चे सुधरते हैं ?
समझाने से काम न चले तो ही प्रताड़ना
की जाए
बच्चों को प्रताड़ना नहीं, प्रेरणा की
जरूरत है
बच्चों को प्रेम से सुधारिए
बच्चे चाहते क्या हैं ?
बच्चे घर छोड़कर क्यों भागते हैं ?
बच्चों का घर से मोह भंग क्यों होता है ?
बच्चों का घर से पलायन-एक घातक
सामाजिक रोग
अध्याय-२
बालकों की शिक्षा ही नहीं, दीक्षा भी
आवश्यक है
बच्चों को स्कूल ऐसे भेजें

पृष्ठ विषय

१.१०५ बच्चों को स्कूल भेजकर ही निश्चित न
१.१०६ हो जाएँ २.२
पाठशाला भेजने के साथ यह भी ध्यान रखें २.३
१.१०८ बच्चे घर की पाठशाला में २.५
१.१०९ बच्चों की शिक्षा और छोटी-छोटी बातें २.७
१.११० बच्चे पढ़ने से जी क्यों चुराते हैं २.९
१.११२ बच्चों को पढ़ाई के लिए घर से प्रोत्साहन
१.११२ मिले २.११
१.११४ बच्चों का अवकाश काल इस तरह बीते २.१३
१.११५ बच्चों में स्वाध्याय की सुरुचि विकसित करें २.१५
१.११६ बालकों के लिए सत्साहित्य जुटाया जाये २.१६
१.११८ बच्चों के संस्कार निर्माण में बाल-साहित्य
का योगदान २.१८
१.१२० बच्चे क्या पढ़ें, क्या न पढ़ें? २.१९
१.१२१ बच्चों को क्यों और कैसी पुस्तकें पढ़ाएँ ? २.२०
१.१२२ अपनी और बच्चों की मानसिक भूख का
१.१२४ ध्यान भी रखें २.२२
१.१२८ केवल पुस्तकीय शिक्षा ही नहीं, बच्चों को
१.१३० अनुभवीय ज्ञान भी दीजिए २.२३
१.१३१ शिक्षा के साथ संस्कारों की अनिवार्य
१.१३२ आवश्यकता २.२५
१.१३५ बच्चों को शिक्षा ही नहीं, दीक्षा भी
दी जाए २.२६
१.१३६ बालकों की शिक्षा में चरित्र-निर्माण
का स्थान २.२८
१.१३७ गुरुजनों का सम्मान २.२९
१.१३८ बालकों की शिक्षा और संस्कृति २.३३
१.१४० बालकों को जन्म ही न दीजिए, उनका
१.१४३ निर्माण भी करिए २.३४
१.१४५ सन्तान को जन्म ही नहीं, संस्कार भी दें २.३५
बालकों का चारित्रिक विकास सद्गुणों से २.३६
१.१४६ सत्य एवं शील २.३७
शौर्य एवं धैर्य २.४२
बल और विवेक २.४७
२.१ भ्रातृभावना कैसे जगाई जाए ? २.५२
२.१ पुरुषार्थ और परिश्रम २.५३

विषय

पृष्ठ

विषय

पृष्ठ

सहयोगवृत्ति का कैसे विकास हो ?

२.५५

चाहे जो हो पर बालक आलसी न हो

२.११२

बच्चों को व्यवहारकुशल बनाइए

२.५९

बच्चों को अनुशासन कैसे सिखाएँ ?

२.११३

बच्चों को शिष्टता का प्रशिक्षण दें

२.६०

बच्चे सेवाभावी कैसे बनें?

२.११५

बच्चों को ईर्ष्यालु होने से बचाएँ

२.६२

आज्ञाकारी ही नहीं, बच्चों को

२.११७

न तो दबू बनें, न ही उद्दण्ड

२.६३

आत्मविश्वासी बनाएँ

२.११७

बच्चों को हठी न होने दीजिए

२.६५

आत्मविश्वास का उद्गम-स्वावलम्बन

२.११८

बालचरित्र-निर्माण सम्बन्धी कुछ

२.६५

बच्चे को स्वावलम्बन और सन्तुलन की

२.११८

आवश्यक ज्ञातव्य

२.६७

शिक्षा दें

२.११९

बच्चों में स्वस्थ व मौलिक आदतें डालें

२.७२

बच्चों को आत्मनिर्भर बनने दें

२.१२१

बच्चों में अच्छी आदतें बढ़ायें,

२.७२

बच्चों को अर्थ अनुशासन की शिक्षा

२.१२१

कुटेब छुड़ायेँ

२.७३

दीजिए

२.१२२

बच्चों की अवांछनीय एवं अस्वाभाविक

२.७३

बच्चों को जेबखर्च दें-सुधार के लिए,

२.१२२

शारीरिक क्रियाएँ

२.७५

बिगाड़ के लिए नहीं

२.१२४

बच्चों में अच्छी आदत इस तरह डालें

२.७७

बच्चे क्यों झगड़ालू हो जाते हैं ?

२.१२६

बच्चों की अवांछनीय आदतें कैसे सुधारें ?

२.७९

बच्चों की लड़ाई में आप न उलझें

२.१२८

बच्चों में भोजन की स्वस्थ आदतें डालें

२.८१

बालकों का पोषण करें, उत्पीड़न नहीं

२.१३०

बच्चों को कुसंग से दूर रखने की

२.८१

सद्गुणों की सच्ची विरासत का चमत्कार

२.१३१

सतर्कता बरतें

२.८२

उत्सृष्टिकार में बालकों को

२.१३३

बच्चों को डराया न करें

२.८३

पाँच रत्न दीजिए

२.१३३

स्वयं निर्भीक बनें एवं बच्चों को निर्भीक

२.८५

चरण-स्पर्शपूर्वक अभिवंदन

२.१३५

बनाएँ

२.८५

बच्चों की जिज्ञासा

२.१३६

बच्चों को भीरु नहीं, वीर बनाइए

२.८७

बच्चों की जिज्ञासा का विकास हो

२.१३८

अबोध बालकों को भयभीत न करें

२.८८

बाल जिज्ञासाओं का समाधान

२.१३८

बच्चों में भयपूर्ण संस्कार मत डालिए

२.९०

सृजनात्मक हो

२.१३९

आप बच्चों को डरपोक तो नहीं बना रहे हैं?

२.९०

प्रश्नों की झड़ी लगाना

२.१४०

बालक्रीड़ा नहीं क्रीड़ाशील बालक

२.९१

बच्चों को सुसंस्कारी इस प्रकार बनाएँ

२.१४३

बच्चों को खेलने दीजिए

२.९२

बच्चों के व्यक्तित्व-निर्माण में माता-पिता

२.१४४

खेलने से बच्चों को मना मत कीजिए

२.९५

बच्चों को सद्गुणों कैसे बनाएँ

२.१४५

बच्चों के महत्वपूर्ण पाँच वर्ष

२.१०२

बालकों का चरित्र निर्माण कैसे हो?

२.१४७

बच्चों के खिलौने सस्ते, सुलभ तथा

२.१०४

संस्कारों को समुचित दिशा भी तो मिले

२.१४८

उपयोगी हों

२.१०५

बच्चों को सच्चरित्र बनाया जाय

२.१५०

खेल विधि से शिक्षण

२.१०५

खेल-खेल में बालकों को सद्गुणों का

२.१०८

बालकों के स्वभाव परिष्कार की पृष्ठभूमि

२.१५१

प्रशिक्षण

२.११०

संतति को सुयोग्य और समुन्नत बनाने

२.१५३

खेलों द्वारा पराक्रम उभारा जाए

२.१११

की समस्या

२.१५३

बच्चों को पंगु मत बनाइए

२.१११

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अध्याय-३		बालकों को प्यार तो करें, पर सुधार का भी ध्यान रखें	३.३७
बालकों के सर्वांगीण विकास में		सन्तान के प्रति पिता के उत्तरदायित्व	३.३९
अभिभावकों का योगदान	३.१	सन्तान पालन की शिक्षा भी चाहिए	३.४०
सही ढंग से समग्र लालन-पालन	३.१	बच्चों की आदतों की ज़िम्मेदारी	
बच्चों का बहुमुखी विकास कैसे हो ?	३.३	अभिभावकों पर	३.४१
कुपोषणजन्य अकाल मृत्यु का उपचार	३.४	बालकों के विकास के प्रति सावधानी बरतें	३.४४
बाल-स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाए	३.५	समाज का इन निरपराध बच्चों के प्रति अन्याय क्यों ?	३.४५
दुःखदायी बाल मृत्यु-अकाल मृत्यु	३.७	बच्चों का समुचित विकास कीजिए	३.४७
बच्चे का विकास और परिपोषण माँ पर निर्भर	३.८	बाल-विकास कक्षाओं में नैतिक शिक्षा	३.४८
बच्चों के विकास पर समुचित ध्यान दें	३.१०	बाल-विकास केन्द्रों को स्थापना हो	३.५०
बौद्धिक विकास की धुरी-माता-पिता का स्नेह-दुलार	३.११	बाल-विकास हेतु परिवारों की महती भूमिका	३.५६
बौद्धिक विकास के स्वर्णिम सूत्र	३.१२	प्रेम का स्वरूप और विस्तार विवरण	३.५७
बच्चों के मानसिक विकास की समस्या	३.१३	भावना और व्यवहार का विवेकयुक्त समन्वय	३.६०
अभिभावकों द्वारा बच्चों का भावनात्मक विकास	३.१५	समानता का भ्रान्त अर्थ न लें	३.६३
बच्चों के शासक नहीं, सहायक बनें	३.१६	क्या पुत्र जन्म वास्तव में सौभाग्य है ?	३.६४
शारीरिक श्रम के साथ बच्चों का बौद्धिक विकास भी जरूरी	३.१८	पुत्र और पुत्री में अन्तर क्यों	३.६५
एक आँख दुलार की, दूसरी सुधार की	३.१९	कन्या शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाए	३.६७
बालकों के विकास सम्बन्धी समस्याएँ	३.२१	छात्राओं का अनुकरणीय उदाहरण	३.६८
बाल-विकास में घातक अवरोध-विघटित परिवार	३.२३	पुत्र और पुत्री के बीच विषमता	३.७०
बच्चे आपके सच्चे मित्र	३.२४	बच्चों के मूल्यांकन का आधार गुणवत्ता हो, रूप नहीं	३.७१
अभिभावकों की महती ज़िम्मेदारी	३.२६	कन्या की गरिमा पुत्र से कम नहीं	३.७२
राष्ट्र की आत्मा-बच्चे, उपेक्षित न रहें	३.२८	दश पुत्रा समा कन्या	३.७३
आचार्य, अभिभावक और बच्चे	३.२९	लड़की जन्मे या लड़का ?	३.७५
बच्चों की इच्छाएँ परिवेश से प्रभावित होती हैं	३.३०	कुमारी कन्याओं की आध्यात्मिक गरिमा	३.७६
अभिभावकों पर पर निर्भर है, बच्चों का विकास	३.३२	लड़के और लड़की में भेदभाव मत कीजिए	३.७७
बालकों के साथ बड़े कैसा व्यवहार करें ?	३.३३	कन्या पर विशेष ध्यान दें	३.७८
बाल-विकास में अभिभावकों का उत्तरदायित्व	३.३४	इतना तो बेटियाँ भी किया करें	३.८१
		कन्या की उपेक्षा-तिरस्कार न हो	३.८२
		बच्चियों को सच्चे अर्थों में देवी बनाया जाए	३.८३
		भाई-बहिन के सम्बन्धों की गरिमा	३.८४

विषय

भाई-बहिन का रिश्ता कितना पवित्र ?	३.८५
बाप-बेटी के रिश्ते की सूखती संवेदनाएँ	३.८७
कन्या और वधू को भी लड़के जितना	
दुलार मिले	३.८९
उठती उम्र में सतर्कता बरती जाए	३.९०
किशोरावस्था भटकाव में न पड़े	३.९३
एकाकीपन में किशोर दोष-दुर्गुण	
सीखते हैं	३.९४
किशोरावस्था को खतरों से बचाएँ	३.९६
किशोरों के विकास में अधिक सतर्कता	
की आवश्यकता	३.९७
किशोरों को स्वास्थ्य, शिक्षा और शील का	
महत्व समझाएँ	३.९९
किशोरों के निर्माण में सावधानी	
बरती जाए	३.१०१

पृष्ठ

विषय

किशोरों को स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन दिया जाए	३.१०३
परीक्षा में उत्तीर्ण कैसे हों ?	३.१०४
रोकथाम भी और प्रतिरोध भी	३.१०९
हमारा तरुण वर्ग और उसकी कुण्ठाएँ	३.१११
युवकों को सत्संस्कारों से भरी सहायता	
दी जाये	३.११३
नवयुवक सज्जनता और शालीनता सीखें	३.११५
सुसंस्कृत युवा पीढ़ी कैसे बने ?	३.११७
समर्थ और समुन्नत नई पीढ़ी का निर्माण	३.११८
भावी पीढ़ी का स्तर उठाने की समस्या	३.१२०
सर्वतोमुखी प्रगति की आधारशिला	
चरित्र निर्माण	३.१२२
टूटी धुरी का समाज-रथ चलेगा कैसे ?	३.१२५
सुसंस्कारिता जीवनचर्या का एक	
महत्वपूर्ण अंग	३.१२७



www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org



सुसंतति-निर्माण का शुभारम्भ कहाँ से और कैसे हो?

चरित्रवान माता-पिता ही सुसंस्कृत सन्तान बनाते हैं

अंग्रेजी में कहावत है—“दि चाइल्ड इज ऐज ओल्ड ऐज हिज एनसेस्टर्स।” अर्थात् बच्चा उतना पुराना होता है जितना उसके पूर्वज। एक बार सन्त ईसा के पास आई एक स्त्री ने प्रश्न किया महाराज ! बच्चे की शिक्षा-दीक्षा कब से प्रारम्भ की जानी चाहिये ? ईसा ने उत्तर दिया। गर्भ में आने के १०० वर्ष पहले से। स्त्री भौचक्की रह गयी, पर सत्य वही है जिसकी ओर सन्त ने इंगित किया। सौ वर्ष पूर्व जिस बच्चे का अस्तित्व नहीं होता, उसकी जड़ तो निश्चित ही होती है, चाहे वह उसके बाबा हों या परबाबा—उनकी मनःस्थिति, उनके आचार, उनकी संस्कृति पिता पर आई और पिता-माता के विचार, उनके रहन-सहन, आहार-विहार से ही बच्चे का निर्माण होता है, कल जिस बच्चे को जन्म लेना है, उसकी भूमिका हम अपने में लिखा करते हैं। यदि यह प्रस्तावना ही उत्कृष्ट न हुई तो बच्चा कैसे श्रेष्ठ बनेगा ? भगवान राम जैसे महापुरुष का जन्म रघु, अज और दिलीप आदि पितामहों के तप की परिणति थी, तो योगेश्वर कृष्ण का जन्म देवकी और वसुदेव के कई जन्मों की तपश्चर्या का पुण्य फल था। अट्टारह पुराणों के रचयिता व्यास का आविर्भाव तब हुआ था, जब उनकी पाँच पितामह पीढ़ियों ने घोर तप किया था। अपने यहाँ कन्या के वर ढूँढ़ते समय वर के संयोग और उसकी आर्थिक परिस्थितियाँ पीछे जानी जाती हैं। सर्वप्रथम वंश-गोत्र से बात प्रारम्भ होती है। उसका मन्तव्य यही होता कि बालिका किसी दुर्गुण सम्पन्न परिवार में पड़ जाये। यह सब सन्तति के लिये किया जाता रहा है जो उचित भी रहा है। आज के बच्चे ही कल के नागरिक बनेंगे। कल की सामाजिक सुव्यवस्था, शान्ति, समुन्नति का आधार यह होगा कि हमारे बच्चे श्रेष्ठ, सदगुणी बनें और इसके लिये मातृत्व और पितृत्व को गम्भीर अर्थ में लिये बिना काम नहीं चलेगा।

महाभारत के समय की घटना है—द्रोणाचार्य ने पाण्डवों के वध के लिये चक्रव्यूह की रचना की। उस दिन चक्रव्यूह रहस्य जानने वाले एकमात्र अर्जुन को कौरव बहुत दूर तक भटका ले गये। इधर पाण्डवों के पास

चक्रव्यूह भेदन का आमन्त्रण भेज दिया। जब सारी सभा सनाटे में थी तब १६ वर्षीय राजकुमार अभिमन्यु खड़े हुए और बोले—मैं चक्रव्यूह भेदन करना जानता हूँ। युधिष्ठिर ने साश्चर्य प्रश्न किया—तात ! मैंने तो तुम्हें कभी भी चक्रव्यूह सीखते नहीं देखा, नहीं सुना। इस पर अभिमन्यु ने हँसकर उत्तर दिया—आर्य ! जब मैं अपनी माँ सुभद्रा के पेट में था। माँ को जब प्रसव पीड़ा प्रारम्भ हुई तब मेरे पिता अर्जुन पास ही थे। माँ का ध्यान दर्द की ओर से बँटाने के लिए उन्होंने चक्रव्यूह भेदन क्रिया बतानी प्रारम्भ की। ६ द्वारों के भेदन की क्रिया बताने तक मेरी माँ ध्यान से सुनती रहीं और गर्भ में बैठा हुआ मैं उसे सीखता चला गया पर सातवें और अन्तिम युद्ध की बात बताने से पूर्व ही माँ को निद्रा आ गयी, उन्हीं के साथ मैं भी विस्मृति में चला गया। उसके बाद मेरा जन्म हो गया। ६ द्वार तो मैं आसानी से तोड़ लूँगा। सातवें में सहायतार्थ आप सब पहुँच जायेंगे, तो उसे भी तोड़ लूँगा।

यह घटना उस सत्य की ओर संकेत करती है कि पुत्र गर्भ में आये उससे पूर्व ही माता-पिता को अपनी शारीरिक और मानसिक तैयारी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। कुछ दिन पहले अमेरिका में जन्मे एक बालक की बड़ी चर्चा चली। इस बालक की आँख में ‘जे’ और ‘डी’ की आकृति उभरी हुई थी। वैज्ञानिकों ने उसकी बहुत जाँच की पर कारण न जान पाये, आखिर इस गुथी को मनोवैज्ञानिकों ने सुलझाया। युवती ने उन्हें बताया कि मैं अपने विद्याध्ययन काल से ही जान डिकसन की विद्वत्ता से प्रभावित रही हूँ। मेरी सदा से यह इच्छा रही है कि मेरे जो सन्तान हो वह जान डिकसन की तरह ही विद्वान हो। मैंने अपनी यह इच्छा कभी किसी को बताई तो नहीं पर जब-जब इस बात की याद आती मैं अक्सर दीवाल पर कापी पर जे. डी. अक्षर लिखकर अपनी स्मृति को गहरा करती रही हूँ। उन्होंने अपने अध्ययन काल की कई कापियाँ और पुस्तकें भी दिखाई जिनमें जे. डी. लिखा मिला।

हमारे पितामह इन तथ्यों से पूर्ण परिचित थे तभी उन्होंने न केवल ऐसी जीवन-व्यवस्था निर्मित की थी जिससे जाति स्वतः ही श्रेष्ठ आचरण वाली सन्तान देती चली जाती थी। गर्भाधान को उन्होंने षोडश संस्कारों में से एक संस्कार माना था और उसे पूर्ण पवित्रता के साथ सम्पन्न

१. २ हमारी माँ पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

करने की प्रथा प्रचलित की थी। बालक का निर्माण माता-पिता भावभरे वातावरण में किया करते थे और जैसी आवश्यकता होती थी उस तरह की सन्तान समाज को दे देते थे। सती मदालसा ने अपने तीन पुत्रों—विक्रान्त, सुबाहु और अरिदमन को जो शिक्षा-दीक्षा और संस्कार दिये वे पारमार्थिक और पारलौकिक थे, फलतः उन तीनों ने ही प्रौढ़ावस्था में पहुँचने से पूर्व ही संन्यास धारण कर अपना सारा जीवन लोकमंगल में लगा दिया। वह कहा करती—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि

संसारमाया परिवर्जितोऽसि।

संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां

मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

“हे पुत्र ! तू अपनी जननी मदालसा के शब्द सुन ! तू शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसार की माया से रहित है। यह संसार स्वप्नमात्र है। उठ, जाग्रत हो, मोहनिद्रा का परित्याग कर। तू सच्चिदानन्द आत्मा है, अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर।”

महारानी की शिक्षा से महाराज ऋतुध्वज बहुत चिन्तित हुये। उन्होंने मदालसा से कहा यदि ऐसा ही रहा तो राज-काज कौन सँभालेगा ? इस बार जो पुत्र हुआ उसे मदालसा ने राजनीति की शिक्षा दी और कहा—

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः

साधुन रक्षस्तात् ! यज्ञैर्यजेथाः

दुष्टान्निघ्नन् वैरिणाश्चाजिमध्ये

गोपिप्रार्थे वत्स ! मृत्युं व्रजेथाः॥

मा. पुत्र. २६/४१

अर्थात् हे तात ! तुम राज्य करो। अपने मित्रों को आनन्दित करो, सज्जन पुरुषों की रक्षा करना, यज्ञ करना, गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के लिये युद्ध अनिवार्य हो तो युद्ध भी करना भले ही रणभूमि में तुम मृत्यु को प्राप्त हो।

यह उदाहरण इस बात के प्रतीक हैं कि बालक माता-पिता के शारीरिक और मानसिक सँचे और ढाँचे में ढले, समाज द्वारा, संस्कृति द्वारा संस्कारित मिट्टी के पुतले होते हैं। जैसे हमारे माता-पिता होंगे वैसी ही सन्तान, अतएव मातृत्व की जिम्मेदारियों का निर्वाह निष्ठापूर्वक किया जाना चाहिए। हँसी-खेल की तरह श्रेष्ठ आचरण वाली जाति ही श्रेष्ठ सन्तान को जन्म देती है। माता-पिता दोनों का प्रभाव बच्चे पर अधिक पड़ता है। अतएव उन्हें तो विशेष रूप से तैयारी करनी चाहिये। राम वन गये तब की घटना है, राम ने लक्ष्मण के चरित्र की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने प्रश्न किया—

पुष्यं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा योषितयौवनम्।

त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नो चलते मनः॥

हे लक्ष्मण ! सुन्दर पुष्य, पके हुये फल और मद-मत्त यौवन देखकर ऐसा कौन है जिसका मन विचलित न हो जाय। इस पर लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।

ताभ्यां यः सुनुरूप्यनस्तस्य नो चलते मनः॥

आर्यश्रेष्ठ ! जिसके पिता का आचरण सदैव से पवित्र रहा हो, जिसकी माता पतिव्रता रही हो उसके रज-वीर्य से उत्पन्न बालकों के मन कभी चंचल नहीं हुआ करते।

लक्ष्मण का यह उपदेश प्रत्येक माता-पिता को यह सोचने के लिए विवश करता है कि यदि श्रेष्ठ सन्तान की आवश्यकता है, तो उसे ढालने के लिए अपना चरित्र साँचे की तरह बनाना चाहिए।

शिशु-निर्माण—माता के गर्भ में

देवी मदालसा का नाम भारतवर्ष की उन आदर्श नारियों में लिया जाता है जिन्होंने अपने बालकों के निर्माण में आत्म-ज्ञानी गुरु की भूमिका निभाई है। वस्तुतः पुत्र के लिये पथप्रदर्शक, मार्गदर्शक, स्रष्टा और निर्माता सब माता ही है। शरीर का रस-रक्त, जीवन प्राण-तत्त्व लेने के साथ ही गुण और सांसारिक ज्ञान भी बच्चे को प्रायः माता से ही प्राप्त होते हैं। बच्चा बहुत दिनों तक, जब तक कि उसकी स्वतन्त्र विचार-शक्ति पकने नहीं लगती तब तक वह माता के पास ही रहता है। गुण और संस्कारों का परिपाक बाद में होता है पर उनका निर्माण तो माँ ही करती है। संस्कारों की पूर्व सूत्रधार माता ही है। वह जिस तरह के संकल्प और विचार बच्चे में पैदा करती है, वैसी ही उसमें ग्रहणशीलता और आविर्भाव हो जाता है और बाद में उसी तरह के तत्त्व वह संसार में ढूँढ़कर अपने संस्कारजन्य गुणों का अभिवर्द्धन करता है। इसलिये यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य आज जिस स्थिति में है उसका श्रेय अधिकांश उसकी माता को ही है। संस्कारवान माताएँ बच्चों के चरित्र की नींव बाल्यावस्था में डालती हैं, जबकि उन्हें दिग्भ्रान्त कर आचरणहीन बनाने में भी प्रमुख हाथ उन्हीं का रहता है।

सन्तान के रूप में जीवात्मा का अवतरण और उसकी विकास-यात्रा में योग देना माता-पिता की सबसे बड़ी जिम्मेदारी है। पिता गर्भ-धारण में केवल सहयोग प्रदान करता है, बाद में उस गर्भ को पकाने का कार्य माता ही करती है, इसलिए पिता की अपेक्षा माता का उत्तरदायित्व अधिक है। बिना उचित ज्ञान और स्थिति की जानकारी हुए माता इस कर्तव्य का भली-भाँति पालन कर सकती होंगी यह असम्भव है। अतएव महिलाओं को यह

ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है कि सन्तान काम-वासना का परिणाम नहीं है, काम तो एकमात्र प्रेरक तत्व है, जो एक आत्मा के अवतरण के लिए माता-पिता को प्रेरित करता है।

गर्भ में आने पर सन्तान का शरीर बढ़ता है, शरीर में उसका मस्तिष्क का भाग भी है, इसलिए मानसिक-क्रिया का संचालन भी उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है। जीव अनेक योनियों में रहने के बाद जब सांसारिक विषमताओं से थक जाता है, तो उसकी इच्छा होती है कि वह आत्म-कल्याण प्राप्त करे, ऐसा सुयोग केवल मनुष्य-जीवन में ही सम्भव है क्योंकि आत्म-विकास के सम्पूर्ण साधनों का संकलन केवल मनुष्य देह में हुआ है। शरीर की स्थिति सामान्य जीवों की तरह होते हुये भी बौद्धिक ज्ञान का आविर्भाव होना, उसके लिए सबसे बड़ा सहयोग है। उसी के द्वारा वह मनुष्य योनि में अपना ज्ञान विकसित करता है और ज्ञान के आधार पर ही आचरण करता है। दोनों का ठीक समन्वय होने पर ही आत्म-कल्याण की स्थिति प्राप्त करना सम्भव है। ज्ञान और आचरण श्रेष्ठ तभी हो सकता है जब पूर्व में बच्चे को तदनुकूल शिक्षा दी गई हो। जिस प्रकार संस्कृत की शिक्षा प्राप्त बच्चा अंग्रेजी नहीं बोल सकता, उसी प्रकार यदि बच्चे को पूर्व में ही संस्कारवान नहीं बनाया गया, तो बाद में उसके ज्ञान और आचरण में श्रेष्ठता पैदा करना प्रायः असम्भव ही होता है।

गर्भावस्था में बच्चा अपनी माता के केवल प्रकट आचरण से ही प्रभावित नहीं होता, उससे तो बहुत हल्का असर बालक की मनोभूमि पर पड़ता है, अधिकांश प्रभाव तो मानसिक भावनाओं और विचारणाओं का होता है। नारी की मनोभूमि को व्यवस्थित रखने में उसके पति और परिजनों की जिम्मेदारी भी कम नहीं है, पर प्राणवान और संकल्पशील माताएँ अपने बच्चे के लिए उन सब परिस्थितियों की अपेक्षा भी कर सकती हैं, जो उसके मस्तिष्क में विषाद उत्पन्न कर सकती थीं। घर में अमंगल वातावरण को भी वे गर्भवस्थ बच्चे के कल्याण के लिये पचा सकती हैं और उनकी अपने पर छाप न पड़ने देकर निष्ठापूर्वक अच्छे विचार, अच्छी भावनाएँ और पवित्र जीवन बिता सकती हैं। इसी निष्ठा का बालक के निर्माण में उपयुक्त प्रभाव होता है। ऐसे ही बच्चे दृढ़ निश्चयी, मनोजयी और संकल्पवान होते हैं, वही आगे चलकर श्रेष्ठ और प्रतिभावान भी बनते हैं।

यह तभी सम्भव है जब माँ यह ध्यान करे कि उसकी कोख में आई हुई सन्तान माँस-पिण्ड नहीं है। उसे अपनी सम्पत्ति भी न समझे। यह नासमझ उसे गलत कर्तव्य के लिए भी उत्साहित कर सकती है। वस्तुतः सन्तान परमात्मा की धरोहर के रूप में मिलती है। यदि उसके आत्म-कल्याण में सहयोग बन पड़े तो यह परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ सेवा हुई। कदाचित् उसकी उपेक्षा हुई तो यह

मानना पड़ता है कि माँ ने मातृत्व की कसौटी को सही सिद्ध नहीं किया। उसने वस्तु-स्थिति समझने में भूल की।

सुयोग्य बालक ही राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक बनते हैं। अच्छे बीजों से उत्पन्न होती ही अच्छी होती है। सुयोग्य सन्तान होना बहुत कुछ इस बात पर अवलम्बित है कि माताएँ भी सुयोग्य हों और बालक के निर्माण की प्रचुर क्षमता और आवश्यक ज्ञान भी उन्हें हो। स्वस्थ रहने, स्वच्छताप्रिय होने, व्यवहारकुशल, मधुरभाषिणी, कर्मनिष्ठ व सादगीप्रिय होना यह सभी आवश्यक गुण एक सुयोग्य माता में हों पर साथ-साथ उसका संकल्प बल भी प्रखर हो और वह संकल्प शिशु को एक आत्मा के रूप में ध्यान रखकर ही हो। संकल्प तो सांसारिक और स्वार्थपरक भी हो सकता है पर ऐसा होना एक प्रकार का विकार है, जो जीवात्मा के दुःख का कारण भी हो सकता है। सुयोग्यता का आधार पवित्रता और आध्यात्मिकता ही होना चाहिए।

आध्यात्मिकता का अर्थ है कि नारी में मातृत्व के सभी आवश्यक गुणों का समावेश होना। प्रेम, स्नेह, आत्मीयता, वात्सल्य, आस्तिकता आदि सभी गुण उसी के अन्तर्गत हैं। नारी जीवन में इसका समावेश होने पर ही यह सम्भव है कि वह अपने बच्चे को शुद्ध, प्रबुद्ध, निरंजन और आत्म-स्थित होने का उपदेश दे सके। आत्मवादी या ब्रह्म-परायण होना, सांसारिक कर्तव्यों से विमुक्त होना नहीं है, वरन् उसमें दिव्य-जीवन के प्रति दृढ़ता उत्पन्न करना है। इसीलिए माताओं को कर्तव्य-परायण होने के साथ-साथ ईश्वर-परायण होना भी आवश्यक है। इस प्रकार का समन्वय होने से ही गर्भवस्थ शिशु के निर्माण की आवश्यकता को पूरा किया जा सकता है।

शिशु का निर्माण गर्भावस्था से

बच्चे के गर्भ में आ जाने के साथ ही माता को उसके विकास के प्रति सतर्क हो जाना चाहिए, क्योंकि बालक के सम्यक विकास में जिन सूक्ष्म संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है, उनका समावेश इसी समय से होने लगता है। इस समय वह जो कुछ भी खाती-पीती है, सोचती-विचारती है, उसका सूक्ष्म प्रभाव बच्चे पर पड़ता है, इसलिए माता को इस समय ऐसा कुछ आहार-विहार नहीं रखना चाहिए, जिसका कुप्रभाव बच्चे पर पड़े और उसका विकास अवरुद्ध हो जाय। बालक के समग्र विकास के लिए गर्भवती माता को अपने गुरुतर उत्तरदायित्व को समझकर वैसी ही तैयारी एवं सतर्कता बरतने का प्रयास करना चाहिए, ताकि बालक का शारीरिक व भावनात्मक विकास समुचित रीति से सम्भव हो सके।

गर्भवस्थ शिशु का पोषण माँ के द्वारा खाये-पिये गये पदार्थों के द्वारा ही होता है, माता के रस-रक्त से ही शिशु का शरीर विनिर्मित होता है। इस दृष्टि से माता को अपने आहार-विहार का स्तर ऐसा रखना चाहिए, जो

१. ४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

उसके अपने लिए तो स्वास्थ्यवर्द्धक हो ही, साथ ही बच्चे के लिए भी लाभदायक सिद्ध हो सके। शास्त्रकारों ने इस तथ्य की ओर भावी-माताओं का ध्यान आकर्षित किया है। उनका कथन है—

‘तदाहारे विहारश्च भवेत् शुद्धोऽतिसात्विकः।

शोकसन्तापरहितः ईर्ष्याद्वेष विसर्जितः॥

अर्थात्—“माता का आहार-विहार शुद्ध, सात्विक हो, मन उल्लासयुक्त तथा ईर्ष्या-द्वेष से रहित रहे।” बालक के पूर्ण-विकास के लिए माता को पौष्टिक व उपयोगी आहार उपलब्ध होना चाहिए। ताजे फल, हरी शाक-सब्जियाँ, दूध, छाछ आदि दैनिक भोजन में सम्मिलित रहने चाहिए। आहारजन्य पोषण के अभाव में गर्भस्थ एवं दूध पीते बच्चों को वह पौष्टिकता नहीं मिल पाती, जो उनके लिए आवश्यक होती है। इस अभाव के कारण प्रायः वे रोगी-दुर्बल ही बने रहते हैं। भारत में तो लगभग बीस लाख बच्चे जन्मते ही माँ की गोद सूनी कर जाते हैं, जो बचते हैं, उनमें से अधिकांश पौष्टिकता की कमी एवं माताओं की शिशु-पालन अनभिज्ञता आदि के कारण शक्तिहीन व रोगी बने रहते हैं।

वैसे तो कामचलाऊ पौष्टिक तत्व द्विदल अनाजों, शाकों और मौसमी फलों से प्राप्त हो जाता है, फिर भी इतनी ही पौष्टिकता पर्याप्त नहीं होती। गर्भवती माता को पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन, खनिज-लवण व विटामिन भी आवश्यक होते हैं। दूध में वे समस्त तत्व विद्यमान रहते हैं, जिनकी आवश्यकता माता को रहती है। दूध का प्रोटीन शीघ्र पचने-वाला होता है, साथ ही उसमें वह खनिज-लवण व विटामिन, कैल्शियम, फॉस्फोरस आदि तत्व भी होते हैं, जिनका गर्भस्थ शिशु के दाँतों एवं हड्डियों के बनने में पर्याप्त सहयोग प्राप्त होता है। बच्चों के लिए रोग-निरोधक क्षमता के रूप में आवश्यक विटामिन ‘ए’ भी दूध द्वारा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इन सब दृष्टियों से माता को यथासम्भव दूध का सेवन करना चाहिए।

स्वस्थ-शरीर के लिए जहाँ पौष्टिक भोजन की प्रमुख भूमिका होती है, वही हल्का श्रम या व्यायाम भी आवश्यक होता है। विश्राम के नाम पर खाट पर पड़े रहना, आलस्य में समय गुजारते रहना, गर्भिणी एवं बच्चे दोनों के लिए हानिकारक होता है। बच्चे पर आलसी स्वभाव की छाप पड़ती है। इससे बचने के लिए माता को हल्के व्यायाम करने चाहिए। घर के छोटे-मोटे कार्यों को करते हुए अपने को व्यस्त रखना चाहिए, इससे स्फूर्ति बनी रहेगी। जिसका प्रभाव बच्चे को भी स्फूर्तिवान बना सकेगा। हाँ, नाड़ियों और माँसपेशियों पर अधिक दबाव डालने वाले परिश्रम न किये जाएँ।

माता के भले-बुरे चिन्तन का भी प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर वैसे ही गुण, कर्म, स्वभाव एवं संस्कारों के

रूप में पड़ता है। माता के मन-मस्तिष्क में जैसे विचार उठते हैं, उनकी छाप सूक्ष्म रूप से बालक के मन-मस्तिष्क पर पड़ती है। शास्त्रों में इसीलिए माता को किस प्रकार चिन्तन-मनन करना चाहिए ? यह बताते हुए कहा गया है—

‘काम-क्रोध भयादीश्च हृदये नैव चिन्तयेत्।

सर्वदा शुभसंकल्पान् कुर्यात् सन्तति धारिणी॥

अर्थात्—सन्तान धारण करने वाली माता को क्रम, क्रोध, भय आदि का चिन्तन नहीं करना चाहिए। सदैव अच्छे विचारों में रहना चाहिए।

‘महतां नररत्नानां बलैश्वर्य-प्रपूरितम्।

शृणुयात् कीर्तयेन्नित्यं चरितं हर्षवर्द्धनम्॥

अर्थात्—‘महान पुरुषों के बल, ऐश्वर्य से युक्त हर्षवर्धक चरित्र को सुनना और कहते रहना चाहिए।’

आजकल मनोरंजन के नाम पर प्रायः सिनेमा आदि को ही माध्यम बनाया जाता है, जिसमें गन्दे दृश्यों, फूहड़ गीतों आदि का बाहुल्य होता है, परिणामतः इन्हीं कुसंस्कारों की छाप गर्भस्थ बच्चों पर पड़ती रहती है। बड़े होकर ये इन्हीं बातों में रस लेने लगते हैं।

इस समय की पड़ी हुई सद्गुणों, सुसंस्कारों की छाप बच्चे में जीवनपर्यन्त प्रतिबिम्बित देखी जा सकती है। इसके अनेकों उदाहरण महाभारत आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। अभिमन्यु को चक्रव्यूह-वेधन की शिक्षा माँ के गर्भ में रहते समय ही प्राप्त हुई थी। प्रह्लाद में भक्ति-भावना के संस्कार नारद जी द्वारा उनकी माता ‘कयाधू’ को भक्ति के उपदेश देने से आये थे।

भारतीय-संस्कृति में षोडस संस्कारों में से एक पुंसवन संस्कार का यही उद्देश्य होता है। इस संस्कार के माध्यम से गर्भवती माता व परिवार वालों को भावी सन्तान के प्रति उत्तरदायित्वों व सावधानियों की बात विस्तारपूर्वक समझाई जाती है, जो एक आदर्श सन्तान के लिए आवश्यक होती है।

बड़े होने पर भी बच्चे को कुसंग आदि से बचाकर अच्छे वातावरण में रखने के लिए प्रयत्न तो करना ही होता है, यह कार्य उसके गर्भावस्था में रहते समय से ही प्रारम्भ करना अधिक श्रेयस्कृत है।

इस प्रकार स्वस्थ, सुन्दर, नीरोग व सुसंस्कारी सन्तान के लिए माता को अपने विशेष उत्तरदायित्व को समझना चाहिए और इस अवस्था में अपने शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य का संरक्षण करते हुए, बालक के व्यक्तित्व एवं मस्तिष्क का भी निर्माण करना चाहिए।

गर्भाधान संस्कार—

षोडश संस्कारों से सबसे प्रथम संस्कार गर्भाधान का है जिसका अर्थ यह है कि यह दम्पति-युग्म अपनी प्रजनन प्रवृत्ति से समाज को सूचित करता है। विचारशील लोग यदि उसकी स्थिति इसके लिए अनुपयुक्त समझें तो उन्हें इसके लिए मना भी कर सकते हैं। प्रजनन वैयक्तिक मनोरंजन नहीं वरन् सामाजिक उत्तरदायित्व है। इसलिए समाज में विचारशील लोगों को निमन्त्रित कर उनकी सहमति लेनी पड़ती है। यही गर्भाधान संस्कार है। अखण्ड ब्रह्मचारी एवं शरीर-मन से निरोग, पति-पत्नी का अन्य जीव-जन्तुओं की भाँति एक बार के समागम में ही गर्भ स्थापित हो जाना सम्भव है। पूर्वकाल में यही सब होता था। आज लोगों के शरीर खोखले हो गये और काम-क्रीड़ा को भी वैयक्तिक मनोरंजन मान लिया, तो फिर गर्भाधान का महत्व भी चला गया। इतने पर भी उसकी मूल भावना को भुलाया न जाय, तब भी यह कहा जा सकता है कि वह परम्परा किसी रूप में जीवित है।

पति-पत्नी शरीर, मन और अर्थ की दृष्टि से सन्तानोत्पादन का भार उठा सकने में पूर्ण समर्थ हों तभी उस भार को उठाने के लिए तत्पर हों। इसे वैयक्तिक मनोरंजन नहीं एक सामाजिक कार्य समझें और जैसा बालक बनाना हो उसके अनुरूप अपने गुण, कर्म, स्वभाव स्वास्थ्य, विचार, संस्कार सभी कुछ सुव्यवस्थित कर लें। उत्कृष्ट स्तर के माता-पिता ही उत्कृष्ट बालक उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए सन्तान को जिस स्तर का बनाना हो, अपने को उसी स्तर का बनाने का प्रयत्न पति-पत्नी आरम्भ कर दें तो समझना चाहिए कि वे गर्भाधान संस्कार की मूल भावना से परिचित हैं, भले ही उस संस्कार को न करते हों। इसके विपरीत यदि किसी ने संस्कार तो कराया पर तथ्यों को, भुला दिया तो यह एक चिह्न पूजा मात्र ही मानी जायेगी। पति-पत्नी एकान्त मिलन के समय वासनात्मक मनोभाव न रखें वरन् मन ही मन आदर्शवादी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते रहें तो उसकी मानसिक छाप बच्चे की मनोभूमि पर अंकित होगी। लुक-छिपकर पाप-कर्म समझते हुए भयभीत और आशंका ग्रसित अनैतिक समागम-व्यभिचार के फलस्वरूप जन्मे बालक अनेक दोष-दुर्गुण साथ लाते हैं। इसी प्रकार उस समय यदि दोनों की मनोभूमि आदर्शवादी मान्यताओं से भरी हुई हो तो मदालसा, अर्जुन आदि की तरह मनचाहे प्रकार के स्तर वाले बालक उत्पन्न किये जा सकते हैं। गर्भाधान संस्कार का प्रयोजन यही है। वस्तुतः वह प्रजनन विज्ञान का आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्थिति का मार्ग-दर्शन करने वाला प्रशिक्षण ही है।

आज संस्कारों का जबकि एक प्रकार से लोप हो गया है, गर्भाधान का प्रचलन कठिन दिखाई पड़ता है इसलिए उसे आज व्यावहारिक न देखकर उस पर विशेष

जोर नहीं दिया गया है। आवश्यकता अनुभव हुई तो उसकी विधि एवं व्याख्या भी प्रस्तुत कर दी जायेगी।

पुंसवन संस्कार की आवश्यकता—

गर्भ स्थापना के उपरान्त आठ मास में दो बार पुंसवन और सीमन्त दो संस्कार, बालक पर सुसंस्कारों की छाप डालने और माता-पिता एवं कुटुम्बियों को उत्तरदायित्व बताने के लिए किए जाने का विधान है। पर आज तो कहीं एक भी नहीं होता। इसलिए व्यावहारिक यह समझा गया है कि उनमें से एक का ही प्रचलन आरम्भ हो जाय तो भी काम चल सकता है। अतएव पुंसवन का आरम्भ करने की चेष्टा की गई है।

दो महीने पूरे होने तक गर्भ स्थापना का निश्चय नहीं होता। दो मासिक धर्मों का समय चूक जाय तभी स्थापना का निश्चय करना चाहिए। अन्यथा शारीरिक कारणों से भी मासिक धर्म दो-दो महीने तक रुक जाता है। तीसरे महीने निश्चय हो जाने के उपरान्त संस्कार की तैयारी की जा सकती है। यह आरम्भिक महीनों में हो सके तो अधिक उत्तम है ताकि जो शिक्षाएँ दी जाने वाली हैं, उनका उपयोग अधिक दिनों तक हो सके। फिर भी यदि तीसरे-चौथे महीने नहीं हो सका है तो जब भी सम्भव हो, कर लेना चाहिए।

सभी संस्कारों में सुन्दर सुसज्जित मण्डप बनाने, चौक पूरने, यज्ञ वेदी बनाने, कलश स्थापना, घृत, दीप, अग्नि आवश्यक उपकरण एक समान ही एकत्रित किये जाते हैं। इन्हें हर बार हर जगह एकत्रित करना कठिन पड़ता है, इसलिए संस्कार समितियों या पुरोहितों को सारे उपकरण स्वयं ही एकत्रित करने चाहिए और टूट-फूट का खर्च लेकर सभी के यहाँ उन्हें सरलतापूर्वक उपलब्ध होने की सुविधा कर देनी चाहिए।

उत्सव में पड़ोस तथा रिश्ते के अधिकारधिक नर-नारियों को एकत्रित करना चाहिए, ताकि अपने यहाँ न सही, दूसरे के यहाँ देखकर भी वे आवश्यक कार्यवाही और उत्तरदायित्वों को समझ सकें और जब अवसर आवे तब वे भी इन शिक्षाओं के अनुरूप गतिविधि बना सकें। संस्कारों के प्रति अधिक व्यापक क्षेत्रों में आकर्षण बढ़े उस दृष्टि से अधिक उपस्थिति का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए घरों में स्वयं बुलावा देने जाने का अच्छा प्रभाव पड़ता है। आगन्तुकों के बैठने की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि वे ठीक तरह सब कुछ देख-सुन सकें।

संक्षिप्त गायत्री हवन पद्धति के विधि-विधान ही प्रायः सब संस्कारों में काम आते हैं। दो-तीन जगह संस्कारों से सम्बन्धित क्रियाएँ काम में आती हैं। इसलिए जिन्हें गायत्री हवन कराना आता है, उनके लिए संस्कारों का विधान भी कुछ कठिन नहीं रहता। प्रयत्न यह होना चाहिए कि जितने भी सुशिक्षित नर-नारी ऐसे हैं, जो संस्कृत श्लोक ठीक तरह बोल सकते हैं, उन सभी के

१. ६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

हाथ में पुंसवन संस्कार की पुस्तिकाएँ देनी चाहिए ताकि वे भी उच्चारण एवं विधान की जानकारी के अभ्यस्त बन जायें और समय आने पर वे इस प्रयोग को सम्पन्न करा सकें।

प्रत्येक संस्कार या यज्ञ कार्य में पत्नी को दाहिनी ओर और पति को बाँई ओर बिठाया जाता है। स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहनकर पीले दुपट्टे कंधे पर धारण किये हुए अच्छे आसनों पर पति-पत्नी को 'भद्रं कर्णेभिः' मन्त्र की सामूहिक ध्वनि करते हुए बिठाया जाय। पवित्रीकरण, आचमन, शिखा बन्धन, प्राणायाम, न्यास, पृथ्वी पूजन, यज्ञोपवीत धारण, आचार्य वरण, यजमान वरण, संकल्प, पंचामृत बनाना और पिलाना, प्रयोजनीय वस्तुओं का मार्जन, दीप पूजन, कलश पूजन, देव पूजन, नमस्कार, षोडशोपचार, चन्दन धारण, स्वस्तिवाचन, रक्षा विधान इतने कृत्य सभी संस्कारों में एकसंगान होते हैं। पुंसवन संस्कार में भी वही सामान्य क्रम चलेगा।

पुंसवन संस्कार के विशेष विधान तीन हैं— (१) औषधि अवघ्राण, (२) आश्वस्तना, (३) चरु-प्रदान। इसके अतिरिक्त खीर की विशेष आहुतियाँ, मंगल फल प्रदान और आशीर्वाद ये तीनों ही कृत्य यथासमय सभी संस्कारों में होते हैं, इसमें भी होंगे। विशेष कृत्य ये तीन ही हैं। इन्हें कराने तथा व्याख्या करने की व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिए कि संस्कार का विशेष प्रयोजन ठीक प्रकार समझा जा सके।

औषधि अवघ्राण

वट वृक्ष की जटाओं का अति कोमल भाग, जिसे जटा, कोंपल भी कहते हैं, उसे तथा गिलोय का एक टुकड़ा लेकर दोनों को पानी में बारीक पीस लेना चाहिए, दोनों औषधियों की मात्रा तीन-तीन माशे और पानी डेढ़ तोला हो तो पर्याप्त है। पानी के साथ दोनों वस्तुएँ बारीक पीसकर उन्हें कपड़े में छानकर एक कटोरे में रख लिया जाय। यह वधू को सुँघाने के लिए है। उसमें से थोड़ा भाग उसे पिलाया भी जा सकता है। सुँघाने या पिलाने का मंत्र "अद्ध्य सम्भृत" है।

वट वृक्ष विशालता, शक्ति तथा स्थिरता का प्रतीक है। गिलोय विकार, विनाशक एवं बलवर्द्धक तत्वों से युक्त है। हर औषधि वनस्पति में जहाँ स्थूल गुण होते हैं, वहाँ उसमें सूक्ष्म प्रेरणाएँ एवं भावनाएँ भी रहती हैं। स्थूल प्रयोग के रूप में बरगद के पत्ते, लकड़ी, फल छाया आदि का जो लाभ है, उतनी ही उसकी उपयोगिता है। इसी प्रकार गिलोय को बलवर्द्धक तथा रोग निवारक माना जाता है। दुर्बलता एवं ज्वर जैसे शरीर कष्टों को दूर करने में औषधि जैसा जो लाभ उसका है, वही उसकी उपयोगिता है। पर इतना ही मूल्य उसका नहीं है। जैसे मनुष्य शरीर के भीतर एक सूक्ष्म, अद्ध्य आत्मा

रहता है, उसी प्रकार इन दोनों औषधियों की भी आत्मा है, जिसे भावना एवं प्रेरणा कहना चाहिए। संस्कारों में इसी की व्याख्या-विवेचना की जानी अभीष्ट है।

यों स्थूल दृष्टि से भी ये दोनों औषधियाँ गर्भिणी के लिए व गर्भस्थ शिशु के लिए शारीरिक आरोग्य बढ़ाने वाली हैं। गर्भावस्था में अपच, उल्टी, आलस, सिर-दर्द, नींद कम आना, कमर में दर्द आदि की शिकायत रहती है। इनको दूर करने में ये पद्म सौम्य औषधियाँ बड़ी उपयोगी मानी गई हैं। इनका थोड़ा-सा अंश अभिमन्त्रित करके इसलिए पिला दिया जाता है कि माता तथा उसके उदरस्थ शिशु के शरीर में कोई हानिकारक रोग कीटाणु हों तो वह नष्ट हो जाएँ, बल बढ़े तथा पोषण में सहायता मिले। इन्हें सुँघाया इसलिए जाता है कि उनके अन्दर जो प्रेरणा एवं भावना सन्निहित है, उसका प्रभाव गर्भिणी के तथा उसके अन्तराल में बैठे हुए बालक के मस्तिष्क तक पहुँचे। नाक के द्वार से ही कोई वस्तु मस्तिष्क में पहुँचती है। सुँघाने का प्रयोजन यही है कि बरगद एवं गिलोय की आत्मा में समाये हुए संस्कार इन दोनों मस्तिष्कों पर अपना प्रभाव पहुँचा सकने में सफल हों। शक्तिशाली वेद-मन्त्रों के उच्चारण से यह कार्य और भी सरल एवं सम्भव हो जाता है।

वट वृक्ष धीरे-धीरे बढ़ता है और दीर्घजीवी होता है। उतावले मनुष्य सब कुछ बहुत जल्दी चाहते हैं, कार्य की व्यवस्था एवं परिपक्वता के लिए जिस दृढ़ता, निष्ठा एवं धैर्य की आवश्यकता होती है वह उनमें नहीं होती, अतएव वे तत्काल आवेश में आकर बहुत कुछ कर डालने की बात सोचते हैं, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् वह जोश पानी के बबूले के तरह ठण्डा हो जाता है और आरम्भ किये हुए कार्य को अधूरा छोड़ बैठते हैं। यह दोष गृहस्थ जीवन में बुरा है। शिशु निर्माण में धैर्य की बड़ी आवश्यकता है। वट अंकुर इस गुण की शिक्षा देते हैं।

वट वृक्ष अपनी जड़ें जमीन में गहराई तक ले जाता है और अपने को हर दृष्टि से मजबूत, परिपुष्ट बनाता है। आँधी-तूफान आते हैं, पर उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते। सब वृक्षों से उसकी आयु भी अधिक होती है। संयमी, सदाचारी रहकर हमें अपने शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य की जड़ें गहराई तक ले जानी चाहिए और हर दृष्टि से अपनी समर्थता, बलिष्ठता एवं परिपुष्टता बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। आँधी-तूफान आते रहते हैं, उनका प्रभाव अपने ऊपर न पड़ने पावे, ऐसी सुदृढ़ मनोभूमि तथा शारीरिक स्थिति बनाये रखनी चाहिए।

वट-वृक्ष अपने विकास, विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जटाएँ भी जड़ के रूप में बदल जाती हैं। वृद्धावस्था को भी युवावस्था में परिणत करने का प्रयास करना चाहिए।

वट-वृक्ष अपने विस्तार का लाभ दूसरे अनेकों को देता है। कितने ही पक्षी उस पर घोंसले बनाकर रहते हैं, उसके फलों से अपना आहार प्राप्त करते हैं ? कितने ही पशु उसकी छाया में विश्राम लेते हैं, अपनी क्षुधा मिटाते हैं। उसकी घनी छाया में कितने ही पथिक सुस्ताते हैं, कथा-प्रवचन, सत्संग तथा देवस्थापन उसके नीचे होते रहते हैं। इन्हीं पारमार्थिक विशेषताओं के कारण उसे देव वृक्ष माना जाता है। उसके दूध, जटा, जड़, छाल, फलों के आधार पर कितने ही रोग दूर होते हैं ? हमारे जीवन भी ऐसे ही उदार, परोपकारी होने चाहिए।

गिलोय की बेल भूमि पर ही नहीं फैलती, वरन् किसी सुदृढ़ वृक्ष का सहारा लेकर ऊपर की ओर उठती जाती है। दुर्बल काया होने पर भी निम्न स्थिति में समतल जमीन में नहीं पड़ी रहती है। हमें जीवनोत्कर्ष की भावनाएँ सदा सजीव रखनी चाहिए। आदर्शवादी सिद्धान्तों का, सुदृढ़ वृक्षों का सहारा लेकर ऊपर उठना चाहिए। अपनी परिस्थितियाँ दुर्बल हों, शरीर, मन एवं अर्थ साधन स्वल्प हों, तो भी सुयोग्य व्यक्तियों का सान्निध्य पकड़कर प्रगति का पथ प्रशस्त करना चाहिए।

गिलोय में गजब की रोग निरोधक शक्ति होती है। बुखार जैसे दुष्ट रोगों के कीटाणुओं को अपने प्रभाव से मार गिराती है। अपने भीतर छिपे हुए कुविचारों एवं कुसंस्कारों से लड़ने और परास्त करने के लिए हमें भी अपने भीतर आवश्यक मनोबल एकत्रित करना चाहिए। संसार में जो कुबुद्धि, दुष्टता एवं अन्ध-परम्परा फैली हुई है, उन सामाजिक बीमारियों को शान्त करने के लिए भी हमें वैसा समर्थ होना चाहिए, जैसा कि रोग निवारण के लिए गिलोय समर्थ होती है।

गिलोय में केवल मारक-संहारक गुण ही नहीं अपितु वह सौम्य, स्निग्ध एवं बलवर्द्धक भी है। उसका रस चिकना होता है। हमारा अन्तःकरण स्नेहसिक्त, सौम्य एवं मधुर होना चाहिए। हमारा व्यक्तित्व सबको पुष्टता, स्फूर्ति एवं सशक्तता देने वाला होना चाहिए।

वट और गिलोय के कुछ थोड़े-से सूक्ष्म संस्कार यहाँ दिये गये हैं। ऐसी और भी अनेक विशेषताएँ उनमें हो सकती हैं, उन्हें ढूँढ़ना चाहिए और उन विशेषताओं को गर्भवती अपनी मनोभूमि में धारण करे तथा वैसे ही संस्कार गर्भवस्थ बालक में रोपे, ऐसी चेष्टा करनी चाहिए। औषधि अवघाण का यही प्रयोजन है।

आश्वास्तना

बालक यद्यपि पत्नी के गर्भ में है, पर वह अकेले ही उसे सुविकसित एवं सुसंस्कारी नहीं बना सकती। उसके लिए पति का योगदान विशेष रूप से अपेक्षित है। माता अपने शरीर के रक्त-मौस से बालक का शरीर बनाती है, नौ मास तक भार वहन करती है, भारी पीड़ा

सहती हुई प्रजनन करती है, अपना रक्त सफेद दूध के रूप में निकाल-निकालकर बच्चे को पोषण करती है, उसके मल-मूत्र, स्नान, वस्त्र तथा दिनचर्या की हर घड़ी साज-सँभाल रखती है। इतना भार तथा त्याग कुछ कम नहीं। माता इतना करके भी अपने हिस्से की जिम्मेदारी पूरी कर लेती है। अब शिशु को सुसंस्कारी बनाने योग्य उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना पिता का काम रह जाता है। उसे पूरा करने के लिए उतना ही त्याग करना, उतना ही कष्ट सहना और उतना ही ध्यान रखना पिता का भी कर्तव्य है। इस कर्तव्य को पूरी तरह पालन करने के लिए पति को पत्नी के कष्ट पर हाथ रखकर आश्वासन देना पड़ता है कि वह इस प्रकार के कर्तव्यों को पूरा करने में तनिक भी प्रमाद या उपेक्षा न बरतेगा।

पुंसवन संस्कार की शिक्षाओं में नौ श्लोक दिये गये हैं। उनकी व्याख्या इस अवसर पर की जानी चाहिए। दोनों को बताना चाहिए कि उन दोनों ने एक महान सामाजिक उत्तरदायित्व अपने कष्ट पर ओढ़ा है। यदि वे राष्ट्र-माता को सदगुणों से सुसज्जित भावी सन्तान के रूप में एक सुरभित हार पहना सकें, तब तो उनका श्रम सार्थक है, अन्यथा रोगी, क्रोधी, आलसी, अपराधी प्रकृति का बालक जन्मा तो उससे अनेकों को जो कष्ट मिलेंगे उनका पाप उनके जन्म देने वाले माता-पिता को भी लगेगा। प्रजनन को मिट्टी से खेलने जैसा एक मखौल मनोरंजन नहीं मानना चाहिए कि बच्चा जन्मा और ढोलक बजाने, बताशे बाँटने की तैयारी हो गई। यह इतनी बड़ी जिम्मेदारी है कि माता-पिता को अपने ऊपर अत्यधिक नियन्त्रण करके बच्चे के स्वस्थ विकास के लिए समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी पड़ती है।

घर में अवतरित होने वाली आत्मा न जाने कितने उत्कृष्ट स्तर की हो, न जाने किस महान आत्मा का अस्तित्व गर्भ में आया हो, यह सोचकर उसके स्वागत, सम्मान का समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए। घर में यह महान मेहमान आ रहा है, उसके लिए वैसी ही परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिए, जैसी कि किसी अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं सम्मानित अतिथि के आगमन पर घर में की जाती है।

इन दिनों शारीरिक श्रम कम बन पड़ता है, आलस रहता है तथा तबियत भी गिरी-गिरी रहती है। ऐसी दशा में जितना श्रम वह सुविधापूर्वक कर सके, उतना ही करने देना चाहिए। जो उससे न बने पड़े, उतने श्रम के लिए दबाया न जाय। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे आलस्य में ही पड़ी रहें। बड़े घरों की स्त्रियाँ अक्सर श्रम से जी चुराती हैं। अतएव उन्हें न तो ठीक से भोजन ही पचता है और न बालक को हिलने-डुलने का अवसर मिलता है। ऐसी दशा में बच्चे का शरीर भी भिचा-भिचा अविकसित रह जाता है और गर्भवती को प्रजनन के समय कष्ट भी बहुत होता है। जो स्त्रियाँ चक्की चलाने

१. ८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

जैसा श्रम करती हैं, उनके बालक का भी व्यायाम होता रहता है। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए श्रम का सन्तुलन रखा जाय। न आलसी बना जाय और न इतनी मेहनत की जाय जो शरीर और मन को तोड़कर रख दे।

आस्तिकता का वातावरण इन दिनों बना ही रहना चाहिए। आस्तिकता का प्रभाव आत्म-बल बढ़ाने के लिए अनुपम उपाय है। उपासना से अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें दिव्य प्रकाश बढ़ता है। इसलिए गर्भवती को नित्य नियमित रूप से ईश्वर उपासना अवश्य करनी चाहिए। भारतीय धर्म में गायत्री ईश्वर की सर्वोपरि उपासना मानी गई है। यह महाशक्ति सदबुद्धि की देवी है। गायत्री जप से सदबुद्धि का उदय होता है, भावनाएँ शुद्ध होती हैं और आन्तरिक प्रगति का पथ प्रशस्त होता है। इसलिए जिन्हें पूरा गायत्री मन्त्र याद हो सके वे पूरा जप किया करें। अशिक्षित “ॐ भूर्भुवः स्वः” इतने से भी काम चला सकती हैं। स्नान करके एक माला नियमित जप करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब भी अवसर हो गायत्री महामन्त्र का मानसिक जप करते रहना चाहिए। जिन्हें भगवान का कोई अन्य नाम प्रिय हो, वे उससे भी काम चला सकती हैं। घर में भगवान की स्थापना, पूजा-वेदी, प्रातः-सायं आरती, भोग-प्रसाद का वातावरण हर आस्तिक के घर में रहना चाहिए। ऐसे वातावरण का प्रभाव नवीन आत्मा के मंगलमय अवतरण में विशेष रूप से श्रेयस्कर होता है। आस्तिकता का प्रभाव उत्कृष्टता के रूप में ही देखा जाता है।

उपरोक्त आशय की शिक्षाएँ पुंसवन संस्कार के साथ जुड़े नौ श्लोकों में दी गई हैं। इनका जहाँ जैसा वातावरण या परिस्थिति हो, उसका समन्वय करते हुए विवेचन किया जाना चाहिए। पति के द्वारा पत्नी के कंधे पर हाथ रखकर जो आश्वासन दिया जाता है उसको एक गोल बात ही नहीं रहने देना चाहिए, वरन् वह सब कुछ बताया जाना चाहिए जो उसे करना है।

पति परिवार का प्रतिनिधि है, चूँकि पत्नी, पति के माध्यम से ससुराल में आई है। गर्भ स्थापना का उत्तरदायी भी वही है, इसलिए प्रधान आश्वासन तो उसे ही देना चाहिए। घर के लोगों के असहमत होने पर भी उपरोक्त कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। पर इतने से ही बात पूरी नहीं हो जाती। परिवार के अन्य लोगों का भी गर्भवती पर प्रभाव रहता है और वे भी उसकी शारीरिक, मानसिक क्रम-व्यवस्था बनाने-बिगाड़ने में बहुत हद तक सहायक होते हैं। इसलिए इस ‘आश्वासन क्रिया’ में परिवार के अन्य लोगों को भी सम्मिलित किया जाना उचित है। परिवार के अन्य लोगों के हाथ में एक-एक फूल दिया जाय और आश्वास्तना मन्त्र के साथ वे सब उस पुष्प को गर्भवती को वैसा ही आश्वासन देने की भावना के साथ प्रदान करें। गर्भवती उन पुष्पों को कृतज्ञतापूर्वक शिरोधार्य करें और अपना साहस एवं सन्तोष

बढ़ाने के लिए उन आश्वासन-पुष्पों को सुरक्षित रखे। इस प्रक्रिया के साथ-साथ पति ही नहीं, घर के सभी लोगों को यह उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिए कि होनहार आत्मा की उत्कृष्ट स्थिति बढ़ाने के लिए उन सभी को अपना-अपना योगदान करना है।

चरु प्रदान

गायत्री मन्त्र की आहुतियाँ पूर्ण हो जाने पर—(१) स्वष्टकृत से पूर्व खीर की पाँच-पाँच आहुतियाँ पति-पत्नी को देनी होती हैं। गाय का दूध, चावल, मेवा, जरा-सी शक्कर डालकर खीर बनानी चाहिए और उसे एक बड़े कटोरे में रख चम्मचों के साथ पति-पत्नी के सामने रख देना चाहिए। “ॐ घाता दधातु” मन्त्र पाँच बार उच्चारण करके पाँच-पाँच आहुतियाँ पति-पत्नी दोनों को देनी चाहिए। आहुतियों के बाद बची हुई खीर गर्भिणी को खाने के लिए दी जाती है। इसे चरु-प्रदान क्रिया कहते हैं। आहुतियाँ पूरी होने के बाद पूर्णाहुति, वसोधारा, आरती, घृत-अवघ्राण, भस्म धारण, क्षमा प्रार्थना, नमस्कार, शुभ कामना, अभिसिंचन, प्रदक्षिणा तथा उपस्थित लोगों द्वारा श्रद्धाञ्जलि देने के कृत्य किये जाने चाहिए। इसके पश्चात् यज्ञ से बची हुई उस खीर को यज्ञ के प्रसाद स्वरूप गर्भिणी को प्रदान किया जाना चाहिए। यह ‘चरु-प्रदान’ है। आहुतियों से लेकर श्रद्धाञ्जलि तक कई क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, तब ‘चरु-प्रदान’ का नम्बर आता है। इस बीच के समय उस बची हुई खीर को ढककर एक ओर रख देना चाहिए ताकि उसके फैलने, गन्दी होने या मक्खी आदि पड़ने को भय न रहे।

यज्ञ में बची हुई खीर यज्ञीय संस्कारों से युक्त होती है। यह देवताओं का प्रसाद भी होती है। दशरथजी ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया था, तब यज्ञ से बची हुई खीर तीन रानियों को खिलाई गई थी। उससे उन्हें होनहार सन्तानें प्राप्त हुई। यह यज्ञ-चरु गर्भस्थ शिशु को संस्कारवान् बनाने के लिए एक अद्भुत औषधि की तरह अपना प्रभाव प्रदान करती है।

इस चरु-पात्र को सम्मानपूर्वक गर्भिणी को “ॐ पयः पृथिव्यां” इस मन्त्र के साथ दिया जाता है। इसे वह ले जाती है और उस दिन के आहार में सबसे प्रथम इस चरु को ही ग्रहण करती है। कोई और चीज इसके बाद खानी चाहिए। यह यज्ञ-उच्छिष्ट माता और बालक दोनों के ही अन्तःकरण पर प्रभाव एवं संस्कार छोड़ता है जिससे उनकी मनोभूमि में भविष्य को प्रकाशवान् बनाने वाले सदगुण उदय होने लगते हैं। इस चरु को जितनी अधिक श्रद्धापूर्वक सेवन किया जायेगा, उतना ही उसका अधिक प्रभाव पड़ेगा। औषधियों में अपना निज का जितना गुण होता है, उससे अनेक गुना सेवन करने वाले की श्रद्धा द्वारा विनिर्मित हो जाता है। जिस चिकित्सक पर विश्वास हो, उसकी साधारण दवा भी

जादू जैसा काम करती है, किन्तु जिन पर अविश्वास हो उसकी कीमती औषधियाँ भी कुछ काम नहीं करती। वेद-मन्त्रों से अभिमन्त्रित, यज्ञ भगवान का उच्छिष्ट यह चरु-प्रसाद यदि गर्भवती ने परिपूर्ण श्रद्धा के साथ सेवन किया होगा तो उसे अपनी श्रद्धा का भी मनोवैज्ञानिक लाभ होगा, चरु का अपना फल तो है ही।

दूध और चावल दो पृथक् स्थानों पर पैदा होते हैं, पृथक् गुण, कर्म और स्वभाव के भी हैं, पर वे दोनों जब अपनी-अपनी पृथक्ता समाप्त करके एक-दूसरे में समर्पित हो जाते हैं, तब उनका सम्मिलित स्वरूप खीर बनता है। इसे देव भोजन की गरिमा मिलती है। यज्ञ कार्यों में इसे उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार पति-पत्नी भले ही दूर-दूर स्थानों में जन्मे हों, भिन्न-भिन्न प्रकृति के हों, फिर भी यदि वे परस्पर पूरी तरह घुल-मिल जाते हैं, एक-दूसरे के लिए अनन्य आत्मीयता रखते हैं, सहिष्णुतापूर्वक एक-दूसरे की कमी को निबाहते हैं और उसके पूरक बनने का प्रयत्न करते हैं, तो उनका सम्मिश्रित स्वरूप दम्पति जीवन देवप्रिय खीर बन जाता है।

दूध और चावल दोनों के पूर्णतया आत्मसात हो जाने पर एक तीसरी चीज खीर बनती है। उसे जीवन-यज्ञ, समाज यज्ञ की पूर्णता के लिए प्रयोग किया जाता है। पति-पत्नी में जितना अधिक प्रेम, विश्वास एवं सहयोग होगा, उसी अनुपात से उनका सम्मिश्रित निर्माण-सन्तानोत्पादन सफल रहेगा। ऐसे दम्पति ही सदगुणी और सुसंस्कृत बालक उत्पन्न कर पाते हैं। देखा गया है कि जिन स्त्री-पुरुषों में परस्पर मनोमालिन्य, असन्तोष एवं असहयोग रहता है, कोई किसी की उपेक्षा अथवा अनादर करता रहता है, तो उसका बुरा प्रभाव बालक के स्वभाव एवं शरीर पर भी आता है। ऐसे बालक मन्द बुद्धि, कुरूप एवं अनेक दोष-दुर्गुणों से, रोगों से ग्रसित पाये जाते हैं। सुसन्तति की आशा वहीं की जा सकती है, जहाँ पति-पत्नी में अनन्य प्रेम हो। जिस प्रकार दोनों के रज-वीर्य के सम्मिश्रण से बालक का शरीर बनता है, उसी प्रकार दोनों के बीच परस्पर सम्बन्धों के मिश्रण से उसका स्वभाव एवं मानसिक स्तर बनता है। इस तथ्य को 'चरु-प्रदान' की क्रिया के माध्यम से हृदयंगम करना चाहिए। यदि अब तक पारस्परिक सम्बन्धों में तनिक भी खिचाव रहा है तो इन दिनों उस भूल को तुरन्त सुधार लेना चाहिए। अपनी ओर से जो भूल हो रही हो, उसे ढूँढ़ने तथा सुधारने का प्रयत्न किया जाय और साथी की त्रुटियों को हँसते हुए निबाहने एवं प्रेमपूर्वक सुधारने के लिए सचेष्ट रहा जाय तो कटुता एवं उपेक्षा आसानी से स्नेह-सहयोग में परिणत हो सकती है।

सदभाव एवं शुभकामना संचय

गर्भवती को अपने पति का नहीं वरन् पूरे परिवार का ही स्नेह-सद्भाव अपने लिए अर्जित करना चाहिए। इन

दिनों उसे क्रोध तो तनिक भी नहीं करना चाहिए। रूठना, कुढ़ना, भोजन छोड़ बैठना जैसी बुरी आदतें तत्काल छोड़ देनी चाहिए। घर का कोई व्यक्ति कटु या अनुचित व्यवहार करे तो भी अपनी शालीनता तथा उदारता से उसे उपेक्षा में बहलाकर अपना मानसिक सन्तुलन सही बनाये रखना चाहिए। उत्तेजना का वातावरण शान्त हो जाने पर पीछे उचित अवसर पर अपनी भूल हो तो उसकी क्षमा-याचना और यदि गलतफहमी हो तो उसका स्पष्टीकरण नम्रता और मधुरता के साथ कर देना चाहिए। इससे कटुता दूर हो जाती है। लड़ाई तो तब बढ़ती है, जब आवेशग्रस्त होकर कटु व्यवहार करने वाले को वैसा ही तुर्की-व-तुर्की जवाब दिया जाता है। आग को आग से नहीं पानी से शान्त किया जाता है। आवेश का आवेश के साथ उत्तर देने पर बात बढ़ जाती है, किन्तु यदि एक पक्ष शालीनता एवं सज्जनता अपनाये रहे तो आवेशग्रस्त को जल्दी ही शान्त कर सकता है। गर्भवती को अपना स्वभाव ऐसा ही शालीनता एवं सज्जनतापूर्ण बनाना चाहिए ताकि घर में भी शान्ति रहे, उसकी प्रशंसा भी हो और बालक पर वैसी ही छाप पड़े।

मधुर व्यवहार, शिष्टाचार, सेवा भाव, मुस्कान, समादर के साथ घर के लोगों से व्यवहार किया जाय तो कई तरह की त्रुटियाँ रहने पर भी सद्भाव रखते हैं। सारे परिवार का सद्भाव प्राप्त करने के लिए गर्भवती को पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए। श्रद्धा के बदले आशीर्वाद मिलता है। इसलिए परिवार के सभी सदस्यों के प्रति समुचित श्रद्धा, सहानुभूति एवं समादर बुद्धि रखी जाय तो वे सभी अपने प्रशंसक रहेंगे और वाणी या गन से आशीर्वाद देते रहेंगे। यह शुभकामना गर्भवती एवं गर्भस्थ बालक के भावनात्मक विकास में सब प्रकार सहायक होती है।

अपने से बड़ों को नित्य चरण-स्पर्श करने का नियम इसी पुंसवन के दिन से गर्भवती को बना लेना चाहिए। सास, ससुर, जिठानी, ननद, बुआजी, दादी आदि सभी बड़ों के प्रातःकाल उठकर चरण-स्पर्श करने का नियम बना लेना चाहिए और उसे स्मरणपूर्वक नित्य ही प्रयोग में लाना चाहिए। इस प्रकार के श्रद्धा व्यवहार से बालक भी श्रद्धालु प्रकृति का होता है और बड़ों के आशीर्वाद तथा छोटों के सद्भाव का लाभ निरन्तर मिलते रहने से बालक भावनात्मक स्तर का सुविकसित बनता है। गर्भवती को प्रसन्नता एवं सन्तोष का लाभ मिलता रहता है, सो अलग। गर्भवती का यह नियम यदि पहले से ही नहीं चल रहा है तो पुंसवन संस्कार के दिन से तो उसे आरम्भ कर ही देना चाहिए।

संस्कार के अन्त में सब लोग मिलकर पुष्प बिखेरते हुए आशीर्वाद देते हैं, तब उन्हें भी यह समझना चाहिए कि वे आज ही नहीं निरन्तर अपनी सद्भावना, शुभकामना उसके ऊपर अजस्र रूप में बरसाते रहें।

१. १० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

गर्भिणी की ओर से- कोई भूल हो तो उसके ध्यान में न लाते हुए सभी अपना कर्तव्य पालन करें। गर्भस्थ बालक को सच्चा मानसिक आहार इन महीनों में अधिकाधिक सद्भाव आशीर्वाद देकर ही पहुँचाया जा सकता है। इसमें घर का कोई सदस्य अपनी ओर से किसी प्रकार की कमी न रहने दे। जन्मने के बाद तो शिशु को सभी प्यार करते हैं, आवश्यकता इस बात की है कि जन्म से पूर्व भी माता की मारफत उस तक अधिकाधिक स्नेह पहुँचाया जाय। यदि वह भावनात्मक आहार उसे समुचित मात्रा में मिलता रहा तो निःस्संदेह उसमें साहस, धैर्य, पराक्रम, संयम, व्यवस्था, सज्जनता, बलिष्ठता, प्रतिभा जैसी कितनी ही विशेषताएँ आरम्भ से ही उपजने और बढ़ने लगेंगी। शुभ संस्कारों के बीजारोपण का उपयुक्त समय पुंसवन संस्कार के दिन से ही आरम्भ हो जाता है, इसलिए इस पवित्र पारिवारिक उत्तरदायित्व को घर का हर सदस्य निवाहने के लिए पूरी तरह तत्पर होना चाहिए। पुंसवन की यह प्रेरणा सभी को शिरोधार्य करनी चाहिए।

गर्भ में बालक का विकास

गर्भ में रहने के बाद से शरीर-रचना के पूर्णतया प्राप्त होने तक बच्चे के अंगों का लगभग अस्सी प्रतिशत विकास हो जाता है। जब तक वह गर्भ में बनता और बढ़ता रहता है, उसके शरीर को अधिक से अधिक कोषों की आवश्यकता पड़ती है, जो संख्या में लाखों तक पहुँच जाते हैं। जिस प्रकार सुन्दर व मजबूत इमारत बनाने के लिए मजबूत ईंटों व अच्छे मसाले की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार शिशु की रचना के लिये अच्छे व स्वस्थ कोष चाहिए। यह मानी बात है कि जब बच्चे के शरीर का पोषण माता के शरीर के भीतर ही होता रहता है तो उसकी आवश्यकता के उचित माल-मसाला माता के खाये हुए भोजन पर ही निर्भर रहता है।

शिशु की नाभि में नाल लगा होता है, जिसे उसके पैदा होने के बाद काट दिया जाता है। गर्भाशय में बच्चे की नाभि से निकला हुआ नाल बच्चेदानी की सतह में बने हुए प्लेसेंटा अर्थात् कमल से जुड़ा रहता है और इसी के द्वारा गर्भ अथवा भ्रूण माता के शरीर से सम्बन्धित होता है। प्लेसेंटा में बहुत-से ऐसे स्थान होते हैं, जो रक्त से भरे रहते हैं। प्लेसेंटा को हम एक छोटा-सा रसोईघर कह सकते हैं। जिस प्रकार ब्लॉटिंग-पेपर स्याही को सोख लेता है, उसी प्रकार प्लेसेंटा माता के शरीर में दौड़ते हुए रक्त से बच्चे के योग्य खाद्य-पदार्थ सोख लेता है और उसे फिर नाल द्वारा बच्चे की रक्त नाड़ियों में पहुँचा देता है। माता की रक्त-नाड़ियों से एक बूँद भी रक्त बच्चे की रक्त-नाड़ियों में सीधा नहीं पहुँचता। माता और शिशु के बीच एक अच्छी-खासी दीवार रहती है और माता के शरीर के भीतर ही रहता हुआ बच्चा अपना अस्तित्व माता से अलग रखता है। पर

जिस प्रकार बिना जड़ की अमरबेल अपना अलग अस्तित्व रखते हुए भी किसी अन्य वृक्ष में अपने अंकुर गढ़ाकर अपना भोजन चूस लेती है, उसी प्रकार गर्भस्थ शिशु भी नाल के द्वारा माता के शरीर से ही अपना पोषण किया करता है। उसका पोषण केवल माता के शरीर में दौड़ते हुए रक्त से होता है।

अच्छा रक्त अच्छे और पौष्टिक भोजन पर ही निर्भर है। नशीली अथवा जहरीली वस्तुओं के गुणावगुण, सोचने का ज्ञान नाल अथवा प्लेसेंटा में नहीं होती। यदि माता शराब या तम्बाकू पीती है तो इन दोनों में पाये जाने वाले विष बच्चे के शरीर के तन्तुओं में पहुँच जाते हैं और बहुत हानि पहुँचाते हैं। गर्भावस्था में कुनैन नाम की दवा अधिक मात्रा में खाने से बहरा बच्चा पैदा होने का अन्देशा रहता है। अफीम या मारफिया खाने वाली माँ अधिकतर नशेबाज या ऊँधते-से बच्चे को जन्म देती है। भाग्यवश हमारे देश में शराबी, अफीमची, गँजेड़ी, भंगेड़ी अथवा सिगरेट फूँकने वाली स्त्रियों की संख्या बहुत कम है, अतः गर्भस्थ शिशु पर इन पदार्थों के प्रयोग के प्रभाव विस्तार सहित लिखने की आवश्यकता नहीं दीखती। पर सभ्य कहे जाने वाले समाज में (शिक्षित नव-युवकों में) एक बात अवश्य देखने में आती है। दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व लोग जिन आदतों को बुरा समझते थे और उनसे दूर रहने का प्रयत्न करते थे, उनके अब शिक्षित नवयुवक खुल्लम-खुल्ला अपनाने लगे हैं। सिगरेट और शराब तो आजकल में दाखिल हो गये हैं। गाली बकना आज का वेद-मन्त्र उच्चारण है। इन बुराइयों का प्रभाव गर्भस्थ बालक पर पड़ता है। इसलिए आहार और विचार दोनों की ही समुचित सावधानी रखी जानी चाहिए।

बहुत-सी माताएँ जब तक उनके गर्भ रहता है, मिर्च, खटाई और अचार के पीछे पड़ी रहती हैं। यह बहुत ही हानिप्रद है। मिर्च, खटाई का अधिक उपयोग साधारण स्थिति में ही बहुत हानि पहुँचाता है। गर्भावस्था में तो यह हानिकारक वस्तुएँ विशेष रूप से मना हैं। स्वाद भर के लिए तरकारी में नाममात्र मिर्च डाली जा सकती है पर किसी भी रूप में उसे न खाना चाहिए। तेल में पकी हुई चीजें खाना भी छोड़ देना चाहिए। सबसे बढ़कर लाभदायक और बिना पैसे की वस्तु है पानी। पानी खूब पीना चाहिए। डाक्टरों का कहना है कि गर्भस्थ शिशु की सुन्दरता गढ़ने वाले नुस्खे में कुदरत ने स्वच्छ, ठण्डे पानी को विशेष महत्त्व दिया है।

गर्भावस्था के नौ महीनों में ज्यों-ज्यों पेट बढ़ता जाता है, पीठ की माँसपेशियों पर जोर भी अधिक बढ़ता जाता है। उन माँसपेशियों के आराम के लिए दिन में कई बार दस-दस मिनट के लिए तखत अथवा समतल भूमि अथवा किसी कड़ी सतह पर पीठ के बल घुटने मोड़कर लेटे रहना चाहिए। इससे पीठ की माँसपेशियों को आराम मिलता है और माता का शरीर भी भद्दा नहीं होने

पाता। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे अत्यधिक थकान मालूम हो।

यह तो एक साधारण-सी बात है। मनुष्य जब चिन्ताग्रस्त होता है अथवा उसे कोई बड़ा दुःख होता है तो वह चाहे जितने प्रकार के पौष्टिक पदार्थ खाये, उसके शरीर में कुछ लगता ही नहीं। माता के चिन्तित होने से अथवा दुःखी रहने से उसके शरीर पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। उद्विग्न मन से अस्त-व्यस्त हुआ पाचन-संस्थान ठीक प्रकार भोजन पचा नहीं पाता, फिर गर्भ में बच्चे को भोजन कहाँ से मिलेगा, जो माता के खाये हुए भोजन के बने रक्त से ही खाद्य-पदार्थ चूसकर पलता है। हँसमुख होना, प्रसन्नचित्त रहना भी एक संक्रामक विषय होता है, जो एक-दूसरे के संसर्ग से फैलता रहता है। यदि माता हँसमुख है, सदा प्रसन्न रहती है, तो उसके बच्चे में भी यह गुण पाया जायेगा। प्रसन्नचित्त माता के मुहर्मी बच्चा होने की सम्भावना बहुत कम होती है। स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सुख—जहाँ यह तीनों हों, वहाँ और क्या कमी रह जाती है ?

पाश्चात्य देशों में बालक पर माता-पिता के प्रभाव एवं उसे सुन्दर बनाने के विषय पर बहुत मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है और इसके लिए वहाँ के वैज्ञानिक गर्भवस्थ शिशु पर माता के रहन-सहन, खान-पान के प्रभाव के विषय में कोई प्रमाणपूर्ण बात की खोज में लगे रहे हैं। ऐसे ही एक प्रयोग के अन्तर्गत जिस मैदान में भेड़ें चरने के लिए जाया करती थीं, वहाँ एक वैज्ञानिक ने ऊँचे-ऊँचे बहुत-से तख्ते खड़े कर दिये, जो आधे काले और आधे सफेद पुते हुए थे। कहा जाता है, गर्भवती भेड़ों पर उन तख्तों को निरन्तर देखते रहने का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनके बच्चे चितकबरे पैदा हुए।

किस प्रकार के दम्पति कैसी सन्तान को जन्म देते हैं, इस विषय में मेण्डल नाम के एक वैज्ञानिक के आरम्भ किये हुए अनुसन्धानों के आधार पर आज तक खोज चल रही है। वैज्ञानिकों का कुछ ऐसा विश्वास-सा हो गया है कि सन्तान का स्वास्थ्य, उसकी सुन्दरता अधिकतर इस बात पर निर्भर करती है कि उसके माता-पिता का जोड़ कैसा है ? यदि दोनों की आँखों की पुतलियाँ काली हैं, तो सन्तान भी काली पुतलियों वाली होगी, यदि कंजी है, तो सन्तान भी कंजी होगी। यदि दोनों का रंग गौरा है, तो काली सन्तान होने की बहुत कम सम्भावना है। यदि माता-पिता दोनों लम्बे कद के हैं, तो सन्तान भी औसत लम्बाई वालों से ऊँची होगी। यदि माता-पिता ठिगने कद के हैं, तो सन्तान भी ठिगनी होगी। पर उन दोनों से थोड़ी ऊँची होगी। यदि दोनों में एक लम्बा है, एक ठिगना, तो सन्तान का कद ठिगना होने की अधिक सम्भावना है। इकहरे शरीर वाले माता-पिता की सन्तान उनसी हो सकने की अधिक आशा है, पर मोटे अथवा दोहरे शरीर वाले माता-पिता के बच्चे उनसे नहीं भी हो सकते हैं।

गर्भवस्थ शिशु का पोषण

केवल शरीर-गठन, स्वास्थ्य-संरक्षण और आदतों से ही नहीं, बच्चे की चेतन-शक्ति का विकास भी माता के सोचने और चिन्तन के अनुरूप ही विकसित होता चला जाता है। शिशु पर उन बाह्य-परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है, जिनसे माता प्रभावित होती है। कहने का भाव यह कि शिशु—माँ के भीतर बैठा हुआ वह जीव है, जो अपना सब कार्यकलाप माता की इन्द्रियों के माध्यम से ही सम्पन्न करता है।

शिशु जब जन्म लेता है और जब तक माता का दूध पीता रहता है, उस समय तक उसका स्वास्थ्य बहुत कुछ माता के भोजन पर निर्भर करता है। उसकी दूसरी आदतों में माँ का ही विशेष हाथ रहता है, फिर भी बाद में बालक अन्य क्षेत्रों से भी कुछ सीखना प्रारम्भ करता है, परन्तु भोजन के सम्बन्ध में उस समय भी वह माता के खान-पान से प्रभावित होता रहता है।

अतः माता के भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जिस समय गर्भ में बालक के शरीर का विकास होने लगता है, माता के शरीर में उपस्थित पोषक-तत्वों की बड़ी कमी पड़ने लगती है क्योंकि माता के रक्त, मांस, हड्डी से ही बालक का शरीर बनना प्रारम्भ होता है। फलस्वरूप माता के शरीर में प्रोटीन, खनिज-लवण, विटामिन, कैल्शियम, फॉस्फोरस की कमी पड़ने लगती है और माता का शरीर इनके अभाव में दुबला-पतला, शक्तिहीन और पीला पड़ने लगता है।

इस समय उसे इन सभी पोषक-तत्वों की पूर्ति उसके अनुरूप पोषण-तत्वों को देकर करनी चाहिए और इसके लिए सन्तुलित आहार के चार्ट से बड़ी सहायता मिलती है। प्रोटीन की पूर्ति दो दाल वाले अनाज जैसे—चना, मटर, अरहर आदि एवं फलों और सागों से होती है।

साथ ही साथ दूध का भी उचित मात्रा में नित्य प्रयोग करना चाहिए क्योंकि दूध से प्राप्त प्रोटीन उच्च कोटि का होता है और शीघ्र पचता है, इसमें सभी प्रकार के तत्व पाये जाते हैं, जो बड़ी शीघ्रता से पूरे अंग में फैल जाते हैं। बालक की हड्डियों और दाँतों का निर्माण कैल्शियम से होता है। यह भी दूध से प्राप्त होता है, इसलिए गर्भिणी के स्वास्थ्य एवं शिशु दोनों के लिए दूध का यथेष्ट मात्रा में उपयोग होना चाहिए।

ताजे फल, हरी सब्जियाँ, मक्खन, घी, मट्ठा, दही एवं मेवे का भी यथाशक्ति प्रयोग करना चाहिए। फलों का प्रयोग शरीर को हल्का, विकाररहित एवं प्रसन्नचित्त बनाता है। हरी सब्जियाँ पचने में सरल एवं मल के निष्कासन में सहायक होती हैं। इनसे भोजन सुपाच्य हो जाता है।

छोटे बच्चे अपनी इच्छानुकूल खिलौने पाकर फूले नहीं समाते। विद्यार्थी परीक्षा में उत्तीर्ण होने की बात सुनकर आत्मविभोर हो उठते हैं। ठीक यही इसके विपरीत होने पर उनका हृदय कुण्ठित हो जाता है। इसी के अनुरूप गर्भवती माता की और उसके गर्भ में आये हुए बच्चे की परिस्थिति समझनी चाहिए।

इस सन्दर्भ में महर्षि स्मृत का आदेश है कि गर्भवती माँ, जिसे दौहद अर्थात्—‘दो हृदय रखने वाली’ कहते हैं, उसकी इस अवस्था की प्रत्येक इच्छाओं की पूर्ति करनी चाहिए क्योंकि उसकी इच्छाओं की पूर्ति के साथ गर्भ के बच्चे की इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और बच्चे का मन प्रसन्न-मुद्रा में रहता है, जिससे उसे दीर्घायु मिलती है और वह वीर्यवान होता है। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गर्भवती की कुछ इच्छाएँ स्वास्थ्य के विचार से न्यायसंगत नहीं रहतीं। ऐसे अवसर पर बड़े विवेक एवं चतुरता से उनका समाधान करना चाहिए अन्यथा शिशु में दोष आ जायेंगे।

ऐसा वातावरण बनाये रखना चाहिए कि गर्भवती माता की मनःस्थिति सुव्यवस्थित एवं सन्तुष्ट और आशा से परिपूर्ण बनी रहे। इसके लिए उसे सुन्दर, सुसज्जित स्थान में रहना चाहिए। उसके कमरे में वीर-पुरुषों के चित्र और विचारकों के उद्देश्य सूक्ष्म रूप में लिखकर लगे रहने चाहिए। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बड़े अच्छे ढंग से पड़ता है।

हम देखते हैं कि छोटे बच्चे अपनी माता तथा पास-पड़ोसियों की बातों और उनके कार्यों से बहुत जल्दी प्रभावित हो जाते और उनके अनुरूप काम करने लगते हैं। यही बात गर्भवस्थ-शिशु की भी है। माता जैसी क्याएँ पढ़ती, जैसा सुनती है, उसकी ही छाप गर्भवस्थ-बालक पर भी पड़ती रहती है। अतः माताओं का यह आवश्यक कार्य है कि गर्भवस्थ शिशु के कल्याण और उनके भविष्य का सर्वप्रथम ध्यान रखकर अपना खान-पान और रहन-सहन बनावें।

गर्भवती स्त्री की सावधानियाँ

माता बनना गौरव की बात है, परन्तु श्रेष्ठ सन्तान की माता बनना सौभाग्य की बात है। सात्विक माता-पिता की सन्तानें जिनका लालन-पालन उचित रीति से होता है, उन्हीं से माता-पिता सुख उठाते हैं और संसार का भी कुछ हित-साधन होता है। उत्तम सन्तान के लिए भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा। जन्म से पहले भी और गर्भवस्था से शैशव काल तक।

यह तैयारी का समय होता है, जिस दिन से गर्भ में बालक आ जाता है, उसी दिन से माता-पिता पर भारी जिम्मेदारी आ जाती है। कुछ नवीन कार्य उन्हें करने आवश्यक हो जाते हैं और पहले से करते रहने वाले

कुछ कार्यों को उन्हें ‘निषेध’ करना पड़ता है। माता को अपने खान-पान, सोच-विचार की शैली, दिनचर्या में आवश्यक हेर-फेर करना पड़ता है, पिता को कुछ अधिक ध्यान देना अनिवार्य रहता है। घर के सभी लोगों को भी गर्भवती माता की विशेष रूप से देखभाल करनी चाहिए।

आयुर्वेद का श्लोक है—

उपचारः प्रियहितैर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक्।

नवनीतघृतक्षीरेः सदा चैनामुपाचरेत्॥

गर्भवती स्त्री के साथ पति और भृत्यादिकों का प्रिय और हित उपचार गर्भ के स्थिर रखने में और पुष्ट करने में हितकारी होता है, यथा गर्भवती स्त्री को घृत, मक्खन और दूध आदि हितकारक पदार्थों का प्रयोग कराते रहना चाहिए, जिससे गर्भ का बालक सुन्दर और सर्वगुण सम्पन्न हो।

खान-पान—उपरोक्त श्लोक के अनुसार गर्भवस्थ बालक में तीन विशेषता उत्पन्न करने के लिए उसके खान-पान पर सर्वप्रथम ध्यान देना पड़ेगा। ये तीन विशेषताएँ हैं—(१) सन्तान का सुन्दर होना, (२) पुष्ट अर्थात् स्वस्थ होना, (३) सर्वगुण सम्पन्न होना।

शायद प्रत्येक माता-पिता, अपनी सन्तान में यह तीन विशेषताएँ पैदा करना चाहेंगे। कौन अभागा होगा जो न चाहेगा, परन्तु इच्छा मात्र से काम चलने वाला नहीं। जब ‘इच्छा’ के साथ ‘प्रयत्न’ को जोड़ा जायेगा तभी फल मिलेगा। अतः उपाय भी करना चाहिए।

गर्भवती स्त्री को घी, मक्खन, दूध, फल शाक आदि सुपाच्य और बलवर्द्धक वस्तुओं का सेवन अधिकाधिक करना चाहिए। गरीब लोगों को भी यथासम्भव अपनी सामर्थ्यानुसार इस सम्बन्ध में अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए। परिवार के लोगों को विशेष रूप से गर्भवती स्त्री के लिए घी-दूध की व्यवस्था कर देनी चाहिए। स्त्रियाँ वैसे तो स्वभाव से संकोची होती हैं फिर भी त्यागी मनोवृत्ति की होती ही हैं। अपने पति, बच्चों या दूसरों को छोड़कर स्वयं दूध पीना, घी खाना उनके लिए अटपटा लगने लगता है। अतः यदि पति व्यवस्था भी करदे तो जब वह बाहर चला जाता है तो चुपके से बच्चों को पिला देंगी, समय से स्वयं न पियेंगी। इसलिए पति को या बड़ों को इस पर ध्यान देना चाहिए, प्रारम्भ में थोड़े दिनों तक अपने सामने उनको घी, दूध का सेवन कराना चाहिए ताकि उनका संकोच मिट जाये, आदर्य पड़ जाये। घर के सब लोगों तथा पति को गर्भवती स्त्री के मन में यह विश्वास जमा देना चाहिए कि यह विशेषता उसे अपने लिए नहीं वरन् बच्चे के लिए करनी पड़ रही है, यदि ऐसा न करेगी तो बच्चा हृष्ट-पुष्ट न होगा।

गर्भवती को हल्का, सुपाच्य और भूख से कम भोजन करना चाहिए। दूँस-दूँसकर खाना किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं होता।

गर्भ के दिनों में स्त्रियों की तबियत आमतौर पर अच्छी नहीं रहती। जी मिचलाना, दिल धबकाना, बदन टूटना, सिर चकराना ये शिकायतें उन्हें इन दिनों में आमतौर पर रहती हैं। मुँह का स्वाद भी बहुधा बिगड़ जाता है। जीभ अजीब-अजीब चीजें जैसे—कोयला और मिट्टी आदि खाने को माँगती है। ये सब बातें अस्वस्थता के लक्षण हैं। शास्त्र निर्देश है—

अतिव्यवायमायासं भारं प्रावरणं गुरु।

अकाल जागर स्वप्नम् कठिनोत्कटकासनम्॥

शोक क्रोध भयोद्वेग वेग श्रद्धा विधारणम्।

उपायासाध्वतीक्ष्णोष्ण गुरु विष्टं भिभोजनम्॥

रक्ते निवसनंश्चक्षूकूपेक्षां पथमामिषम्।

उत्तान शयनं यच्च स्त्रियों नेच्छति तत्पजेत्॥

गर्भवती स्त्री को मैथुन, अति व्यायाम और अति भार उठाना नहीं चाहिए तथा सीधे लेटकर भारी वस्त्र को ऊपर धारण करना, बिना समय जागना, बिना समय सोना, कठिन पदार्थों का खाना, कठिन आसन पर बैठना, पाँवों के भार बैठना, बहुत जोर से खाँसना, शोक, क्रोध, भय और उद्वेग करने वाले हेतुओं का सेवन करना, मूलमूत्रादि वेगों का रोकना, अपनी शुभ इच्छाओं को रोकना, उपवास करना, तीक्ष्ण, उष्ण, भारी और विष्टम्भी पदार्थों का भोजन करना त्याग देना चाहिए। ऐसे ही लाल रंग के कपड़े पहिनना, गड्डे की ओर और कुएँ की तरफ देखना, मद्य और माँस खाना, उत्तान शयन करना तथा अन्य जिन अनुचित वस्तुओं को वृद्ध स्त्रियाँ उचित नहीं समझती हों अथवा गर्भवती को जिन वस्तुओं से द्वेष हो, उन सबको त्याग देना चाहिए।

वातलैश्च भवेदर्गः कुब्जाय जडवामनः।

पित्तलैः खलतिः पिंगःश्चित्री पांडुःकफात्पथिः॥

वातकारक पदार्थों को गर्भवती अधिक सेवन करे तो उसके गर्भाशय में वायु प्रकुपित होकर गर्भ के बालक को कुबड़ा, अन्ध, जड़ अथवा वामन बना देती है। ऐसे ही अधिक पित्तकारक आहार-विहार से गर्भ का बालक खल्वाट अथवा पिंगलवर्ण वाला हो जाता है एवं कफकारक अधिक आहार-विहार से श्वित्ररोगी या पाण्डुवर्ण वाला बालक उत्पन्न होता है। इस कारण किसी भी दोष को प्रकुपित करने वाले आहार-विहार का अति सेवन नहीं करना चाहिए।

व्याधींश्चाद्या मृदुसुखैरतीक्ष्णैरौषधैर्जयेत्।

यदि गर्भवती स्त्री को कोई व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसकी मृदु और सुखकारी स्वल्प तथा कोमल औषधि

से चिकित्सा करनी चाहिए तथा रोग के चिकित्सा के समय भी कोई तीक्ष्ण पदार्थ या औषधि ऐसी नहीं देनी चाहिए जो गर्भ के लिए हानिकारक हो।

ऊपर के श्लोकों से चार बातें स्पष्ट होती हैं। गर्भवती को चार प्रकार की सावधानियाँ बरतने की आवश्यकता है—(१) कठोर पदार्थों का सेवन न करना, (२) कठोर और भारी वस्तुओं को न उठाना, (३) भय, क्रोध, उद्वेग उत्पन्न करने वाले कार्य न करना और (४) मैथुन क्रिया का निषेध।

१. कठोर पदार्थों का सेवन न करना—वह पदार्थ जो शीघ्रता से पचते नहीं हैं, देर तक पेट में अपच किए रहते हैं, उन्हें गर्भिणी को सेवन न करना चाहिए, क्योंकि इससे गर्भ के स्वाभाविक विकास में बाधा पड़ती है। उदाहरणार्थ, किसी खेत में जब बीज बो दिया जाता है, तो यदि उस खेत की मिट्टी नर्म और भुरभुरी रहती है तो बीज से अंकुर शीघ्र और सीधे निकलकर बाहर आ जाता है, लेकिन किसी कारण मिट्टी मुलायम नहीं होती या हल्की बूँदाबादी होने से ऊपर की मिट्टी में पपड़ी पड़ जाय तो अंकुर के निकलने में बाधा पड़ती है। वह बीज से फूटकर ऊपर तो निकलना चाहता है, परन्तु अधिक मुलायम और कोमल होने से कड़ी मिट्टी को भेदकर बढ़ने में उसकी अपनी शक्ति काम नहीं देती फलतः अन्दर इधर-उधर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है, सिकुड़ जाता है, कड़ा पड़ जाता है और देर से निकलता है। ठीक यही दशा गर्भस्थ बालक की होती है। उसके चारों ओर जड़ कड़े पदार्थों का बाड़ा लगा दिया जाता है तो बालक का स्वाभाविक विकास रुक जाता है। उसके नव-प्रसुप्ति अंग टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं। यही बालक उत्पन्न होने पर लूले, कुब्ड़े आदि प्रकार के होते हैं।

२. कठोर और भारी वस्तुओं का उठाना—कठोर और भारी वस्तुओं के उठाने से शरीर के अंग खिंचते हैं, उनमें तनाव पैदा होता है। गर्भाशय में बच्चे के होने से माँ के पेट के अन्दर अंग पहले से ही तन जाते हैं। जैसे किसी गुब्बारे में हवा खूब भर दी जाये तब यदि थोड़ी और हवा उसमें भरिये तो वह फटकर भष्ट हो जायेगा। माता का पेट पहले ही बालक के धारण करने से तन जाता है, इतना तन जाता है कि उस बेचारी को चलना-फिरना भारी हो जाता है, बोलने में साँस फूलने लगती है। ऐसी अवस्था में यदि उसने कोई भारी वस्तु उठा ली तो यक्यक पतले तन्तुओं के टूट जाने का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण गर्भपात हो जाने या गर्भ में बच्चे के मर जाने की स्थिति हो जाती है।

३. भय, क्रोध, उद्वेग उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ न आने देना—आपने देखा होगा कि अति भय की परिस्थिति उत्पन्न होने पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, शरीर में कम्पन पैदा हो जाती है, होश-हवाशा गायब हो जाते हैं। क्रोध में आदमी अपने को भूल जाता है।

१. १४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

उद्देगों का प्रभाव मनुष्य शरीर पर बहुत पड़ता है। इससे हमारी अन्तर्निहित शक्तियाँ यकायक जाग्रत भी हो जाती हैं और जाग्रत शक्तियाँ सुप्तावस्था में भी हो जाती हैं। यही कारण है कि अति प्रसन्नता, अति शोक, अति क्रोध में मनुष्य की यकायक मृत्यु भी हो जाती है या पागल हो जाता है। उसकी क्रियाएँ बदल जाती हैं। गर्भवती के सामने इन विषम परिस्थितियों के आने से यही अवस्था हो जाने का भय तो रहता है लेकिन उससे भी अधिक गर्भस्थ बालक पर प्रभाव पड़ने का डर रहता है। स्त्रियाँ स्वभावतः दुर्बल हृदय की होती हैं। उन पर इन उद्देगों का प्रभाव शीघ्र पड़ जाता है। अतः गर्भिणी को इन कार्यों से बचाना चाहिए। इसीलिए कुएँ में झाँकना, नदी या जलाशय आदि में झाँकना आदि भयप्रद दृश्य का देखना भी वर्जित किया गया है।

'नेशनल ऐकेडेमी ऑफ साइंसेज' तथा 'नेशनल रिसर्च कौंसिल' अमेरिका के सर्वेक्षणों से पता लगा है कि जो माताएँ गर्भावस्था में गरिष्ठ, चटपटे एवं नशीले पदार्थ खाती रहीं हैं, उनके बालक उदर रोगों से ग्रसित, देर से विकसित होने वाले तथा मन्दबुद्धि पाये गये हैं, जो स्त्रियाँ मितली तथा उदासी की दवा अधिक मात्रा में उन दिनों लेती रही हैं, उनकी और डाक्टरों की गलती का दण्ड निर्दोष शिशुओं को भोगना पड़ता है।

इसी प्रकार मानसिक चिन्ताएँ तथा विग्रहजन्य मनःस्थिति का प्रभाव बच्चों के चरित्र तथा स्वभाव पर पड़ता है। ऐसी स्थिति से ग्रसित रहने वाली स्त्रियाँ ऐसे बच्चे जनती हैं, जो अपने लिए तथा दूसरों के लिए समस्या बनकर रहते हैं।

कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी की एक जाँच समिति ने कहा है कि गर्भवती स्त्रियों को प्रोटीन देने के नाम पर उन्हें माँस और अण्डे खाने की सलाह दी जाती है। यह दोनों ही चीजें उन दिनों दूसरे प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं। इसलिए उन्हें शाकाहारी भोजन ही देना चाहिए और नशीली चीजों से तो सर्वथा बचाना चाहिए।

उन दिनों बिल्कुल निठल्ले बैठना तो ठीक नहीं, किन्तु इतना परिश्रम भी न करना चाहिए जो पेट में बच्चे की स्थिति पर दबाव डाले, कड़े परिश्रम से तेज साँस चलती है और उसका बच्चे के फेफड़ों पर दबाव पड़ता है। कॉफी और चाय की भरमार करने से गर्भपात तक का भय रहता है। मिट्टी खाने लगना तथा तम्बाकू का सेवन करना भी प्रसवकाल की कठिनाइयों को बढ़ाना और बच्चे के भविष्य को अनेक प्रकार से झंझट भरा बनाना है।

गर्भवती का मन उत्साहित रखने के लिए डाक्टर अक्सर स्टीमुलेण्ट स्तर की दवाएँ देते हैं। उसका एक अंश बच्चे के शरीर में भी चला जाता है। फलतः बच्चे जन्म से पहले ही अपने साथ रक्त विकार की शिकायतों साथ लेकर आता है। उसके गुर्दे कमजोर पाये जाते हैं।

गर्भवती की स्वयं की बड़ी जिम्मेदारी है कि वह बच्चे के हित-अहित का ध्यान आरम्भ से ही रखे और परिस्थितियाँ कठिनाई से भरी हों तो भी उन्हें सहन करे या सरल बनाने की कोशिश करे। उन दिनों मन आमतौर से अस्वस्थ रहता है और छोटी-छोटी बातों पर खीज, झल्लाहट आने लगती है। दूसरों की शिकायतों को भी कई बार भावुकतावश बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर मन में धारण कर लेती है। इन परिस्थितियों से अपने आपको बचाना चाहिए।

परिवार के सभी लोगों का कर्तव्य है कि वे गर्भिणी को एक प्रकार से नवजात शिशु के रूप में समझें और न केवल उसके शारीरिक स्वास्थ्य का वरन् मानसिक स्थिति का भी ध्यान रखें। उस पर चिन्ता, भय, क्रोध का असर पड़े ऐसे अवसर नहीं आने देना चाहिए। जरूरी होने पर औषधियों का सेवन भी सतर्कतापूर्वक ही करने दें।

गर्भावस्था में ली गई औषधियाँ गर्भस्थ शिशु में शारीरिक, मानसिक विकृतियाँ पैदा कर सकती हैं। येल विश्वविद्यालय के शोधार्थी ब्रेन्डा एक्सेना तथा मिशैल ब्रैकेन ने लगभग १५०० उन महिलाओं का अध्ययन किया है, जिन्होंने जन्मजात दोषयुक्त सन्तानों को जन्म दिया था। तुलनात्मक अध्ययन के लिए ३००० स्वस्थ सन्तानों की जन्मदात्रियों से भी शोधार्थी मिले। मिचली, उल्टी आदि से बचने के लिए जिन गर्भिणी महिलाओं ने एण्टी हिस्टेमीनीक, एण्टीएमेटीक आदि दवाओं का प्रयोग किया था उनके बच्चे अन्यों की अपेक्षा अधिक दोषी विशेषतया उदर विकारी मिले। अन्य शोधों में प्रायः उल्टी रोकने वाली दवाओं का सेवन करने वाली माताओं के शिशुओं के हृदय किसी न किसी प्रकार दोषयुक्त मिले। इन शोधकर्ताओं के अध्ययनों के अनुसार अमेरिकी खाद्य एवं दवा संघ ने बेने डेक्विन जैसी दवाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया है, क्योंकि इससे शिशु के आमाशय में विकृति पाइलोरिक स्टेनोसिस के रूप में बनती है। स्पष्ट है कि गर्भवती को मिचली आदि से बचाकर गर्भस्थ शिशु के गलत निर्माण का खतरा उठाना विवेकसम्मत नहीं है।

आलसी महिलाओं के बच्चे देर से चलने एवं बोलने वाले पाये गये हैं। न्यूजीलैण्ड विश्वविद्यालय में ऐसी महिलाओं का विशेष रूप से सर्वेक्षण किया गया जिनके बच्चे मन्द बुद्धि, धीमी प्रगति के थे। मालूम हुआ कि उनकी माताएँ गर्भावस्था में अक्सर खिन्न रहती रही हैं और उन दिनों उनका उत्साह मन्द रहा। इस अध्ययन में डेढ़ वर्ष के बाद चलने वाले शिशुओं को मन्द माना गया। इसी प्रकार २ वर्ष बाद बोलने वाले मन्द की श्रेणी में विभाजित किये गये। संग्रहीत आँकड़ों के अनुसार २० प्रतिशत से अधिक मन्द डोलने या बोलने वाले अथवा दोनों निकले। इनकी बुद्धिलब्धि भी निम्नतम स्तर

की रही। अपेक्षाकृत पाठन योग्यता में भी वे पीछे रहे। सामान्य औसत १०० मान लेने पर मन्द बोलने या डोलने वालों का प्रतिशत ६६ रहा।

जिन माताओं को भविष्य के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का भान नहीं, वे उन दिनों अस्त-व्यस्त रहकर उनकी प्रगति में बाधा डालती हैं। जो बच्चों को भार और प्रसव को आफत मानती हैं, उनके लिए यही अच्छा है कि वे गर्भ धारण न करने को अच्छा समझें और उस बचाव के लिए आवश्यक सतर्कता बरतें। किन्तु जो गर्भावस्था से गुजर रही हैं, उन्हें प्रसन्नचित रहना चाहिए, अवांछनीय खान-पान, विंकृत वातावरण, प्रदूषित माहौल आदि से बचना चाहिए। सुसंततियाँ तभी जन्मेगी।

गर्भवती की परिचर्या

गर्भाधान यद्यपि शरीर का एक प्राकृतिक कर्म है, तथापि इस काल में गर्भिणी को अत्यन्त सावधान रहना आवश्यक है। बहुधा इस काल की तनिक-सी असावधानी का फल अत्यन्त घातक हो जाता है। इसीलिए सभी चिकित्सा शास्त्रज्ञों का मत है कि गर्भिणी को प्रारम्भ से ही किसी चतुर चिकित्सक या लेडी-डाक्टर की देख-रेख में आ जाना चाहिए। इस समय अपने व भावी शिशु के प्रति अपना कर्तव्य पूर्णतः पालन करने के हेतु आरम्भ में प्रति मास एक बार और पाँच मास पश्चात् प्रति मास दो बार चिकित्सक के पास जाकर परामर्श लेते रहना आवश्यक है।

गर्भवती स्त्री के स्वास्थ्य की स्थिरता के लिए स्वच्छ वायु एवं सूर्य के प्रकाश की सर्वप्रथम आवश्यकता है। स्वच्छ एवं शीतल वायु में ऑक्सीजन की पर्याप्त मात्रा के कारण शरीर में न केवल प्राणों का संचार होता है वरन् जीवनीशक्ति की वृद्धि भी इसी पर आधारित होती है। शरीर के विभिन्न अंग निरन्तर क्रियाशील रहते हैं। जिसके फलस्वरूप वे कोषाणु जिनसे तन्तुओं का निर्माण होता है, निरन्तर टूटते-फूटते रहते हैं। यह टूट-फूट दूषित द्रव्य का रूप ग्रहण कर लेती है। इस दूषित पदार्थ का शरीर से बाहर निकलना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार अँगीठी की जाली पर से राख को बराबर न झाड़ा जाय तो आग अँगीठी में नहीं जलती, उसी प्रकार इस दूषित पदार्थ का उचित रूप से निष्क्रमण न होने पर शारीरिक प्रक्रिया में बाधा पड़ती है। गर्भवती स्त्री के शरीर में दूषित पदार्थ के एकत्रित हो जाने पर उसे तथा भ्रूण दोनों को हानि पहुँचेगी।

यदि ऑक्सीजन समुचित मात्रा में नहीं प्राप्त होगी तो दूषित पदार्थों पर रासायनिक प्रक्रिया भली प्रकार से न हो सकेगी और मैल भी शरीर के बाहर पूर्णतः न निकल सकेगा। अतः गर्भिणी तथा भ्रूण के स्वस्थ रहने के लिए अधिक से अधिक ऑक्सीजन मिलनी आवश्यक है। इसके लिए उसके कमरे की खिड़की, दरवाजे खुले रहें ताकि

कमरे की दूषित वायु निकल सके व स्वच्छ वायु निरन्तर अन्दर प्रवेश करे।

सूर्य-प्रकाश भी एक विलक्षण 'बल-वर्द्धक औषधि' है। यह रक्त को शक्ति प्रदान करता है तथा उसे शरीर के विभिन्न भागों में लोहा, कैल्शियम, फॉस्फोरस व आयोडीन पहुँचाने की क्षमता प्रदान करता है। यदि प्रातः उदित होते सूर्य की किरणें शरीर पर पड़ें तो शरीर में वह प्रकाश का पोषण-तत्त्व विटामिन 'डी' उत्पन्न हो जाता है। इससे गर्भिणी का स्वास्थ्य व शक्ति बनी रहती है तथा भ्रूण के अस्थि-निर्माण में बहुत सहायता मिलती है। इसीलिए उसे प्रातःकाल कुछ देर सूर्य-प्रकाश लेना लाभदायक होगा। उसके कमरे में भी दिन में किसी न किसी समय धूप का प्रवेश अवश्य होना चाहिए। इससे कमरे का शुद्धीकरण हो जाता है।

परिश्रम—गर्भाधान शरीर की एक प्राकृतिक क्रिया है। यह किसी रोग का लक्षण नहीं है। अतएव स्वस्थ व्यक्ति की भाँति ही शरीर को सचेष्ट रखने, पाचन क्रिया को व्यवस्थित रखने तथा विभिन्न अंगों को पुष्ट रखने के लिए प्रसवा को कुछ न कुछ परिश्रम करते रहना चाहिए। स्वयं को किसी असाधारण दशा में ग्रस्त अथवा रोगी मानकर गर्भवती का सारा दिन लेटे रहना अपने व भ्रूण के प्रति शत्रुता करना है।

साधारण घरों में गृहस्थी के साधारण कार्यों के सम्पादन से भी गर्भिणी का पर्याप्त परिश्रम हो जाता है। जहाँ तक हो चलने-फिरने का कार्य करते रहना चाहिए। हर समय बैठे रहने से अथवा लेटे रहने से स्वास्थ्य की हानि के अतिरिक्त प्रसव-काल में भी अत्यन्त कष्ट होता है।

श्रम करते समय अत्यधिक बोझ-भार उठाने से गर्भपात का भय रहता है। गर्भ के प्रथम तीन मासों में इस ओर विशेष सावधानी रखना आवश्यक है, क्योंकि इस समय रक्त-स्राव की अधिक सम्भावना रहती है। शारीरिक श्रम में इस बात का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि गर्भिणी स्वयं को अत्यधिक न थका ले। इससे बहुधा निद्रा-नाश की शिकायत हो जाती है।

विश्राम व निद्रा—जैसे ही गर्भिणी को थकान प्रतीत हो तुरन्त विश्राम करना चाहिए। थक जाने पर चारपाई पर आराम से लेट जाये तथा पैरों के नीचे गद्दी अथवा तकिया रखकर उनको तनिक ऊँचा करे। इससे थकान शीघ्र दूर होती है। यह स्मरण रहे कि सगर्भा को विश्राम की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी श्रम की। अतः रात्रि में कम से कम ८-९ घण्टे तथा मध्याह्न में भी एक-दो घण्टे विश्राम अवश्य कर लेना चाहिए। विश्राम से शरीर की व्यय की हुई शक्ति की पूर्ति होती है।

गर्भ के अन्तिम काल में प्रायः निद्रा-नाश की शिकायत हो जाती है। इसके लिए अत्यधिक थकान से

१. १६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बचना आवश्यक हो जाता है। शाम को भोजन करने के बाद थोड़ा टहल लेना नींद लाने में सहायक होता है। भोजन के विषय में विशेष सावधानी बरतनी होगी। रात्रि को भोजन बहुत देर से न किया जाय। भोजन तला-भुना व कठिनता से पचने वाला न हो। पेट को हल्का रखने के लिए भोजन की मात्रा भी अधिक न ली जाये। इन सबके अतिरिक्त, सोते समय अपने मस्तिष्क को हर प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त करके व ईश्वर-चिन्तन करके सोया जाय तो नींद सरलता से आती है। प्रसूता व भ्रूण के स्वास्थ्य के लिए गहरी नींद उतनी ही आवश्यक है जितना कि आहार।

विश्राम करने व सोने के स्थान का भी नींद पर प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ व हवादार स्थान में गहरी व सुखद नींद आती है। अतः सोने के कमरे की खिड़कियों का खुला रखना उचित है।

नियमित व्यायाम—स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए गर्भिणी को थोड़ा-बहुत नियमित व्यायाम करना भी आवश्यक है, विशेषतया उन स्त्रियों को जिनके घर में नौकर-चाकर हैं और गृह के साधारण कार्यों से जो मुक्त रहती हैं। कुछ साधारण तथा हानि की आशंका रहित व्यायाम नियमित रूप से करने से प्रसव-काल के कष्ट में बहुत कमी हो जाती है। इस दृष्टि से चक्की पीसना, दही मथना आदि पश्चिम बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। प्रातः-सायं घण्टे, दो घण्टे के लिए स्वच्छ-वायु में टहलना प्रत्येक गर्भिणी के लिए अत्यन्त लाभकारी होता है। इससे शरीर में स्फूर्ति आती है व हल्कापन रहता है। पाचन-क्रिया उत्तम रहती है तथा रात्रि में नींद खूब आती है। स्वच्छ वायु रक्त को शुद्ध करती है तथा हृदय व मस्तिष्क को बल पहुँचाती है।

इंग्लैण्ड के कई प्रसूति-केन्द्रों में गर्भवती स्त्रियों को पूर्व प्रसव व्यायाम की विशेष विधियाँ सिखाई जाती हैं। इनको करने से पेड़ू, कूल्हों तथा टाँगों आदि की माँस-पेशियाँ पुष्ट होती हैं और रीढ़ के निचले भागों, वस्ति प्रदेश तथा कूल्हों के जोड़ों में लचीलापन बढ़ता है, जिससे प्रसव-काल में अत्यन्त सुविधा रहती है। गर्भ के अन्तिम मासों में भ्रूण बड़ी तेजी से बढ़ता है, जिसके कारण वस्ति-प्रदेश तथा अन्य निचले अंगों से रक्त परिभ्रमण की गति मन्द पड़ जाती है। व्यायाम की क्रियाएँ करने से रक्त के प्रवाह में वृद्धि होती है तथा फलस्वरूप प्रसव के पूर्व व पश्चात् प्रसूता एवं शिशु को लाभ होता है।

व्यक्तिगत स्वच्छता व सुरक्षा—गर्भिणी तथा भ्रूण के मल का निष्क्रमण भली-भाँति होता रहे इसके लिए गर्भिणी की त्वचा व स्वच्छ रहना तथा रोमों का खुला रहना आवश्यक है। स्वच्छ शरीर उत्तम स्वास्थ्य के लिए सहायक होता है। मस्तिष्क हल्का रहता है तथा हृदय प्रफुल्लित रहता है।

प्रतिदिन स्नान करते समय त्वचा व सब अंगों को मल-मलकर साफ करना चाहिए। तत्पश्चात् रगड़कर पोंछ डालें ताकि रोमावली खुली रहें। गर्भ सम्बन्धी अंगों की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

पारिवारिक वातावरण और गर्भिणी के प्रति उनका कर्तव्य

शरीर व मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों अभिन्न हैं। शरीर का स्वास्थ्य, मन की स्वस्थता के बिना अधूरा रह जाता है। पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति वही है, जिसका शारीरिक, मानसिक व चारित्रिक स्वास्थ्य संतुलित दशा में हो। अतः गर्भिणी के मानसिक स्वास्थ्य एवं विचारों की शुद्धता का भी बड़ा महत्त्व है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसको यथासम्भव चिन्ता मुक्त रखा जाय। कहावत है कि 'चिन्ता सब रोगों की जननी है।' चिन्ता से पाचनशक्ति मन्द होती है, रुधिर की न्यूनता, हृदय की दुर्बलता व अन्य कई हृदयरोग हो जाते हैं। विशेषज्ञों का मत है कि निद्रा-नाश, चित्त की घबराहट तथा कब्ज आदि कष्टों के कई कारणों में से चिन्ता व कलह, क्लेश भी एक महत्वपूर्ण कारण है। सभी जानते हैं कि शुभ समाचार रोगी के आधे रोग को ठीक कर देता है और बहुत-सी दशाओं में रोग-मुक्त भी कर देता है। अतिशय चिन्ता व क्लेश में कभी-कभी गर्भपात तक हो जाता है। अतएव गर्भिणी के अभिभावकों, विशेषतया पति को इस ओर विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

परिवार के सभी लोगों का विशेषतया बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे गर्भिणी के सामने कोई ऐसी समस्या, चर्चा या बात न रखें जिससे गर्भिणी को चिन्तातुर होना पड़े। हमारे परिवारों में मुख्यतया गाँवों में सम्पन्नता, हँसमुखपन, प्रफुल्लता अब कम दीख पड़ती है। कुछ तो बाह्य परिस्थितियाँ इसका कारण हैं, जैसे—आर्थिक स्थिति का सन्तोषजनक न होना, घर के सभी लोगों के लिए आवश्यक साधनों का अभाव होना आदि। कहीं अनाज नहीं है तो बच्चों के लिए कपड़े बनवाने हैं, कहीं घर में पुताई करनी है आदि इस प्रकार की कठिनाइयाँ आये दिन परिवार के लोगों के सामने चर्चा का विषय होती हैं। एक ही साथ रहने-सहने से किसी से इनको छिपाने की बात तनिक कठिन अवश्य होती है। उसमें तो बुद्धिमत्ता ही काम देती है। स्त्रियों के मन में बात पचती नहीं है। उनके कान में जो बात पड़ी, उसे जब तक वे घर के सभी स्त्री-बच्चों और पास-पड़ोस की सहेलियों से न कह दें उन्हें चैन नहीं मिल सकता। अतः घर की छोटी से छोटी बात वे गर्भिणी के सामने कहने में संकोच नहीं करतीं। अज्ञानतावश यह नहीं जानतीं कि इससे वे भावी संतान को कितनी हानि पहुँचा रही हैं।

गर्भवती स्त्री के लिए पति का सहयोग परम वाञ्छनीय है। प्रायः देखने में आता है कि पुरुष गर्भवती पत्नी की ओर से विरक्त जैसे हो जाते हैं, उनका व्यवहार नीरस हो जाता है। इससे स्त्री के मन को बहुत ठेस लगती है। गर्भवती स्त्री के मन में इस समय वासना-तृप्ति की चाह नहीं होती, परन्तु वह लाड़-प्यार, दुलार आदि की भूखी होती है। समझदार पुरुष अपने मोठे वचनों तथा कोमल व्यवहार से पत्नी को प्रफुल्लित रखने की चेष्टा करते हैं। इससे स्त्री की आत्मा को परम सन्तुष्टि होती है और वह प्रसव वेदना की कल्पना करके कभी डरती नहीं अपितु प्रसव वेदना सहने के लिए वह मानसिक रूप से तैयार भी हो जाती है। यह मानसिक तैयारी ही उसे आत्मबल देती है, जिसके कारण प्रसव आसानी से हो जाता है।

पति को चाहिए कि पत्नी को प्रसन्नता देने वाला वार्तालाप करने में शिथिलता न आने दे। काम-काज की बातों के अतिरिक्त आत्मीय आधार पर उससे समय-समय पर बातें करता रहे। घर के अच्छे कामों में, व्यवस्था सम्बन्धी मामलों में उससे परामर्श लेता रहे और किसी प्रकार का छिपाव-दुराव न करे। जब कभी वह बाहर जाये तो कुछ न कुछ खाने अथवा उपयोग की वस्तु अपनी स्त्री के लिए लेता आये। समय-समय पर उसका कुशल-क्षेम पूछकर उसे आदर देता रहे। चित्रों के सम्बन्ध में वार्तालाप रूप में महापुरुषों के जीवन की छाप गर्भिणी के मानस पर बिठा देने की बात पहले ही कही जा चुकी है। इस बात की पूर्ण व्यवस्था जुटाना पति का ही काम होता है। उसे सदैव यह चेष्टा करते रहना चाहिए कि जो कुछ वह बाहर से लावे वह सुन्दर हो, जो-जो बातें करें वह सुन्दर हों। इस सन्दर्भ में फूलों के गुलदस्तों घर में रखना, उनसे अपने घर की सजावट करना बड़ा उपयोगी रहता है।

स्त्री का आदर-सत्कार घर के माध्यम से होता है। जिस स्त्री को उसका पति आदर देता है, मानता है, प्यार करता है, उसके प्रति सास, जेठानी, देवरानी तथा ननों का प्रेम भी बढ़ जाता है। लेकिन जहाँ कहीं भी घर के लोगों को यह आभास मिल जाता है कि अमुक स्त्री का पति उससे प्रेम नहीं करता, तो वे उससे अनादरपूर्वक व्यवहार करने लगती हैं, घर की कोई विरली स्त्री ऐसी मिलेगी जो उससे प्रेम दिखावे।

पति स्त्री का खूँटा होता है, जिसके सहारे वह नाचती है। अतः सबसे बड़ी आवश्यक वस्तु पत्नी के लिए पति का प्रेम प्राप्त करना है, गर्भकाल में जब स्त्री को यह विश्वास हो जाता है कि उसका पति उससे सच्चे हृदय से प्रेम करता है तो सारे अभाव उसके लिए

दूर हो जाते हैं। यदि उसकी छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति न भी हो तो उन सबका कोई विशेष प्रभाव गर्भस्थ बालक पर नहीं पड़ता। शरीर तथा भ्रूण के पोषण के लिए सबसे आवश्यक खाद्य-पदार्थों की तुलना में पति का सच्चा प्रेम अधिक महत्त्व रखता है। वह अगर मिल गया, तो समझ लो सब कुछ मिल गया। इसलिए गर्भकाल में पति का सबसे बड़ा कर्तव्य अपनी पत्नी को सच्चा प्रेम प्रदान करना है। यह मिल जाने पर वह पौधे की तरह हरी-भरी रहेगी और भ्रूण का स्वाभाविक विकास होता चलेगा।

गर्भवती के प्रति परिजनों का सहयोग—गर्भवती के प्रति घर भर का व्यवहार बहुत सहानुभूतिपूर्ण तथा सन्तोषजनक होना चाहिए। कर्कशा सास या झगड़ालू ननद अथवा कटाक्ष करने वाली जेठानी आदि से उसकी रक्षा करनी होगी। देखने में आता है कि वे ईर्ष्यावश एक-दूसरे का नुकसान करती हैं। ईर्ष्या की भावना स्त्रियों में प्रबल होती है। वह भी विशेष रूप से स्त्रियों के प्रति।

पोता या भतीजा होने पर घर की बड़ी-बूढ़ियाँ लाखों लुटावेगी पर गर्भवती माता की उपेक्षा करने और उसके आराम तथा खान-पान की ओर से लापरवाही दिखाने में उन्हें संकोच नहीं होता।

इसीलिए हमारे देश का यह रिवाज कि प्रथम प्रसव के समय बहू को पीहर भेज दिया जाये ठीक ही है। माँ के घर वह अपना कष्ट भी निःसंकोच कह सकती है साथ ही ममतामयी माँ अपनी लाइली की व्यवस्था यथाशक्ति करती है। उसके सुख-दुःख को सहानुभूतिपूर्वक सुनकर उसे मिटाने के लिए दौड़-धूप करेगी। परन्तु प्रसव के लिए पीहर जाने की प्रथा हमारे स्वार्थपरक भाव की द्योतक है तथा इससे स्त्रियों की हीनावस्था का ज्ञान होता है। अतः यदि पीहर वाले गरीब न भी हों तो भी पति का और उसके घर वालों का यह कर्तव्य है कि गर्भवती के प्रति सारी जिम्मेदारियों को स्वयं निभाएँ।

प्रायः देखा गया है कि मिलने-जुलने वाली स्त्रियाँ गर्भवती को व्यक्तिगत प्रसव कष्ट की कहानियाँ बढ़ा-चढ़ाकर सुनाती हैं। इससे गर्भवती भयभीत हो जाती है और फलस्वरूप बालक को जन्म देते समय उसके स्नायु ढीले न होकर तने रहते हैं, जिससे उसके अधिक कष्ट होता है। यह वेदना प्रायः फैशनपरस्त तथा नियमोल्लंघन करने वाली उन स्त्रियों को होती है, जो बालक के जन्म को एक अस्वाभाविक और स्वास्थ्य-बलिदान की घटना समझती हैं। अगर स्त्री के मन में माता बनने का उत्साह हो और वह निर्भय रहे, तो प्रसव-क्रिया आसानी से हो जाती है।

१. १८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

गर्भवती के अभिभावकों का यह कर्तव्य है कि वह होने वाले बच्चे के प्रति माता की ममता तथा उत्सुकता जाग्रत करें। उसके छोटे-छोटे कपड़े, टोपी, मोजा, गुदड़ी, गिलाफ, नैपिकन आदि सीने-बुनने के काम से गर्भवती का मनोरंजन तो होगा ही, साथ ही भावी सन्तान के लिए कुछ कष्ट सहने आदि की भावना का विकास होने से प्रसव-पीड़ा के भय को दूर करने अथवा सहने के लिए मानसिक बल भी प्राप्त होगा तथा दुग्ध ग्रन्थियों को भी उत्तेजना मिलेगी जिससे जन्म के बाद बच्चे को पर्याप्त दूध मिलेगा।

जच्चा का कमरा पहले से ठीक कर लेने से कई लाभ हैं। एक तो गर्भवती को एकत्रित में उठने-बैठने की सुविधा रहती है, दूसरी बात बच्चे के स्वागत की उत्सुकता उसे मानसिक रूप से प्रसव काल के लिए तैयार रहने की प्रेरणा देती रहती है। बच्चे के जन्म पर अचानक सभी चीजों का प्रबन्ध करना सरल नहीं होता।

गर्भिणी की इच्छाओं की पूर्ति

गर्भ के बालक का हृदय माता के हृदय से बनता है। सिनेमा स्टूडियो में चित्र खींचने के समान यह क्रिया सम्पन्न होती है। बाहर के परदे पर प्रदर्शन करके कैमरों से फोटो लेने का क्रम जारी किया जाता है। तनिक भी गड़बड़ी उत्पन्न होने पर लिए जाने वाले चित्र भी उनको तुरन्त धारण कर लेते हैं और उसी के अनुकूल बन जाते हैं और सब कारखाने तो छोटे-बड़े पूर्ण तैयार करते हैं। भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर, बोकारो के इस्पात के कारखाने जो कि विशेष सहायता से बने हैं, लोहे की पटरियाँ, गार्डर, इंगिल आदि का निर्माण करते हैं। इनमें कभी जाकर देखिए कि लोहा गलाने के स्थान से गार्डर बनने तक उसे कितनी भट्टियों में से गुजरना पड़ता है। कार्य करने वाले इन्जीनियरों, मशीनमैनो और सभी कर्मचारियों को कितनी सतर्कता बरतनी पड़ती है ? उनकी थोड़ी-सी असावधानी तुरन्त निर्मित वस्तुओं पर अपना प्रभाव प्रकट कर देती है। किसी शक्कर के मिल में देखिए, गन्ना से रस पेरने के स्थान से उस रस को कितने टैंकों में कितनी-कितनी देर के लिए जाना पड़ता है ? हर टैंक के पास करीगर खड़ा घड़ी को देखा करता है और रस की अवस्था का सूक्ष्म निरीक्षण किया करता है। उससे तनिक भी असावधानी हुई नहीं कि तुरन्त सारा माल खराब हो गया। यह कुल प्रक्रिया केवल रस से शक्कर के छोटे दाने बनाने के लिए की जाती है, कोई बहुत बड़ा निर्माण नहीं।

फिर सोचिए कि मनुष्य-निर्माण के कारखानों में कितनी सावधानी की आवश्यकता है ? चींटी को देखिए कितनी छोटी है वह, परन्तु उसके भी हाथ-पैर, नाक, पेट-पीठ, मुँह, आँख, बाल सभी अंग हैं, हृदय भी है, उसके पेट में खाना पचता है, रस बनता है, फिर खून।

उसी से वह शक्तिशाली रहती है। यही दस इन्द्रियाँ भी हैं। उसकी घ्राण-शक्ति इतनी तीव्र है कि दूरी पर रहे हुए खाने-पीने वाले पदार्थ, शक्कर, गुड़ आदि का वह पता लगा लेगी, तुरन्त अपने साथियों को बता देगी और दल बल सहित वहाँ जायेगी। एक लघुतम जीव में इतना सब कुछ समावेश कर देना, सोचिए किस कारखाने में होता होगा ? क्या उसमें असावधानी की कहीं गुंजाइश है। फिर मनुष्य तो और अधिक शक्तियों से सम्पन्न है। उसके पास बुद्धि है। स्वयं निर्माण शक्ति का स्वामी है। इन सबको सोचकर उस बड़े इन्जीनियर परमपिता के बारे में क्या यह नहीं कहा जा सकता है—‘धन्य तेरी करीगरी करतारा।’ यदि ईश्वर इस कारखाने का प्रधान इन्जीनियर है तो माता-पिता भी इसके मशीनमैन तो हैं ही। उनकी भी झूटी उतनी ही है। उन्हें सतर्कता से अपना कर्तव्य-पालन करना है। उनकी थोड़ी-सी असावधानी भावी सन्तान पर बहुत बड़ा कुप्रभाव डाल सकती है। उसकी देखभाल आपको प्रत्यक्ष रूप से भी करनी नहीं। उस कारखाने के अन्दर आप प्रवेश करके निरीक्षण नहीं कर सकते। बाहर से ही सब कुछ करना पड़ेगा।

माँ गर्भ धारण के बाद स्वयं को सन्तान में घुला देती है, उसके भोजन, विचार, भाव तथा कार्य से ही बालक के निर्माण की प्रक्रिया चलती है।

इसलिए उन दिनों गर्भवती की उन इच्छाओं की पूर्ति का यथासम्भव प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसके चारों ओर ऐसा वातावरण बनाये रहना चाहिए, जो प्रसन्नतावर्द्धक, सन्तोषदायक, उत्साह बढ़ाने वाला तथा प्रगतिशील हो। गर्भवती की कई छोटी-छोटी इच्छाएँ उठती रहती हैं, उन्हें पूरा करने में यदि विशेष कठिनाई न हो तो पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही गर्भिणी को भी यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई ऐसी इच्छा न करे जो अनुचित या कष्टसाध्य हो। ऐसी इच्छाएँ अपूर्ण रहने पर उसको असन्तोष बढ़ता है जिसका बालक के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सारांश इतना ही है कि शारीरिक स्वास्थ्य की तरह भावी जननी के मानसिक स्वास्थ्य को भी सुविकसित बनाये रखने का प्रयत्न करना उस परिवार के लोगों के लिए उचित है।

गर्भवती के कमरे की सजावट—उन सभी उपायों में जो कि सन्तान पर उत्तम संस्कार डालने में सहायक होते हैं, एक यह भी है कि गर्भिणी जिस कमरे में सोती हो, जिसमें बैठकर अधिक काम करती हो उसकी सजावट मनोवैज्ञानिक ढंग से कर दी जाये। यह कार्य तो वास्तव में पति का है। महापुरुषों व वीरगंगाओं के चित्र ही कमरे में लगाने चाहिए, जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, योगीराज श्रीकृष्ण, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, लक्ष्मीबाई, गाँधीजी, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, भगवान गौतम बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामतीर्थ,

अब्राहम लिंकन, ईसामसीह, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, भगतसिंह आदि देश-विदेशों के महापुरुष जो आपको प्रिय हों, उनके चित्र भी आप लगा सकते हैं। थोड़े-से श्रेष्ठ भावों युक्त आदर्श-वाक्य भी उसमें टाँगे जा सकते हैं, जिनसे पवित्र मनोवृत्ति उत्पन्न हो। यह ध्यान रखना चाहिए कि विचारों का गर्भस्थ बालक पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

सिनेमा की नर्तकियों के या अश्लील चित्रों को तो आपको कभी भी भूलकर गर्भिणी के कमरे में स्थान न देना चाहिए।

ऐसा इसलिए करना चाहिए ताकि गर्भिणी स्त्री जब लेटे अथवा आते-जाते, उठते-बैठते उसकी दृष्टि उन पर पड़ा करेगी और उनका प्रभाव गर्भस्थित बालक पर पड़ता रहेगा। उन चित्र वाले महापुरुषों के गुण, कर्म और स्वभाव का भी प्रतिबिम्ब बालक पर पड़ेगा, रंग-रूप भी वैसा बनेगा।

वंशानुक्रम तथा वातावरण का प्रभाव

हम में से प्रत्येक व्यक्ति दो प्रभावों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। वह क्या है और जो कुछ है वह कैसे बना है ? इसके लिए दो बातें उत्तरदायी हैं—(१) एक तो प्रत्येक व्यक्ति में अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिन्हें वह जन्म से वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त करता है। वंशानुक्रम में उन गुणों या विशेषताओं का समावेश है, जो हमें अपने माता-पिता तथा पूर्वजों द्वारा जन्म से प्राप्त होते हैं। इन्हें लेकर ही हम जन्म लेते हैं। वास्तव में हमारा जन्म ही वंशानुक्रम द्वारा होता है, इसके अतिरिक्त हममें से प्रत्येक व्यक्ति का पालन-पोषण तथा विकास प्रारम्भ से ही किसी विशेष वातावरण में होता है। वातावरण से उन परिस्थितियों और प्रभावों को समझा जा सकता है, जो जन्म के पूर्व से ही प्रारम्भ होकर जीवनभर हमारे चारों ओर रहते हैं और जो हमारी क्रियाओं पर निरन्तर प्रभाव डालते रहते हैं।

ये दोनों ही बातें प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे से भिन्न होती हैं। एक व्यक्ति का वंशानुक्रम दूसरे के वंशानुक्रम से सर्वथा भिन्न होता है, उसी प्रकार उसका वातावरण भी सबों से अलग है। इन्हीं दोनों की विभिन्नता के कारण सभी व्यक्तियों में विभिन्नता पाई जाती है। व्यक्ति की प्रत्येक विशेषता उसके वंशानुक्रम और वातावरण दोनों के द्वारा ही प्रभावित रहती है। कुछ लोगों का कहना है कि वंशानुक्रम ही सब कुछ है। एक व्यक्ति में जितनी विशेषताएँ हैं, वातावरण से सामंजस्य स्थापित करने में जितनी भी क्रियाएँ उसकी होती हैं, वे सभी वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त हैं। उनका विचार है कि बालक जो कुछ अपने वंशानुक्रम से पाता है, उसी के सहारे वह जीवन में सामंजस्य रखता है। वातावरण द्वारा उसमें कोई सुधार नहीं लाया जा सकता। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि वातावरण ही सब कुछ है। बालक के

विकास की सम्भावनाएँ असीम हैं और पर्याप्त सुविधाएँ पाने पर प्रत्येक व्यक्ति सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है, जिस पर अन्य लोग पहुँचे हैं। चाहे उसका वंशानुक्रम कैसा भी हो।

हमें यह ध्यान रखना होगा कि वंशानुक्रम अथवा वातावरण दोनों में कोई भी अलग होकर कोई महत्व नहीं रखता। जिस प्रकार किसी लेखक ने लिखा है कि आज की राजनीति आने वाले कल का इतिहास है और कल का इतिहास आज की राजनीति है। इन दोनों को अलग करना वैसा ही है, जैसे सिक्के के दो पहलुओं को अलग करने की चेष्टा करना। वे चाहे कितने पतले क्यों न काटे जाएँ, उनमें दो पहलू ही हो जायेंगे। प्रत्येक बालक इन दोनों के द्वारा ही प्रभावित होता है। दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया से बालक का निर्माण होता है। अतः हमें इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। बालक के विकास में मुख्य वंशानुक्रम निम्नलिखित समझे जाते हैं—(१) शारीरिक बनावट, जिसमें लम्बाई-चौड़ाई के अतिरिक्त नाड़ी-मण्डल और अन्तःस्त्रावी पिण्ड भी सम्मिलित हैं, (२) आयु, (३) लिंग और (४) बुद्धि।

शारीरिक बनावट—साधारणतया बलिष्ठ और दीर्घकय बच्चे अन्य बच्चों की अपेक्षा अपने माता-पिता के सदृश होते हैं। पिता-माता के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी ऐसे बच्चों की प्रशंसा करते हैं। इन सब बातों को जानकर उस बच्चे में उच्चत्व-भावना उत्पन्न होती है। इस भावना से प्रेरित होकर वह समझने लगता है कि वह सब बच्चों से सब बातों में बढ़ा-चढ़ा है, इसलिए सभी बातों में उसकी वाहवाही होनी चाहिए। ऐसे बच्चे कभी परस्वार्थी होकर प्रेमी जीव नहीं हो सकते। उसी प्रकार कमजोर बच्चे की माता अधिक देखभाल करती है और उसे सब प्रकार से अपनी छत्र-छाया में रखती है। ऐसे बच्चे दूसरों पर निर्भर रहने लगते हैं। कभी-कभी अपनी दुर्बलताओं को छिपाने के लिए औसत से भी अधिक काम करना चाहते हैं और ऐसा न कर सकने के कारण जीवन को भारमय समझने लगते हैं।

कहावत है कि काने, लँगड़े, कन्जे, कुबड़े उत्पाती होते हैं। बात यह है कि शरीर में किसी विकार के रहने से बच्चों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। बड़े ही नहीं, परन्तु बच्चे भी अपना उपहास नहीं सहन कर सकते। शरीर में किसी विकार के रहने पर वे उपहास-पात्र हो जाते हैं, जिससे उनके मन में हीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है। बच्चों के शारीरिक विकास पर हमें अच्छी या बुरी टिप्पणियाँ, कम-से-कम बच्चों के ही सामने नहीं करनी चाहिए। बच्चों को यह मालूम नहीं होने पाये कि वह किसी प्रकार से विलक्षण जीव हैं। यदि उसके अन्दर कोई भी विकार हो तो उसका ज्ञान बच्चे को न होने पाये। जब बच्चा बड़ा होगा, तब वह स्वयं अपने विकारों को जान लेगा और तब या तो अपनी सीमा को जानकर

१. २० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

समायोजित हो जायेगा या ऐसे कार्यों में लग जायेगा, जिससे उसका विकार उसके आत्मप्रकाशन में विघ्न न डाल सके। प्रत्येक अवसर पर हमें बच्चों की उन शारीरिक क्रियाओं को विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, जिससे समाज में रहकर उसका कल्याण हो सके।

लिंग-भेद—लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में बल-प्रदर्शन तथा आक्रमण करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है। शायद इसी से लड़कों और लड़कियों के व्यक्तित्व में इतना अन्तर पड़ जाता है। मिथ्याचरण में लड़के-लड़कियों में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। ऐच्छिक व्यवहार में कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष तो नहीं कहा जा सकता, पर लड़कों में निर्भीकता, दम्भ, आत्म-प्रधानता अधिक पाये जाते हैं। इसकी अपेक्षा लड़कियों में शक्तीपन, कल्पनिक होना तथा समाज द्वारा अधिक प्रभावित होने के लक्षण पाए गए। सहानुभूति और सहयोग दिखाने में लड़कियों का स्थान प्रायः लड़कों से थोड़ा ऊँचा देखा गया है। अपराध करने में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक भारी अपराध की क्षमता और प्रवृत्ति रखते हैं। फिर लड़कियों के अपराध विशेषतः काम-वासना सम्बन्धी, घर से निकल भागने के और आज्ञापालन न करने के लिए देखे गये हैं। लड़कों के अपराध दूसरों की वस्तुओं के अपहरण के सम्बन्ध में हुआ करते हैं।

व्यक्तित्व विकास में लिंग सम्बन्धी घटक के विषय में हम कह सकते हैं कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा सामाजिक आदर्श के अनुकूल अधिक अपना आचरण रखती हैं। फिर लड़के, लड़की की अपेक्षा समाज की दृष्टि में अधिक गिरते भी हैं। औसत से लड़कियों की अपेक्षा लड़कों का आचरण खराब होता है। लड़के समाज सुधारक और देश के नेता भी होते हैं और साथ ही साथ पशुवत् व्यवहार भी कर सकते हैं।

वातावरण—जो शक्तियाँ अथवा परिस्थितियाँ जीव को गर्भ-धारण से जीवनपर्यन्त प्रभावित करती हैं, उन्हें 'वातावरण' कहते हैं। जीव को प्रभावित करने का तात्पर्य है कि उसके आहार, व्यवहार अथवा क्रियाओं को प्रभावित करना। जब जीव गर्भ में रहता है उस समय उसकी सभी क्रियाएँ आन्तरिक वातावरण से प्रभावित होती हैं। उस जीवको को छोड़कर उसके चारों ओर जो रहता है और जिसका असर उसकी क्रियाओं पर पड़ता है, वही उसका आन्तरिक वातावरण कहलाता है। जन्म के बाद जीव आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के वातावरण से प्रभावित होता है। शरीर के अन्दर जो रक्त संचार, रस पाक क्रिया, पाचन क्रियाएँ होती हैं, उनकी परिगणना आन्तरिक वातावरण के अन्तर्गत होती है इस प्रकार कोई भी आन्तरिक, शारीरिक परिवर्तन जिसका असर जीव की क्रियाओं पर पड़ता है, वही उसका आन्तरिक वातावरण कहलाता है। माता-पिता, भाई-बहिन, परिवार, पाठशाला,

समुदाय, समाज पेड़-पौधे, नदी, पर्वत, सूर्य आदि बाह्य वातावरण का निर्माण करते हैं। यह वातावरण दो प्रकार का होता है—सामाजिक तथा भौतिक। परिवार तथा सदस्य, टोला, मोहल्ला सामाजिक संस्थाएँ आदि सामाजिक और सूर्य, पर्वत, नदी आदि भौतिक वातावरण के अन्तर्गत आते हैं। वातावरण के असर के परिणामस्वरूप जीव तरह-तरह की क्रियाएँ करता है और इसी के अनुरूप उसकी जीवनशैली भी निर्धारित होती है।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि जीव की विभिन्न क्रियाओं और विशेषताओं पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है या आनुवंशिकता का, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। वातावरणवादियों का कहना है कि मनुष्य की विशेषताएँ वातावरण द्वारा निर्धारित होती हैं। वह जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, उसी के अनुसार उसमें तरह-तरह की विशेषताओं का आविर्भाव और विकास होता है। खान-पान, वेशभूषा, मानसिक योग्यताएँ सभी वातावरण के फलस्वरूप होती हैं। सज्जन, विद्वान, उपकारी परिवार में जन्म लेने वाले और पालित-पोषित होने वाले व्यक्ति उपर्युक्त गुणों से युक्त होते हैं, किन्तु जुआरी, शराबी, धूर्त, पाखण्डी व्यक्ति अपने आस-पास के दुर्गुणों को अपनाते हैं। इस पक्ष को पुष्ट करने के लिए कई प्रयोगात्मक प्रमाण भी दिये गये हैं।

रामू नाम का एक १० वर्षीय बच्चा आज से ५-६ वर्ष पूर्व लखनऊ के निकट किसी रेलवे स्टेशन पर मिला था। इस बच्चे को जन्म के बाद एक भेड़िया उठा ले गया था। उसने मारकर खाने के बजाय बच्चे को अपनी माँद में रखकर अपने बच्चे के समान उसका पालन-पोषण करना शुरू किया। बच्चे के दस वर्ष वहीं बीते। जब वह बच्चा अचानक किसी शिकारी द्वारा मिला तो इसकी बड़ी चर्चा हुई। भेड़िया बालक के रूप में रामू की ख्याति देश-विदेशों में पहुँची। तमाम लोग इस बच्चे के बारे में जानकारी करने को उत्सुक हो उठे।

रामू की सारी क्रियाएँ भेड़िये जैसी होती थीं। वह चार पैरों से चलता था। भेड़िये जैसा गुर्गता था और माँस भी खाता था। रामू वैज्ञानिकों और चिकित्साशास्त्रियों की खोज के लिए एक अमूल्य मसाला मिला। इसे बलरामपुर अस्पताल में भर्ती कर दिया गया और विशेष रूप से इसकी सेवा शुरू की गई।

निरन्तर कई वर्षों की सेवा-सुश्रूषा के बाद भी रामू में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। वह थोड़ा-बहुत अन्न तो खाने लगा परन्तु पशुवत् क्रियाएँ उसकी बनी रहीं। अब वह बच्चा जीवित नहीं है।

रामू में वंशानुगत सभी संस्कार व शक्तियाँ क्या नहीं थीं ? अवश्य थीं। परन्तु वातावरण ने उसकी इन सारी शक्तियों को दबाकर पशु बना दिया। अतः वातावरण के प्रभाव को हम भली प्रकार समझ सकते हैं।

वाटिका में न जाने कितने प्रौढे उचित सेवा, खाद, पानी, निराई एवं सुरक्षा के अभाव में नित्य-प्रति सूखते, मुरझाते एवं दुर्बल होते हम देखते हैं। जिन पौधों को उचित खुराक एवं सुरक्षा मिल जाती है, वे दिन दूने रात चौगुने होते हैं। यही दशा मनुष्यों के बालकों की होती है। वंश का श्रभाव अपनी जगह पर निश्चित है, परन्तु उसे पनपाने के लिए उचित वातावरण का अस्तित्व अपने स्थान पर है।

दूसरे पक्ष के विद्वान वातावरण के महत्व को अस्वीकार करते हुए आनुवंशिकता के ही महत्व पर जोर देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मनुष्य की सभी विशेषताओं या योग्यताओं का श्रेय वंशानुक्रम को ही है। बुद्धिमान और योग्य माता-पिता के बच्चे भी बुद्धिमान और योग्य होते हैं, किन्तु मन्द-बुद्धि और अयोग्य माता-पिता के पुत्र अयोग्य और बुद्धिहीन होते हैं। गाल्टन जैसे विद्वानों ने कई प्रकार के अन्वेषणों से इस पक्ष को पुष्ट किया है।

वस्तुतः उपर्युक्त दोनों विचारधाराएँ अपूर्ण हैं। सच्ची बात तो यह है कि मनुष्य की किसी प्रकार की विशेषता में इन दोनों का समान हाथ रहता है, जो कुछ बालक को वंशानुक्रम से प्राप्त होता है, उसी का विकास वातावरण में होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि जीव की क्रियाओं पर दोनों अंगों का असर समान मात्रा में पड़ता है। यदि वंशानुक्रम उसकी सीमा को निर्धारित करता है तो वातावरण उसकी दिशा में निश्चित करता है। अतः बालक के स्वाभाविक विकास में दोनों का समान हाथ है, उसे अलग करके अध्ययन करना ही उचित नहीं है।

नामकरण संस्कार

षोडश-संस्कारों में नामकरण चौथे नम्बर का है, जो जन्मते समय नामरहित है परन्तु वह जीवन भर अपने नाम से ही समझा जायेगा। नाम से उसका इस संसार में बोध होता है। प्रायः अब ऐसा भी होता है कि नवजात शिशु का विधिवत् नामकरण संस्कार न होने के कारण जब लोग इधर-उधर से आकर माँ-बाप से पूछते हैं—“इसका क्या नाम रखा है ?” तो कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता। फिर घर वाले मनमाने ढंग से उसका अलग-अलग नाम रख लेते हैं। कोई प्यार से मुन्ना, लल्लू आदि कहने लगते हैं, तो कोई भय के कारण कि कहीं बच्चे को नजर न लग जाय, बुरे-बुरे नामों से सम्बोधित करने लगते हैं। ग्रामों में तो इस प्रकार के नामों की बहुतायत मिलेगी। लड़कियों का नाम ‘कुत्कुटिया, जिय्यै, महरजिया, लड़कों के नाम कूड़ा, घसीटा, ननकू, ढोढे, मँगरे, विपतिया आदि। शास्त्रकारों ने इसी कारण नामकरण संस्कार का विधान किया है। प्रत्येक सुशिक्षित

व्यक्ति को अपने बच्चे-बच्चियों का विधिवत् नामकरण संस्कार कराना चाहिए।

कब करना चाहिए ? नामकरण संस्कार बच्चा पैदा होने के दस दिन बाद में या शुभ दिन करना चाहिए।

नामकरण संस्कार का उद्देश्य

दुहिता पुत्रयोस्तुल्यवात्सल्यम् भवेत्। द्वयोः प्राप्तयोः तुल्यानन्दमनुभवेत्। दुर्योर्विकासोन्नतिभ्याम् समानम् प्रयत्नम् ध्यानञ्च एवं सुखशान्तिः सुविधायाश्च सुव्यवस्था भवेत्।

“कन्या और पुत्र दोनों पर समान वात्सल्य हो। दोनों की प्राप्ति से समान प्रसन्नता का अनुभव हो। दोनों के विकास एवं उन्नति के लिए समान प्रयत्न और ध्यान हो। दोनों की सुखशान्ति और सुविधा का समान ध्यान एवं सुव्यवस्था हो।”

आज हमारे समाज की दशा बदली हुई है। पुत्र-उत्पत्ति पर तो धड़ाधड़ गोले दगते हैं, बड़ी धूमधाम होती है, चारों ओर मंगल गीत गाये जाते हैं लेकिन कन्या-जन्म बड़ी शान्तिपूर्वक हो जाता है। कोई जान भी नहीं पाता। पुत्र और पुत्री की अवस्था में यह भेद-भाव क्यों ? इसके पीछे हमारी सामाजिक रचना का दोष है।

अतः शास्त्र कहता है कि दोनों की प्राप्ति में समान प्रसन्नता का अनुभव हो, दोनों के विकास एवं उन्नति के लिए समान प्रयत्न व ध्यान हो तथा दोनों की शान्ति एवं सुविधा की समान सुव्यवस्था हो। इस प्रकार हमें पुत्र तथा पुत्री दोनों पर समान भाव रखना चाहिए। यह नामकरण संस्कार का प्रथम उद्देश्य है।

तस्य तस्याः वा नाम गुणबोधकम् महापुरुषाणाम्।

विशदकर्मणाम् प्रेरकम् भवेत्॥

“नाम गुण बोधक तथा महापुरुषों के विशद कर्मों की अनुप्रेरणा देने वाला हो।”

नाम मनुष्य के अन्तर्निहित गुणों का बोध कराने वाले होने चाहिए। जब गुण के विपरीत नाम होता है तो लोगों के उपहास का कारण बनता है जैसे नाम फतेहसिंह, पोत ढाई आना। एक सज्जन का नाम था बादशाह। एक दिन उसके कुछ मित्र उसके गाँव गये। उसके द्वार से जाते हुए एक ने पुकारा ‘बादशाह महाराज !’ अन्दर से आवाज आई—‘नहीं’ है, घास छीलने गये हैं। यह उत्तर सुनकर सभी साथी खिलखिला कर हँसने लगे। अतः ऐसे नाम भी न रखने चाहिए, जो स्वाभाविक गुणों के विपरीत पड़ते हों। बच्चों के नाम अपने जाति और धर्म के महापुरुषों के नाम पर रखने चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के विशद कर्मों से नामधारी व्यक्ति में अनुप्रेरणा होती रहती है। धीरे-धीरे वह उन

१. २२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

महापुरुष के गुण, कर्म और स्वभाव को बहुत अंश में धारण कर लेता है।

इसलिए नाम गुण बोधक और महापुरुषों के नाम के आधार पर रखना चाहिए।

शैशवे मातुः सात्त्विक स्वच्छाहार विहाराणाम् एव मनस्तुष्टि-पुष्टि-उल्लासानाम् प्रबन्धो भवेत्॥

‘शैशव काल में, माता के सात्त्विक-स्वच्छ आहार-विहार एवं मानसिक तुष्टि-पुष्टि तथा उल्लास का सौम्य प्रबन्ध हो।’

नामकरण संस्कार का तीसरा उद्देश्य यह भी है कि बच्चे तथा उसकी माता दोनों के सात्त्विक भोजन, शयन की सुव्यवस्था करना भी पिता एवं घर वाले अपना कर्तव्य मानें। घर के प्राणी माता की इच्छाओं का आदर करें तथा उसे प्रसन्न रखने का प्रबन्ध करें। माता की मानसिक अवस्था का बहुत कुछ प्रभाव बच्चे पर पड़ता है। यदि माता गरिष्ठ और ठण्डे पदार्थों का सेवन करेगी, तो बच्चे को कब्ज तथा जुकाम से पीड़ित होना पड़ेगा, क्योंकि बच्चे का पोषण माँ के दूध से होता है। इसी प्रकार यदि माता स्वस्थ और प्रसन्नचित्त रहेगी और तभी वह ऐसा रह सकती है जब घर में उसका सम्मान हो, उसके आहार-विहार की समुचित व्यवस्था हो, उसका बालक स्वभावतया स्वस्थ और प्रसन्नचित्त होगा। लेकिन यदि माता पारिवारिक क्लेशों में उलझी रहेगी, वह सदैव चिन्तातुर रहेगी तो उसका बच्चा नाना प्रकार के रोगों से जकड़ जायेगा। उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। अतः नामकरण संस्कार के समय इस बात को भी हृदयंगम कर लेना चाहिए।

बालकस्य हृदि सुसंस्कारार्थं सुस्नेह सद्भाव प्रेरयत्, मोहवशादपि, अनुचित सुविधां परित्यज्य दुर्गुणभ्यो वर्जयेत्॥

‘स्नेह और प्यार का सन्तुलित उपयोग कर सुसंस्कारी बनने में बालक के हृदय में सद्प्रेरणा उत्पन्न करें। मोह से उसे अनुचित सुविधा प्रदान कर बुराई में प्रवृत्त न होने दें।’

चौथा उद्देश्य है—स्नेह और प्यार के सन्तुलित उपयोग द्वारा बालक के हृदय में अच्छे संस्कारों को उत्पन्न करना। मोहवश अनुचित सुविधाएँ प्रदान कर बालक को नाना प्रकार की बुराइयों में फँसा देते हैं। यही बच्चे आगे चलकर घर की सारी सम्पत्ति लुटाकर घर फूँक तमाशा करने वाले बनते हैं। अपने कुल और परिवार की सात पीढ़ियों का नाम कलंकित करते हैं।

गरिष्ठोत्तेजकमादकादि द्रव्याणाम् औषधीनाञ्च सन्तानोपरि उपयोगम् न कुर्यात्॥

‘गरिष्ठ, उत्तेजक, मादकीय द्रव्यों और औषधियों का सन्तान पर उपयोग न होने दें।’

अन्न का प्रभाव शरीर रचना पर बहुत पड़ता है। जिस प्रकार का अन्न मनुष्य खाता है, उसी प्रकार उसके विचार बनते हैं। गरिष्ठ, उत्तेजक और मादक द्रव्यों के सेवन से पेट खराब होता है। आँतों का कार्य मन्द और शिथिल पड़ जाता है। तब व्यक्ति नाना प्रकार के रोगों में जकड़ जाता है। इसी प्रकार तेज औषधियों का परिणाम भी है। बच्चे की तवियत थोड़ी-सी भी खराब हुई कि इन्जेक्शन पर इन्जेक्शन लगने लगे। आजकल तेज दवाइयों द्वारा रोग को दबा देने का ऐसा चलन हो गया है कि हमारा स्वास्थ्य, बौद्धिक स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता जाता है। संयम न होने से शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती है।

शास्त्रकारों ने नामकरण संस्कार के अवसर पर ही इस भयंकर परिस्थिति से अवगत रहने के लिए माता-पिता को सतर्क रहने की सलाह दी है। यही इस संस्कार का पाँचवाँ उद्देश्य है।

सर्वांगीण विकास दृष्टया बालक बालिकानाम् क्रीडार्थं, विनोदाय ज्ञानाप्तये, हृदयमस्तिष्कयोः एवं कर्मशक्तिनां विकासार्थं सम्पूर्णानुकूल सुविधां स्थितिच्च प्रदद्यात्॥

‘सर्वांगीण विकास की दृष्टि से बालक-बालिकाओं के खेलने, विनोद करने, ज्ञान प्राप्त करने, हृदय, मस्तिष्क एवं कर्मशक्ति के विकास के लिए सारी अनुकूल सुविधा, साधन एवं स्थिति प्रदान करो।’

बालक-बालिकाओं के सर्वांगीण विकास के लिए निम्न चीजों की आवश्यकता होती है। खेल एवं विनोद से शरीर का विकास होता है, ज्ञान प्राप्त करने से हृदय एवं मस्तिष्क का विकास होगा, रचना प्रवृत्ति का विकास होना चाहिए। इसलिए बालक के सर्वांगीण विकास के लिए सारी अनुकूल सुविधा-साधन एवं स्थिति की आवश्यकता होती है। उन सबको जुटाना माता-पिता का पुनीत कर्तव्य होता है। केवल बच्चा पैदा कर देने मात्र से उनका काम समाप्त नहीं होता। बालक को हर दृष्टि से योग्य बना देने पर ही माता-पिता का कर्तव्य पूरा होता है। यह उन पर नवीन जिम्मेदारियाँ आती हैं, जिसके लिए धन, बुद्धि, समय तथा विवेक सब कुछ उन्हें सन्तान को योग्य बनाने के लिए देना पड़ेगा। अपनी सुख-सुविधा को पुत्र की सुख-सुविधा पर बलिदान करना पड़ेगा। स्वयं आधा पेट खाकर बालक के लिए पौष्टिक भोजन जुटाना पड़ेगा, उसके लिए खेल-खिलौने लाने पड़ेंगे। उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करना पड़ेगा।

अतः नामकरण संस्कार का छठा उद्देश्य यह है कि बालक के उत्पन्न होने के दसवें दिन ही माता-पिता विधिवत् इस नवीन जिम्मेदारी को अपने कंधों पर धारण करें। अपनी शक्ति एवं सामर्थ्यानुकूल वे सोच-विचार कर आगे की योजना बना लें कि किस प्रकार बालक का लालन-पालन करेंगे ? उसकी शिक्षा के लिए कहाँ

पढ़ावेंगे और किस प्रकार की शिक्षा उसके लिए हो ? बालक के स्वभाव में सदगुण लाने के लिए उन्हें रहन-सहन में कौन-कौन-से परिवर्तन लाने पड़ेंगे, क्योंकि अब तो उनको अपने पूर्व जीवन से भिन्न जीवन बिताना है।

मालाकारवत् वात्सल्येन प्रभु प्रदत्तपादपन् सुष्ठु सिच्यत्वातान् सुविकासयेत्।

‘प्रभु के सौंपे हुए कोमल पादपों को वात्सल्य भरे माली की भाँति, खाद देकर, सींचकर, निरोकर सुविकसित होने में सहायता करें।’

माता-पिता का पद बगीचे के माली के समान है। जिस प्रकार वाटिका में माली का कार्य होता है कि छोटे-बड़े विभिन्न प्रकार के पौधों को आवश्यकतानुसार खाद देता है, सिंचाई करता है। पौधा के किनारे जो अनावश्यक घास-फूस उगकर पौधे के स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचाते हैं, माली उनको निकाल फेंकता है। वह पौधों की मिट्टी को पोली बनाता है, यही छोटे-छोटे पौधे आगे चलकर बड़े विशाल वृक्ष बनते हैं, फल-फूल से लद जाते हैं।

माता-पिता के घर में प्रभु ने पुत्र रूप में एक कोमल पौधा प्रदान किया है। अभी उसके सब अंग कोमल और अविकसित हैं। बीज रूप में तो उसमें अथाह शक्तियाँ छिपी पड़ी हैं, लेकिन उनका विकास अभी नहीं हुआ है। प्रभु की वाटिका में एक कुशल माली की आवश्यकता है। मालिक कितने ही सुन्दर और मूल्यवान पौधे अपनी वाटिका में लगाने के लिए खरीद लाये लेकिन यदि बगीचे का माली फूहड़-अज्ञानी है, तो कीमती पौधे जो किसी दिन बढ़कर मूल्यवान फलदार वृक्ष बनते, बचपन में ही कुम्हला जाते हैं। लेकिन कुशल माली के हाथों से छोटे-छोटे दुर्बल पौधे भी विकसित होकर अच्छे वृक्ष बन जाते हैं। इसी प्रकार अयोग्य माता-पिता के असंख्य बच्चों की आन्तरिक शक्तियाँ अविकसित होकर कुण्ठित रह जाती हैं। वे या तो बचपन में मृत्यु को प्राप्त होते हैं या फिर अंगहीन, बुद्धिहीन, कर्महीन और अपाहिज होकर किसी प्रकार अपना जीवनयापन करते हैं, संसार और समाज पर बोझ बने रहते हैं।

लेकिन कुशलतापूर्वक लालन-पालन से बहुतेरे कम शक्तियों वाले बच्चे आदर्श मनुष्य बनकर समाज व राष्ट्र के पथ-प्रदर्शक बनते हैं। नामकरण संस्कार के दिन माता-पिता को पूरी सावधानी बरतनी चाहिए।

नामकरण संस्कार विधि—किसी शुभ दिन व शुभ मुहूर्त में बच्चे का पिता स्नान करके स्वच्छ वस्त्र धारण करे और तिलक लगावे। फिर अपने आचार्य को बुलाकर नामकरण संस्कार विधि के अनुसार गणेशादि पाँच देवताओं का पूजन करावे फिर सुवर्ण पड़े हुए गर्म जल से बच्चे के ऊपर अमलिखित मन्त्रों से अभिषेक करें—

ॐ हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्। स दाधार पृथिवीद्यामुतेर्मां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ॐ कुमारम् जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मन्त्रुनी हिरण्य निकाषं हिरण्येन।

फिर इसी जल से बच्चा की माँ को छीटा दें। यजमान के हाथ में आचार्य कलाया बाँधें और तिलक करें इसके बाद बच्चे की कमर में करघनी बाँधें। फिर स्वर्ण और कुशा इन दोनों से बालक को शहद, घी मिलाकर चटावें। बालक के कान में निम्नलिखित मन्त्र बोलें—

ॐ मेधां ते देव सविता मेधां देवी सरस्वतीः मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ।

फिर निम्नलिखित मन्त्र को बोलकर बालक को दूध पिलावें।

ॐ यस्तेस्तनः शशयोमयो भूर्वेन विश्वा पुष्पसिवापाणि।

योरलषा वसुविद्यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवेकः॥

इसके पश्चात् पाँचों संस्कार करके, अग्नि-स्थापन करके विधान से सब कार्य करते हुए बारह आहुति होमें और बाद में जो कृत्य हैं उन्हें करें।

पीछे लोकीति के अनुसार बालक की माँ की गोद में पूरी या मोठा रखें। तत्पश्चात् बालक का नाम धरें। जिस नक्षत्र में जन्म हुआ है उस नक्षत्र के चार चरण के जो अक्षर हों उन अक्षरों पर नाम उच्चारण करें। फिर बालक को सूर्य का दर्शन करावें और उसके हाथ में जल-चावल लगाकर सूर्य के सम्मुख चढ़ावें।

फिर पृथ्वी का पूजन करके बालक से पृथ्वी का स्पर्श करावें। फिर आचार्य अपने हाथ में मिष्ठान, फल, पुष्प, चावलों को लेकर यजमान को दें और फिर उसे पुत्र के दीर्घजीवी होने तथा यजमान को बालक के प्रति कर्तव्य को भली-भाँति निभाने का आशीर्वाद दें।

बहुत-से लोग इस अवसर पर आतिशबाजी दागते हैं, नाच कराते हैं। इस प्रकार तमाम रुपया व्यर्थ में फेंक देते हैं। हर प्रसन्नता के अवसर पर दान-पुण्य की विशेष महिमा होती है, लेकिन यह दान सुपात्रों को देना चाहिए जिसको आवश्यकता हो। विद्यार्थियों को पुस्तक दान, अस्पताल के रोगियों को फल व धन-दान, गरीब व असहायों को भोजन तथा वस्त्र का दान करना उत्तम होता है।

अन्नप्राशन संस्कार

षोडश संस्कारों में से पाँचवाँ संस्कार ‘अन्नप्राशन’ का है, जिसका अर्थ है—बच्चे को विधिवत् किसी शुभ दिन से अन्न का सेवन कराना आरम्भ करना।

जन्म से छठे महीने या वर्ष के भीतर किसी शुभ दिन में अन्नप्राशन संस्कार करें, क्योंकि इस अवस्था तक

१. २४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

पहुँचते-पहुँचते बालक विकसित हो जाता है। प्रकृति तो सबसे बड़ी धात्री है। छह महीने का बालक घुटनों के बल बैठने लगता है। उसके हाथ-पैर, सिर कुछ मजबूत होने लगते हैं, उनमें शक्ति आ जाती है। थोड़ा-बहुत गुँगा भी करने लगता है। उसके आगे की दो दंतुलियाँ भी निकल आती हैं। माँ के दूध से अब उसका काम चलने वाला नहीं। उतने से ही उसकी क्षुधा तृप्त नहीं होती। फिर आगे के जीवन में तो उसे अन्न खाकर ही इस शरीर को धारण करना है। एक वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते तो उसे दूध बिल्कुल छोड़ देना पड़ेगा।

अन्न के सूक्ष्म भाग से ही मन बनता है। इसलिए पवित्र मन बनाने के लिए अन्न का न्यायपूर्ण अर्जन, पवित्र भाव एवं सात्विक क्रियाओं के द्वारा स्वच्छ और निर्मल बनाना चाहिए।

शास्त्रकारों ने अन्न के सम्बन्ध में बड़े सूक्ष्म विचार प्रकट किए हैं, क्योंकि अन्न से हमारे मन की रचना होती है और मन ही सम्पूर्ण मानवी क्रियाओं का केन्द्र-बिन्दु होता है। मन की शक्ति अथाह है। जिसका मन अपने वश में है वही योगी, ऋषि, मुनि, महापुरुष, प्रतिभाशील आदि नामों, उपाधियों को धारण करता है और जिसका मन अपने वश में नहीं है, चंचल है वह नाना प्रकार के व्यसनों, बुराइयों के पीछे मारा-मारा फिरता है, उसका जीवन सार्थक जीवन नहीं होता। मन पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही संसार-विजयी हो सकता है।

फिर जिस मन पर हमारी मानवी क्रियाएँ निर्भर हैं, बच्चे का सारा सुख-दुःख निर्भर है, उसकी रचना के लिए माता-पिता का कर्तव्य विशेष हो जाता है और सारे उपाय तो गौण परन्तु बालक के विकास में उसे ठीक मार्ग पर लगाना सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। आजकल भोजन की शुद्धता-अशुद्धता पर कोई विचार किये बिना पेट को कूड़ाखाने की तरह भरना हमारी आदत बनती जा रही है। उसमें चाकलेट, आइसक्रीम, लैमनजूस आदि तो बचपन से ही पड़ने लगते हैं, फिर चाहे और जो भी भोजन खिलाना हम बच्चों को प्रारम्भ कर देते हैं। यह एक गलत प्रक्रिया है। बच्चे को जिस मार्ग पर ले जाना है, जिन वस्तुओं या आदतों के प्रति प्रेम पैदा करना है उनका अभ्यास इसी अवस्था से करना है।

अन्नस्य सूक्ष्मविभागात् मनः सुविकसितं भवति।

अतः न्याया अर्जनं सद्भावनाया सत्क्रियाभिश्च सुनिर्मलाम् कुर्यात्॥

जिस अन्न को हम बच्चे को खिलाना प्रारम्भ करें उसमें तीन विशेषताएँ होनी चाहिए—

(१) माता-पिता द्वारा न्यायपूर्वक उस अन्न का अर्जन किया गया हो। (२) अन्न के साथ पवित्र भाव हो।

(३) सात्विक क्रियाओं के द्वारा उसे स्वच्छ और निर्मल बनाना चाहिए। संक्षिप्त में 'अन्नप्राशन' संस्कार का उद्देश्य निम्नलिखित है—

(१) 'तथैवान्नचयनम् कृत्वा तद्भावानुकूलक्रियाभिः त्यक्त्वा प्राशनम् कारयेत्।'

'बालकों को जिन गुणों से सम्पन्न कराना हो, वैसे ही अन्नों का चयन कर उसी भाव एवं तदनुकूल क्रियाओं से उसे तैयार कर खिलाना चाहिए।'

आप बच्चे को क्या बनाना चाहते हैं ? व्यापारी, मजदूर, कृषक, सैनिक, इंजीनियर, अध्यापक आदि। हर पद की तैयारी में अन्न का विशेष हाथ होता है। यदि आपकी चाह है कि बच्चा बड़ा होकर सेना का जनरल बने तो उसे खिलाने वाले अन्नों में बहुत ज्यादा सात्विकता का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। वह अन्न खिलाइए जिससे उसका शरीर स्वस्थ हो, माँसल व सुदृढ़ हो। बुद्धिजीवी बनाना हो तो उस प्रकार के अन्नों का चयन करना चाहिए अर्थात् पौष्टिक और गुणकारक भोजन।

गीता में भगवान ने तीन प्रकार के अन्नों का वर्णन किया है—सात्विक, राजसी और तामसी।

'आयुष्य, सात्विकता, बल आरोग्य सुख और रुचि बढ़ाने वाले रसदार, चिकने, पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्विक स्वभाव के लोगों को प्रिय होते हैं।'

'तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे, दाहकारक आहार राजस लोगों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं।'

'पहर भर से पड़ा हुआ, नीरस, दुर्गन्धित, वासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस स्वभाव के लोगों को प्रिय होता है।'

इस तरह आप अपने बच्चे को किस स्वभाव का बनाना चाहते हैं—सात्विक, राजस अथवा तामस। उसी के अनुसार उसके लिए भोजन का चयन करें।

(२) "स्वस्थित्यानुरूपम्, अभ्यागतेभ्यः सहवासिभ्यः आश्रितेभ्यश्च दोने दत्त्वा शेषानान् भुञ्जीत्॥"

'अपनी स्थिति के अनुरूप अभ्यागतों, पड़ोसियों एवं आश्रित प्राणियों को देने के उपरान्त शेष अन्न के गुण को ग्रहण करना।'

अन्नप्राशन के दिन अपने बच्चे को जिस प्रकार का अन्न खिलाने का चयन आपने किया हो, उसे अधिक मात्रा में बनवाएँ और सबसे पहले अतिथियों, अपने पड़ोसियों और नौकर-चाकरों को उसे खिलाकर तब उसका सार भाग बच्चे को खिलायें। इससे दान-पुण्य की भावना बच्चे में उत्पन्न होगी, उन सभी का आशीर्वाद उसे मिलेगा।

(३) “अन्नम् ‘ब्रह्म’ इति मत्वा प्रेमादरेण, उपयोगं, अनष्टं औच्छिष्टं कुर्यात्॥”

‘अन्न को भी ब्रह्म मानकर उसे प्रेम आदर से उपयोग करना, नष्ट नहीं करना तथा उच्छिष्ट नहीं छोड़ना।’

अन्न को ईश्वर का प्रसाद समझकर खाने का भाव बच्चे में उत्पन्न करना है। उत्तम भाव से ईश्वर का प्रसाद समझकर जिस अन्न को खाया जाता है वह हमारे शरीर में लगता है। अन्न की मात्रा और विटामिन पर विचार की तुलना में भाव पर अधिक जोर देना लाभप्रद है। अपने विद्यालय के भोजनालय में परीक्षण करके मैंने स्वयं देखा है। वहाँ शुद्ध भाव से मन्त्रोच्चारण के साथ नित्य भोजन करने का नियम है। भोजन बनता है जिसे पौष्टिकता की दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का नहीं कह सकते। परन्तु उस भोजन का प्रभाव लड़कों और अध्यापकों सब पर देखा। सबके स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक परिवर्तन पाया।

उस दिन हमें यह भाव भी ग्रहण करना है कि भारत में आज अन्न की समस्या बड़ी विकट है। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए भोजन की व्यवस्था करना बड़ा कठिन हो रहा है। प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये का अन्न बाहर से मँगाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में अपनी थाली में अन्न बचा देना राष्ट्रीय पाप है। ऐसा हमें न करना चाहिए। बड़े लोग तो यह विचार करते हैं, परन्तु प्रायः हमने देखा है कि छोटे बच्चों के लिए माता-पिता कुछ नहीं करते। छोटी-सी थाली या कटोरी में उनको भोजन दे देते हैं। अगर अपने हाथ से खाने लगे हैं तो आधा खाते हैं और आधा बिखेरते हैं। माता-पिता भी इसके लिए उन्हें कुछ नहीं कहते। ऐसे अवसर पर बच्चों को प्रेम से समझाना चाहिए ताकि तदनुकूल भाव बने और उतना ही देना चाहिए जितना वह खा सके। इस भाव को ठीक अन्नप्राशन के दिन से ही शुरू करना चाहिए।

(४) ‘भोजनकालस्य, आवश्यकतायाः मात्रायाः स्वच्छतादेश्च सुविचारपूर्णं सदुपयोगम् कुर्यात्॥’

‘भोजन का समय, आवश्यकता, मात्रा, स्वच्छतादि का विचारपूर्वक सदुपयोग करना।’

जब से बच्चों को भोजन करना प्रारम्भ करें, उसी दिन से उसके प्रति चार बातों पर ध्यान देना चाहिए—

(अ) भोजन समय का निर्धारण—दिन में ४ बार या ५ बार थोड़ा-थोड़ा भोजन चटावे, परन्तु नित्य एक ही समय पर वैसा करें, तब बच्चे का हाजमा ठीक रहेगा। अनियमित ढंग से भोजन कराते रहने पर बच्चा नाना प्रकार की बीमारियों से जकड़ जाता है। दस्त आने लगते हैं, हाँड़ी की तरह पेट आगे निकल आता है। शरीर बेडौल हो जाता है। पेट फूलने लगता है, जीवनभर वह रोगों का शिकार बना रहता है।

(ब) आवश्यकता—छह-सात महीने के बच्चे को तो केवल अन्न चटाना रहता है, उसे अधिक खिलाने का प्रयास न करना चाहिए। केवल पतली चीजें चटानी चाहिए, जो कड़वी और तीखी न हों। ज्यों-ज्यों बच्चा बढ़ता जाये उसके भोजन की मात्रा बहुत धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए। बहुतेरी माताओं की यह धारणा होती है कि यदि उनका बच्चा अधिक खा लेगा तो खूब मोटा हो जायेगा। इसलिए वे उसे हर समय अधिकाधिक खिलाने का प्रयास करती हैं और नजर न लगे इसलिए दूसरी स्त्रियों से कहा करती हैं—‘भइया, कुछ खाता ही नहीं इसे तो न जाने क्या हो गया है?’ उन्हें क्या पता कि वे स्वयं ऐसा करके अपने बच्चे को लाभ पहुँचाने के बजाय हानि पहुँचा रही हैं। बच्चा भद्दा और काहिल बनता जाता है। अतः भोजन उतना ही कराना चाहिए जितने की उसके लिए आवश्यकता हो तथा उसकी पाचन-क्रिया उस बोझ को सँभाल सके।

(स) स्वच्छता—भोजन में स्वच्छता रखना अति आवश्यक है। बच्चे खाते रहते हैं, सैकड़ों मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। गन्दे स्थानों पर भी उन्हें भोजन करने के लिए बिठा दिया जाता है। बच्चा उसमें अपनी उँगली सानता है, मिट्टी और कूड़ा भरता है। अतः माता को स्वयं चाहिए कि वह बच्चे को अपने सामने भोजन कराये। स्वच्छता का पूरा-पूरा ध्यान रखे। बच्चा तो अभी आपके आश्रित है आप उसको जैसे ढर्रे पर चलायेगा, वही मार्ग उसे प्यारा लगने लगेगा। फिर बच्चे में तो स्वच्छता की आदत डालनी है। स्वच्छता में सबसे पहले भोजन की स्वच्छता आती है। इन सबों को आपको पहले सिखाना है। स्थान की स्वच्छता के बारे में तो बच्चा दो-तीन वर्ष बाद ही कुछ कर सकेगा।

(५) भोजनस्य याचिते, प्रदत्ते, कारायेते एवं भक्षिते काले तस्मिन् यद्भावाविचारसंकल्पनाम् सन्निवेशं

कुर्यात्॥

अर्थात्—‘भोजन को सिद्ध करने, परोसने, खिलाने और खाने के समय उसमें सद्भावों एवं संकल्पों का सन्निवेश करना, जो कल्याणकारी हो।’

जिस समय हम भोजन करते हैं, तो हमारे मुँह के अन्दर दो ग्रन्थियाँ होती हैं, उनमें से लार निकलती रहती है। जब कौर को मुँह में डालते हैं और चबाते हैं तो यही लार उसमें मिलती रहती है। भोजन को पचाने के लिए इस लार का पर्याप्त मात्रा में खाने के साथ मिलना आवश्यक होता है। जितनी ही अधिक देर तक ‘कौर’—भोजन को चबा-चबाकर खायेंगे उतनी ही अधिक मात्रा में उसमें लार मिलेगी। तभी वह भोजन पेट के अन्दर शीघ्र पचेगा।

शरीर-शास्त्र विशारदों ने भली प्रकार यह परीक्षण किया है कि क्रोध, आवेग की अवस्था में ये ग्रन्थियाँ

१. २६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

अपने में से लार निकालना बन्द कर देती हैं। अतएव इस अवस्था में यदि भोजन किया जाये तो उसमें उचित मात्रा में लार न मिल पायेगी फिर पेट के अन्दर जाने पर वह शीघ्र पवेगा नहीं।

इसलिए प्रसन्नचित्त, शान्त स्वभाव के साथ बैठकर भोजन करना चाहिए, हाथ-पैर धोकर, पवित्र स्थान पर भोजन करना चाहिए। भोजन करते समय हमारे विचार शुद्ध और पवित्र रहें।

इसी प्रकार जो लोग भोजन बनाते और परोसते हैं, उनका भी पवित्र विचार और भोजन करने वाले के प्रति स्नेह-भाव होना चाहिए। होटल में खाने वाले ९० प्रतिशत व्यक्ति पेट के रोगों के शिकार होते हैं। कारण यही है कि होटल में भोजन बनाने और परोसने वालों में यह भाव नहीं होते। सुन्दर बरतनों में चाहे कई प्रकार की तरकारियाँ, दाल, चटनी आदि भले ही सजे हों परन्तु उसमें स्वास्थ्य को बढ़ाने वाले भाव का सर्वथा अभाव रहता है। वहाँ तो होटल के मालिक और समस्त कर्मचारियों की मनोवृत्ति ग्राहक से अधिक पैसा ऐंठने की होती है।

सबसे अधिक उत्तम माता के हाथ का परोसा भोजना माना गया है क्योंकि बच्चे को बिठाकर खिलाते समय वह सोचा करती है कि बेटा खूब आनन्द से भोजन करे और खूब मोटा हो जाये। माता के हाथों का बनाया और परोसा हुआ रूखा-सूखा भोजन होटल के हजार कीमती भोजनों से श्रेष्ठ होता है।

आज सारा देश अस्पतालों की ओर क्यों दौड़ा चला जा रहा है ? शहरों तथा स्टेशनों के भोजनगृहों को देखिये, भण्डारी जूता पहने, बीड़ी पीता हुआ खाना भी बना रहा है और परोस भी रहा है। थालियों में सामान निकालकर रख दिया, मक्खियाँ भिन्नभिन्न रही हैं। शुद्धता-अशुद्धता का कोई ध्यान नहीं, भोजन खाने वाले के प्रति स्नेह और सद्भाव नहीं फिर वह भोजन कैसे गुणकारी बने ?

अपने बच्चे को अन्न खिलाना प्रारम्भ करते समय माता-पिता को भी इन तथ्यों को भली प्रकार हृदयस्थ करना चाहिए और अपने बच्चे में भी उन तथ्यों को धीरे-धीरे प्रविष्ट करना चाहिए। उसे इधर-उधर की सभी चीजें न खिलानी चाहिए। शुद्ध और पवित्र हाथों से बना हुआ, परोसा हुआ और शुद्ध विचारों के साथ जो भोजन आप अपने बच्चों को करायेगे वह उसके शरीर में लगेगा और तीव्र गति से बच्चे का स्वाभाविक विकास होता चलेगा। इन आधारभूत सत्त्यों को न स्वीकार कर आधुनिक सभ्यता में बहुतेरे माता-पिता बहुत कीमती एवं विटामिनयुक्त भोजन कराने की धुन में लगे रहते हैं। आहार की पौष्टिकता पर बल देना उचित है परन्तु उससे जुड़े मनोभावों को भी समझना पड़ेगा। गन्दे हाथों से परोसा हुआ स्वादिष्ट भोजन अहितकारी सिद्ध होगा। प्रेम

से परोसी गई चने की रोटी मैले मन से परोसी गई गेहूँ की रोटी से हजार गुना श्रेष्ठ है।

अन्नप्राशन का यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। इसीलिए कहा है—

‘अन्नम् औषधि, प्रसादे, ‘ब्रह्मस्वरूप’

मत्वा प्रसन्नतया सद्भावतया भक्षयेत्॥’

‘अन्न को औषधि, प्रसाद, अन्न-ब्रह्म के रूप से प्रसन्नता, आदर और सौम्य भाव में ग्रहण करना चाहिए।’

अन्नप्राशन संस्कार विधि—जन्म के छठे मास या वर्ष के भीतर किसी शुभ दिन में यह संस्कार करने का आयोजन करना चाहिए। अपने बन्धु-बान्धवों, मित्र एवं सहयोगियों को भी बुलाना चाहिए।

तत्पश्चात् पिता और माता बालक सहित मंगल द्रव्यों से युक्त जल से स्नान करके, स्वच्छ वस्त्र पहनकर, तिलक लगाकर शुभ आसन पर बैठकर मार्जनादि छह कर्मों को अपने आचार्य की सहायता से पूरा करके संकल्प करें।

देशकाल कीर्तनान्ते ममास्य शिशोर्मातृगर्भा पूतप्राशन शुद्धयर्थमन्नाद्य ब्रह्मवर्चस् तेज इन्द्रियायुर्बल लक्षण सिद्धि बीजगर्भ समुद्भव कल्पषायमार्जन द्वारा श्री परमेश्वरप्रीत्यर्थमन्नप्राशनाख्यं कर्महं करिष्ये।

‘देशकाल का स्मरण कर मेरे इस बालक का गर्भवास और मलिनभक्षण की शुद्धि के अर्थ अन्नप्राशन से होने वाले इन्द्रिय, आयु, बल की स्थिरता तथा ब्रह्मवर्चस् तेज की सिद्धि और बीज गर्भ-सम्बद्ध मलिनता नष्ट करने द्वारा परमेश्वर की प्रीति के लिए मैं अन्नप्राशन करूँगा।’

फिर सब मंगलों के प्रदान करने वाले देवता गणेश आदि की पूजा करके स्वस्तिवाचन करना चाहिए।

तत्पश्चात् कड़ुवा, तीखा, कषैला, मीठा, खट्टा, नमक इन छह रसों और चावल आदि जितने अन्न प्राप्त हों उन सबको शुद्ध कर पकाकर एक उत्तम पात्र में रखकर बालक के पास लाकर एक चाँदी के चम्मच से नीचे लिखे मन्त्र को बोलकर बच्चे को खीर चटावें।

“ॐ अन्नपतेऽन्नस्य नो देत्वा नमावस्य शुष्मिणाः प्रप्रदातरंतरिष्ट ऊर्जनोषेहि द्विपदे चतुष्पदे।’

विद्यारम्भ संस्कार

विद्वानों ने कहा है कि किसी कार्य का शुभारम्भ अच्छी सफलता का द्योतक होता है। आपका बच्चा कुछ जब बड़ा हो चले तो मानव जीवन के सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्राप्त करने की ओर आपको उसे लगाना है। शास्त्रकारों ने कहा है—

“एह लौकिक पारलौकिकानन्दरथा हो रुपायः विद्यैवास्ति। सर्वोत्कृष्टकर्मणाम् परिसमाप्तिः ज्ञाने (ज्ञानपूर्ण कर्मणि) एव भवति। शारीरिक, मानसिक, आन्तरात्मिक विकासः अन्यैव सुसम्पद्यते।”

अर्थात् जागतिक सुख और पारलौकिक आनन्द प्राप्ति का साधन विद्या ही है। सभी उत्कृष्ट कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में (ज्ञानपूर्ण कर्म में) ही होती है। शारीरिक, मानसिक तथा आन्तरात्मिक विकास इसके द्वारा ही सुसम्पन्न होता है।

“विद्यैव वसार्वाविषयिकी सत्या नामाप्तिः वस्तुतः भवति। अन्यैव व्यक्तित्वे नप्तायाः एवं पालनायश्च वृद्धिर्भवति, सदैव धर्मधन सुखानि प्राप्यते। सर्वत्रैव उन्नतिर्भवति। अस्याः सदुपयोगेन विविधैश्वर्यं सुखं सम्पत्तिं कल्याणानाम् अभि वृद्धिर्भवति तथा दुरुपयोगेन दुर्दान्तासुरी प्रवृत्तिमाप्य अन्ते दुःसहनरक्षातिर्भवति।”

अर्थात्—विद्या से सर्वविषयक सत्त्यों की वास्तविकता की प्राप्ति होती है। इससे व्यक्तित्व में नियम, भाव और पात्रता की वृद्धि होने से धर्म, धन और सुख मिलते हैं। सर्वविषयक और सभी क्षेत्रों में उन्नति होती है। इनके सदुपयोग से विविध ऐश्वर्य, सुख-सम्पत्ति एवं कल्याण की अभिवृद्धि होती है और दुरुपयोग से भयंकर दुर्दान्त आसुरी दुर्गुणों से भरकर अन्त में घोर दुर्दशा और नरक की प्राप्ति होती है।

“विद्यैव अज्ञान धम मोहभय वासनानी त्यनाचारादिभ्यः आसुरी दुर्गुणेष्वः मुक्त्वाज्ञानी सदाचार पारायणः एवं लोक सेवकः भवति तथा जीवने मंगलमयीं सम्भावनां सम्पत्स्यते।”

“विद्या के द्वारा अज्ञान, धम, मोह, भय, वासना, अनीति, अनाचार आदि आसुरी दुर्गुणों से मुक्त होकर ज्ञानी, निर्मल, सदाचार, परायण एवं लोकसेवी बनने की मंगलमयी सम्भावनाओं का जीवन में उदय होता है।”

जिस युग में हम लोग निवास कर रहे हैं, यह प्रजातन्त्र युग है। प्रजातन्त्र की शासन पद्धति तभी सुचारु रूप से चल सकती है जबकि नागरिक पढ़े-लिखे हों, उनमें यह विवेक-बुद्धि हो कि वह अच्छे आदमी को वोट देकर उसे सरकार में भेजें। यदि पक्षपात, दबाव, धूस, भय अथवा अन्य किसी कारण से लोग अच्छे और योग्य व्यक्ति के बजाय बुरे और अयोग्य व्यक्ति को चुनने की परम्परा डालते हैं तो सरकार का ढाँचा लड़खड़ा जायेगा। धन और शक्ति का अपव्यय होगा। देश के निवासियों का जीवन नरक तुल्य बन जायेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि चारों ओर अशांति, हिंसा और क्रूरता फैलेगी, लोग एक-दूसरे के जान से दुश्मन बन जायेंगे।

हमारे देश में चूँकि वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रजातन्त्र शासन प्रणाली को अपना लिया गया है, दूसरे के सामने हमारे नेतागण आदर्शवाद की दुहाई देकर

कह भी सकते हैं कि ४४ करोड़ जनता का प्रजातन्त्रीय देश संसार में भारत को छोड़कर अन्यत्र नहीं है।

भारतवर्ष में शिक्षा केवल २० प्रतिशत है। सौ के पीछे अभी बीस व्यक्ति ही साक्षर हो पाये हैं। किसी भी स्वाधीन एवं प्रगतिशील राष्ट्र आज के युग में शत-प्रतिशत शिक्षित होना चाहिए।

यह सब प्रयत्न इसीलिये किया जा रहा है क्योंकि आज के शिशु बालक और युवक अच्छी शिक्षा प्राप्त करें, क्योंकि कल उन्हीं के ऊपर देश, समाज और राष्ट्र के संचालन की जिम्मेदारी आने वाली है। भावी भारत की उन्नति की कल्पना को वही साकार करेंगे। उन्हीं की योग्यता पर भारतीय संस्कृति के जीवित एवं प्रसारित रहने की आशा बाँधी जा सकती है।

इसलिए माता-पिता को अपने बच्चे को पढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए। जो माता-पिता इस ओर समुचित ध्यान नहीं देते उनके लिए चाणक्य ने लिखा है कि ‘माता बैरी पिता शत्रु जे न बालक पठिताः।’

वह माता बैरी के तुल्य है और पिता शत्रु है जिन्होंने अपने बालक को समुचित रूप से शिक्षा देने की ओर ध्यान न दिया हो। सन्तानों का पैदा कर देना कोई बड़ी बात नहीं है, उन्हें शिक्षा भी देनी चाहिए।

पाँच वर्ष की आयु से बच्चे की शिक्षा आरम्भ कराने की बात करनी चाहिए। तभी वह ज्ञान के मार्ग पर चलना शुरू करेगा और धीरे-धीरे एक दिन आदर्श नागरिक, विद्वान और गुणसम्पन्न व्यक्ति बन सकेगा।

कहावत है कि ‘बिना पढ़े नर पशु कहाये।’ ऐसा क्यों कहा गया है ? एक ही माँ-बाप के दो बच्चे होते हैं, उनमें सौभाग्य से एक तो पढ़-लिखकर विद्वान बन गया और दूसरा घर पर ही गृहस्थी का काम करता रहा। आप उन दोनों में अन्तर देखिए। यह बात दूसरी है कि सायंकल तक अपने लिए भोजन की व्यवस्था बेपढ़ा भी कर ले लेकिन उनकी बोलचाल में जमीन-आसमान का अन्तर मिलेगा, पढ़े की बातचीत सलीके की होगी, उसकी वाणी में मिठास होगी, वह किसी आगन्तुक का अपने द्वार पर स्वागत करेगा, उसे प्रसन्न करने का तरीका जानेगा, इसके विपरीत बे-पढ़े-लिखे में न तो बात-चीत करने का तरीका होगा, न स्वागत-सत्कार करने का। पढ़े का चेहरा सज्जनतापूर्ण दिखायी पड़ेगा, बेपढ़े का यदि जानवर का नहीं तो जानवर जैसा रूखा अवश्य होगा।

भारत के अनेक गाँवों में घोर अशिक्षा व्याप्त है। अशिक्षा से ही गन्दगी, छुआछूत, वैमनस्य, जाति-पाँति का भेद-भाव जड़ जमाये हुए है। शिक्षा रूपी सूर्य के प्रकाशित होते ही यह रजनीचर सब स्वयं भागकर बिलों में शरण ले लेंगे। इसलिए भारतवासियों की उन्नति का एकमात्र आधार है—शिक्षा। शिक्षा के व्यापक प्रसार से ही

युग-निर्माण की कल्पना साकार होगी। तभी तो उत्तम विचार फैल सकेंगे। नवीन विचारों से ही नवीन युग का प्रादुर्भाव होगा, नवीन युग की आज की दुर्दशाओं का अन्त करेगा, मानव जीवन सार्थक होगा।

विद्या-आरम्भ की शुभ बेला को विद्या आरम्भ संस्कार कहा गया है। पाँचवें वर्ष में आप बच्चे की विद्या आरम्भ संस्कार कराएँ। मुंडन संस्कार पर तो लोग बड़ा पैसा खर्च करते हैं लेकिन विद्या आरम्भ संस्कार को उतना महत्त्व नहीं देते, बड़े संक्षिप्त रूप में उसका आयोजन करते हैं। जब बच्चा पाँचवें वर्ष में पहुँचे तो किसी योग्य आचार्य से आप पूछकर शुभ मुहूर्त निश्चित करें। फिर उसी के अनुसार अपनी तैयारी प्रारम्भ करें। तैयारी से एक लाभ यह भी होता है कि उसके उस संस्कार के प्रति अनुकूल वातावरण बनता है। बच्चा भी कुछ-कुछ समझने लगता है कि यह सब उसी के लिए हो रहा है। उसके लिए जब उस दिन पहनने के लिए अच्छे कपड़े बनते हैं टोपी आती है, जूता खरीदा जाता है, पट्टी बनती है, तो यह सब देखकर उसे भारी प्रसन्नता होती है, वह फूला-फूला घूमता है, अपनी सखा-मण्डली में सबसे अपनी तुतली भाषा में कहता है कि मेरा विद्या-आरम्भ संस्कार है।

रिश्तेदार, मित्रों और सहयोगियों को आप उस दिन आने के लिए निमन्त्रण अवश्य दें। इससे दो लाभ होंगे— प्रथम तो सब लोग आपके बच्चे के लिए विद्या पढ़ने के लिए मंगलकामना करेंगे, आशीर्वाद देंगे जिसका सूक्ष्म प्रभाव बच्चे पर अवश्य पड़ेगा, दूसरे आपके संस्कार आयोजन से वह लोग भी प्रेरणा ग्रहण करेंगे, अपने बच्चे को पढ़ाने की तथा विद्या-आरम्भ संस्कार करने की।

बच्चे की प्रारम्भिक देख-भाल

पहले दिनों की गलत देख-भाल बच्चे के भविष्य-निर्माण पर बुरा असर डालती है। इस बात का ध्यान रखें कि बच्चे को उचित ढंग से उठाया जावे। सिर और कन्धों के नीचे हल्का-सा हाथ रखकर उठाना चाहिए, क्योंकि उसकी गर्दन और रीढ़ की हड्डी अभी स्वयं सिर का बोझ नहीं सँभाल सकती। बच्चे के तालु का बचाव किया जाय। यह बहुत कोमल होता है। उस पर जरा भी दबाव न पड़ने दिया जाय। बच्चे को आवश्यकता से अधिक नहीं उठाना चाहिए। आने-जाने वालों के लाड़-प्यार के कारण बच्चे को बहुत हिलाया, डुलाया, उछाला, थपथपाया न जाय।

प्रथम सप्ताहों में बच्चे के स्वास्थ्य की हर प्रकार रक्षा करनी चाहिए। बच्चे के कमरे में कभी अधिक भीड़ न होने दें। उसे ऐसे कमरे में भी न ले जावें जहाँ बहुत से लोग इकट्ठे हों। किसी व्यक्ति को अपना मुँह बच्चे के

बहुत निकट न करने दें क्योंकि इस प्रकार साँस की गन्दी वायु बच्चे के फेफड़ों में प्रविष्ट हो जाती है। शिशु को देखकर प्रत्येक व्यक्ति का मन करता है कि वह उसके प्यार करे, किन्तु आप इस बात पर कठोरता से दृढ़ रहें कि किसी को बच्चे का मुख न चूमने दें।

माता के मन में भी यदि बहुत प्यार आये तो वह भी उसके गालों का चुम्बन न करे किन्तु सिर, हाथों या बाहों को चूम ले। बच्चे का शरीर अत्यन्त कोमल होता है। बड़ों की साँस के द्वारा कई रोगों के कीटाणु उसके अन्दर प्रवेश कर सकते हैं। इस मामले में अपने सगे-सम्बन्धियों की अप्रसन्नता की कोई चिन्ता न करें। यदि आप स्वयं अपने मुख से उन्हें कुछ नहीं कहना चाहते तो पहले ही दिन से बच्चे के कमरे में लिखकर लगा दें।

किसी रोगी व्यक्ति के घर में आने पर उसे बच्चे के समीप न आने दें। अधिक अच्छा यही है कि वह उसके कमरे में ही न आये। बीमारी से उठे हुए बच्चे को कभी छोटे बच्चे के समीप न आने दिया जावे। दूसरे की अप्रसन्नता अथवा निन्दा की चिन्ता न करें। कोई भी व्यक्ति जिसे जुकाम हो तो वह भी पूर्ण सावधानी रखे कि उसके नाक और मुँह की भाप बच्चे की नाक में और मुँह में न जाये। दूध पिलाते समय वह अपनी नाक और मुँह को कपड़े से ढाँप ले। जुकाम से बच्चे को पूरी तरह बचाया जाय, क्योंकि जुकाम से कई बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं।

बच्चे की पहली आवश्यकताएँ—

बच्चे के लिए सबसे पहली आवश्यकताएँ ये हैं—

१. हवा—ताजा, स्वच्छ, न बहुत ठण्डी, न बहुत गरम हो।

२. पानी—साफ उबला हुआ।

३. भोजन—जो प्रकृति ने उसके लिए नियत किया है अर्थात् माता का दूध। उसके बाद उससे मिलता-जुलता आहार।

४. गरमी—वस्त्र, गरम बिस्तर, गरम कमरा और सबसे अधिक आवश्यक, माता के अपने शरीर की गर्मी।

५. स्वच्छता—बच्चे की प्रत्येक वस्तु को पूर्ण रूप से स्वच्छ रखा जाये। बार-बार धोना और उबालना अत्यन्त उत्तम बातें हैं। उसके समीप आने वाले लोग पूर्णतया साफ-सुथरे हों। उनके हाथ साफ कराये जायें। उनके जूते अपने साथ बच्चे के कमरे में गन्दगी और मैल न लाएँ। बच्चे के कमरे में मक्खी और मच्छर का नाम तक न हो।

६. विश्राम—कोमल बिस्तर, छोटा सुखद सिरहाना, धूप, हरियाली, आराम, सुन्दर हल्के रंगों वाले खिलौने और रमणीक वातावरण।

७. नियमितता—भोजन समय पर दिया जावे और बच्चे के शेष कामों में नियमितता लाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जावे। उसकी नींद के और टट्टी करने के समय भी यत्नपूर्वक निश्चित किये जा सकते हैं।

अक्सर बच्चे का पिता घर के जीवन में कोई हाथ नहीं बँटाता। बच्चे के लिए पिता का महत्त्व इस बात में है कि वह कभी-कभी उसके लिए खिलौना या बिस्कुट आदि लाता है। कभी-कभी वह बच्चे को गोद में भी उठा लेता है, परन्तु उसे डर बना रहता है कि कहीं पेशाब या टट्टी न कर दे। हाँ, रविवार या किसी छुट्टी के दिन पिता के घर पर रहने से माता को थोड़ी फुरसत मिल जाती है। बच्चे के बीमार पड़ने पर तो बेचारी माँ को और भी कष्ट उठाने पड़ते हैं। कभी-कभी इन परेशानियों से तंग आकर वह अपने मायके को चली जाती है। वहाँ बच्चे को सँभालने में कुछ लोग हाथ बँटाने वाली होती हैं किन्तु मौसियाँ और बुआएँ कई बार बच्चे को ऐसी बुरी-बुरी आदतें सिखा देती हैं, जो आयुपर्यन्त उसका साथ नहीं छोड़तीं। बच्चे को हँसाना, उछालना, उसे चुटकियाँ काटना और धौल-धप्पा करना, ये काम मौसियों और बुआओं को बड़े प्रिय होते हैं। वे तो अपना शौक पूरा करती हैं, किन्तु बेचारे बच्चे की शामत आ जाती है।

पहले बच्चे के जन्म के बाद आमतौर से ऐसी ही बातें देखने में आती हैं। नई माताओं को बहुत हद तक पुरानी लीकें पर चलना है, उन्हें वही सब करना पड़ता है, जो पुरानी माताएँ करती आई हैं। हमारा समाज कोई नया विचार सहन नहीं करता। यदि अड़ोस-पड़ोस में कोई ऐसी स्त्री आ जाये जिसका ढंग कुछ अलग तरह का हो, तो वह भी अपनी पड़ोसियों के पद-चिह्नों पर चलने लगेगी या उसे अपने लिए कहीं अलग मकान लेना पड़ेगा। इस तरह पुरानी लीकें पक्की एवं गहरी होती चली जाती हैं। नई माँ जिस तरह का व्यवहार अपने मायके या ससुराल में देखती आई है, उसी तरह का व्यवहार वह स्वयं अपने बच्चे के साथ करती चली जाती है। जिस तरह अड़ोस-पड़ोस की स्त्रियाँ करती हैं, उसी तरह वह भी करती है। बच्चे को डरा-धमकाकर उन्हें वश में रखना, न मानने पर पीटना आदि वह सीख जाती है। साथ ही वह पड़ोसियों से यह भी सीख लेती है कि बच्चे को 'नजर' कैसे लगती है, उसकी झाड़-फूँक कौन करता है तथा अन्य आवश्यक रीति-रिवाज कैसे पूरे किये जाते हैं ?

हमारे बच्चे पेड़-पौधों की भाँति उत्पन्न होते हैं और उन्हीं की तरह उनका पोषण होता रहता है। हम उनके पोषण में उनकी कोई विशेष सहायता नहीं देते। समय, भोजन तथा पानी, यही तीन चीजें उनकी सहायता करती हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, उनके शरीर का पालन-पोषण होता जाता है। पानी और रोटी भी हम कभी ढंग से और कभी बेढंगेपन से देते हैं। बच्चों के

हाथों-पैरों या अन्य अंगों को समय के प्रवाह के साथ बढ़ना ही होता है। किन्तु उनके अंग और सारा शरीर सुन्दर ढंग से पुष्ट और परिवर्धित हो, इसके लिए हम उनकी कोई सहायता नहीं करते। हमारी धारणा है कि जिस परमात्मा ने उन्हें पैदा किया है, वही उनका पालन-पोषण भी करेगा। हमें चिन्ता करने या किसी प्रकार का प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। बच्चे इसी तरह जैसे-तैसे, अच्छे या बुरी तरह पलते रहते हैं।

हम बच्चों के कपड़ों, भोजन, आराम तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में कुछ अधिक सोच-विचार करने का प्रयत्न नहीं करते। जो मिला, वही उन्हें खाने को दे दिया। बच्चे के लिए सर्वश्रेष्ठ और उपयुक्त भोजन दूध है। किन्तु जब हम स्वयं खाना खाने बैठते हैं, तो उसे भी एक टुकड़ा रोटी का पकड़ा देते हैं। वह काटकर या थोड़ा-बहुत चबाकर खा ही लेता है। हमारी इस लापरवाही का परिणाम यह होता है कि बच्चे का पेट खराब हो जाता है तथा उसे कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। दूध, जो उसके लिए आवश्यक भोजन है, वह भी हम उसे ढंग से नहीं पिलाते। बच्चा जब भी रोने लगता है, माँ उसे चुप कराने के लिए अपना स्तन उसके मुँह में दूँस देती है। उसे सुलाने के लिए या उससे अपना पीछा छुड़ाने के लिए भी वह यही काम करती है। यह ठीक नहीं।

मातृत्व अपने आप में एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। गर्भ में शिशु का पालन होता है और प्रकृति उसका संरक्षण करती है किन्तु प्रसव के पश्चात् शिशु के पालन-पोषण एवं देख-रेख का दायित्व माता का होता है। यदि शिशु के संरक्षण एवं व्यवस्था की साधारण जानकारी भी न हों तो माता को बहुत बड़ी उलझन उत्पन्न हो जाती है।

शहरी क्षेत्र छोड़कर अभी भी भारत में ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षा का अभाव है और शिक्षा के अभाव में महिलाओं का अज्ञान बना रहना स्वाभाविक है। इस विषय में उनकी मार्ग-दर्शक तो वृद्ध महिलाएँ ही होती हैं। शहरी क्षेत्र में भी पढ़ी-लिखी और अशिक्षित दोनों ही प्रकार की महिलाएँ माता बनने से पूर्व या गर्भवती अवस्था में मातृत्व के दायित्व की शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करतीं और न ही हमारे समाज में इस प्रकार की कोई व्यवस्था ही है। घर की वयस्क महिलाओं को इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए। बेटियों, बहुओं को गर्भवती अवस्थाओं और गर्भवती अवस्थाओं के बाद शिशुओं की देखभाल और सँभाल करने की सावधानियों और साधारण बातों का शिक्षण कर दिया जायें।

‘माता निर्माता भवति’ शास्त्रवचनानुसार तो माता शिशु को केवल जन्म देने वाली ही नहीं होती, पाल-पोष कर बड़ा कर देने वाली ही नहीं होती, अपनी भावनाओं और संस्कारों से संस्कारित करके जैसा चाहती है, बनाकर

तैयार कर देने वाली होती है। इतना सब करना तो पीछे की बात है। कम से कम देख-रेख और साधारण बातों का ज्ञान तो प्रत्येक महिला को होना चाहिए। यदि यह सब जानकारीयाँ महिलाओं को हों, तो माता बनने पर उनकी अनेक उलझनें स्वाभाविक रूप से कम हो सकती हैं।

शिशु के स्वास्थ्य पर वातावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। घर, आस-पास बच्चे के बिस्तर, पहनने के कपड़े तथा वस्तुएँ जो उसके प्रयोग में आती हैं स्वच्छ रहना चाहिए। अस्वच्छता रखना मानो रोगों को आमन्त्रण देना है। गन्दी जगह पर खेलने, गीले, गन्दे कपड़े पहनने और गन्दे बिस्तर पर सोने से कई रोग हो सकते हैं। पानी, दूध आदि के बर्तन या उपकरण गन्दे रहने से तो शिशु कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। सदैव किसी-न-किसी रोग का पात्र बना रहेगा। अतः स्वच्छता का चारों ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए।

शिशु के पहनने के वस्त्र ऋतु अनुकूल ढीले-ढाले होने चाहिए; जिससे उसे खेलने, हाथ-पैर हिलाने में असुविधा न हो। तंग तो होना ही न चाहिए। ढीले भी इतने न हों कि उन्हें अपने शरीर-संचालन में व्यवधान उपस्थित हो। जाड़े के दिनों में मोटे, ऊनी कपड़े पहिनाना चाहिए किन्तु वे भी इतने अधिक न हों कि उसे भारी लगने लगे या अत्यधिक गर्मी उत्पन्न करने लगे। ऐसी अवस्था में बच्चे रोते, चिल्लाते हैं, स्वयं परेशान होते हैं और दूसरे भी तंग होते हैं। पीछे भी फिर बच्चे कपड़ा पहिनाते हैं, पहिने में आना-कानी करते हैं, पहिना भी दो तो खींच-खींचकर उतरवा देते हैं। अतः जैसा मौसम हो उसके अनुकूल वस्त्र पहिनाना चाहिए। गर्मी के दिनों स्वच्छ, सूती, हल्के रंग के कपड़े पहिनाना चाहिए। अधिक महीन कपड़े भी गर्मी में भी न पहिनाना ठीक होगा, क्योंकि महीन कपड़ों में लू लगने का सन्देह बना रहता है।

शिशु के कपड़े ऐसे खुले हुए सिलना चाहिए कि पहिनाते-उतारते समय उन्हें असुविधा न हो। बटन सामने या कंधे पर लगाये जाने से सुविधा होती है। बच्चों के कपड़े व नैपकिन आदि सदैव धुले, स्वच्छ और सूखे होना चाहिए। गीले होने पर कपड़े तुरन्त बदल देने चाहिए। हो सके तो पाठडर भी छिड़क देना चाहिए।

ऋतु के अनुसार शिशु को स्नान भी कराना चाहिए। प्रारम्भ में तो बच्चों को स्नान कराना भी एक समस्या होती है। जाड़े में गरम पानी से और गर्मियों में ठण्डे पानी से स्नान कराना चाहिए। स्नान करते समय पहले सिर में साबुन लगाना चाहिए और माथे की ओर से जल डालकर धोना चाहिए, जिससे आँखों में पानी न जाये। फिर शरीर के अन्य अंगों में साबुन लगाकर धो देना चाहिए। साबुन धोते समय यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि साबुन लगा न रहे। काँखों में, कानों के

पीछे, घुटनों के पीछे इन स्थानों पर प्रायः साबुन लगा रह जाता है, उसे अच्छी तरह धो देना चाहिए अन्यथा कभी-कभी कम आयु के शिशुओं को साबुन के कारण छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं।

स्नान के पूर्व शिशु को तेल मालिश और धूप स्नान बहुत लाभप्रद होता है। इससे उसके अंग-प्रत्यंग पुष्ट होते हैं और विटामिन डी, जो शिशु के लिए अत्यन्त आवश्यक है, प्राप्त होता है। जाड़े के दिनों में सरसों, तिल्ली अथवा जैतून के तेल से मालिश करके पन्द्रह-बीस मिनट के लिए धूप में लिटा देना चाहिए और उसके पश्चात् स्नान कराना चाहिए। गर्मी के दिनों में भी तेल मलकर थोड़ी देर हल्की धूप में या धूप के पास छाँव में लिटाकर थोड़ी देर पश्चात् स्नान कराना ठीक होगा।

स्नान के पश्चात् मुलायम तौलिये से अच्छी तरह शरीर को पोछ देना चाहिए। कोई अच्छा बेबी पाउडर लगाकर कपड़े पहना देना चाहिए।

शुद्ध वायु स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बच्चों के लिए भी शुद्ध वायु की व्यवस्था रखना बहुत आवश्यक है। घर में बच्चे के रहने का कमरा हवा और प्रकाश वाला होना चाहिए। बच्चों को वायुसेवन के लिए भी ले जाना ठीक रहता है। बच्चे जब करवट लेने लगे तो कुछ समय उन्हें पेट के बल भी लिटाना चाहिए। बच्चों को कभी-कभी थोड़ी देर तक रोने भी देना चाहिए। रोने से उनके फेफड़े गले के अंग सबल होते हैं।

बच्चों को सोते समय विघ्न न हो, मक्खियाँ, मच्छर उसकी नींद खराब न करें, इसलिए कोई पतला झीना कपड़ा ऊपर डाल देना चाहिए। उत्तम तो यह होगा कि छोटी मच्छरदानी जो बच्चों के लिए आती है, उसके ऊपर खोलकर रख दें जिससे वह गहरी नींद सो सके। सोते बच्चे को जगाना ठीक नहीं। यदि आवश्यकता पड़े तो धीरे से इस प्रकार जगाना चाहिए कि वह चौक न पड़े। बच्चों को दूध पिलाकर, थपकी देकर, झूले में झुलाकर, लोरियाँ गाकर सुलाना चाहिए। बहुत-सी महिलाएँ काम की व्यस्तता के कारण बच्चों को अफ्रीम खिलाकर सुला देती हैं, यह ठीक नहीं। बच्चों को किसी भी नशीली वस्तु का सेवन नहीं कराना चाहिए। इसका उनके स्वास्थ्य पर कालान्तर में अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पड़ता है।

शिशु को आहार नियमित, पुष्ट और उपयुक्त मिलना चाहिए। प्रारम्भिक आठ महीने तक तो दूध ही शिशु का भोजन होता है। माँ का दूध पर्याप्त मात्रा में मिल सके तो वह उसके लिए सबसे उत्तम आहार होता है, किन्तु माँ को भी बच्चे के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक तत्वों की पूर्ति करने के लिए अपने भोजन को सन्तुलित, पौष्टिक और आवश्यक तत्वों से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे दूध के माध्यम से वे बच्चे को प्राप्त हो सकें। बच्चे के उत्तम स्वास्थ्य के लिए

माँ को अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने का पूरा प्रयास करना चाहिए।

बच्चों को पेशाब और टट्टी का समय-समय पर कराने का अभ्यास डाल लेना चाहिए, जिससे उनके बिस्तर, कपड़े भी गीले, गन्दे होने से बचते हैं। माँ की नींद खराब नहीं होती और बच्चे का स्वभाव सुन्दर बन जाता है।

इस प्रकार थोड़ी-सी सामान्य बातों की जानकारी माँ बनने से पूर्व करा दी जाये, तो उनके सामने जो छोटे-मोटे काम बड़ी परेशानी के दिखाई देते हैं, सामान्य लगने लगते हैं और उनमें उन्हें परेशानी के स्थान पर रुचि उत्पन्न हो जाती है। माँ की प्रसन्नता के साथ-साथ बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास में भी नियमितता बनी रहती है।

शिशुओं के साथ सावधानी बरतें

ऊबड़-खाबड़ जंगलों में भी झाड़ियाँ उगी पाई जाती हैं और बहुत-से टेढ़े-तिरछे पेड़ भी होते हैं। उन सब पर दृष्टि डालने पर भी उनमें से ऐसे बहुत कम दीख पड़ते हैं, जो किसी उपयोगी काम में आ सकें। जलावन भर की वे आवश्यकता पूरी करते हैं। इसमें दोष जमीन का नहीं, वरन् उस उपेक्षा का है, जिससे उनमें से किसी की देखभाल होनी सम्भव न हो सकी। किसी ने सोचा भी नहीं कि यहाँ कुछ बोया-उगाया जाना चाहिए। चिड़ियाँ जहाँ-तहाँ उड़ती-फिरती हैं और बीट कर जाती हैं। इस बीट में कुछ दाने साबुत भी होते हैं। वे छितराये हुए पड़े रहते हैं और वर्षा की नमी पाकर उग आते हैं। जमीन में नमी सदा नहीं रहती, जो झाड़-झंखाड़ इस किस्म के होते हैं कि बिना पानी के काम चला सकें, धूप-सर्दी बर्दाश्त करते हुए खड़े रहें, वे ही जड़ जमाये रहते हैं और ज्यों-ज्यों करके बढ़ते रहते हैं। सारा उजाड़ जंगल ऐसे ही अगड़म-बगड़म से भरा रहता है। उसमें जंगली जानवर भी नहीं रहते, क्योंकि चरने के लिए न काम की घास होती है और न पेड़ों की पत्तियाँ। अनगढ़ों की यही स्थिति होती है। उन बीहड़ों के कँटीले पेड़ ही जिन्दा रहते हैं, जो उधर से निकलने वाले जानवरों या आदिमियों को छठी का दूध याद करा सकें।

कितने ही जंगल ऐसे होते हैं, जो वन-विभाग के संरक्षण में पलते हैं यों सिंचाई, निराई-गुड़ाई तो उनकी भी नहीं होती। पर कोई ऐसा जरूर होता है, जो जमीन की स्थिति और पौधों की उपयोगिता तथा पनपने की सम्भावना का अनुमान लगा सके। वन-रक्षक उसमें क्या बोना-उगाना चाहिए, इसकी बुद्धि और सावधानी रखते हैं। इतने भर से उस क्षेत्र में कीमती लकड़ी उगने लगती है। देखने में भी वह क्षेत्र अच्छा लगता है और उसका उत्पादन भी काम आता है।

इससे बढ़िया बात वहीं बनती है, जहाँ किसी कुशल माली की देख-रेख में फल-फूल वाले पेड़-पौधों का बगीचा लगाया जाता है। नयनाभिराम भी लगता है। आमदनी भी देता है और जिसकी सूझ-बूझ ने काम दिया उसकी प्रशंसा भी करता है। पर यह सब होता है जब खाद-पानी की जरूरत पूरी की जाती है और पशु-पक्षियों से रखवाली भी की जाती है। ऐसा न किया जा सका होता तो बगीचा, वन-विभाग का उत्पादन और खड्ड-खाबड़ के झाड़-झंखाड़ों में कोई अन्तर न पाया जाता।

प्रसंग सन्तानोत्पादन का है। यह विद्या मक्खी-मच्छरों से लेकर कूकर-शूकरों तक को आती है। वयस्क होते ही जीवित प्राणी यौनाचार की ओर उत्साहित होते हैं और प्रकृति उनकी उच्छृंखलता को अनुशासन के रस्से में बाँधने के लिए संतान का भार लाद देती है। उनके लिए यह कौतुक-कौतूहल मात्र होता है। पिता पर चूँकि कोई भार नहीं पड़ता, इसलिए वह पल्ला झाड़कर अलग खड़ा हो जाता है और तमाशा भर देखता है। माता के हृदय में प्रकृति ने करुणा भर दी है। वात्सल्य का स्वभाव दिया है। इसी आधार पर बच्चों का आरम्भिक भरण-पोषण हो जाता है, अन्यथा इस उत्पादन का जीवित रहना तक कठिन था। अनगढ़ लोगों का सन्तानोत्पादन इसी प्रकार का होता है। इसे ऊबड़-खाबड़ के झाड़-झंखाड़ों की उपमा दी जा सकती है। निरुद्देश्य का प्रतिफल इससे अच्छा हो भी क्या सकता है ? प्रकृति की प्रेरणा से जन्मे और भाग्य भरोसे पलकर बड़े हुए इन बालकों का शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य जैसा होना चाहिए वैसा ही होता है। हवा के झोंखों के साथ छितराये हुए जैसी भी संगति में पड़ गये वैसे बन जाते हैं। इनमें से किसी से किसी बड़ी बात की आशा-अपेक्षा नहीं की जा सकती। जो करते हैं वे गलती ही करते हैं।

पत्थर से अच्छी मूर्ति गढ़ने वाले और कागज पर बढ़िया तस्वीर बनाने वालों का छैनी-हपौड़ी या बुश स्याही लेकर बैठ जाने से क्या काम बनने वाला है ? इससे तो अच्छा-खासा पत्थर या कागज भी बेकरार हो जायेगा। इन सामान्य वस्तुओं को बनाने के लिए सालों प्रयत्न और अभ्यास करना पड़ता है। अच्छा बगीचा लगाने वाले माली से पूछना चाहिए कि उसकी कल्पना कहाँ तक दौड़ी और मेहनत कितनी लगी है ? उसे परिपूर्ण सावधानी बरतनी पड़ती है। साथ ही प्रतिष्ठा दाँव पर लगानी पड़ती है। बच्चे को सुयोग्य बनाने के लिए स्वस्थ और सुसंस्कारी बनाने के लिए जनक और जननी दोनों को एक-दूसरे से अधिक योग्यता का परिचय देना पड़ता है। इस सन्दर्भ में काम आने वाली योग्यता में सबसे अधिक है—दिलचस्पी। दिलचस्पी मन के मोदक फोड़ते रहने—डाक्टर, वकील, कलेक्टर, मिनिस्टर बनाने के सपने देखने को नहीं कहते वरन् बच्चे के साथ बच्चा बनकर अपनी आदतें ऐसी बनानी दिखानी पड़ती हैं, जिन्हें बच्चा

१. ३२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

आसानी से सीख सके और अपने स्वभाव का अंग बना सके। यही है वह मूल्य जो सुसंतति की आकांक्षा करने वालों में से प्रत्येक को चुकना पड़ता है।

बच्चा खाता तो है पर उसे यह नहीं मालूम होता कि उसे क्या, कब और कितना खाना चाहिए ? इसका निर्धारण करने के लिए विशेषतया माता को प्रवीण होना चाहिए। अपने और बच्चे के पाचन-तंत्र का अन्तर समझना चाहिए। इसलिए साथ बिठाकर वही नहीं खिलाने लगना चाहिए जो स्वयं खाते हैं। अपने मस्तिष्क में बालक के पाचन-तंत्र तथा आयु की दृष्टि से उपयुक्त मात्रा में भोजन का सही और समुचित ध्यान रखना चाहिए। यह कार्य एक सुशिक्षित नर्स का है। माता को अपने बालक के सम्बन्ध में तो कम से कम यही भूमिका निभानी चाहिए। टट्टी और पेशाब नियत समय पर कराने की आदत कुछ दिन नियमित रूप से डाली जाय तो समय-कुसमय कपड़े खराब करने और झल्लाने की बिल्कुल भी आवश्यकता न पड़ेगी।

स्वस्थ बच्चा दो सप्ताह का होने के बाद ही मुस्कुराना चाहता है। यह अभिभावकों का कर्म है कि अपनी मुख-मुद्रा वैसी ही बनाकर बार-बार दिखाया करें ताकि वह नकल करना सीखे और अपना तथा अभिभावकों का चित्त प्रसन्न रखे।

एक महीने का होने पर बच्चा अपनी जान-पहचान का क्षेत्र बढ़ाना चाहता है। इसलिए अभिभावक जब भी बच्चे के सम्पर्क में आवें, नियत रंग की पोशाक और मुख-मुद्रा से सम्पर्क साधें। कभी-कभी बच्चे रोते पाये जाते हैं। बिना कारण कदाचित् ही कोई बच्चा रोता हो। वह अपनी आवश्यकताएँ प्रकट करता है। शरीर में कोई रोग होने से मच्छर काटने तक, भूख लगने से लेकर सूनापन लगने तक के कारणों से उसका रोना शुरू होता है और देर तक चलता है। कभी-कभी फेफड़ों को मजबूत बनाने और पूरी साँस लेने की दृष्टि से भी बच्चे रोते और हाथ-पैर फेंकते हैं। अभिभावकों को इतना मनोविज्ञानी होना चाहिए कि बच्चे की आवश्यकताओं को ताड़ते रहें और तदनु रूप उपाय अपनाते रहें। अपनी समझ कर्म न करे तो दूसरे अनुभवियों से परामर्श लेना चाहिए।

सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए कपड़े पहनाना तो ठीक है पर व ऐसे भारी या कसे हुए न होने चाहिए जो शरीर के सभी अंगों तक ताजी हवा पहुँचाने में रुकावट डालें। शोषा और शृंगार के लिए कोई भी ऐसी चीज न पहनानी चाहिए जो दबाव डाले।

दो-तीन महीने का होते-होते बच्चा नकल करना तेजी से सीखता है और एक वर्ष का होने तक कुछ शब्द बोलने लगता है। इस समय उसे सूनापन अखरता है। इसलिए पास बैठना, मालिस करना, खिलाना आदि सम्भव न हो सके तो ऐसे खिलौने ला देने चाहिए जो मुँह में जाने पर कोई मुसीबत खड़ी न करें। समझ आने

पर बच्चे पहले आकर्षक वस्तुओं को पकड़ते हैं और फिर मुँह में देने लगते हैं। चींटी, बर्तन जैसे चलते-फिरते कोई भी उन्हें खिलौने लगते हैं। छोटे सिक्के हाथ लगे तो उन्हें भी मुँह में ठूँसते हैं और गले में नीचे उन्हें उतार लेने पर संकट में फँसते हैं।

निरन्तर गोदी में लिए रहने की आदत न डाली जाय। इससे उनकी स्वावलम्बन वृत्ति दबती है और जो हिस्सा गोदी में लेने के कारण दबता है, वह कमजोर या टेढ़ा होने लगता है। पालने में झुला देना ठीक रहता है, पर उसकी भी आदत न डाली जाय।

एक वर्ष के बाद शिष्टाचार की मोटी बातें स्वभाव में डालनी चाहिए। जैसे रसोई, टट्टी आदि स्थानों में नहीं जाना चाहिए। मूँछ, बाल आदि नहीं खींचने चाहिए, घड़ी दावात आदि इधर-उधर नहीं करनी चाहिए, यह बातें बार-बार अभ्यास कराने से बालक की समझ में आ जाती है। इसी प्रकार जूते कहाँ उतारने चाहिए ? इसका अभ्यास भी कुछ बार वैसा करने या कराने से सहज ही हो जाता है।

बच्चे को कई हाथों में जाने देना चाहिए। सदा एक दो हाथों में ही रहे तो औरों को अजनबी समझता है और उनके पास जाने से कतराता है। स्वभाव ऐसा बनाना चाहिए जिसमें अपने-पराये का संस्कार अधिक न पनपने पावे। खिलौनों से दूसरे बच्चों को भी साथ खिलाये। खाने की चीजें बाँटकर खाये। जो चीज जहाँ रखने की है, उसे वहीं रखे और जरूरत पड़ने पर वहाँ से उठाये, ये आदत शिष्टाचार में सम्मिलित है, उन्हें स्वयं उसके साथ करने और उससे भी कराने में ऐसी अनेक बातें स्वभाव का अंग बन सकती हैं, जिससे उसे शिष्ट परिवार का बालक समझा जा सके।

पैदल चलने की आदत तीन पहियों वाली गाड़ी के सहारे डालनी चाहिए। पर आरम्भिक दिनों में उसके साथ रहना चाहिए ताकि गिर पड़ने से बचाया जा सके। बोलना सिखाना तब आता है जब वस्तु या व्यक्ति का नाम झले स्वयं लिया जाय और बाद में उससे वैसा ही कहने के लिए कहा जाय। गलतियों को धीरे-धीरे सुधारते रहा जाय और रोजमर्रा काम आने वाली वस्तुओं को खाने, रखने, पहचानने तथा काम बताने की प्रश्नोत्तरी बालकों के लिए शिक्षा का अच्छा तरीका है। जो सीखते जाते हैं, उससे वे प्रसन्न भी होते हैं। अन्य लोगों के सामने उनकी इस शिक्षा की परीक्षा लेना और सही उत्तर देने पर पुचकारना जैसा उपहार देना उनका उत्साह बढ़ाने और सीखने में प्रगति लाने का अच्छा तरीका है।

बच्चे के या किसी और के शरीर पर गन्दगी लगी हो, घर में कूड़ा-कचरा फैला हो तो उसकी सफाई के लिए घर वालों से कहने लगे, इशारा करने लगे तो समझना चाहिए कि बच्चे में स्वच्छता सम्बन्धी संस्कारों का उदय हुआ। रूठने, मारने जैसी किसी बुरी आदत का

आरम्भ हुआ तो उसे बढ़ने नहीं देना चाहिए। आरम्भ में ही उसे बुरी बात बताने और न करने की शिक्षा उस भाषा में देनी चाहिए, जिसमें समझ सकने की उसकी क्षमता हो। पाँच या दस तक गिनती गिनना एक-डेढ़ वर्ष के बच्चे सीख सकते हैं। शरीर के अंग वर्तनों के नाम, खाद्य पदार्थ घर के लोगों के साथ रिश्ते आदि उन्हें आसानी से सिखाये जा सकते हैं। शिक्षा, स्वच्छता शिष्टता का प्रशिक्षण बच्चे को उतना देते ही रहना चाहिए, जितना वह आसानी से हृदयंगम करता चले। यह छोटे काम हैं पर बालक की प्रतिभा विकसित करने के लिए आवश्यक है। अभिभावकों की विशेषतया माता-पिता की दिलचस्पी आरम्भ से ही रहे तो यह उपक्रम क्रमशः बालक को अधिक सुसंस्कारी बनाता चलेगा।

छोटे बालकों की स्वास्थ्य-समस्याएँ

बालकों का स्वास्थ्य आदि बचपन में ही खराब रहने लगे तो उसका असर बालक के भविष्य पर बुरा पड़ता है। प्रायः बच्चों को छोटे-मोटे रोग होते रहते हैं और माँ-बाप या तो उनकी उपेक्षा कर देते हैं अथवा इस कदर घबरा उठते हैं कि लगता है—जैसे वे निराशा ही हुए जा रहे हों। यदि उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत जान लिया जाय तो तत्काल की तथा बाद में आने वाली सम्भावित परेशानियों से छुटकारा पाया जा सकता है। बच्चों के स्वास्थ्य-सम्बन्धी कुछ सामान्य नियम तथा उनकी कुछ समस्याओं पर यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है।

माता-पिता अपने बच्चों को हृष्ट-पुष्ट और मोटा-ताजा देखना चाहते हैं। इसके लिए हरसम्भव उपाय करने के साथ विज्ञापित टॉनिक-औषधियाँ भी खिलाना शुरू कर देते हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान रखना चाहिए कि बिना डाक्टर की सलाह के बच्चों को कोई ताकत की दवा न दी जाये। इस प्रकार मनमाने ढंग से दवाएँ देना बच्चों के स्वास्थ्य के लिए हानिकार बन जाता है। बच्चा यदि दुबला-पतला है तो भी स्वस्थ-तन्दुरुस्त हो सकता है। शरीर के आकार-प्रकार से स्वास्थ्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार मोटे-ताजे व्यक्ति भी स्वास्थ्य की दृष्टि से दुर्बल और रोंगी पाये जाते हैं तथा दुबले-पतले, डीलडौल भी तन्दुरुस्त और स्वस्थ, सशक्त स्फूर्तिवान हो सकते हैं। यह नियम बालकों के लिए अपवाद नहीं है।

बच्चे को समय-समय पर एकत्र चम्मच पानी भी पिलाते रहना चाहिए। कई माताएँ अज्ञान और भ्रम धारणाओं के कारण गोद के बच्चों को पानी नहीं पिलातीं। इस भूल से बच्चों में कई स्वास्थ्य-विकार आ जाते हैं।

लाड़-प्यार के कारण बहुत-से अभिभावक बच्चों को अनावश्यक वस्त्रों से हर वक्त लादे रहते हैं, जिससे उन्हें खुली हवा और धूप नहीं लगती। फलस्वरूप बच्चों का स्वास्थ्य इससे प्रभावित होने लगता है, अतः आवश्यक है

कि बच्चों को मौसम और ऋतु के अनुकूल आवश्यकतानुसार ही कपड़े पहनाये जायें।

जब तक बच्चों के पूरे दाढ़-दाँत न निकल आयें, तब तक उन्हें ठोस आहार जैसे—रोटी, टोस्ट चबाने वाले पदार्थ न दिये जायें। ऐसा आहार बिना पूरे दाँत आये, देने से वह बिना चबा हुआ ही पेट में जाता है और अजीर्ण, दस्त, कब्ज जैसे रोग पैदा करता है। दूध पीते बच्चों को फलों का रस अवश्य पिलाया जाना चाहिए, जो उनमें लौह-तत्व की कमी पूरी करता है। स्मरणीय है कि माँ के दूध में लौह-तत्व नहीं होता।

प्रकृतितः बच्चे स्वस्थ होते हैं। यदि उनमें स्वास्थ्य सम्बन्धी विकार होते भी हैं, तो उसका कारण कीटाणु-संक्रमण या अन्य बातें नहीं होतीं, बल्कि व्यवहार, दोष ही मूल कारण होता है। बच्चों के खान-पान के सम्बन्ध में माता-पिता आवश्यक ध्यान नहीं देते, इसलिए तरह-तरह की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जो सामान्यतः बदहज्मी से सम्बन्धित हैं।

कई बार बच्चा पिया हुआ दूध उलटने लगता है। माता-पिता को इससे चिन्तित नहीं होना चाहिए। कब्ज, अजीर्ण और अधिक दूध पिलाना जैसे कई कारण हैं, जिनकी बजह से बच्चा दूध उलट देता है। जब उल्टी में बच्चा ढेर सारा दूध उलट देता है तो माता-पिता इसलिए चिन्तित हो जाते हैं कि दूध हजम न होने के कारण बच्चा कहीं कमजोर न हो जाय। माताएँ यह सोचने लगती हैं कि बच्चे ने जितना दूध पिया था, उतने से ज्यादा तो उलट दिया लेकिन यह सोचना भ्रममात्र है। उल्टी करने पर दूध फैल जाता है और इससे वह ज्यादा दिखाई देने लगता है। यदि बच्चा कमजोर नहीं हो रहा है तो उसके दूध उलटने से चिन्तित नहीं होना चाहिए।

कई स्थितियों में बच्चे सामान्य रूप से स्वस्थ होते हुए भी दूध उलट देते हैं। बहुत बार बच्चे तेजी से दूध पीने लगते हैं या माँ के स्तनों में तेजी से दूध उतरता है। ऐसी दशा में बच्चे द्वारा दूध डालने की सम्भावना बढ़ जाती है। लेकिन जब बच्चा अधिक दूध उल्टे या कई दिनों तक दूध उलटता रहे तो डाक्टर को जरूर दिखा लेना चाहिए।

छह मास तक के बच्चों को पाचन सम्बन्धी छोटे-मोटे विकार उत्पन्न होते हैं। जद उसमें यह विकार उत्पन्न होते हैं तो वह रोने के साथ-साथ इधर-उधर हाथ-पैर फेंकने लगता है। चूँकि वह अपनी कठिनाई बता तो नहीं सकता, इसलिए उसकी हरकतों और शरीर की स्थिति को देखकर ही निष्कर्ष निकालना पड़ता है। उसके पेट पर थोड़ा तनाव भी होने लगता है। बेचैनी और दूध उलटने के साथ-साथ उसे पतली टट्टियाँ भी होने लगती हैं। ऐसी हालत में माता-पिता को डाक्टर की सलाह लेनी चाहिए। ऐसे लक्षण जब पैदा होकर ठीक भी हो जायें तो

१. ३४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

चिन्ता नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसका अर्थ है—बच्चे की पाचन-शक्ति ठीक है।

कहा जा चुका है कि माँ के दूध में लौह-तत्व तथा विटामिन-सी नहीं होते। इसलिए बच्चों की पाचन-शक्ति ताकतवर नहीं बन पाती। बाल-रोग विशेषज्ञों का मत है कि तीन माह की आयु वाले बच्चों को नारंगी, मौसमी जैसे फलों का रस थोड़ा-थोड़ा पिलाया जाना अच्छा रहता है। नीबू रस भी पानी मिलाकर पिलाया जा सकता है।

कब्ज पड़ने से भी बच्चे परेशान रहने लगते हैं। इस हालत में बच्चों का मल थोड़ा और खुशक निकलता है। उस समय उन्हें तकलीफ भी अधिक होती है। कब्जिले बच्चों को दस्तावर दवाइयाँ भूलकर भी नहीं देनी चाहिए। पानी और फलों के रस से तरावट पाकर प्रायः कब्ज दूर हो जाता है, यदि न हो तो ग्लिसरीन की बत्ती का इस्तेमाल किया जा सकता है। जब बच्चों को ठोस आहार देना शुरू किया जाता है, तब भी उनमें कब्ज की शिकायत होने लगती है, पर ऐसा कब्ज अपने आप ही दूर हो जाता है।

बच्चों को सर्दी भी जल्दी लगती है। सर्दी लगकर जुकाम और खाँसी हो जाती है, उनकी नाक बहने लगती है तथा सूखी खाँसी भी हो जाती है। इसका उपचार शीघ्र ही करना चाहिए, क्योंकि देर तक बनी रहने वाली सर्दी खाँसी फेफड़ों को प्रभावित करती है और उससे वांछित न्युमोनिया होने का डर हो जाता है।

इस न्युमोनिया की दशा में बच्चों का श्वास बड़ी तेजी से चलता है, नथुने जल्दी फूलते हैं और बहुत तेज बुखार रहता है। सूखी खाँसी भी कम-ज्यादा उठती रहती है। अतएव ऐसे लक्षण सामने आने पर डाक्टर का परामर्श लेना चाहिए।

यहाँ बच्चों के स्वास्थ्य-विकारों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि जब विकार थोड़ी-बहुत मात्रा में दिखाई देने लगे तो परेशान नहीं होना चाहिए। चिकित्साशास्त्री तो अधिक तकलीफ में भी बच्चों के लिए चिन्तित न होने की बात कहते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि बच्चों की प्रकृति बहुत निर्मल और निर्दोष रहती है, इसलिए सामान्य-विकार भी बड़ी तेजी से उमड़कर निकलते हैं। इसलिए कहा जाता है कि वृद्ध व्यक्ति के बुखार की परवाह जितनी १०२ डिग्री में करनी चाहिए, बच्चे को १०५ डिग्री बुखार होने पर उससे ज्यादा नहीं करनी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि उपचार-इलाज का प्रबन्ध न किया जाय। उपचार तो करायें, पर उन स्थितियों में अभिभावक जिस बुरी तरह परेशान होते हैं, वह निराधार है।

बच्चों को डिप्थीरिया, पोलियो, चेचक, कौलरा एवं बी. सी. जी. के टीके भी समय पर लगवा देना चाहिए।

कुछ टीके इतने तेज होते जरूर हैं, जिनसे बुखार आदि आने लगते हैं। पर इस कारण उनके स्वास्थ्य की रक्षा पंक्ति बनाने से पीछे न हटा जाय। साथ ही माँ अपने खान-पान और रहन-सहन में थोड़ी सावधानी रखे तो बच्चों की कई स्वास्थ्य समस्याएँ अपने आप हल हो जाती हैं।

बालकों को स्वस्थ बनाइए

बालक समाज का सबसे सुकुमार और कोमल अंग है। समाज की आशाओं, आकांक्षाओं और भावी-निर्माण की सम्भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु भी वही है। आगामी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना सत्पण नेत्रों से अपने नौनिहालों की ओर देखती है किन्तु यह वर्ग कितना उपेक्षित है, इधर कितनी उदासीनता बरती जाती है—यह चिन्ता का विषय है। भारतवर्ष में मृत्यु के आँकड़ों से पता चलता है कि यहाँ शिशुओं की मृत्यु संसारभर में सबसे अधिक होती है। इसका एक ही कारण है कि बालकों के स्वास्थ्य, रहन-सहन और उनके जीवन-स्तर की समुचित व्यवस्था नहीं की जाती। वृक्षारोपण कर दिया जाता है किन्तु उनके लिए खाद-पानी, सावधानी और सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं देता।

बालक सच्चे निर्माणकर्ता बनकर आयेँ, इसके लिए उनकी विद्या-बुद्धि, उमंग, स्फूर्ति, उत्साह और शक्ति अपेक्षित है और इनका उद्गम है—उनका सुन्दर स्वास्थ्य। स्वास्थ्य की समस्या ही आज की सबसे उलझी हुई समस्या है। इस पर विचार कर लिया तो दूसरी परिस्थितियाँ अपने आप बनती रहेंगी। इसे हल कर लिया तो आधा मोर्चा जीत लिया समझा जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में पहली आवश्यकता है कि बालक के शारीरिक अवयवों के अनुरूप, उनकी अवस्था और सुकुमारता का विचार करते हुए शुद्ध, सरल और पौष्टिक आहार की कमी अथवा इसकी उचित जानकारी के अभाव को दूर किया जाय। इसमें एक अंश तक अभिभावकों की अशिक्षा बाधक मानी जा सकती है। थोड़ा ध्यान देने और सावधानी बरतने से भी काम चल जायेगा।

साधारणतया आठ माह तक बच्चा माता के अथवा ऊपरी दूध पर निर्भर रहता है। माता के दूध में उसे सारे तत्व प्राप्त हो जाते हैं किन्तु ऊपरी दूध में कुछ ध्यान देने योग्य बातें आ जाती हैं। सर्वप्रथम यह कि वह उसके पाचन-संयंत्रों की तुलना में भारी पड़ता है सो उसमें आधापानी मिलाकर और उबालकर देने से माता के दूध जितनी सरलता प्राप्त हो जाती है। भैस का दूध देते समय उसका सारा मक्खन निकाल लेना चाहिए। यह पेट में कब्ज उत्पन्न कर देता है। दूध की मात्रा एक बार में ७ औंस अर्थात् ३॥ छोटों से अधिक न हो। धीरे-धीरे जैसे उसकी उम्र बढ़े पानी की मात्रा कम करते चले किन्तु मात्रा में अधिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं।

जैसे ही बच्चे के दाँत निकलना प्रारम्भ हो, उसे हरी तरकारियों का उबला हुआ रस, ऋतु फल, कन्दमूल देना चाहिए। बार-बार खाने की उसकी आदत होती है। इसलिए कम से कम मात्रा में देना उचित है। जिससे दूसरी बार आहार लेने के पूर्व पहले का सारा आहार भली प्रकार पच जाय। मौसम के अनुकूल एक से दो औंस तक सन्तरा, गाजर, टमाटर आदि का रस देना अच्छा होता है। धीरे-धीरे जामुन, सन्तरा, मौसम्मी, चीकू, पके धुने हुए सेव भी दिये जाते हैं। बालक जब अच्छी प्रकार चलने-फिलने लगे तो उसे आलू, चावल, ताजा शाक, सलाद, मक्खन विटामिन डी. वाले पदार्थ, चोकर मिले हुए आटे की रोटियाँ, खीरा, ककड़ी, खरबूजा, आम जैसी वस्तुएँ खाने को दें। उसको शरीर के अंग-प्रत्यंगों को विकसित होने की शक्ति मिलती है और होते भी रुचिकर हैं। इनसे हानि की सम्भावना नहीं रहती। किशोरावस्था पार कर जाने तक भारी गरिष्ठ पदार्थ देना भूल है। छोटे बच्चों को दूध के साथ अथवा अलग से एक-दो चम्मच शहद देना लाभप्रद होता है। इससे पेट भी साफ रहता है और बच्चे के फेफड़े भी मजबूत होते हैं। कुल मिलाकर बालक को अधिक से अधिक सरल, सुपाच्य तरल पदार्थ देना अच्छा होता है। भारी पदार्थों से कब्ज आमय बना रहता है। बच्चों की बीमारियों में अपच कब्ज आदि ही प्रधान कारण होता है। जो अपने बालकों को दिनभर भारी पदार्थ अधिक मात्रा में खाने को देते रहते हैं उनके पेट बाहर निकल जाते हैं, जिगर बढ़ जाता है और हाथ-पाँव दुबले हो जाते हैं। इसलिए आहार का चुनाव करते समय यह ध्यान देने योग्य है कि वह सरल, सुपाच्य और रुचिकर हो।

आहार के बाद व्यायाम का नम्बर आता है। स्वस्थ बालक १ मिनट में २० से लेकर ३४ साँसें लेता है। इस श्वास-प्रश्वास क्रिया में गति उत्पन्न करने के लिए व्यायाम नितान्त आवश्यक है। बहुधा यह देखा जाता है कि अधिक हाथ-पैर चलाने वाले बालक अधिक स्वस्थ होते हैं। चिड़-चिड़ापन और सुस्ती रोग का लक्षण माना जाता है। इसलिए अपनी ओर से भी ऐसे प्रयत्न करते रहना आवश्यक है जिससे बच्चे का व्यायाम होता रहे। बालक की प्रत्येक क्रिया में उसकी रुचि को प्राथमिकता दिये बिना कोई काम न करें। जैसे बच्चा मिट्टी के साथ खेलना चाहता है, आपको यह अप्रिय है पर उसे रोकिए नहीं, ऐसा करने से उसकी क्रिया में गतिरोध उत्पन्न होगा जिससे अशुभ मनोविकारों का उदय हो सकता है। उन्हें ऐसे किसी दूसरे मनोरंजक काम से लगा दिया जाय जिससे वह मिट्टी के साथ खेलना छोड़ दे।

नवजात शिशुओं का व्यायाम उन्हें नहलाने-धुलाने और तेल मालिश करने से हो जाता है। तेल लगाना सर्वोत्तम व्यायाम है, किन्तु केवल चुपड़ा देना अथवा बिल्कुल धीरे या तेजी से लगाना उचित नहीं। बच्चे की

अवस्था के अनुरूप गदेलियों को बल देकर उसकी मालिश करें। हाथ जल्दी-जल्दी घर्षण करते हुए चलें इससे विद्युतशक्ति का संचार होता है। दिन में एक या दो बार मालिश करना अधिक उपयोगी है। तेल सरसों का सबसे अच्छा और गुणकारी माना गया है। मालिश करते समय यह ध्यान रखें कि घर्षण का रुख प्रत्येक दशा में हृदय की ओर रहे। बच्चे को प्रसन्न करने के लिए बीच-बीच में हाथ-पैरों को मोड़ने व हल्की थपकी देते रहना चाहिए। 'माई सिस्टम फॉर विल्ड्रेन' के लेखक जे. पी. मुलर ने सभी तरफ से मालिश करने की बात लिखी है ताकि प्रत्येक अंग का सभी ओर से व्यायाम हो जाय।

एक वर्ष के बाद बालक की प्रवृत्ति खेलने की ओर मुड़ती है। इससे वह अपना व्यक्तित्व प्रकट करता है। खेलना बच्चों को प्राणप्रिय होता है। इससे उनके प्रफुल्लता भी मिलती है। व्यायाम भी होता है। शारीरिक और मानसिक विकास की आवश्यकता एक साथ खेल-कूद से पूरी होती है, इसलिए उसे स्वेच्छापूर्वक खेलते रहने देना चाहिए। इससे स्नायु जाल पूर्ण रूप से क्रियाशील हो उठता है। अपनी ओर से भी उन्हें खेलना सिखाना चाहिए।

इनका चुनाव इस प्रकार करें जिसमें कन्धों के भाग रीढ़, पेट और माँस-पेशियों का पूर्ण व्यायाम हो जाय। १ से ६ वर्ष तक के बालकों को को खिलौने से अथवा पकड़कर चलाने-दौड़ाने आदि के हल्के-फुल्के खेल, जिसमें उसकी प्रश्वास क्रिया में अधिक दबाव न पड़े, खिलाना उपयोगी होता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़े वैसे-वैसे इसमें परिवर्तन करते चलें। जितने अंग-प्रत्यंग पुष्ट और विकसित होते चलें, उसी अनुपात से अधिक परिश्रमशील खेलों में उनकी रुचि पैदा करें। दौड़ना, कूदना गुलाटे खाना, तैरना, कुश्ती करना आदि अच्छे खेल हैं, इनसे शरीर में सहनशीलता, चंचलता, क्रियाशक्ति, दृढ़ता और स्नायु सशक्तता उत्पन्न होती है। खेलने का स्थान सदैव साफ-सुथरा कंकड़-पत्थर रहित होना चाहिए। इस प्रकार आहार को पचाने, शारीरिक अवयवों के विकास के लिए व्यायाम की अत्यधिक उपयोगिता है।

इतने से ही बच्चे के स्वास्थ्य संरक्षण की बात पूरी नहीं होती आहार, व्यायाम के सन्तुलन के साथ निद्रा उसे अधिक से अधिक, गहरी और एक-सी आती है या नहीं—यह विशेष रूप से जाँच करते रहना चाहिए। बच्चा ठीक प्रकार नहीं सोता समझिये गड़बड़ी है। ५ सप्ताह के बालक को २०-२२ घण्टे सोना चाहिए। चार माह तक उसे २१ घण्टे की नींद आवश्यक मानी गई है। ९-१० माह के बाद ३।५-४ घण्टे का विश्राम दे देकर सुलाना चाहिए। इसमें नियमबद्धता अर्थात् समय की पाबन्दी आवश्यक है। प्रगाढ़ निद्रा बच्चे के सुन्दर स्वास्थ्य का प्रतीक है। सोने के बाद उसका मुँह गुलाब के फूल के

समान खिल उठता है और उसका जी खेलने को करता है। दिन में बच्चे को अकेले खुले मुँह और साफ स्थान में सुलायें। रात में माँ के साथ। सम्भव हो तो मसहरी लगावें, जिससे मच्छरों से बचाव हो जाय और बच्चा पूरी नींद ले ले। न हो तो तेल लगाने के बाद सुलायें। शरीर पर हल्का कपड़ा डालना चाहिए। करवट बदलकर सुलाने की देख-रेख माता को करनी पड़ती है। कपड़े आदि अच्छे बने रहें इसके लिए यह आवश्यक है कि सुलाने के पूर्व उससे मल-मूत्र का त्याग करा लें। नींद पूरी हो जाने पर हल्का गरम दूध पिलाना चाहिए। सोते समय यथासम्भव पेट खाली रहे।

ऋतु के अनुसार बच्चे को स्नान कराना भी स्वास्थ्य की दृष्टि से उतना ही आवश्यक है। जिन बालकों को प्रत्येक दिन स्नान कराना सम्भव न हो, उन्हें भी दो-एक दिन के अन्तर से स्नान कराते रहना आवश्यक है। इसमें ऋतु का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। स्नान कराने के एक घण्टा पूर्व बच्चे को दूध पिला देना चाहिए ताकि स्नान के बाद ही बच्चे को निद्रा आ जावे पर स्नान के बाद दूध पिलाने से अपच हो जाता है, नींद भी गहरी नहीं आती। स्नान के बाद हो सके तो बच्चे को किसी ऐसे स्थान पर सुलायें जहाँ उसके गीले शरीर पर सूर्य की बाल किरणों का प्रभाव पड़ सके। इससे वह विटामिन डी. प्राप्त कर लेगा और आहार में उसके ढूँढ़ने की आवश्यकता न पड़ेगी।

माँ के स्तनों का पान करते हुए बालक माता का स्नेह-दुलार भी पीता है, जो बाजार के दूध की अपेक्षा अधिक पुष्टिदाई सिद्ध होता है। बाजारू दूध तभी पिलाना चाहिए जब माता उसके लिए असमर्थ हो। नई सभ्यता में पली कई लड़कियाँ अपना रूप-सौन्दर्य घटने के भय में बच्चों को बाहरी दूध पिलाती हैं। इस अनुदारता का बच्चे के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शहरी बच्चों की अपेक्षा ग्रामीण बालकों का स्वास्थ्य अधिकतर इसी कारण से अधिक अच्छा होता है। पशुपान बालक के मानसिक विकास में भी उतना ही सहायक होता है जितना शारीरिक में। इस बीच में उसके बालों को सहलाते रहना, थपथपाना, लोरियाँ सुनाना उसकी प्रतिभा बढ़ाने में बड़े सहायक होते हैं। इसलिए चतुर माताएँ ऐसे समय इन बातों का बड़ा ध्यान रखती हैं।

इनके अतिरिक्त भी बच्चे के कोमल अंगों, हाथ-पैर, नाक, आँख, उँगलियों आदि का संरक्षण भी करते रहना चाहिए। सर्दियों में टोपे, मौजे आदि उसके शीत प्रकोप से बचाते हैं। अधिक कपड़े पहनाना स्वास्थ्य के हित में अच्छा नहीं होता, इससे बच्चे को कम-से-कम और ढीले कपड़े ही पहनाना चाहिए ताकि उसका शारीरिक विकास अबाध-गति से चलता रहे।

उपर्युक्त सभी वस्तुओं के आधार पर ही बच्चे के स्वास्थ्य को सुरक्षित रखा जा सकता है। माग्नेड ब्रेडी ने

अपनी पुस्तक 'चिल्ड्रेन हेल्थ एण्ड हेपीनेस' में लिखा है कि संतुलित भोजन, पर्याप्त दूध, निद्रा, विश्राम-व्यायाम, स्वच्छ वायु और रुचिकर वातावरण के अभाव में ही बच्चे रोगग्रस्त होते हैं। अतएव उसकी जीवनचर्या में इन सभी बातों का समावेश बनाये रखना चाहिए। इसी से स्वास्थ्य संरक्षण की समस्या हल हो सकेगी।

छोटे बच्चे रोते क्यों हैं ?

बच्चे को दूध पिला दिया, कपड़े बदल दिये, ढककर गुदगुदे पालने में लिटा दिया, फिर भी वह रो रहा है। अब क्या तकलीफ है, जो रो-रोकर सारा घर सिर पर उठाये हुए है ? गोदी में उसे उठा लीजिए, तो चुप हो गया।

माँ को घर के तमाम काम करने हैं, नाश्ता बनाना है, कपड़े साफ करने हैं, सफाई करनी है, फिर वह कहाँ तक बच्चे को गोद में लिए रहे। लेकिन इधर यह है कि मुनमुना देकर उसे पालने में लिटाया नहीं कि लगा रोने। माँ डाक्टर को दिखाती है कि बच्चा गोदी में ही क्यों रहना पसन्द करता है ? पालने में रोने क्यों लगता है ? वह भी कोई खास रोग नहीं बताते।

रोना बच्चे के लिए स्वाभाविक है। इससे उसके फेफड़े का व्यायाम होता है। रोने से फेफड़े में हवा भरती है और वे फैलते हैं। बच्चा रोकर अपनी शिकायत करता है, अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करता है, रोकर उसे प्यार-दुलार मिलता है, प्यार और आदर किसे नहीं भाता ? कुछ ही दिनों में उसे यह भी पता चल जाता है कि असहाय होते हुए भी उसके पास एक अमोघ अस्त्र है—रुदना। उसका वह जब तक उपयोग करता है। क्रोध प्रगट करना होगा तो चिल्लाकर जोर से चीखते हुए रोयेगा। अगर कुछ चुप गया है या उसे तकलीफ है, तो रोते-रोते आँखों से आँसू भी झरने लगेंगे और तभी माँ विकल होकर उसे उठा लेगी और पुचकरोगी।

रोने का कारण—पेट में या कान में दर्द होने पर बच्चा विकल होकर रोता है। कान या सिर में दर्द होगा तो अपना हाथ बार-बार उस ओर ले जाएगा। पेट में दर्द होने पर वह घुटनों को पेट की ओर इकट्ठा करेगा। कन्धे से लगाने या उल्टा लेटाने से उसे आराम मिलेगा। बहुधा बच्चा जब थककर सोने के लिए रोता है, तो अपनी मुठ्ठियों से आँखें मलने लगता है। अगर उस समय माँ साथ में लेटकर, एकान्त में ऐसे स्थान पर जहाँ प्रकाश हो, उसे सुला दे तो वह झट-से सो जायेगा।

जब बच्चा भूखा होता है तो अपनी दोनों मुठ्ठियाँ मुँह में दूँस-दूँसकर रोता है। अनुभव से माँ को यह पता चल जाता है कि बच्चा क्यों रो रहा है ? जिन बच्चों के नहाने, खाने-पीने तथा सोने का समय बँधा होता है उनके रोने के कारण का पता लगाना कठिन नहीं होता।

अगर नहाने का समय है तो तेल मलकर गुनगुने पानी से उसे नहला दें, नहाने के बाद दूध पीते-पीते ही वह सो जायेगा और अगर मक्खी-मच्छर उसे तंग नहीं करते और आस-पास शोर-गुल नहीं है तो वह आराम से तीन घण्टे सोयेगा। पूरी नींद सोकर, वह हँसता हुआ उठेगा। अब कुछ स्वस्थ होकर वह दूध के समय फिर ठुनकेगा। अगर उसके पीने का समय हो गया है तो दूध पहले से तैयार रखा जाय। अगर दूध का समय नहीं है तो थोड़ा-सा पानी बच्चे को दें। पानी पीने से उसकी बेचैनी बहुत कुछ दूर हो जाएगी।

बच्चे के कपड़े या नैपकिन तंग या उसकी हरकत में अड़चन डालने वाले न हों, बिस्तर सख्त या तकिया अधिक ऊँचा न हो, इसका भी विशेष ध्यान रखें। जहाँ उसका पालना हो, वहाँ हवा और रोशनी का रुख ठीक हो। बच्चे को गीला रहना पसन्द नहीं रहता, इसलिए भी वह रोता है। अगर उसके मुँह में दूध लगा है और मक्खियाँ नाक-मुँह पर बैठकर उसे परेशान कर रही हैं, तब भला अपनी माँ का ध्यान आकृष्ट करने के लिए, वह क्यों न रो-रोकर घर सिर पर उठाये ? बेचारा बच्चा तो बोल सकता नहीं, अपनी तकलीफ़ रोकर ही बताएगा।

माँ-बाप के मिजाज का असर—बच्चे अधिकतर अपने माँ-बाप का मिजाज भी लेते हैं। अगर माँ कमजोर हृदय की है, बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली की कड़क से डरकर तकिये में अपना मुँह छिपा लेती है अथवा चूहे को कमरे में इधर-उधर भागता देख चौंककर पलंग पर चढ़ जाती है, तो अचानक डर जाने का दोष बच्चे में भी आना स्वाभाविक है। कोई भी जोर का शब्द या धमाके को सुनकर अथवा अपरिचित शक्ल को देखकर वह भी डरकर रोने लगेगा।

स्वस्थ बच्चे आरम्भ के कुछ दिनों तक रोते हैं, बाद में अपनी दिनचर्या के आदी हो जाने, पेट भरे रहने पर वे पालने में अपनी मौज में खेलते रहते हैं। दुर्बल बच्चे अधिक चिड़चिड़े होते हैं। इसका कारण उनका स्वास्थ्य है। ऐसे बच्चों को चुप कराने के लिए हरदम गोद में नहीं रखना चाहिए। इससे तो उनके स्वास्थ्य पर और बुरा प्रभाव पड़ेगा। रो-रोकर वे जो चाहें, करवा लेंगे। हर समय दूध ही माँगेंगे। परेशान होकर, थककर माँ उनके आगे हार मान लेगी। इससे माँ का जीवन तो दुःखी होता ही है साथ ही ऐसे बच्चों का स्वास्थ्य भी दिन पर दिन गिरता जाता है जिससे परिजनों की परेशानी भी बढ़ती जाती है।

ऐसे रोनु बच्चे की किसी योग्य चिकित्सक द्वारा परीक्षा करवानी चाहिए। अगर कोई बीमारी हो, तो उसका इलाज करवाया जाय। अगर रोने का कारण केवल दुर्बलता ही है, तो उसकी दिनचर्या नियमित रखी जाय। खाना-पीना, नहाना-धोना, खेलना और सोना सब काम के लिए समय बँधा हो। इस पर भी अगर बच्चा रोये तो

घबराएँ नहीं। कुछ दिन बाद वह स्वयं ही चुप हो जाएगा और दिनचर्या का आदी होकर वह शीघ्र ही स्वस्थ तथा प्रफुल्ल दिखाई पड़ेगा।

बच्चे के पेट की सफाई का विशेष ध्यान रखा जाय, क्योंकि कब्जियत तथा पेट में वायु भर जाने से बच्चे बुरी तरह रोते हैं। अगर अचानक ऐसी तकलीफ़ हो जाय तो बच्चे को सौंफ का पानी या ग्राइप वाटर देकर, पेट पर आटे और तेल की गोली फेर दें अथवा पेट पर हल्का-सा तेल लगाकर अपना हाथ गर्म करके सेंक दें। अगर कब्जियत के कारण बहुत ही तकलीफ़ हो तो ग्लिसरीन या साबुन की बत्ती चढ़ाकर फ़ौरन टट्टी करवा दें, तभी बच्चे की बेचैनी दूर होगी। इसके बाद दूसरे दिन घुट्टी या मिल्क ऑफ़ मैग्नेशिया देना ठीक है।

गर्मी या बरसात में मरेरी से बच्चे बहुत परेशान होते हैं। उन्हें खुली हवा में रखा जाय, हल्के और ढीले कपड़े पहनाये जाएँ तथा नियमपूर्वक दोनों समय स्नान कराकर 'प्रिक्ली हीट पाउडर' छिड़कना चाहिए।

छोटे बच्चे के रोने से माँ को अधिक घबड़ाना नहीं चाहिए। उसकी तो वह भाषा ही है। अपनी माँग पूरी करवाने के लिए वह रोता है। तभी तो कहावत है कि 'बिना रोये तो माँ भी दूध नहीं देती।'

रोगी बच्चा—कई बच्चों का स्वभाव बात-बात पर रोने का हो जाता है। अधिकतर वे ही बच्चे प्रायः रोते हैं, जिनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता या फिर खाना हजम न होता हो या लिवर बढ़ा हो। अन्य स्वस्थ बच्चों को खेलते-कूदते, खाते-पीते देख उन्हें अपने खाने-पीने पर लगी पाबन्दियों तथा अपने संगी-साथियों के खेल-कूद में शामिल होने में अपनी असमर्थता पर झुँझलाहट आती है। ऐसे बच्चों में सहनशक्ति की तो वैसे कमी होती है, अतएव वे किसी के जरा-सा कुछ कह देने पर बिलख-बिलख कर रोने लगते हैं।

घर का अधिक दुलारा बच्चा भी रो-रोकर अपनी ज़िद पूरी करवाने की चेष्टा करता है और जब दो-चार बार के अपने अनुभव से उसे यह पता चल जाता है कि मेरे रोने के आगे सबको झुकना पड़ता है, तब तो वह इस अमोघ अस्त्र का बार-बार प्रयोग करता है। कभी-कभी माता या बहिन भी रोनु स्वभाव के बच्चे की उपस्थिति में ही यह कह बैठती हैं 'अरे भाई इसे मत उड़ो, यह रो देगा तो बड़ी मुश्किल से चुप होगा।' बस ऐसे कथन से बच्चे को और भी रोने का प्रोत्साहन मिलता है। वह रो-रोकर घर को डराता है और फिर उसे दुर्बल तथा असहाय जानकर घर भर उसकी खुशामद करता है। इस प्रकार अपने रोने को महत्त्व मिलते देख, बच्चा सचमुच ही रोनु बन जाता है।

सहानुभूति प्राप्त करने के लिए—कभी-कभी बच्चा अपने अधिकार और सम्मान की रक्षा करने में स्वयं को

१. ३८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

असमर्थ पाकर भी रोने लगता है। एक लड़के को जन्म-दिवस पर एक नया इंजन मिला, उसकी मौसी की लड़की ने आकर इंजन हथिया लिया। वह लड़का जानता था कि उसकी मौसेरी बहिन प्रीता उसके खिलौने प्रायः तोड़ जाती है। उसने लपककर प्रीता के बाल पकड़ लिए, पर वह प्रीता से अपना इंजन नहीं छीन सका, इसलिए बिखर-बिखर कर रोने लगा। ऐसे समय में माँ को चाहिए था कि बच्चे के अधिकारों की रक्षा करती। बच्चा रोकर अपनी असमर्थता प्रकट करता है और न्याय की दोहाई देता है। ऐसी स्थिति में बच्चे को बड़ों का सहयोग मिलना चाहिए। पर अगर बच्चा बेकार और बेमतलब होता है तो उसे उठाकर एक कमरे में बिठा दिया जाय। ऐसी स्थिति में मारना व्यर्थ है। बच्चा अपने मिजाज को काबू में करने में असमर्थ है, रोने से उसे भी कष्ट होता है, यह उसके लिए बड़ी सजा है। जरा डपटकर उसे चुप करें और हाथ पकड़कर दूसरे कमरे में बिठा आयें। जब वह देखेगा कि मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा है तो वह कुछ देर बाद सिसकता हुआ स्वयं ही चुप हो जायेगा। प्रायः इसके बाद बच्चे थककर सो जाते हैं। उठने पर उन्हें समझाया जाय। 'इस प्रकार रोना बहुत बुरी बात है, समझदार और अच्छे बच्चे ऐसा नहीं करते। रोने वाले बच्चों को कोई पसन्द नहीं करता।'।

जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, उसके अपने मिजाज पर काबू पाना आ जाता है। तीसरे और चौथे वर्ष में पदार्पण करते-करते उसका यह दोष छूट जाता है। कभी-कभी बच्चे को अपने रोने का कारण समझ में नहीं आता और वह कुछ बताने में असमर्थ होता है। ऐसा तभी होता है जबकि बच्चे का स्वास्थ्य दुर्बल हो और वह अपनी शक्ति से अधिक खेल-कूद कर थक गया हो अथवा अपनी सामर्थ्य से अधिक उसे पढ़ना पड़ता हो, उसके जीवन में स्नेह और प्रोत्साहन का अभाव हो, उसे हर समय कटु आलोचना और डाट-डपट सुननी पड़ती हो, उसकी दिनचर्या बड़ी नीरस और मनोरंजन से शून्य हो, अपने किसी प्रियजन की उसे याद आ रही हो या उसके अधिकार और सम्मान को किसी ने चोट पहुँचाई हो। ये बातें ऐसी हैं जो बच्चे के मन और शरीर को मथकर रख देती हैं और वह दुःखी होकर रोने लगता है।

बच्चों का हृदय बहुत कोमल होता है, अतएव वह चोट भी जल्द ही खा जाता है। अपनी बात मनवाने के लिए करुणा और सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए बड़े-बड़े तक रोते हैं। असहाय बच्चों का तो सहाय ही रुदन है, मानो उनकी एक आँख में हँसी और दूसरे में रोना रहता है। वे अभी रो रहे हैं तो अभी हँस देंगे। मनोविज्ञान के ज्ञाता रोते हुए बच्चे को एक-दो बात कहकर ही हँसा देते हैं। प्यार भी एक थपकी और

सहानुभूतिपूर्ण मुस्कान से वे बच्चे के घायल मन पर ठण्डक डाल देते हैं।

ऐसे ही व्यक्ति बच्चे की समस्याओं को झट सुलझा देते हैं। भगवान ने माता को अपने बच्चे के दुःख को समझने की सहज बुद्धि दी है। वह बच्चे के शरीर पर हाथ फेरकर उसकी अस्वस्थता को प्रायः समझ जाती है, उसकी आँखों में झाँककर उसके हृदय की कचोटन को पढ़ लेती है। तभी कहावत है कि अपनी माँ तो सूखा हाथ भी फेर दे, तो बच्चा हय-भरा हो जाता है।

बच्चों को दूध पिलाने का

महत्त्व ठीक से समझें

बच्चों में माँ-बाप के संस्कार कहाँ से आएँ ? बोतल से तो वे दूध पीते हैं और माँ-बाप द्वारा कुछ शिक्षा मिलती नहीं। सरकार अपने लिए नौकर तैयार करने को जो शिक्षा देती है, वही शिक्षा प्राप्त करते हैं। इससे वे सभ्य तो बन सकते हैं, पर संस्कारवान नहीं। संस्कार-सम्बर्द्धन में माता-पिता के विचार, व्यवहार और प्रशिक्षण का महत्त्व तो है ही, माँ द्वारा बच्चे को अपना दूध पिलाते समय भी उसमें सूक्ष्म रूप से घुले संस्कार बच्चे को प्राप्त होते रहते हैं। शिशु द्वारा स्तन-पान का यह पहलू भी महत्त्वपूर्ण है।

जेनेवा में विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक बैठक में विशेषज्ञों ने एकमत से यह प्रकट किया कि बच्चों के सर्वांगीण विकास में रुकावट और उनकी पेट की बीमारियों का मुख्य कारण 'बेबी फूड' डिब्बे का दूध देना है।

यद्यपि 'बेबी फूड' बनाने वाली कम्पनियाँ इसका बराबर विरोध कर रही हैं, परन्तु देखना यह है कि महिलाएँ कहाँ तक इस अभियान को सफल बना सकेंगी?

राष्ट्र संघ द्वारा संचालित 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने विश्व में माताओं को दुग्ध चूर्ण के डिब्बों से शिशु रोग फैलने वाले और कभी-कभी उनके प्राण तक ले लेने वाले तत्वों के कारण, उनका उपयोग न करने का आग्रह किया है। स्वास्थ्य संगठन का मत है कि माँ के दूध के अतिरिक्त शिशु के लिए और कोई आहार सर्वोत्तम नहीं हो सकता।

अमेरिका व अन्य विकसित देशों पर इसका परिणाम अच्छा हुआ और वहाँ माताएँ अपने बच्चों को अपना ही दूध पिलाने लगी हैं, जिसमें वहाँ १६०० करोड़ डालर मूल्य के—न बिके हुए, 'बेबी मिल्क फूड' का—अंबार लग गया है। बेबी मिल्क फूड की निर्माता कम्पनियाँ अपने भ्रामक लुभावने विज्ञापनों द्वारा इनको भारत या अन्य विकासशील देशों में विक्रय करने में लगी हुई हैं।

भारत में 'कंज्यूमर गाइडेंस सोसायटी' जैसी संस्था जो कि भारत सरकार द्वारा नियुक्त की गई है और बेबी मिल्क फूड के निर्माताओं के लिए आचार-संहिता भी बना रही है, ने बेबी मिल्क फूड की बिक्री को काफी प्रतिबन्धित कर दिया है। विकासशील देशों में लंका पहला देश है जिसने बेबी मिल्क के विज्ञापन पर ही पूरी रोक लगा दी है।

शिशु रोग विशेषज्ञ डा. आर. के आनन्द जो कि बेबी मिल्क फूड के लिए आचार-संहिता समिति के सदस्य भी हैं, ने स्पष्ट कहा है कि कमजोर और रुग्ण माँ का दूध ही क्यों न हो, वही अपने बच्चे के लिए नैसर्गिक व सर्वोत्तम आहार है और बेबी मिल्क फूड से श्रेष्ठ है। आधुनिक माताएँ शारीरिक सौन्दर्य में कमी के डर से बेबी मिल्क फूड को श्रेष्ठ बतलाती हैं, जो कि एकदम आधारहीन है। एक निर्धन परिवार में जन्मे माँ के दूध पर पले बच्चे का स्वास्थ्य एक सम्पन्न परिवार में बेबी मिल्क फूड पर पले शिशु की अपेक्षा उत्तम देखा जा सकता है।

शिशु के जन्म के तुरन्त बाद ही माँ के स्तन में हल्के पीले रंग का दूध आता है, जो कोलोस्ट्रम के नाम से विख्यात है, यह दूध बच्चे की उन सब रोगों से रक्षा करता है, जो इस काल में हो सकते हैं। प्रसव काल में, जिन माताओं की मृत्यु हो जाती है, उनके शिशुओं को अन्य माता का कोलोस्ट्रम देना उपयोगी सिद्ध हुआ है।

स्तन का दूध पिलाने से माँ को कई लाभ होते हैं। एक तो स्तन पान कराने वाली माताओं के गर्भाशय अधिक जल्दी पूर्ववत् हो जाते हैं, जबकि स्तनपान न कराने वाली माताओं के भीतर यह क्रिया उनसे बहुत देर बाद सम्पन्न होती है। दूसरे, उसे एक गहरी भावनात्मक तुष्टि भी मिलती है, जो एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक लाभ है।

प्रत्येक जननी को यह ध्यान रखना चाहिए कि स्तनपान कराते समय की शारीरिक स्थिति से अधिक महत्वपूर्ण भावनात्मक स्थिति है। अर्थात् जिस प्रकार अस्वच्छ शरीर रहने पर स्तनपान कराना ठीक नहीं, उसी प्रकार उद्विग्नता-व्यग्रता, उपेक्षा, आतुरता की मनःस्थिति में भी स्तनपान नहीं कराना चाहिए। बच्चे को दूध पिलाते समय माँ द्वारा कोई मनोरंजक पुस्तक पढ़ते जाना या दूसरों से गपशप करना अथवा हड़बड़ी-उतावली में रहना शिशु के लिए अस्वास्थ्यकर सिद्ध होता है। वस्तुतः स्तनपान करते और कराते समय शिशु एवं जननी दोनों को ही प्रशान्त, प्रफुल्ल मनःस्थिति में होना चाहिए। शरीर में किसी भी प्रकार का तनाव नहीं रहे, प्रत्युत शिथिलन की स्थिति रहे। जहाँ दूध पिलाया जा रहा हो, वह स्थान भी विश्रान्तिदायक, शान्तिपूर्ण हो। वहाँ गर्मी या ठण्डी की अधिकता न हो। चारों ओर का वातावरण प्रसन्नतावर्द्धक हो। दूध पिलाते समय जननी को पूरी तरह दत्तचित्त होकर बच्चे को स्तनपान कराना चाहिए। उस समय माँ में जितने

ही शुभ, श्रेष्ठ, उत्साहपूर्ण विचार उठेंगे, बच्चे के भीतर उतना ही अनुकूल प्रभाव वह दूध उत्पन्न करेगा। अतः प्रत्येक जागरूक जननी को स्तनपान का महत्व भलीभाँति समझना चाहिए और उसे एक विशेष कर्तव्य समझकर अत्युच्च मनोभाव के साथ सम्पन्न करना चाहिए।

स्तनपान करते-कराते समय बच्चे और माँ दोनों के चेहरे पर जो उल्लास, तन्मयता और आत्मविभोर होने के भाव अंकित होते हैं, वे स्वयं ही इस तथ्य के द्योतक हैं कि यह प्रक्रिया कितनी गहरी भावनात्मक अनुभूति से जुड़ी रहती है ? अनेक श्रेष्ठ चित्रकारों और शिल्पियों ने अपने चित्रों एवं मूर्तियों में उस मनोभाव को कुशलता से अंकित किया है तथा ऐसे चित्र या ऐसी प्रतिमाएँ दर्शकों में भी मृदुता, स्निग्धता, पवित्रता एवं प्रसन्नता को ही उत्कृष्ट मनोभावों का संचार करती हैं। स्तनपान कराती जननी के मुखमण्डल पर बहुत कुछ वैसी ही तल्लीनता एवं दिव्य रहस्यात्मक आनन्दपूर्ण अनुभूति की छाप दिखाई पड़ती है, जैसे किसी ध्यानलीन योगी के चेहरे पर देखी जाती है। वस्तुतः माँ की यही एकग्रता, तन्मयता और दिव्य-भावपन्न प्रसन्नता बच्चे के लिए भावनात्मक, मानसिक पोषण बन जाती है। अतः धैर्य एवं आत्मविश्वास से भरपूर, शान्त निश्चित मनःस्थिति में ही माँ को बच्चे को स्तनपान कराना चाहिए। तभी जननी का दूध बच्चे के लिए अमृतोपम बन जाता है और शक्ति, ओज तथा सुसंस्करण की अभिवृद्धि करता है।

जननी के दूध का पोषक स्तर उच्चकोटि का हो, इस हेतु परिवार के जिम्मेदार लोगों को उसके सात्विक, पौष्टिक भोजन की व्यवस्था भी करनी चाहिए। माँ के भोजन में खनिज-द्रव्य आदि पर्याप्त मात्रा में होंगे तभी उसके स्तन से स्वस्थ दूध निकलेगा। इस हेतु जननी को चोकर समेत आटे की रोटी, पर्याप्त फल एवं हरी सब्जी आदि पोषक तत्व भोजन में लेने चाहिए और शुद्ध दूध मिल सके तो उसे भी लेना चाहिए। जिन माताओं के दूध नहीं निकलता है—प्रकृति की इस स्वाभाविक देन से किसी कारण जो जननी वंचित रह गई है, वे भले ही विवशता में बच्चे को गाय का शुद्ध दूध पिलाएँ। किन्तु जिनके दूध पर्याप्त उत्पन्न होता है या हो सकता है, वे माताएँ गाय का वह दूध बच्चे को पिलाने के स्थान पर स्वतः पिएँ। इससे उनके भीतर अधिक मात्रा में तथा अधिक अच्छी कोटि का दूध उत्पन्न होगा, जो बच्चे के अधिक अनुकूल होगा। अतः बाहरी शुद्ध दूध बच्चे को पिलाने के स्थान पर उसे प्रकृति-प्रदत्त अनुपम यन्त्र अर्थात् अपने शरीर के माध्यम से माताएँ बच्चों तक पहुँचाएँ तो उन्हें तथा शिशु दोनों को शारीरिक दृष्टि से भी अधिक लाभ होगा, भावनात्मक दृष्टि से तो होगा ही।

सन्तुलित भोजन के साथ ही, दूध पिलाने वाली माता को अपनी दिनचर्या भी सन्तुलित रखनी चाहिए। बच्चा पैदा होने के लगभग डेढ़ माह बाद से उन्हें थोड़ा

१. ४० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

शारीरिक श्रम भी नियमित अवश्य करना चाहिए। साथ ही रात को जल्दी ही सो जाना चाहिए। शरीर को पर्याप्त विश्राम देना चाहिए और स्वच्छ, खुली हवा में भी सुबह टहलना चाहिए। साफ हवा प्राप्त करने के लिए सतर्क रहना चाहिए।

प्रसव के दिन बच्चे को चौबीस घण्टे में तीन बार दूध पिलाना काफी होगा, दूसरे दिन से चार बार तक दूध पिलाना चाहिए। एक-डेढ़ वर्ष की आयु तक बच्चों को स्तनपान अवश्य करना चाहिए। इसके बाद फलों के रस देने का अभ्यास बढ़ाते हुए दूध पीना छुड़ाना चाहिए। नारंगी के रस से शुरू करना अच्छा रहता है।

इस प्रकार बच्चे को स्तनपान कराने का महत्व ठीक से समझकर, प्रशान्त, प्रसन्न मनःस्थिति में बच्चे को दूध पिलाने वाली माताएँ स्वयं भी स्वस्थ, प्रफुल्लित रहती हैं और बच्चे को भी स्वास्थ्य के साथ ही श्रेष्ठ संस्कारों का अनुपम अनुदान देती हैं, जो जीवनभर के लिए उसकी उल्लेखनीय पूँजी बनता है।

भावी पीढ़ी को इस अमृत से बंचित न करें

नवजात शिशुओं के निर्माण एवं विकास पर किसी भी समाज अथवा देश का भविष्य अवलम्बित होता है। जन्मते ही शिशु की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति माँ द्वारा होती है। पोषण का एकमात्र आधार बनता है—माँ का अमृत तुल्य दूध माँ का दूध एकमात्र शरीर को ही पोषण नहीं देता वरन् मानसिक एवं भावनात्मक विकास की भी भूमिका सम्पन्न करता है। दुर्भाग्यवश जिन बच्चों को जन्म लेने के बाद माँ की छत्रछाया नहीं मिल पाती उनमें से अधिकांश जीवित नहीं रह पाते। असमय दम तोड़े देते हैं। किसी तरह जो जीवित बचते भी हैं, उनका समग्र रूप से शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक विकास नहीं हो पाता।

इस युग को मनोवैज्ञानिक युग कहा जा सकता है। एक ओर जहाँ मनोविज्ञान के विकास द्वारा कितनी ही नवीन जानकारीयाँ प्राप्त हुई हैं। वहीं दूसरी ओर इस विधा का दुरुपयोग भी कम नहीं हुआ है। व्यावसायिक प्रतिष्ठानों ने प्रचार कार्य में मनोवैज्ञानिक तंत्र का खुलकर प्रयोग किया है। व्यावसायिक सफलता के लिए ऐसे प्रचार किये जाते हैं, जो जनमानस की स्वस्थ मान्यताओं तक को भी बदल देने में समर्थ होते हैं। विद्वानों का, प्रतिभावानों का एक वर्ग ऐसा है, जो इनके इशारे पर नाचता है। बदले में उन्हें मोटी रकम मिलती है। विद्वानों द्वारा प्रोपेगण्डा पर प्रामाणिकता की मुहर लगा देने पर स्वतन्त्र विचारणा से रहित बहुसंख्यक वर्ग के मस्तिष्क में

आसानी से प्रचार की गई बात बैठ जाती है। इन दिनों इस तरह के मनोवैज्ञानिक प्रयोग व्यावसायिक तन्त्रों द्वारा प्रचार कार्य में घड़ल्ले से किये जा रहे हैं।

माँ का दूध शिशु के लिए सदा से एक सर्वोत्तम और परिपूर्ण आहार समझा जाता रहा है। कृत्रिम दूध का निर्माण करने वाले प्रतिष्ठानों ने अपनी व्यावसायिक सफलता के लिए उपरोक्त सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक प्रचारों द्वारा कितने ही प्रकार की भ्रान्तियाँ फैला रखी हैं, जिसमें से प्रमुख यह है कि अपने स्तन को दुग्धपान कराने से माँ का स्वास्थ्य गिरता तथा सौन्दर्य नष्ट होता है। स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य को बनाये रखने की आकांक्षा हर युवा नारी में होती है। सम्बद्ध प्रचार के प्रभाव से आधुनिकता के परिवेश में पली कितनी ही नारियों के मन में यह डर आरम्भ से ही बैठ जाता है कि अधिक दिनों तक बच्चे को दूध पिलाना खतरे से खाली नहीं है—अपना स्वास्थ्य और सौन्दर्य दोनों ही गँवाना होगा। फलतः वास्तविकता से अपरिचित नारियाँ शिशु के जन्म लेने के कुछ ही माह बाद अपने वक्ष का दुग्धपान कराना छुड़ा देती हैं तथा डिब्बे, बोतल आदि के कृत्रिम दूधों पर पान बच्चे को कराने लगती हैं। अज्ञानतावश ऐसी नारियाँ अपने स्वास्थ्य तथा बच्चे के स्वास्थ्य के साथ भारी अहित करती हैं।

विशेषज्ञों का मत है कि बच्चे को पयपान न कराने से माँ के स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य दोनों ही के ऊपर उल्टा प्रभाव पड़ता है। विश्व के मूर्धन्य चिकित्साशास्त्रियों ने चौकने वाले निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, जो इस मान्यता को निराधार साबित करते हैं कि स्तनपान से माँ का स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य नष्ट होता है। अमेरिका के स्वास्थ्य अनुसन्धान विभाग की रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका में आठ प्रतिशत महिलाएँ वक्ष कैंसर से इसलिए ग्रस्त होती हैं कि वे अपने नवजात शिशुओं को अपना दुग्धपान नहीं कराती हैं।

अपने देश में भी अब अबोध शिशुओं को वक्ष से पयपान न कराने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। मद्रास कैंसर इंस्टीट्यूट के विशेषज्ञों ने इस प्रवृत्ति को घातक बताया है। उनके अनुसार भारत में भी वक्ष कैंसर की रोगी महिलाओं की संख्या तेजी से बढ़ रही है। इस इंस्टीट्यूट में किए गये शोध एवं अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि महिलाओं में वक्ष कैंसर से ग्रस्त रोगियों के हार्मोन सम्बन्धी दोष ही अधिकांशतः वक्ष कैंसर के कारण बनते हैं। यह दोष अधिकतर महिलाओं में शिशुओं को स्तनपान न कराने से उत्पन्न होता है।

माँ के ऊपर कुप्रभाव तो पड़ता ही है, उससे भी अधिक दुष्प्रभाव बच्चे के ऊपर देखा जाता है। विश्व

स्वास्थ्य संगठन के एक सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार छह माह से कम समय तक स्तनपान करने वाले बच्चों की मृत्यु-दर अगले छह महीने में उन बच्चों की तुलना में पाँच से दस गुना तक अधिक होती है, जो छह महीने से अधिक समय तक माँ का स्तनपान करते हैं। विशद अध्ययन एवं विश्लेषण के उपरान्त विश्व के मूर्धन्य वैज्ञानिकों ने माँ के दूध को सर्वाधिक पौष्टिक, निरुपद्र और समग्र आहार माना है। एक ऐसा आहार जिसके पौषक तत्वों की पूर्ति अन्य किसी भी माध्यमों से नहीं हो सकती। भैंस, गाय आदि के दूध में भी वे जीवन-तत्व नहीं पाये जाते, जो माँ के दूध में होते हैं। उनका मत है कि माँ के दूध में पाये जाने वाले लैक्टोज की मात्रा अत्यधिक होती है, जिसे मस्तिष्क के विकास के लिए विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। लैक्टोज से बनने वाला गैलैक्टोज मस्तिष्क को पोषण देता है।

भारतीय आयुर्वेद शास्त्र माँ के दूध की महिमा से भरा पड़ा है। आयुर्वेद के ऋषि का निर्देश है कि—

मातुरेव पिवेत्स्तन्य तत्परं देह वृद्धये।

स्तन्य धात्री उभे कार्यं तद सम्यदिवत्सले॥

अर्थात्—तत्पर होकर शरीर वृद्धि के लिए माता के ही स्तन का पान कराये। यदि किसी कारण से माता के पास दूध न हो, तो उसे दूध पिलाने के लिए दो दाइयाँ रखी जाएँ।

माँ के स्तन के दूध की उपमा ऋषि सुश्रुत ने अमृत से दी है—

पयोऽमृत रसं पीत्वा कुमारते शुभानने।

दीर्घमायुरवान्नोतु देवाः प्राश्यामूर्तं यथा॥

—सुश्रुत संहिता

अर्थात्—हे शुभानने ! जिस प्रकार देवता अमृत का पान करके दीर्घायु हुए उसी प्रकार तुम्हारा अमृत रूपी दूध पीकर बालक दीर्घायु हो।

जीवन वृहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः।

—चरक संहिता

अर्थात्—स्त्री का दूध जीवनी-शक्ति से भरपूर वृहण, सात्म्य पुरुष शरीर के अनुकूल तथा स्निग्धता से युक्त करने वाला है।

माँ के दूध में पाये जाने वाले लैक्टिक एसिड, वैक्टीरिया स्तनपान करने वाले शिशुओं की आँत की हर तरह से सुरक्षा करते हैं। आँत के कितने ही रोगों में इनकी भूमिका एन्टीबायोटिक जैसी होती है। विविध प्रयोगों में यह देखा गया है कि कुछ ही समय बाद बच्चे को जन्म देने वाली महिलाओं के जननांगों में लैक्टोवैसिलस

एसिडोफिलस तथा वाइफिडो वैक्टीरियम भारी संख्या में पाये जाते हैं, जो नवजात शिशु के मुँह और मलद्वार से उसकी आँत में दो से तीन दिन के भीतर प्रवेश कर अपना स्थायी स्थान ग्रहण कर लेते हैं। माँ के दुग्ध में पाये जाने वाले कुछ विशेष फैक्टर्स उन्हें शीघ्रतिशीघ्र आँत में दुग्धपान के समय प्रविष्ट करने में मदद करते हैं। दुग्ध में विद्यमान ये विशिष्ट तत्व उपरोक्त लाभकारी वैक्टीरिया की संख्या वृद्धि की गति बढ़ा देते हैं साथ ही आँत से 'इन्फ्लेमेटोरी' जीवन-शक्ति के लिए उत्तरदायी कण एन्जाइम्स उत्सर्जन पित्त रस आदि की गतिविधियों को भी तीव्र कर देते हैं, जो शिशु के आरोग्य के लिए लाभकारी हैं।

वाइफिडम फैक्टर मातृ-दुग्ध की प्रमुख विशेषता है, जो अन्य किसी भी कृत्रिम दूध तथा पशुओं के दूध में नहीं पायी जाती है। ऐसा देखा गया है कि वाइफिडो वैक्टीरियम में वाइफिडम स्तनपान करने वाले बच्चों में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। जो स्वास्थ्य संरक्षण आरोग्य एवं विकास को विशेष रूप से योगदान देते हैं, जबकि उन शिशुओं में जो बोतल आदि का कृत्रिम दूध पान करते हैं उपरोक्त प्रकार की विशेषता नहीं विकसित हो पाती। पहले से ही विद्यमान वाइफिडो वैक्टीरिया रोगों के आक्रमण से सुरक्षा करने में समर्थ होते हैं। अस्तु, ऐसे बच्चे, जो अधिक दिनों तक माँ का दूध पीते रहते हैं, में आँत के रोगों से ग्रस्त होने की सम्भावना कम रहती है।

यों तो माँ के दूध की कीमत नहीं लगायी जा सकती क्योंकि दूध के साथ-साथ माँ बच्चे को अपनी भावनाओं एवं प्राणों का जो पान कराती रहती है। उसका मूल्य भला कैसे आँका जा सकता है ? पर चर्चा अर्थ की चल ही पड़ी तो 'इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च' के महानिदेशक डा. सी. गोपालन का माँ के दूध के आर्थिक मूल्यांकन का निष्कर्ष देना अप्रासंगिक नहीं होगा। डा. गोपालन के अनुसार भारत में माँ के स्तनों से बच्चों को ३७ लाख टन दूध प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। यदि अधिक समय तक माताएँ बच्चों का स्तनपान करायें तो यह मात्रा दुगुनी हो सकती है। दो रुपये प्रतिकिलो का भी न्यूनतम हिसाब लगाया जाय, तो ३७ लाख टन दूध की कीमत दो करोड़ चालीस लाख रुपये होती है, जो समूचे भारत सरकार के स्वास्थ्य बजट से चार गुना है। पूरे समय तक माताएँ बच्चे को दूध पिलाएँ तो उपरोक्त संख्या आठ गुनी हो सकती है। यदि इस मूल्य में कृत्रिम दूध से पैदा होने वाली बीमारियों पर होने वाले खर्च को भी जोड़ दिया जाय, तो उपरोक्त राशि कई गुनी अधिक जा पहुँचती है, क्योंकि माँ के दूध से रुग्णता की सम्भावना कम रहती है।

१.४२ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

इन दिनों जनसंख्या वृद्धि की विभीषिका मुँह फाड़े विश्व के समक्ष खड़ी है। ऐसे में वैज्ञानिकों ने एक सरल उपाय जनसंख्या नियन्त्रण का यह बताया है कि यदि महिलाएँ अधिक समय तक बच्चों को स्तनपान कराएँ तो गर्भधारण करने की सम्भावना कम रहती है, क्योंकि स्तनपान की अवधि में डिम्ब निर्माण की प्रक्रिया थोड़ी देर से आरम्भ होती है और एक सीमा तक स्तनपान की प्रक्रिया गर्भनिरोधक का भी कार्य करती है। इस सन्दर्भ में लन्दन की मेडिकल अनुसन्धान का शोध निष्कर्ष उल्लेखनीय है। एडिनबर्ग विश्वविद्यालय के डा. रोजट शार्ट का कहना है कि आजकल महिलाओं की प्रजनन शक्ति पहले की तुलना में कहीं अधिक बढ़ गई है। आज के युग में महिलाएँ अपने जीवन-काल में लगभग दो सौ बार प्रजनन कर सकती हैं, जबकि प्राचीनकाल में यह संख्या आठ से लेकर दस बार तक सीमित थी। डा. शार्ट के अनुसार इस अन्तर का सबसे प्रमुख कारण यह है कि प्राचीनकाल में लम्बी अवधि तक महिलाएँ स्तनपान करती थीं। फलतः डिम्ब निर्माण प्रक्रिया उस अवधि तक रुकी रहती थी, जबकि वर्तमान समय में महिलाएँ कुछ ही माह तक बच्चों को दुग्धपान कराती हैं अथवा बिल्कुल ही नहीं करातीं, जिससे डिम्ब बनने की प्रक्रिया शीघ्र ही आरम्भ हो जाती है। ऐसी स्थिति में जनसंख्या वृद्धि को प्रव्रय मिलता है।

इस प्रकार स्तनपान हर दृष्टि से लाभकारी ही सिद्ध होता है, अतः इसे हतोत्साहित नहीं, प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

डिब्बे का नहीं, माँ का दूध पिलाएँ

रूप-यौवन में कमी पड़ने की बात सोचकर बहुत-सी माताएँ बच्चों को कम उम्र में ही दूध पिलाना बन्द कर देती हैं। सुशिक्षित महिलाएँ, जो नौकरी पर जाती हैं, प्रायः घर पर न रहने पर उनके बच्चे भी माँ का स्तनपान नहीं कर पाते। ऐसी दशा में बच्चा बाहर का दूध पीने से दुर्बल भी रहता है और रुग्ण भी। डिब्बे के दूध में वह भावनात्मक विशेषता कहीं हो सकती है, जिसकी, जन्म देने के बाद भी माता द्वारा ही पूर्ति होनी सम्भव थी।

गरीबों की बात और है। उन्हें दिनभर कठोर श्रम करना पड़ता है। भोजन भी पूरी मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाता और उसमें पोष्टिकता की भी कमी रहती है। ऐसी दशा में रक्ताल्पता की शिकायत बनी रहती है। इन्हीं परिस्थितियों में महिलाओं को बच्चे भी पैदा करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यदि वे डिब्बा बन्द दूध का सहारा लें, तो इसे उनकी विवशता ही कही जायेगी, पर अमीर और शिक्षित परिवारों की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। उन क्षेत्रों में समझा जाता है कि दूध पिलाने से जननी

कमजोर हो जाती है, अपना वक्ष सौन्दर्य और सुगन्धता गँवा बैठती है। इसलिए इन वर्गों में बच्चे को कुछ ही दिनों अपना दूध पिलाकर ऊपरी दूध पिलाना आरम्भ कर दिया जाता है। यह जननी और शिशु दोनों के लिए अहितकर है।

जमैका के प्रख्यात 'पोषण विज्ञानी' डॉ. डैरिक जैलिक ने अपने सर्वेक्षण में बताया है कि उन्नत देशों एवं तथाकथित सभ्य एवं सुसम्पन्न परिवारों में एक करोड़ से अधिक बच्चे बोतल का दूध पीने को विवश हैं, परिणामस्वरूप उन्हें अधिक रोगग्रस्त पाया जाता है। माताएँ उन्हें स्तनपान कराकर इस तरह की रुग्णता से बचा सकती हैं। उनके अनुसार शिशुओं में आँतों की बीमारी के लिए कृत्रिम दूध विशेष रूप से उत्तरदायी है। बाल रोग विशेषज्ञों का कहना है कि प्रायः वे ही माताएँ अपने बीमार बच्चे को लेकर डाक्टर के पास जाती हैं, जो उन्हें स्वयं अपना दूध न पिलाकर बाहरी दूध पर रखती हैं। सर्वेक्षणकर्ताओं ने यह भी पाया है कि ऐसे बच्चों की मृत्यु-दर अधिक होती है, जिन्हें सर्वथा जीवन के प्रारम्भ से बाहरी या कृत्रिम पोषण पर निर्भर रहना पड़ता है।

पोषण की दृष्टि से माताओं के दूध में सभी आवश्यक तत्व विद्यमान होते हैं। इससे बच्चों को ऊर्जा की मात्रा लगभग ६५० कैलोरी प्रतिलीटर की दर से उपलब्ध होती है। कुछ माताएँ शिशुओं को मिश्रित दूध पिलाती हैं, जो उनके स्वास्थ्य को तनिक भी रास नहीं आता और वे बीमार रहने लगते हैं। इस सन्दर्भ में हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के चिकित्साविज्ञानी डॉ. डब्ल्यू. एलन वाकर ने गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है और पाया है कि माँ के दूध के साथ बाहरी दूध मिलाकर देने से बच्चों में एलर्जी सम्बन्धी कितनी ही बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ? माँ के दूध में विद्यमान विकासकारक एवं रोग प्रतिरोधक तत्वों की डिब्बा बन्द दूध में कमी पड़ जाने से कोलाइटिस जैसी आँत की बीमारियाँ पनपने लगती हैं और बच्चा सदा के लिए इनका शिकार बन जाता है। उनके अनुसार ब्रैस्ट मिल्क की थोड़ी-सी नैसर्गिक मात्रा भी शिशु के लिए जीवनरक्षक एवं उत्तम पोषण प्रदान करती है। इससे उन्हें वंचित नहीं किया जाना चाहिए।

माता के दूध से उत्तम किसी अन्य आहार अथवा दूध की कल्पना नहीं की जा सकती। वह शिशु के लिए एक प्राकृतिक अनुदान है। उसमें उपलब्ध २१ प्रतिशत प्रोटीन का लगभग पूर्ण अवशोषण शिशु की आँतों सरलतापूर्वक कर लेती है। इसी तरह चिकनाई का ९७ प्रतिशत भाग विविध हलचलों हेतु ऊर्जा के रूप में प्रयुक्त हो जाता है। पोषक तत्वों के अतिरिक्त प्राकृतिक रूप में ग्रहण किये गए दूध में उपस्थित मातृ रसायन रोग प्रतिरोधी क्षमता को सशक्त बनाते और जीवनी-शक्ति का अभिवर्द्धन करते हैं, जिससे सर्दी-जुकाम से लेकर

ऑन्रविकार एवं संक्रमित होने वाली बीमारियों से उनकी रक्षा सहज ही होती रहती है।

मनोविज्ञानियों का कथन है कि स्तनपान द्वारा भावनात्मक निकटता इतने स्वाभाविक रूप में स्थापित होती है कि उसी के आधार पर शिशु बोलने से लेकर अपनी समस्त जैविक गतिविधियों को जीवनपर्यन्त संतुलित बनाये रखता है। ज्यों ही माँ अपने बच्चे पर वात्सल्य भरा गर्व अनुभव करती है, उसके वक्षस्थल का स्नेह-स्रोत उमड़ पड़ता है।

चिकित्सकों के अन्वेषण ने यह रहस्योद्घाटन किया है कि जितनी लम्बी अवधि तक बच्चा माँ के दूध पर अवलम्बित रहता है, जननी के शरीर में उस हार्मोन का उत्सर्जन बराबर होता रहता है, जिससे डिम्बोत्सर्ग की प्रक्रिया रुक जाती है। मूर्धन्य वैज्ञानिक डा. एन. एन. फेरिश के अनुसार उस उपक्रम द्वारा अपने देश में प्रतिवर्ष ५० लाख शिशुओं के जन्म को रोका जा सकता है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में गहन खोजें की हैं। ऐडिनवर्ग, लन्दन की मेडिकल रिसर्च कन्सिल यूनिट के चिकित्साविज्ञानी द्रव्य एच. डब्ल्यू पीटर होवे एवं हेलन एस. नेले ने स्कॉटलैण्ड की २७ ऐसी महिलाओं का परीक्षण किया जो अपने बच्चों को निरन्तर स्तनपान कराती रहीं। दूसरे प्रयोग के लिए उन्होंने १० ऐसी महिलाओं को चुना जिन्होंने प्रसवोपरान्त बॉटल फीडिंग पर अपने बच्चों को रखा। दोनों ही वर्गों में विशिष्ट प्रकार का अन्तर देखा गया। अपना शोध-निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया कि बोटल से दूध पिलाने वाली महिलाओं में प्रसव के ११ सप्ताह बाद ही डिम्बधारण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी, जबकि ब्रैस्ट फीडिंग वाली महिलाओं की उक्त शारीरिक क्रिया को क्रियाशील होने से ३३ से ३६ सप्ताह लगे। टोरंटो के बोरेसेली एवं इरवेन डी. बोर ने तो विश्वभर में यायावरों की १० प्रतिशत ऐसी जातियाँ खोज निकाली हैं, जो बच्चों को चार वर्ष तक अपना दूध पिलाती और जल्दी गर्भधारण के बोझ से बची रहती हैं। उनका कहना है कि बच्चे को यदि पूरी समयावधि तक माताएँ दूध पिलाती रहें तो पुनः प्रजनन की अवधि को पाँच वर्ष तक टाला जा सकता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी वे ही मजबूत रहती हैं, जिन्हें इस संकट का सामना नहीं करना पड़ता है।

स्तनपान का बच्चे के साथ सीधा भावनात्मक सम्बन्ध जुड़ा होने के कारण जन्मदात्री के मस्तिष्क को पूरी तरह प्रभावित करता है। यही कारण है कि बच्चे के दूध पीते समय माता के मस्तिष्क में अवस्थित पिट्यूटरी ग्रन्थि से स्त्रावित हार्मोन न केवल पोषण क्षमता में वृद्धि करते हैं, वरन् दुग्ध उत्पादन प्रक्रिया को लम्बे समय तक बनाये रखते हैं। इससे कुपोषण से मरने वाले शिशुओं की संख्या में काफी कमी हो सकती है और बहुप्रजनन

पर भी अंकुश लग सकता है। यह बच्चे एवं जननी दोनों के स्वास्थ्य के लिए उत्तम है, पर इन सबमें जो महत्वपूर्ण लाभ है वह है—बालक का भावनात्मक विकास, जो डिब्बा बन्द दूध से कदापि सम्भव नहीं। इन्हीं सब तथ्यों को देखकर शायद अकबर इलाहाबादी के यह उद्गार फूट पड़े हों—

“तिप्ल(बालक) में बू आये क्या, माँ-बाप के हतबार की।

दूध तो डिब्बे का है, तालीम है सरकार की।”

माताएँ शिशुओं को स्तनपान कराने में संकोच न करें

इन दिनों सोचा जाता है कि बच्चे को दूध पिलाने से माता का स्वास्थ्य दुर्बल होता है। इसलिए शिशुओं को ऊपरी दूध पिलाना चाहिए, ताकि माता की स्वास्थ्य रक्षा सम्भव हो सके। सुसम्पन्न और शिक्षित लोग प्रायः ऐसा ही करते हैं।

यह एकांगी चिन्तन है। माता के स्वास्थ्य और सौन्दर्य की रक्षा के लिए समुचित ध्यान दिये जाने और उसकी सुरक्षा-व्यवस्था बनाने की बात का औचित्य सहज ही समझ में आता है। इस सन्दर्भ में जो कुछ भी सम्भव हो सो किया ही जाना चाहिए, पर यह ध्यान रखने योग्य बात यह भी है कि जिस बालक को आमन्त्रित करके बुलाया गया है, उसके परिपोषण एवं विकास के सम्बन्ध में कृपणता क्यों बरती जाय ?

नवजात बालक का पाचन तन्त्र इतना कोमल और संवेदनशील होता है कि माता का दूध ही सरलतापूर्वक पच सके। जिस शरीर के भीतर रहकर उसने अपना अस्तित्व विकसित किया है, उसी के रासायनिक पदार्थ अनुकूल पड़ते हैं। पशुओं के दूध तथा अन्यान्य खाद्य पदार्थों को पचाने की क्षमता तो धीरे-धीरे ही विकसित होती है। जन्मकाल से लेकर कई महीने तक पेट की स्थिति इसी स्तर की बनी रहती है कि वह माता के दूध को ही ठीक तरह पचा सके और उससे उचित एवं अनुकूल पोषण प्राप्त कर सके।

नवजात असहाय बालक की सेवा-सुश्रूषा, देखभाल, स्नेह-दुलार के लिए ही नहीं, उचित आहार के लिए भी माता की ओर ही आशा भरी दृष्टि से निहारना पड़ता है। यदि उस अंचल में भी उसे शरण न मिले तो किसका मुँह जोहे, किसका पल्ला पकड़े ? यों उसकी क्षुधा शान्त करने के लिए तो डिब्बे का, पशुओं का दूध भी काम दे सकता है, पर उसकी वह आवश्यकता जिसमें न केवल शरीर का वरन् प्राणों का भी रस टपकता है, अन्यत्र कहाँ से मिलेगा ? पति और पत्नी भी कहने को तो एकत्व का दावा करते हैं, पर तात्त्विक दृष्टि से माता और बालक की एकात्मकता ही सही सिद्ध होती है।

पति-पत्नी अपना रिश्ता तोड़ और नया सम्बन्ध जोड़ सकते हैं, पर माता और सन्तान के बीच इस जोड़-तोड़ की कोई गुंजाइश नहीं है। जन्म देने तक तो उदरस्थ बालक माता की सत्ता में घुला ही रहता है। प्रसव के उपरान्त भी बहुत समय तक यह परिपोषण चलता रहता है घटोत्तरी तो तब आरम्भ होती है, जब बालक को संसार की अन्य वस्तुएँ आकर्षित करने लगती हैं।

गर्भस्थ शिशु को सींचने की प्रक्रिया प्रसव के उपरान्त भी बहुत समय तक माता को जारी रखनी पड़ती है। यह सम्पर्क सूत्र अन्य आधारों के साथ-साथ स्तनपान के साथ विशेष रूप से जुड़ा रहता है। पेट में माता का परिपोषण किसी कारणवश शिथिल हो जाय तो भ्रूण की सत्ता अविकसित स्थिति में ही पड़ी रहेगी और अपना अस्तित्व खो बैठेगी। यह तथ्य जन्म के उपरान्त भी जारी रहता है और उसमें क्रमशः ही कमी आती है। नवजात शिशु को बहुत समय तक माता के दूध की आवश्यकता बनी रहती है, क्योंकि शारीरिक एवं मानसिक पोषण के अतीव उपयोगी तत्त्व उसी केन्द्र से मिल सकते हैं जिसने उसे जन्म दिया है। इतनी अधिक अनुकूलता अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकती, जितनी कि बच्चे को माता से मिलती है।

माता रुग्ण अथवा अशक्त हो तो उसे स्थिति में शिशु के आहार की 'ऊपरी' व्यवस्था की जा सकती है। किन्तु जब दूध निकलता हो तो उसे इसलिए नहीं रोका जाना चाहिए कि इससे माता को दुर्बलता घेरेगी। यही बात थी तो गर्भस्थापना से ही बचा जाना चाहिए था। भ्रूण का विकास माता के शरीर को क्षति पहुँचाये बिना सम्भव नहीं। प्रसव वेदना के साथ-साथ होने वाले रक्त स्राव में कितनी क्षति पहुँचती है यदि इसका हिसाब लगाया जाय तो प्रतीत होगा कि स्तनपान करने में होने वाली क्षति उससे कहीं बहुत कम है जो प्रसव से पूर्व हो चुकी है। यह तो मुँह देने के उपरान्त एक पैसे पर झंझट करने जैसी बात हुई।

बालक के शारीरिक, मानसिक पोषण के साथ उसके समग्र व्यक्तित्व के अन्तःकरण के विकास की भी आवश्यकताएँ रहती हैं, इनकी पूर्ति माता के भावनात्मक एवं रासायनिक अनुदानों से ही हो पाती है। स्तनपान में अवरोध खड़ा होने पर बालक तो निश्चित रूप से घाटे में रहता है। शिशु आहार के नाम पर जिन वस्तुओं का गुणगान किया जाता है वस्तुतः उसकी उत्कृष्टता माता के दूध की तुलना में शतांश भी नहीं होती। यों बहकाने को तो द्रोणाचार्य ने अपने बेटे अश्वत्थामा की दूध-माँग को खड़िया मिट्टी का सफेद पानी पिलाकर भी काम चला लिया था। माता के दूध से वंचित बालक को जिस-तिस वस्तु के सहारे इसी प्रकार अपना गुजारा करना पड़ता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करना किसी सहृदय माता के लिए किस प्रकार सन्तोषजनक हो सकती है। इसे मोटे तर्कों

और भौतिक स्वार्थों को आगे रखकर नहीं किया जा सकता। ऐसे मार्मिक प्रसंगों में तथाकथित स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य रक्षा की बात सोचते समय बालक के विकास और भविष्य को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

असम्भ्य लोगों में अपने ढंग के अन्धविश्वास उठते मरते रहते हैं। सम्भ्य कहलाने वाले लोग भी इस मामले में उनसे पीछे नहीं हैं। असम्भ्यों की मूढ़-मान्यताओं पर सम्भ्य लोगों द्वारा व्यंग्य-उपहास करने की बात समझ में आती है, पर आज की स्थिति में यदि तथाकथित समझदार और सम्भ्यताभिमानि लोगों पर पिछड़े लोग कभी मूर्खता का आरोपण करने लगें तो उसे भी अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। सम्भ्य अन्धविश्वासों में से एक यह भी है कि बच्चे को दूध पिलाने से माता कमजोर हो जाती है। वस्तुतः वैसा कुछ नहीं। प्रसव के उपरान्त जिस स्तर के आहार-विहार की सतर्कता बरतनी चाहिए उसमें त्रुटि करने से स्वास्थ्य को आघात पहुँच सकता है और उस गड़बड़ी को स्तन पिलाने के साथ जोड़ा जा सकता है। यह आत्मप्रवंचना फिर भी तथ्यों से प्रतिकूल ही बनी रहेगी।

शरीर-विज्ञान के जानकार भली प्रकार समझते हैं कि प्रकृति हर प्राणी के शरीर में सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप कई प्रकार के अतिरिक्त उत्पादन करती है। उनका सही प्रयोग होता रहे तो इससे स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं वरन् उल्टी सुरक्षा होती है। किशोरियों को मासिक धर्म प्रारम्भ होता है और हर महीने रक्त जाता है। साधारणतया नस काटकर उतना रक्त बहाया जाय करे तो उससे हानि होगी, पर मासिक धर्म नियमित होते रहने से उनका स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं वरन् बनता है। किसी सामान्य अंग का असामान्य रूप से बोज़िल हो जाना चिन्ता का विषय है। ट्यूमर, रसौली गाँठ, फोड़ा आदि के उभार आपत्तिजनक माने जाते हैं, किन्तु लड़कियों की उठती उमर में क्लस्थल का उभार स्वाभाविक माना जाता है। लड़कियों की आयु बढ़ जाने पर भी यदि मासिक धर्म आदि यौवन चिह्न प्रकट न हों तो इसमें स्वास्थ्य संकट जैसी चिन्ता करनी पड़ती है। शिशु जन्म से पूर्व ही माता का दुग्ध संस्थान विकसित एवं सक्रिय हो जाता है। प्रकृति प्राणी की आवश्यकताओं का भली प्रकार ध्यान रखती है और उनकी पूर्ति के साधन जुटाती रहती है। इस स्वाभाविक क्रिया-प्रक्रिया में किसी विपत्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए। उत्पादन-विसर्जन का चक्र हर क्षेत्र में घूमता है और क्षतिपूर्ति की व्यवस्था अनायास ही होती रहती है।

शरीरविज्ञानी जानते हैं कि यौवन के आरम्भ होते ही 'इस्टेरोजेन' और 'प्रोजेस्टेरोन' हार्मोन सक्रिय हो जाते हैं और स्तन संस्थान को विकसित एवं दुग्ध उत्पादन के लिए सक्षम बनाते हैं। गर्भावस्था में इस संस्थान का चरम विकास होता है। प्रसव के उपरान्त प्रोजेस्टेरोन अकेला ही

शरीर को सामान्य प्रक्रिया के अन्तर्गत ही शिशु आहार के लिए आवश्यक दुग्ध बनाते रहने का काम सँभाल लेता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत दुग्ध-स्राव के कारण होने वाली क्षति की पूर्ति भी साथ-साथ होते चलने की व्यवस्था है। यदि दुग्ध-स्राव बन्द कर दिया जाय तो प्रकृति उलटकर प्रेजेस्टोरान को निष्क्रिय बनाती है अन्यथा दूध बनते रहने पर भी उसके निकलने का प्रबन्ध न रहने के कारण उस संस्थान में भयंकर पीड़ा एवं अर्बुद आदि उठ खड़े होने का संकट हो सकता है। उपरोक्त हार्मोन जब अपना कार्य समेटता है तो उसके साथ ही माता को पयपान के कारण होने वाली क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त आधार भी बन्द हो जाते हैं। दूध पिलाने के बदले प्रकृति से जो अन्य अतिरिक्त अनुदान मिल रहे थे, उनका स्रोत बन्द हो जाने से माताएँ किसी लाभ में नहीं रहतीं, वरन् बच्चे को उचित पोषण से वंचित करके अपने गौरव से गिरती ही हैं।

माता के दूध में कई अतिरिक्त पदार्थ हैं जो पशुओं से प्राप्त अथवा रसायन निर्मित पदार्थों से बने दूध में सम्भव नहीं। रक्त के ग्लूकोज से लेक्टोन, अमीनो एसिड से प्रोटीन और न्यूट्रल पेन्टस से पेन्टस बनता है। यह तीनों पदार्थ माता के दूध में ही उस स्तर के पाये जाते हैं जिनमें शिशु पोषण की संतुलित व्यवस्था बन सके। यों इनके स्थानापन्न में अन्य पदार्थ भी मिलाये जा सकते हैं, पर उनका स्तर माता के दूध की तुलना में कहीं घटिया होता है। अस्तु, उससे शिशुपोषण के उपयुक्त आहार में त्रुटि ही रह जाती है।

रासायनिक जाँच से यह सिद्ध होता है कि शिशु की आयु बढ़ने के साथ-साथ उसकी पोषण आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। उसे नये-नये रासायनिक पदार्थों की क्रमशः अधिकाधिक मात्रा अपेक्षित होती है। इस सन्तुलन को माता का दूध ही पूरा करता है। प्रसवकाल के समय माता का दूध जिस स्तर का होता है, उसमें क्रमशः परिवर्तन होता चला जाता है। यह परिवर्तन छह महीने उपरान्त तो इतना अधिक हो जाता है कि उनमें आश्चर्यजनक भिन्नता देखी जा सकती है। यह सब इसलिए होता है कि बच्चा आयु वृद्धि के साथ-साथ अपनी पाचन-प्रणाली तथा आवश्यकता के अनुरूप अधिक उपयुक्त पोषण प्राप्त कर सके। इस क्रम से कुछ घटोत्तरी होती है तो कुछ बढ़ोत्तरी प्रथम मास में प्रोटीन अधिक होता है, जो क्रमशः घटता है किन्तु आयु वृद्धि के साथ-साथ अभीष्ट कोसिनोजन की मात्रा में बढ़ोत्तरी होती चली जाती है।

डिब्बे बन्द दूध को चूर्ण अथवा चटनी के रूप में सूखा या गीला बनाने के लिए उसे उबालना आवश्यक होता है। दूसरी यान्त्रिक एवं रासायनिक क्रियाओं की भी इस सन्दर्भ में सहायता ली जाती है। पेनसलवानिया के रसायनविज्ञानी ब्रोकयन और जेफरी के अनुसार इस प्रकरण

में लगभग आधे जीवन तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और वह खाद्य अपनी प्रकृत विशेषताएँ बुरी तरह खो बैठता है। दूध का लायसिन रसायन जो दाँतों की सुरक्षा तथा अन्य पोषक प्रयोजनों के लिए नितान्त आवश्यक है, डिब्बा बन्द स्थिति में पहुँचते-पहुँचते अपना अस्तित्व बहुत बड़ी मात्रा में खो बैठता है। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रो. डेशिकवी जेलिफ ने न्यूट्रिशन सोसाइटी में भाषण करते समय बताया कि स्तनपान द्वारा उचित पोषण प्राप्त कर सकने के कारण विश्वभर में प्रतिवर्ष प्रायः ४ करोड़ बच्चे बेमौत मरते हैं। यों माता की शारीरिक दुर्बलता ही दूध की कमी का प्रमुख कारण होती है, पर जान-बूझकर न पिलाने वाली माताएँ भी कम नहीं होतीं।

डा. 'जेलिफ के अनुसार बच्चा माँ का दूध पीता रहे तो अगला बच्चा देर में पैदा होगा। यदि उसे बन्द कर दिया जाय तो प्रकृति नये बालकों के उत्पादन का संरंजाम जुटाने लगती है। माता को जल्दी मासिक धर्म शुरू हो जाता है और दो बालकों के बीच जितना अन्तर होना चाहिए, उसकी तुलना में कहीं जल्दी नया बच्चा जन्मने का उपक्रम चल पड़ता है।

स्तन कैसर के कारणों का सर्वेक्षण करने पर यह पता चला है कि दूध पिलाने वाली माताओं की तुलना में उन्हें यह विपत्ति अधिक घेरती है जो दूध पिलाने में आना-कानी करती हैं। स्वभावतः दूध आना बन्द हो जाय तो बात दूसरी है अन्यथा उत्पादन के उफान में कृत्रिम अवरोध उत्पन्न करने में प्रतिक्रिया हानिकारक ही होती है। इससे स्तन-संस्थान में कई तरह की ऐसी विकृतियाँ उठ खड़ी होती हैं, जिनसे पयपान करते रहने पर सहज ही बचा जा सकता है।

बच्चे को दूध पिलाने पर माता घाटे में रहती है यह शिक्षित कहे जाने वाले लोगों का अन्धविश्वास ही है। नहीं पिलाने से माता और सन्तान दोनों को दुहरी हानि उठानी पड़ती है। वस्तुस्थिति को यदि समझा जा सके तो इस निरर्थक अवरोध में बढ़ता हुआ उत्साह घट सकेगा और उससे जननी तथा शिशु दोनों को ही लाभ मिलेगा।

'भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद्' के राष्ट्रीय पोषण संस्थान के क्लीनिकल विभाग की अध्यक्ष डॉ. विनोदिनी रेड्डी ने जानकारी दी है कि संस्थान के अध्ययन से पता चला है कि शिशु के लिए माँ का दूध पोषक तो होता ही है, साथ ही वह संक्रमण से भी बच्चे की रक्षा करता है। अध्ययन से यह भी पता चला है कि भारत में कुछ इलाकों में जो यह भ्रान्ति फैली है कि नवजात शिशु को पहले तीन दिन माँ का दूध नहीं दिया जाना चाहिए, वह भी निराधार है। परीक्षणों से यही तथ्य प्रकाश में आया है कि पहले तीन दिन के दूध में संक्रमण से बच्चे की रक्षा करने वाले तत्व और अधिक होते हैं।

परीक्षण से यह भी पता चलता है कि न्यायशील प्रकृति के इस अनुपम अनुदान में किसी भी तरह का पक्षपात नहीं होता। माँ पोषकतत्त्वों से भरपूर भोजन करती हो या नहीं, किन्तु उसके दूध में संक्रमण निरोधक तत्व अवश्य रहते हैं। संस्थान ने गरीब तथा अमीर दोनों वर्ग की तीन सौ माताओं के दूध की जाँच कर पाया कि उनमें संक्रमणरोधी तत्व एक जैसे हैं।

डा. रेड्डी ने यह भी जानकारी दी कि बोतल द्वारा दिये जाने वाले दूध में बाहरी रोगाणुओं के द्वारा संदूषण की अधिक सम्भावना रहती है। यह पाया गया है कि माँ का दूध छुड़ा देने के बाद बच्चे को संक्रमण होने की सम्भावना बढ़ जाती है और संक्रमण की उस स्थिति में यदि पुनः माँ का दूध दिया जाने लगे, तो लाभ पहुँचता है।

यद्यपि माँ के दूध में संक्रमणरोधक तत्वों का उनके आहार से विशेष सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु पोषक आहार ग्रहण न कर पाने पर अन्य पोषक तत्वों की कमी अवश्य रह जाती है। खासकर वी. वर्ग के विटामिनों की तथा अस्थि-निर्माण करने वाले खनिज-तत्वों की ऐसी स्थिति में कमी हो जाती है। ऐसे पोषक-आहार से वंचित नारियों की तुलना में गाय के दूध में अस्थि निर्माण करने वाले खनिज द्रव्यों तथा वी. वर्ग के विटामिनों की प्रचुरता रहती है, किन्तु उसमें दूसरे तत्व उतने नहीं रहते और बोतल द्वारा दिए जाने पर संदूषण का खतरा भी बना रहता है, जबकि माता के दूध में प्रोटीन, खनिज लवण, विटामिन, वसा, शर्करा, जल आदि पदार्थ तो पर्याप्त मात्रा में होते ही हैं, कुछ अन्य ऐसे पदार्थ भी होते हैं, जो आमाशय के रस के साथ घुलमिल जाते हैं तथा दूध का पचना सरल बना देते हैं। ये तत्व प्रकृति में कहीं भी अन्यत्र नहीं पाये जाते, सिवाय दूध का स्राव करने वाले स्तनों के। दूध पर्याप्त पोषक तत्वों से युक्त हो, इसके लिए माताओं के भोजन में प्रोटीन तथा विटामिन बी. तत्वों वाले पदार्थ की प्रचुरता पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

खोजों से यह भी ज्ञात हुआ है कि शिशु का पाचन-संस्थान जन्म के बाद ही सक्रिय होता है। पहले वह निष्क्रिय रहा आता है और गर्भ में वह अपने शरीर की धातुओं के द्वारा ही माँ से पोषण प्राप्त करता रहता है। अतः बच्चे के जन्म लेने के कुछ ही घण्टों बाद उसे 'जन्मघुटी' नहीं देनी चाहिए, क्योंकि इससे बच्चे की आँतों की शैल्विक कला पर उत्तेजक प्रभाव पड़ता है। बच्चे की आँतों में सर्वप्रथम माँ का दूध ही पहुँचना चाहिए, वह भी जन्म के २४ घण्टे बाद क्योंकि तब तक चारों ओर की उत्तेजना तथा शोरगुल का वातावरण समाप्त होकर शान्ति छा जाती है। शिशु को प्रथम आहार देते समय वातावरण का भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

भरसक तो बच्चे को स्तनपान ही करना चाहिए। यदि दूध पर्याप्त नहीं होता हो, तो स्वस्थ गाय के शुद्ध दूध की व्यवस्था करनी चाहिए। माता के दूध के बाद गोमाता का दूध ही सर्वोत्तम होता है। दूध बासी या बहुत देर का दुहा हुआ न हो और या तो दूध के बराबर ही पानी मिला लिया जाये या फिर दो भाग दूध और एक भाग पानी रहे। दूध में थोड़ी-सी दुग्धशर्करा डालकर थोड़ा गरम कर पिलाना चाहिए। बोतल से दूध पीने वाले शिशु के लिए प्रातःकाल थोड़े तरकारी के रस का या फल के रस का प्रबन्ध हो सके, तो उत्तम।

माँ के दूध और गाय के दूध में पाचन की दृष्टि से भी विशेष अन्तर होता है। माँ के दूध में जो 'अल्बुमिन' पायी जाती है, वह जल्द नहीं जमती, जबकि गाय के दूध की 'अल्बुमिन' जल्द जम जाती है। गाय के दूध की 'अल्बुमिन' बड़ी-बड़ी फुटकियों या थक्कों के रूप में जमता है और देर से पचता है। माँ के दूध की 'अल्बुमिन' छोटी-छोटी फुटकियों में जमती है और सहज सुपाच्य होती है।

बोतल से दूध देना अनिवार्य लगे, तो बोतल की सफाई पर सदैव पूरा-पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रयोग के बाद बोतल को धोकर साफ कर लिया जाय और उसे धूप में खड़ा कर दिया जाय। बोतल की भली-भाँति धुलाई सोडा, विम आदि से अवश्य की जानी चाहिए। अधिक अच्छा हो कि एक से अधिक बोतलें रखी जाएँ, ताकि सफाई के लिए समय मिल सके। टोंटी की सफाई का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

यों, जहाँ तक सम्भव हो, कम से कम ९ माह से एक वर्ष तक माताएँ बच्चों को स्तनपान ही करायें। जो बच्चे 'स्टरलाइज्ड' दूध के आधार पर रखे जाते हैं, वे रोगाणुओं के प्रभाव से तो माँ के दूध के उपयोग की तरह ही सुरक्षित रहे आते हैं, किन्तु उन्हें स्तन के दूध से मिलने वाले उन स्वास्थ्यवर्द्धक जीवाणुओं से वंचित रहना पड़ता है, जो आँत में एक विशेष हलचल उत्पन्न कर एक प्रकार का विटामिन पैदा करते हैं। यह विटामिन शरीर में रोगनिरोध की शक्ति उत्पन्न करता है। 'स्टरलाइज्ड' दूध पर पले बच्चे इस शक्तिप्रद विटामिन से वंचित रह जाते हैं और आगे चलकर उनके स्वास्थ्य को इससे क्षति पहुँचती है।

एक विशेष बात यह है कि माँ के दूध के हर घूँट के साथ मातृ-प्रेम का जो अद्वितीय मिश्रण रहता है, वह प्रत्येक घूँट को अमृत भर ही बना देता है। इससे अधिक लाभदायक कोई भी आहार शिशु के लिए दुनिया में मिल पाना सम्भव नहीं है।

जहाँ तक स्तनपान से स्तनों के बहुत लटक जाने और सौन्दर्य समाप्त हो जाने की बात है, ऐसा पयपान

करने से नहीं, अपितु प्रसवोपरान्त आवश्यक आहार न पाने से होता है।

शिशु का पोषक तत्व मात्र खाद्य-पदार्थ नहीं, अपितु वह प्राणरस भी है, जो माँ के दूध की हर बूँद में घुला रहता है। उससे शिशु को वंचित रखकर माताएँ अपने ही लाइले या लाइली के साथ तो अन्याय करती ही हैं, स्वयं के साथ भी घाटे वाला कार्य ही करती हैं, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार दूसरों को प्राण-अनुदान से स्वयं को भी प्रकृति के अक्षयकोष से उपहार अवश्य मिलता है।

माँ का दूध—अमृत समान

परिस्थिति और आवश्यकता के अनुरूप व्यवस्था प्रकृति का एक ऐसा गुण है जिसे देखकर वैज्ञानिक तक यह मानने को बाध्य होते हैं कि प्रकृति में बौद्धिक सचेतनता है। जलवायु और शरीरों में परिवर्तन, खानपान की विशिष्ट आदतों के अनुरूप प्राणियों के दाँतों की बनावट में अन्तर, सुरक्षा की दृष्टि से शरीर के रंग और अवयवों का अन्तर यह सब इस बात के प्रतीक हैं कि प्रकृति की प्रत्येक रचना वास्तविक अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर होती है, जो भी व्यक्ति या प्राणी उसका व्यतिक्रम करता है उसे हानि उठानी पड़ती है। बीमारियों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, वह प्राकृतिक सन्तुलन को अस्त-व्यस्त करने का ही दूसरा नाम है।

शिशु जन्म और माँ के स्तनों में उभार और दूध का बनना उसी प्राकृतिक व्यवस्था का एक अनूठा उदाहरण है। माँ का दूध प्रकृति ने केवल बच्चों के लिए बनाया है। उससे अच्छा पौष्टिक, गुणवर्द्धक और पोषक अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। गाय के दूध में बछड़े के उपयुक्त पोषण और बकरी के दूध में उसके मेमने की शारीरिक व मानसिक रचना के अनुरूप तत्व पाये जाते हैं। स्वाभाविक है कि वह दूध बालक के लिए उपयुक्त नहीं होगा और यदि बलात् दिया ही जाता है तो निश्चित ही बच्चे के व्यक्तित्व में प्रतिकूल प्रभाव पड़े बिना रहेगा नहीं। जैसे-जैसे शरीर की क्षमता बढ़ती जाती है माँ के स्तन का दूध स्वयं ही कम होता जाता है और बालक के शरीर की श्रद्धा तथा क्षमता इस योग्य हो जाती है कि अन्य दूध भी अनुकूल पड़ने लगे, पर उससे पूर्व यदि बच्चे को माँ अपना दूध नहीं पिलाती तो यह न केवल अपने अतिथि बालक का अपमान है, अपितु प्राकृतिक व्यवस्था को खण्डित करना भी है। उसका दण्ड मनुष्य और समाज को अनेक तरह से मिलता हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ?

डॉ. ग्रासमैन ने इस सम्बन्ध में जो अनुसन्धान किये हैं, उनकी जानकारी हर माँ को रहनी आवश्यक है ताकि वे अपनी उस संकीर्ण बुद्धि का परित्याग कर सकें कि स्तनपान उनके स्वास्थ्य को नष्ट करता है। सच तो यह है

कि जो बच्चों को अपना दूध पिलाने से कतराती नहीं, दूध न पिलाने वाली स्त्रियों की अपेक्षा वे स्वयं को अधिक स्वस्थ अनुभव करती हैं। प्रसव के काल में उनके प्रजनन अवयवों पर जो आघात पहुँचता है, वह जल्दी दूर हो जाता है मुख पर कान्ति आ जाती है, जबकि न पिलाने वाली स्त्रियों के शरीर में यह विकार जड़ जमाने लगते हैं और उन्हें दुर्बल बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देते हैं।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से डॉ. ग्रासमैन ने निष्कर्ष निकाला है कि दूध पिलाने वाली महिलाओं की पिट्यूटरी ग्रन्थि, जिसका सीधा सम्बन्ध माँ की संवेदनाओं से होता है, उससे कुछ ऐसे हार्मोन्स का साव होता है, जो दूध के साथ मिलकर बच्चे के हृदय, मस्तिष्क तथा आँतों को शक्ति प्रदान करते हैं। बालक के व्यक्तित्व के विकास में इन तीन संस्थानों का प्रभाव प्रारम्भ से ही होता है। यही हार्मोन्स स्त्री के रक्त से मिलकर प्रसवकाल की शारीरिक क्षति को दूर करने में प्रमुख सहायक होता है।

माँ के स्वास्थ्य की किसी कमी के कारण उसे तदनुकूल आहार देकर दूध की मात्रा और पौष्टिकता को बढ़ाया जा सकता है, उसकी कमियों को दूर तो किया जा सकता है, किन्तु बच्चे को दूध न पिलाने का अर्थ यह होगा कि हम उसे एक यथार्थ आहार से वंचित कर रहे हैं, जो उसकी पूर्णता का आधार है। बच्चे को माँ दूध पिलाये और उसका स्वास्थ्य खराब हो यह बहकाने वाली और आत्म-प्रतारणा की बात है। सच पूछा जाये तो मानसिक चिन्ताओं से ग्रस्त, आलसी और आवश्यकता से अधिक आधुनिक बनने वाली महिलाएँ ही ऐसा सोच सकती हैं।

अमरीका में आज ऐसी स्त्रियों की संख्या मुश्किल से ४० प्रतिशत रह गई है। इसी से यहाँ की केलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के बाल चिकित्सा शोध विभाग के डॉक्टर एलपर ग्रासमैन को यह चिन्ता हुई कि कहीं एक दिन ऐसा न आ जाये जब अमेरिकी समाज नितान्त भावनाहीन हो जाये और सामाजिक जीवन में स्नेह, आत्मीयता, करुणा, दया और उदारता के लिए कोई स्थान ही न रह जाये। डॉ. ग्रासमैन के अध्ययन के निष्कर्ष यह हैं कि मानसिक रूप से नितान्त कमजोर, अस्थिर बुद्धि, असन्तुलित मस्तिष्क बालकों का ९० प्रतिशत भाग वह था, जिसे बाल्यावस्था में उनकी माताओं ने स्वस्तन पान नहीं कराया। सर्दी, जुकाम, कब्ज, गैस, अफरा, बदहजमी के शिकार वही बच्चे पाये जाते हैं, जो ऊपर का दूध पीते हैं। जिन्हें अपनी बाल्यावस्था में जी भर माँ का दूध पीने को मिलता है, वे शक्ति व जीवट के धनी तो होते हैं, उनमें बौद्धिक पूर्णता और प्रसन्नता की मात्रा अधिक होती है। ऐसे लोगों के पास समय बिताने को हर किसी का मन करता है, क्योंकि वे विनोदप्रिय, मृदुल और स्निग्ध स्वभाव के होते हैं। वास्तव में इन गुणों का

विकास माँ का दूध पाने से मिली सन्तुष्टि और बच्चे के स्वाभिमान की पूर्ति के रूप में होता है।

एक कहावत है बच्चा दूध नहीं माँ का प्यार पीता है। यह उक्ति बहुत कुछ यों सच है कि माँ जब बच्चे को दूध पिलाती है, तो उसकी निजी चिन्ताएँ तिरोहित हो जाती हैं। बच्चे के सिर पर हाथ फेरते वक्त दूध में छलकने वाला स्नेह, उसे थपकी देने में प्रसुप्ति होने वाली प्रमुदा और निश्चिन्ता के कारण उत्पन्न हुई स्थिरता और सन्तुलन उस दूध में मिश्री की तरह घुलकर बच्चे के शरीर में प्रवेश करते हैं और अनेक आकर्षक गुणों के रूप में बच्चे में विकसित होते हैं।

माँ बच्चे की आत्मीयता, बच्चे और नारी के बीच पवित्रता के विकास में सहायक होता है। जिन बच्चों को माँ का दूध नहीं मिलता उनमें सद्भावना का अभाव रह जाने से ही दुश्चरित्रता पनपती है, किन्तु माँ के स्तन, उनकी गर्मी बच्चों को जो शान्ति और सुख प्रदान करते हैं वे बालक में उस संवेदना, गम्भीरता और भावनाशीलता का बीजारोपण करते हैं, जो वयस्क अवस्था में इन गुणों की परिपक्व अवस्था के रूप में उनकी अपनी सफलता, आधार और दूसरों के लिए मार्गदर्शन का प्रकाश बनते हैं।

माँ के दूध को इन गुणों की खान देखकर ही उनके दूध पिलाने को अमृतपान कहा जाता है। अमृत का गुण है स्वास्थ्य, आयु, बल, बुद्धि और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास। माँ के दूध में भी यही तत्त्व हैं इसलिए स्तनपान को अमृतोपम कहना कतई अतिशयोक्ति नहीं।

स्तनपान बच्चे के स्वास्थ्य का

वरदान

विदेश ही नहीं, भारत में भी कुछ समय से माताओं में अपने शिशुओं को स्तनपान न कराके उन्हें शीशी से दूध पिलाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अधिकांश महिलाएँ स्वास्थ्य बिगड़ने के भय से इस प्रवृत्ति को अपना रही हैं और अपने बच्चों को दूध नहीं पिलातीं। बहुत-सी माताओं के अधिक सन्तान हो जाने और उपयुक्त पोषण न मिलने से और कुछ को स्वाभाविक दूध न उतरने के कारण इस प्रक्रिया को अपनाना पड़ता है। परिस्थिति जो भी हो प्रयत्न यह रहे कि बच्चे को माँ का दूध अवश्य मिले।

हमारे देश में कितनी ही महिलाएँ विशेषतः ग्रामीण महिलाएँ स्तनपान तथा उससे सम्बन्धित रोगों के विषय में अनेक भ्रमपूर्ण विचारों और अज्ञान से ग्रसित हैं। बहुतों का विश्वास है कि कई प्रकार के पकवान खाने से माता का दूध पौष्टिक और शिशु को पिलाने योग्य हो जाता है। इन सभी माताओं को अपने दूध के लाभ के विषय में, दुग्धागम प्रक्रिया के बारे में, स्तन के रोगों के

सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक ज्ञान नहीं। आज भी वे सब भगवान, भाग्य और दुर्भाग्य का ही परिणाम मानती हैं।

एक ओर शिक्षित महिलाएँ फैशन के प्रभाव में आकर स्तनपान नहीं कराना चाहतीं तो दूसरी ओर ऐसी अज्ञानग्रस्त स्त्रियाँ भी हैं, जिन्हें शीशी से दूध पिलाने, दूध शीशी और उसके उपकरणों की व्यवस्था, स्वच्छता का भी ज्ञान नहीं होता। यह नितान्त सत्य है कि अधिकांश महिलाएँ स्तनपान के सम्बन्ध में गम्भीर अवैज्ञानिक सन्देशों से ग्रसित हैं। अनेकों अज्ञानता के कारण अपने बच्चों को स्वच्छ एवं स्वस्थ आहार नहीं दे पातीं। ऐसी माताओं के बच्चे बचपन से ही कमजोर रहते हैं और कमजोरी के कारण थोड़ा-सा कुछ ऊँचा-नीचा वातावरण होता है तो बीमार हो जाते हैं।

स्तन में दूध उतरने की प्रक्रिया के विषय में यदि ज्ञान प्राप्त हो जाय तो माताओं का यह भ्रम दूर हो सकता है कि न स्तन में दूध ईश्वर की कोई दान है और न ही स्तन में किसी प्रकार का कष्ट या रोग या बच्चे का दुर्भाग्य है।

दूध उतरने की अवधि गर्भावस्था में तथा उसके पश्चात् माता को प्राप्त पोषण पर आधारित है। दूध पिलाने वाली माता को गर्भवती माता की अपेक्षा कैलोरी, प्रोटीन, कैल्शियम, विटामिन 'ए' तथा अन्य रासायनिक पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलने चाहिए। ये पदार्थ दुग्ध ग्रन्थियों को ठीक से कार्य करने के लिए सहायक होते हैं। उक्त सभी तत्त्वों की पूर्ति हेतु माता को सामान्य पोषक खाद्य के अतिरिक्त कम से कम ५०० ग्राम दूध, हरी शाक-सब्जी, विटामिन सी, प्रधान फल लेना चाहिए।

दूध जब बच्चा भूखा हो और तीव्रता से दूध पीने के लिए आतुर हो, तब पिलाना चाहिए। यदि सम्भव हो तो पूरक के रूप में बोतल का दूध न ही दिया जाय। माता को संवेगात्मक द्रव्य, घबराहट और कष्ट की परिस्थितियों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

उस समय माताएँ चिन्तित हो जाती हैं जब जन्म के पश्चात् प्रसूता को कम दूध उतरता है, किन्तु वे इस बात पर विचार नहीं करती कि उस समय शिशु को दूध की आवश्यकता भी कम होती है। यह जानकारी भी कुछ महिलाओं को नहीं होती कि परिपक्व दूध पाँच दिन के बाद ही उतरता है।

यह तथ्य कि माँ के दूध का संवेदनात्मक तथा शारीरिक प्रभाव किसी भी दूसरे दूध से या दूध की अन्य प्रक्रियाओं से श्रेष्ठ होता है। अगस्त १९७७ में नाइजीरिया की राजधानी लागोस में देश के केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा आयोजित एक राष्ट्रीय विचारगोष्ठी में शिशु को शीशी का दूध देने के दुष्परिणामों पर विस्तार से चर्चा की गई और यह अपील की गई कि बच्चे को कम से कम दो वर्ष तक तो माँ का दूध मिलना ही चाहिए।

एक वर्ष से छोटे बच्चे को स्तनपान से वंचित करना उनके लिए घातक है। अपील के समर्थन में इसके परिणामस्वरूप होने वाले लाभों को भी बतलाया गया।

भारत में माँ के दूध के पूरक के रूप में गाय का दूध अधिक प्रयोग किया जाता है। माँ और गाय के दूध की तुलना करके देखा गया है कि गाय के दूध में माँ के दूध का ३ गुना अधिक प्रोटीन, ४ गुना अधिक कैल्शियम और ६ गुना अधिक फास्फोरस मिलता है और माँ के दूध में गाय के दूध से ३, ४ गुना अधिक वसा, अम्ल, एक-तिहाई अधिक लौह तत्व तथा २ गुना अधिक विटामिन 'ए' और 'सी' पाया जाता है।

गाय के दूध में प्रोटीन अधिक होता है, पर वह बच्चे के पेट में दही जैसे पदार्थ का अधिक मात्रा में निर्माण करता है, जो बच्चे की अपरिपक्व आँत की पाचन-क्रिया में बाधक होता है। माँ के दूध में यह ठोस भाग कम होता है, जिससे पाचन क्रिया सरलता से स्वाभाविक रूप से सम्पन्न हो जाती है। गाय के दूध में कैल्शियम और फास्फोरस अधिक मात्रा में होते हैं। किन्तु जो कुछ भोजन में लिया जाता है, उसका पूरा उपयोग भी होना चाहिए। बच्चे के गुर्दे प्रारम्भिक दिनों में तीव्रता से पूर्णरूपेण कार्य नहीं करते। बच्चे को गाय का दूध अधिक मात्रा में दिया जाय, तो शरीर में कुछ धातु अनावश्यक रूप से इकट्ठे हो सकते हैं, जो उसके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव डालते हैं। माँ के दूध में लौह पदार्थ अधिक होता है। यद्यपि प्रारम्भ में शिशु उसका पूर्ण उपयोग नहीं कर पाता, किन्तु पीछे यदि लौह की कमी हुई तो उसका स्वास्थ्य बहुत कम प्रभावित होता है। अतः यदि शिशु को पूरक के रूप में कोई अन्य दूध दिया जाय तो थोड़ी मात्रा में पूरक लौह भी औषधि के रूप में देना आवश्यक है। माँ के दूध में विटामिन 'ए' और 'सी', 'बी' ६ और १२ आवश्यकतानुसार सन्तुलित मात्रा में पाये जाते हैं और गाय के दूध में नहीं होते। गाय के दूध के विटामिन जो कुछ होते भी हैं, वे दूध को तैयार करने के ढंग से नष्ट हो जाते हैं।

माँ का दूध पीने वाले बच्चे का मल एसिड युक्त होता है, अन्य दूध पीने वालों का नहीं। विभिन्न शोधों से ऐसा पता लगा है कि माँ का दूध पीने वाले बच्चों की आँत में 'लैक्टोबेसिलस विफिडस' होते हैं, जो रोगजन्य कीटाणुओं से उसकी रक्षा करते हैं।

हमारे यहाँ माँ के दूध के विकल्प के रूप में मुख्यतः गाय और बकरी के दूध का ही प्रयोग किया जाता है और यह माना जाता है कि यह दूध ही शिशु के लिए माँ के दूध के अधिक समीपवर्ती और सुपाच्य है। चूँकि शोधों से ऐसा ज्ञात हुआ है कि इसके रासायनिक तत्व माँ के दूध की अपेक्षा अधिक जटिल हैं। अतः उसमें उपयुक्त पानी मिलाकर वे जटिलताएँ कम

कर ली जा सकती हैं और अभाव की स्थिति में काम चलाया जा सकता है।

पश्चिमी देशों में हुए शोधों से यह परिणाम निकला है कि भारत जैसे विकसशील देश के लिए स्तनपान अधिक उपयुक्त, लाभकारी और अनिवार्य है। अशिक्षा, अज्ञान, आर्थिकहीनता और साधनहीनता के कारण किसी भी प्रकार के रोग होने की सम्भावना अधिक रहती है।

स्तन के रोगों की जानकारी होना भी आवश्यक है। स्तन का रक्तवर्ण हो जाना और उसमें हल्की-हल्की पीड़ा होना एक सामान्य रोग है। इसमें डाक्टर की सहायता लेनी चाहिए। डाक्टरों द्वारा बेस्ट पम्प की सहायता से एकत्रित दूध को निकालकर चिकित्सा द्वारा रोग को ठीक किया जा सकता है।

दुग्धपान बनाम पयपान

जन्म के पश्चात् बच्चा अधिक समय तक सोता ही है। जो यात्रा वह करके आया है; उसकी थकावट नींद द्वारा ही पूरी होती है। अगर आराम के बाद माँ स्वस्थ दीखे तो दूसरे दिन मुन्ने को माँ के स्तनों पर लगायें। उसके मुँह चलाने से माता के स्तनों में दूध उतरता है और बच्चे को भी दो-एक-दिन में दूध पीने का अभ्यास हो जायेगा। प्रत्येक माता का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चे को स्वयं का दूध पिलाएँ। माँ के दूध पर बच्चे का जन्मसिद्ध अधिकार है। जो माताएँ बच्चे को अपना दूध पिलाती हैं, उनके बच्चे पर ममता अधिक होती है। साथ ही बच्चे को दूध पिलाने से गर्भाशय तथा माँसपेशियों को सिकुड़ने में सहायता मिलती है। प्रत्येक माँ को अपने बच्चे को दूध पिलाने में एक स्वर्गीय आनन्द मिलता है। उसके रोम-रोम से ममता फूट उठती है और इसी वात्सल्य प्रेम के आवेग से दूध बहने लगता है।

'माँ का दूध' ! कितना उत्साहवर्द्धक है यह शब्द, जैसे गंगाजल। सभी जल उसकी तुलना नहीं कर सकते, सब दूध माता के दूध की तुलना नहीं कर सकते। जब किसी के बल को ललकारा जाता है तो लोग कहते हैं 'अगर तूने अपनी माँ का दूध पिया है तो जोर लगा ले'। माँ के दूध की समता कोई भी वस्तु नहीं कर सकती। जब बच्चा गर्भ में रहता है, माँ के रुधिर से उसका पालन-पोषण होता है। जन्म के बाद माँ का दूध ही उसका प्राकृतिक भोजन होता है। जैसा माँ खाती है, उसका सार दूध में आ जाता है। जो बच्चे माँ के दूध पर पलते हैं, उनका स्वास्थ्य ऊपरी दूध पर पले बच्चों से श्रेष्ठ होता है। एक बार एक माँ ने जब अपने लड़के को, जो कि जन्म के समय जरा दुर्बल था, दो वर्ष तक दूध पिलाया। उस समय उसके पति लड़ाई पर गये हुए थे। साल भर के बाद बच्चा ऊपरी भोजन भी करने लगा

था, पर दूध की अधिकता होने के कारण वह उसे दूध पिलाती रही। उसके पश्चात् अन्य दो बच्चे जल्द हो गये, अतएव उन दोनों को केवल ४-६ महीने ही दूध पिला सकी। परिणाम यह हुआ कि बड़े लड़के का स्वास्थ्य बचपन से ही इतना अच्छा था कि उसने 'बेबी शो' में प्रथम इनाम जीता। वह पाँच महीने का था, तब बैठने लग गया था और सालभर का भागा-भागा फिरता था। दाँत निकलने के समय भी उसे कुछ कष्ट न हुआ, जबकि बीच वाला बच्चा जन्म के समय आठ पाँड था, परन्तु उसका स्वास्थ्य बाद में इतना अच्छा नहीं रहा। दाँत भी उसके बड़ी कठिनाई से निकले। अन्य दोनों बच्चों को खसरा तथा कुकुर खाँसियाँ हो गईं, किन्तु बड़ा लड़का उनके सम्पर्क में रहकर भी इन बीमारियों से बचा रहा।

अभी हाल में लन्दन के प्रसिद्ध डॉ. कैथलीन ने मेडिकल जर्नल्स में लिखा है 'माता के दूध से बच्चे का न केवल शरीर ही पुष्ट होता है परन्तु वह सहन-शक्ति, शारीरिक बल और मानसिक तथा शारीरिक दृढ़ता भी उत्पन्न करता है। इन गुणों का, ऊपरी दूध पीकर पले हुए बच्चों में प्रायः अभाव ही रहता है। डॉ. कैथलीन ने आगे यह भी कहा "मैंने अनेक खिलाड़ियों के जबड़े, दाँत और हड्डियों का अध्ययन किया। जिन खिलाड़ियों को बचपन में माँ का दूध मिला, उनकी बनावट ही दूसरों से भिन्न थी और खेल का नतीजा निकलने से पहले ही मैं बता देता था कि वे अवश्य ही विजयी होंगे।"

"अगर किसी राष्ट्र की नारियाँ अपने इस कर्तव्य (बच्चे को दूध पिलाने) को ठीक से करने में असमर्थ रहती हैं, तो उस देश में लीडर और वीरों का अभाव रहेगा। खिलाड़ियों और लीडरों की सफलता का बहुत कुछ श्रेय माता के दूध को होता है।"

अगर माता का स्वास्थ्य ठीक है, उसे कोई छूत की बीमारी या मानसिक अस्वाभाविकता नहीं है, तो उसे बच्चे को दूध अवश्य पिलाना चाहिए। अगर माता को पूरा आराम मिले तथा भोजन पौष्टिक दिया जाय, तब दूध पिलाने में स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता। दूध पिलाते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

१. बच्चे को दूध एकान्त में आराम से बैठकर पिलाया जाय, शोरगुल में बच्चा दूध ठीक से नहीं पीता और माँ का ध्यान बातों में बँटा रहने से या संकोचवश सहूलियत न होने से बच्चे की ओर पूरा-पूरा ध्यान नहीं देती।

२. दूध का समय बच्चे और माँ की सुविधानुसार बाँध देना चाहिए। कमजोर बच्चे को दो या ढाई घण्टे बाद, क्योंकि वह पूरी ताकत से भरपेट दूध पी नहीं सकता तथा स्वस्थ बच्चे को तीन घण्टे बाद दूध पिलाया जाय।

३. जब बच्चा एक स्तन को पूरा खाली कर दे, तब थोड़ी देर दूसरे स्तन से भी लगा दें। जो बच्चा भली प्रकार दूध पीता है, वह १५ मिनट में अपनी पूरी खुराक ले लेता है। कमजोर बच्चा धीरे-धीरे पीता है, इसलिए उसे २० मिनट तक दूध पिलाएँ।

४. कई डाक्टरों की राय है कि एक समय की खुराक केवल एक ही छाती से दी जाय, दूसरी छाती का दूध बाद की खुराक के लिए छोड़ दिया जाय परन्तु इससे माता को बहुत कष्ट होता है। एक ओर दूध का आरम्भ में जोर होता है अतएव ममतावश दूसरी छाती से दूध अपने आप बहने लगता है और दूध के बहने के कारण माँ को अड़चन होती है।

५. अगर दूध की कमी हो तो माता को दलिया, खीर और फलों का रस पिलायें, इससे दूध बढ़ेगा। बच्चे को दूध पिलाते समय यदि माता का मुँह सूखे, तो थोड़ा दूध, चाय या पानी पी ले, इससे दूध भी उतरेगा।

६. दूध पीने के बाद बच्चे को सुसकार अवश्य लें, क्योंकि दूध पीकर या सोकर उठने के बाद बच्चे प्रायः पेशाब करते हैं।

७. अगर बच्चे की तबियत ठीक नहीं है या पेट में अफरा है, तो उसे दूध देकर चुप कराने की चेष्टा न करें। यदि बच्चा नींद में हो या खिलवाड़ में लगा हो तब भी वह दूध नहीं पियेगा। अगर उसके मुँह में छाले होंगे या गला दुःखता होगा, तब भी वह दो-चार घूंट पीकर रोने लगेगा। ऐसी स्थिति में दूध पिलाना व्यर्थ है। उसके दूध न पीने के कारण को समझें, कष्ट को दूर करें और तब दूध पिलायें।

८. जिन माताओं को अपने दूध की कमी के कारण ऊपर का दूध पिलाना पड़े, उन्हें बेतल तथा दूध के बर्तनों की सफ़ाई का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अगर बकरी का दूध मिल सके तो सबसे अच्छा अन्यथा स्वस्थ गाय का दूध पानी मिलाकर दिया जाय। बच्चे की आयु तथा स्वास्थ्य के अनुकूल पानी की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है। दूध की किस्म में बार-बार परिवर्तन नहीं करना चाहिए, जिस डिब्बे या गाय अथवा बकरी का दूध बच्चे को माफिक पड़ जाये उसे चालू रखें। दूध को पिलाने के सम्बन्ध की आवश्यक सूचनाएँ सूखे दूध के डिब्बों के ऊपर लिखी रहती हैं। उसके अनुसार दूध में थोड़ा पानी और जरा-सी चीनी मिलाकर ऐसा मिश्रण शिशु को देना चाहिए जो उसकी पाचन-शक्ति के अनुकूल हो सके। उदाहरणार्थ, एक सप्ताह तक बच्चे को तीन-तीन घण्टा के अन्तर से ६ बार दूध पिलाना चाहिए और उसे पौन छटांक दूध, पौन छटांक पानी तथा चौथाई छोटा चमचा चीनी मिलाकर बनाना चाहिए। दूध रखने व उबालने के बर्तनों को स्वच्छ रखना चाहिए। जिस बर्तन में दूध उबाला जाय उसमें कोई दूसरी चीज न उबालनी चाहिए। बर्तन को माँजने के पश्चात् भली प्रकार धो-पोंछ

लिया जाना चाहिए। तीन-चार महीने के बच्चे को अंजीर का रस या फलों का रस भी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिया जा सकता है।

जब बच्चा छह महीने का हो जाये तो उसको दूध के अतिरिक्त थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दलिये का पानी, फलों का रस, दही आदि भी चटाएँ। जैसे-जैसे चीजें हजम होती जायें, मात्रा बढ़ाई जा सकती है। दो-दौत निकल आने पर बच्चे को कुतरने की चीजें भी दी जायें, इससे उसके मसूड़ों का व्यायाम होता है।

बच्चे की दिनचर्या नियमित रखी जाय, उसके भोजन, आराम तथा स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखा जाये।

दूध पिलाने वाली माता की स्वास्थ्य रक्षा—प्रसव के पश्चात् प्रथम दो महीने तक माता को अतिशय दुर्बलता होती है और पूरे समय लेटी रहती है। इस काल में हल्का भोजन जो शीघ्र पच सके, ४ घण्टे में चार-पाँच बार लेना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे काम-काज प्रारम्भ करने पर साधारण भोजन, जिसमें पौष्टिक तत्व—प्रोटीन, कैल्शियम, विटामिन आदि पहले से कहीं अधिक मात्रा में हों, लेना प्रारम्भ कर देना उचित है। स्तनपान काल में शिशु की वृद्धि व विकास तीव्र गति से होता है। उस समय भी उसके प्रोटीन, विटामिन, कैल्शियम व अन्य लवणों की आवश्यकता गर्भावस्था से किसी प्रकार भी कम नहीं होती, अपितु बढ़ती ही है। चिकित्सा-विज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि शिशु, माता के दूध के पोषक तत्वों को प्रतिदिन काफी मात्रा में प्राप्त करता है। इन सभी तत्वों की प्राप्ति का साधन मुख्यतः माता का दूध होने से माता का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने आहार को, अपने स्वयं के स्वास्थ्य के तथा शिशु की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाए। स्तनपान काल में, विशेषकर पाँचवें मास में पौष्टिक पदार्थों का बाहुल्य होना आवश्यक है।

इस काल में निरन्तर कुछ महीनों तक माता को बच्चे की शीघ्रता से हो रही वृद्धि के लिए प्रोटीन के अतिरिक्त खनिज लवण (विशेषकर कैल्शियम) अधिक मात्रा में अपेक्षित हैं।

इस सम्बन्ध में धात्री-शिक्षा की निम्नलिखित तालिका से शिशु के लिए कैल्शियम की आवश्यकता का पता लगता है—

आयु (मास)	कैल्शियम की पूर्ति (प्रति सप्ताह)
३	१.९ से २.२ ग्राम
६	२.५ से २.७ ग्राम
९	२.७ से ३.० ग्राम

मिश्रीगन (अमेरिका) के एक बाल-चिकित्सालय में तीन स्तन-पान कराने वाली स्त्रियों पर इसका प्रयोग किया गया। वे समस्त गृह-कार्य करती थीं और स्वेच्छानुसार भोजन करती थीं। उनके आहार में दूध की मात्रा पर्याप्त थी, जिससे १/४ भाग कैल्शियम व आधे से अधिक फास्फोरस की पूर्ति होती थी। शिशु के लिए उनका दूध भी काफी होता था। किन्तु उनके शरीर से २ से ४ ग्राम तक कैल्शियम प्रतिदिन निकल जाता था। स्तनपान काल के कुछ मास तक तो उनके अन्दर कैल्शियम की मात्रा सन्तुलित रही परन्तु उसके पश्चात् उनके आहार में एक विशेष खाद्य को सम्मिलित कर देने पर भी उस सन्तुलन को बनाए रखना कठिन हो गया। इससे भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दूध पिलाने वाली माता के लिए इस तत्त्व की कितनी अधिक मात्रा में आवश्यकता है ? साधारणतः चिकित्सक स्तनपान कराने वाली माता के लिए प्रतिदिन २ ग्राम कैल्शियम, २ ग्राम फास्फोरस, १५ मिलीग्राम लोहा, १ मिलीग्राम आयोडीन लेना आवश्यक बताते हैं। विटामिन भी प्रोटीन व कैल्शियम से कम महत्व की नहीं।

चारों विटामिन ए, बी, सी और डी शरीर वृद्धि व विकास के और स्वास्थ्य तथा नीरोगिता के लिए माता व शिशु दोनों के वास्ते नितान्त आवश्यक है, अतः स्तनपान काल के आहार में दूध, दही, हरे शाक, फल आदि का प्रचुर मात्रा में होना आवश्यक है।

शौचादि—इस काल में प्रायः कोष्ठबद्धता (कब्ज) हो जाती है। अतः नियमित एवं सन्तुलित आहार व व्यायाम पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। भोजन में हरे शाक, फल, चोकर सहित आटे की रोटी आदि लाभकारी है। प्रातः उठते ही एक गिलास पानी पीना उत्तम उपाय है। स्वच्छ वायु में टहलना व नित्य-नियम से शौच जाना प्रत्येक माता की आदत का आवश्यक अंग होना चाहिए।

स्नान—प्रातः ६ बजे के पश्चात् तथा १० बजे से पूर्व स्नान अवश्य कर लेना चाहिए। इस समय कार्य की अधिकता से बहुत पसीना आ जाता है, अतः पूर्णतया स्वच्छ होकर ही शिशु को १० बजे का दूध पिलाना चाहिए। अन्दर पहनने की चोली आदि को नित्य बदलकर धो डालना चाहिए।

निद्रा व विग्राम—इस काल में निर्विघ्न निद्रा आवश्यक है। बच्चा जब एक मास का हो जाये, उस समय से धीरे-धीरे रात्रि को दो बजे का स्तनपान बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। इस प्रकार माता को रात भर प्रगाढ़ निद्रा-लाभ का अवसर मिल जायेगा। रात्रि में ८ घण्टे तथा दिन में १ घण्टा सो लेना माता के लिए अत्यन्त लाभकारी है। शक्ति अवस्था में माता बच्चे का कभी भी उचित पोषण नहीं कर सकती।

यदि बच्चा किसी कारणवश रात्रि में एक-दो बार जागता है तो माता के स्थान पर पिता अथवा अन्य कोई

परिजन उसकी देखभाल कर सकता है। माता व शिशु दोनों के स्वास्थ्य के लिए उचित है कि बच्चे को पृथक् बिस्तर पर सुलाया जाये।

कार्यभार—स्तनपान काल में माता को अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिए तथा गृहस्थी के कार्यों में अन्य किसी की सहायता लेना उचित है। अति कार्य संलग्नता, दूध की मात्रा को कम कर देती है। इसका कारण यह है कि जो भोजन खाया जाता है, वह परिश्रम के आधिक्य से शरीर की व्यय हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने में लग जाता है और फलस्वरूप शिशु के निमित्त आवश्यक पोषक तत्वों में कमी पड़ जाती है। अतएव प्रत्येक साधारणतः स्वस्थ माता को सवा महीने तक तथा अत्यन्त दुर्बल माता को कम से कम ६ मास तक यथेष्ट आराम की आवश्यकता होती है। परिस्थितिवश यदि माता के लिए सभी गृह-कार्यों का सम्पादन अनिवार्य है तो थोड़ी-थोड़ी देर बाद ५-१० मिनट के लिए लेटकर आराम करने से शरीर में शक्ति का पुनः संचार हो जाता है।

स्वच्छ वायु एवं व्यायाम—माता के लिए प्रतिदिन स्वच्छ वायु में टहलना एवं साधारण व्यायाम करना बहुत लाभकारी है। घर में फुलवारी आदि लगाना तथा थोड़ा-बहुत साग-सब्जी उगाना भी अच्छा व्यायाम है। शीत-ऋतु में दोपहर को कुछ देर धूप-सेवन भी दूध की मात्रा को बढ़ाने तथा माता के स्वास्थ्य के स्थायित्व में सहायक होता है।

सन्तान के व्यक्तित्व का आरम्भ

फ्रांस के राज्यतन्त्र की स्वेच्छाचरिता और निरंकुशता के विरुद्ध वहाँ की जनता ने सन् १७८९ ई. में आवाज उठायी। जन-क्रान्ति हुई और कर्तव्यविमुख, स्वार्थलोलुप सम्राट को फाँसी की सजी दी गई। तदुपरान्त वहाँ के क्रान्तिकारी नेताओं ने शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। लेकिन स्थिति अभी निरापद नहीं हुई थी। आस-पास के देशों और राज्यों में सत्तासीन राजाओं को फ्रांस का यह घटनाक्रम असह्य लगा। जनता की चेतना और शक्ति का आदर्श उदाहरण कहीं अपने देश की प्रजा को भी जागरूक न बना दे, इसलिए उन्होंने जनतान्त्रिक फ्रांस के दमन की सम्मिलित योजना बनायी।

आस-पास के सभी स्वेच्छाचारी शासकों ने मिलकर फ्रांस पर हमला बोल दिया। कुछ समय पूर्व ही हुई जन-क्रान्ति के कारण फ्रांस अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को सशक्त बना भी नहीं पाया था कि इस अनपेक्षित आक्रमण का सामना करना पड़ा, सैनिकों ने गाँववासियों और नगरवासियों पर पाशविक अत्याचार किये। नागरिक विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए घरों से बाहर निकल पड़े। देशभक्तों ने जीते-जाये की शपथ ली और अपने स्त्री-बच्चों को यथास्थिति छोड़कर विदा हो गये।

इधर सैनिकों ने गाँव के गाँव उजाड़ डाले। घरों की महिलाएँ अपनी रक्षा के लिए जंगलों में भाग गयीं। इन भागी हुई औरतों में से ही एक कोर्सिका द्वीप की निवासिनी एक महिला गर्भवती भी थी। गर्भवती होने के कारण वह दूर जंगल में सुरक्षित स्थान तक पहुँच नहीं पायी। इसलिए समीपस्थ पहाड़ी इलाके में ही उसे शरण लेनी पड़ी। चारों ओर से तोपों तथा बन्दूकों की गड़गड़ाहट, बन्दूकों की आवाज और कदमताल करते सैनिकों की पदचाप सुनाई देती थी। दिनभर उसकी स्मृति इन्हीं दृश्यों से भरी रहती थी। वह कभी सोचती काश इन नर-पिशाचों से बदला लेने के लिए वह भी हाथ में शस्त्रास्त्र लेकर मुकाबला कर सके। शरीर की विवशता और प्रतिरोध-क्षमता के अभाव में वह अपनी इस इच्छा को मूर्त रूप तो नहीं दे सकी। परन्तु दिन-रात हृदय में उमड़ने वाले भावों और संकल्पों ने गर्भवस्थ शिशु को प्रभावित किया और जब बच्चे ने जन्म लिया तो आगे चलकर गर्भकाल के संस्कार ही विकसित होकर उसके सम्पूर्ण जीवन और व्यक्तित्व पर छाये रहे।

आसपास के वातावरण से गर्भवास में प्रभावित होने वाला वह बालक नैपोलियन बोनापार्ट के नाम से विख्यात हुआ। इस साहसी वीर पुरुष का जीवन युद्ध और संघर्षों में ही बीता। लगातार दिन-रात घोड़े की पीठ पर बैठे रहना और शत्रु का मुकाबला करना उसके लिए सहज था। कहने का तात्पर्य यह है कि गर्भिणी की मनोवस्था का शिशु पर असंदिग्ध रूप से प्रभाव पड़ता है।

साहसी और वीर सन्तान के लिए माता को अपनी भाव-भूमिका उस काल में इसी प्रकार की रखनी चाहिए। कहा जा सकता है कि वे परिस्थितियाँ तो सभी के लिए उपलब्ध और सम्भव नहीं हैं। मूल बात परिस्थितियों से सम्बन्धित नहीं है, वह तो मनोभूमि की स्थिति और अन्तर्वस्था का प्रभाव है, जो शिशु को तदनु रूप व्यक्तित्व प्रदान करता है। परिस्थितियाँ मात्र सहायक होती हैं, आधार नहीं।

फिर भी वातावरण के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। गर्भवती स्त्री जैसे वातावरण और परिस्थितियों में रहेगी, उनके सम्पर्क की प्रतिक्रिया अवश्यमेव तो होगी ही। इसलिए संसारभर के बुद्धिजीवियों तथा मनीषियों ने श्रेष्ठ सन्तति के लिए गर्भिणी की दिनचर्या से लेकर मनःस्थिति, भावभूमिका और हृदयावस्था की ओर विशेष ध्यान देने पर जोर दिया है।

चूँकि गर्भिणी के आस-पास का वातावरण उसने स्वजन तथा परिवार के सदस्यों से ही विनिर्मित होता है। अच्छी सन्तान के लिए स्थान बदलने या किसी सुन्दर और सुरम्य प्राकृतिक छटाओं में रहने की बात न तो सुविधाजनक है और न ही व्यावहारिक। घर के लोगों से दूर चले जाने पर शिशु के पलायनवादी या असामाजिक बनने की ही सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए उचित

यही है कि माँ बनने जा रही स्त्री के निकट सम्पर्क में रहने वाले लोग ही ऐसा वातावरण निर्मित करें, जिसमें गर्भिणी प्रसन्न, उत्साहित, आदर्श और स्निग्ध स्वभाव की बनी रहे।

शरीर पर विशेष भार पड़ने से उन दिनों महिलाएँ विशेष संवेदनशील हो जाया करती हैं। वैसे भी स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक भावुक होती हैं। इसलिए परिजनों को उन दिनों विशेष रूप से यह सावधानी रखनी चाहिए कि गर्भवती स्त्री परिवार की समस्याओं, स्वजनों के सम्बन्ध तथा अन्य स्थिति घटनाओं के कारण खिन्न न हों। इसके लिए यही किया जा सकता है कि ऐसी बातों की सूचना और चर्चा गर्भिणी से न की जाय। परन्तु इससे भी अधिक ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि अन्य स्रोतों द्वारा समस्याओं से अवगत होकर कहीं वह चिन्तित तो नहीं रह रही है।

प्रायः परिवार तथा पड़ोस की महिलाएँ आदतन ऐसी चर्चाएँ चलाती रहती हैं, जिनसे गर्भिणी की भी अन्य लोगों की तरह घर की तथा बाहर की स्थिति का पता चल जाता है। भले ही वह उनकी चर्चा किसी ने न चलाये लेकिन अन्दर ही अन्दर तो चिन्तित और उद्विग्न बनी रहती है। इस दुष्प्रभाव से बचाने के लिए उनके पतियों को गृहिणी का अन्तर टटोलते रहना चाहिए। औरतें तनिक भी सहानुभूति जताने या प्रेम-स्नेह व्यक्त करने वाले के सामने शीघ्र ही खुल जाती हैं। सर्वाधिक निकट आत्मीय होने के कारण पति से तो वे और भी खुली होती हैं—इसलिए यह काम पति अच्छी तरह आसानी से कर सकता है। घर के और भी सदस्य अपना पारिवारिक दायित्व समझकर इस दिशा में सचेष्ट रहे तो बड़ा ही अच्छा है।

जीवनभर स्त्री को अपने पति का अनन्य प्रेम और सहयोग तो अपेक्षित है ही सही। यह क्रम सामान्य गति से चलता रहता है, परन्तु उन दिनों जब गृहिणी माँ बनने वाली होती है पति के दुलार और प्रेम की आकांक्षा और अधिक जागृत होती है। लेकिन सामान्य घरों में पति को गर्भिणी की ओर से निरपेक्ष तथा उदासीन ही देखा गया है। इस काल में कुछ कारणों से पुरुष पत्नी पर इतना ध्यान नहीं देते, विपरीत वे नीरस व्यवहार भी करने लगते हैं। कारण चाहे जो भी हो, यह अनुचित और गर्भिणी तथा भावी सन्तान के लिए परिणाम में अलाभप्रद ही रहते हैं।

होना तो यह चाहिए कि पुरुष-स्त्री को बातचीत और व्यवहार से प्रेमप्रदर्शन कर सन्तुष्ट रखने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझें, वरन् सामान्य कामकाज और गृह-व्यवस्था में भी पत्नी का हाथ बैठाकर अपना दायित्व पूरा करें। किसी भी प्रकार दुराव-छिपाव न रखकर सभी कार्यों को पत्नी के परामर्श से सम्पन्न करें। उसकी आवश्यकताओं, रुचियों और इच्छाओं को पूरा करने, तृप्त रखने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहें।

गर्भवती के प्रति परिजनों को भी सहयोग और सहानुभूति से भरी व्यवहार नीति अपनानी चाहिए। घर की अन्य महिला सदस्याएँ स्त्री स्वभाव से गर्भवती के प्रति ईर्ष्यालु हो सकती हैं। प्रयत्न यह किया जाय कि इस मनोभूमि की स्त्रियाँ भी अपने कलहपूर्ण दुर्व्यवहार को कम से कम उस अवधि के लिए तो पूर्णतया रोक दें। ससुराल में विशेष रूप से सास-बहू, ननद-भौजाई और देवरानी-जिठानी के परस्पर सम्बन्धों की-सी खेदपूर्ण स्थिति, इस काल में गम्भीर रूप से हानिकारक होती है। सम्भवतया इन्हीं कारणों से ग्रामीण परिवारों में प्रथम प्रसव के समय बहू को मायके भेज देने का रिवाज है। मायके जैसी स्थिति ससुराल में ही बनायी जा सके तो भावी सन्तान परिवार के प्रति विशेष रूप से दायित्व और आत्मीयता अनुभव करने, निभाने वाली होगी।

प्रायः ऐसा होता भी देखा गया है कि गर्भवती के पास रहने वाली स्त्रियाँ प्रसव वेदना का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करती हैं। इससे गर्भवती स्त्री प्रसव को नितान्त अस्वाभाविक और स्वास्थ्य को चौपट कर देने वाली प्रक्रिया समझ लेती है। उनके मन में मातृत्व का उत्साह मर-सा जाता है। कल्पित भय और प्रसव वेदना का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन गर्भिणी को त्रस्त कर देता है। मानसिक बल टूटने के साथ सन्तान के पौरुष, शौर्य और बल विश्वासी बनने की सम्भावना भी इससे समाप्त होती है, इसलिए प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि गर्भवती स्त्री प्रसव को एक स्वाभाविक और आवश्यक मान सकने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहे। वस्तुतः यह कोई काल्पनिक सिद्धान्त है भी नहीं। सृष्टि के सभी प्राणी उसी सहजता से प्रसव कर अपने जीवनक्रम को शीघ्र ही व्यवस्थित कर लेते हैं। प्रसवोपरान्त आयी अशक्तता और क्षीण शरीर स्थिति में यदि यही वातावरण अधिकांश कारण माना जाय तो गलत वही होगा।

गर्भवती के अभिभावकों का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह होने वाले बच्चों के प्रति माँ की ममता और औत्सुक्य जगाते रहने का प्रयास करें। बच्चों के छोटे-छोटे कपड़े, ओढ़ने, बिछाने के छोटे गदिया, गुदड़ी, गिलाफ, नैपकिन उसी के हाथों तैयार करवाये जायें। प्रसूता के विशेष आहार का कूटना, पिसना भी गर्भवती के ही हाथों से सम्पन्न हो तो भी यह उत्साह बना रहने में सहायता मिल सकती है।

व्यवहार आत्मीयतापूर्ण तो रहे परन्तु लाड़-प्यार की मात्रा भी सीमा को लॉघ न जाये—यह ध्यान भी अवश्य रखना चाहिए। मायके में अथवा बहू को बेटी मान-समझकर रखने वाले परिवारों में गर्भिणी को बिल्कुल भी काम नहीं करने दिया जाता। आलसी और विश्रान्त स्थिति में ही गर्भवती स्त्री को रखते हुए यह भले ही उसे दुलारा, लाड़ किया जा रहा है परन्तु यह लाड़-दुलारा उसके हित में नहीं। दिनभर सोते रहने वाली स्त्रियों को

असह्य प्रसव वेदना तो भोगनी ही पड़ती है, उनकी सन्तान भी आलसी और दीर्घसूत्री निकलती है।

गर्भवती स्त्री के अंग-प्रत्यंग का समुचित रूप से श्रम होता रहे यह आवश्यक है। हो सके तो उसके लिए व्यायाम आदि की व्यवस्था भी करनी चाहिए। कम से कम प्रति प्रातः-सायं जो समय उपयुक्त रहे, घूमने-टहलने का क्रम बनाया जाना चाहिए। शरीर श्रम से गर्भवती की शक्तियाँ और पेशियाँ जहाँ स्वस्थ, स्फूर्त और मजबूत बनेंगी, वहीं भावी जातक भी श्रमशील, शक्तिशाली, हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रहेगा।

माँ बनने का विशेष उत्तरदायित्व गर्भवती पर ही आता है। इसलिए भावी सन्तान के निर्माण में सर्वाधिक मनोयोग और प्रयत्न करना भी उसी के लिए आवश्यक है। परिजनों का व्यवहार, आस-पास का वातावरण और पति का प्रेम प्रदर्शन ठीक प्रकार से होते रहने पर भी गर्भवती स्त्रियाँ स्वयं के प्रति सचेत न रहें तो कोई लाभ नहीं होने का। स्वजन-बांधव उसके सम्मुख प्रेरणादायी स्थितियाँ प्रस्तुत करें यह तो ठीक है परन्तु रुचि तो गर्भवती को ही लेनी होगी। सत्शास्त्रों, प्रेरक, प्रसंगों, शुभ विचारों, उदात्त चरित्रों तथा मानवीय आदर्शों से सम्पुटित पुस्तकों, साहित्य, चित्रों और घटनाओं का चिन्तन-मनन और अध्ययन चलता रहे तो समझना चाहिए कि समाज को एक सुयोग्य सदस्य, देश को एक अच्छा नागरिक देने की आधी मंजिल तय कर ली है।

उस समय माता विधाता-ब्रह्मा की भूमिका निभा रही है। माँ बनना गौरव की बात है, परन्तु श्रेष्ठ सन्तान की माता बनना सौभाग्य की बात है। जिस दिन से बालक गर्भ में आ जाता है—गर्भिणी को अपने व्यवहार, विचार और रहन-सहन में कई विधि-निषेधों को पालन करना पड़ता है। किन-किन बातों में क्या-क्या परिवर्तन किये जाएँ यह एक अलग विषय है ? इसकी एक मोटी कसौटी है, जिन विचारों, भावनाओं और आदतों का विकास अपनी सन्तान में देखने की आकांक्षा है, उन्हें प्रधान महत्व दिया जाय और जिन बातों तथा कमजोरियों से अपने बच्चों को बचाना चाहते हैं, उनका सर्वथा निषेध कर दिया जाय।

कहना नहीं होगा मातृत्व और पितृत्व एक लम्बी साधना तथा दायित्व की क्षमता, अनुभूति की आवश्यकता रखता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए कभी निराश नहीं होना पड़ता।

सन्तान के रूप में माता-पिता समाज और राष्ट्र को एक ऐसा व्यक्तित्व प्रदान कर सकते हैं, जिसके द्वारा समाज एवं देश का भारी हित सध सकता है। क्षणिक वासना के आवेग को तृप्त करने के परिणामस्वरूप, उत्पन्न हुई सन्तति न स्वयं के लिए लाभदायक होती है और न परिवार तथा समाज के लिए ही। इस आधारभूत सिद्धान्त को सदैव गम्भीरता से ध्यान में रखना चाहिए।

बच्चों के सुशिक्षण का शुभारम्भ

कहा जाता है कि बालक माता-पिता के गुण-सूत्रों के आधार पर विशेषताओं से युक्त होते हैं। यह कथन आंशिक रूप से सही रहा है। यह तथ्य आकृति के रूप में किसी अंश तक सही माना जा सकता है, किन्तु प्रकृति के स्वभाव के बारे में यह प्रभाव बहुत कम अंशों में ही शेष रह जाता है।

गर्भावस्था में प्रवेश करते ही जीव माता के पेट रूपी आँवे में पकने लगता है। इस अवधि में माता की शारीरिक और मानसिक स्थिति का भ्रूण पर असाधारण प्रभाव पड़ता है। यदि माता अस्वस्थ, खिन्न, उद्विग्न रहेगी तो नौ महीने तक बालक पर वैसे ही संस्कार जमते रहेंगे और जन्मने के उपरान्त बच्चा भी इन्हीं विषमताओं से घिरा रहेगा।

बच्चा क्या है ? इस सम्बन्ध में यदि गुण-सूत्रों की गहराई तक न जाया जाय तो मोटे अर्थों में यही समझा जा सकता है कि उसके बिन्दु कलल से बढ़ते-बढ़ते संसार के वातावरण में रहकर जीवित रह सकने की स्थिति तक पहुँचने में माता का योगदान ही प्रमुख होता है। उसी का रस-रक्त बालक के शरीर का गठन करता है। इतना ही नहीं उसका चिन्तन, स्वभाव, दृष्टिकोण आदि ही तदनु रूप ढलता और बनता है। लवकुश, भरत चक्रवर्ती, शिवाजी, नैपोलियन आदि के व्यक्तित्वों पर उनकी माताओं की ही विशेषताएँ सवार रही हैं। पिता का पराक्रम तो मकरध्वज, घटोत्कच, अष्टावक्र, अभिमन्यु आदि में ही दीख पड़ा था।

वास्तविकता यह है कि माता की शारीरिक या मानसिक स्थिति में प्रसन्नता, दृढ़ता एवं विशिष्टता लाने में पिता का माता के प्रति सद्भाव ही प्रधान रूप से काम करता है। यदि दोनों के बीच मनोमालिन्य-विद्वेष रहे तो फिर उन परिस्थितियों में बालक की स्थिति भी विपन्न बनी रहेगी और जन्मने के उपरान्त वह आशाकारी, सद्गुणी एवं अनुशासित न रहेगा।

अपनी निज की शारीरिक, मानसिक स्थिति अच्छी रखने में सफल रहने वाली माताएँ गुणवती सन्तान को जन्म देती हैं। इस कार्य में इस विशेष अवसर पर पिता को अपनी गतिविधियाँ ऐसी रखनी चाहिए कि पत्नी पर किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पाये। स्नेह और सहयोग प्रदर्शन में वातावरण अनुकूल बनाये रहने में पिता का सामर्थ्य भर प्रयत्न करना चाहिए। पत्नी की दिनचर्या—विधि-व्यवस्था ऐसी रहे जिसमें न केवल उसका स्वास्थ्य सही रहे, वरन् मानसिक स्थिति भी विनोद, उत्साह और प्रसन्नता से भरी रहे। सम्भव हो तो पिता को प्रसव के दिनों में पत्नी का साहस बढ़ाने एवं डर निकालने के लिए अपनी उपस्थिति निकटवर्ती बनाये रखनी

चाहिए। उन दिनों की उपेक्षा, विशेषतया प्रतिकूल स्वभाव उत्पन्न करने वाली होती है।

जन्मे के बाद बालक सर्वथा अनजान होता है। सांसारिक रीति-रिवाजों से उसका परिचय नहीं के बराबर होता है। गर्भ-बन्धनों और प्रसव के उपरान्त सर्वथा अजनबी वातावरण में प्रवेश उसके लिए भय एवं कौतूहल का कारण होता है। इन दिनों वह कोरे कागज की तरह होता है, जिस पर माताएँ चाहे जैसा अंकन कर सकती हैं। पेट में साथ-साथ नौ महीने तक उसका स्वाभाविक परिचय माता के साथ ही होता है। मात्र उस अकेली को वह पहचानता है और अपनी सुरक्षा एवं सहायता के लिए पूरी तरह उसी पर निर्भर रहता है।

माता का शिशु को पास बुलाना एवं दूध पिलाना प्रायः वैसी ही स्थिति उत्पन्न करता है, जैसी कि गर्भावस्था में घनिष्टता और निर्भरता थी। अतएव इन दिनों में माता को कष्टकारक स्थिति से उबारने में परिवार के लोगों को विशेषतया पिता का सहयोगी बनकर रहना चाहिए। आशवासनों और सुविधाओं के लिए ठीक यही उपयुक्त समय है। उसे सही रूप में सँभाल लेने पर न केवल प्रसूता अपने खोये हुए स्वास्थ्य की क्षतिपूर्ति कर लेती है, वरन् विचित्र परिवर्तन से आश्चर्यचकित नवजात शिशु को आश्वस्त करती है।

अपने देश में अनभिज्ञता के कारण कई विचित्र रिवाज प्रचलित हैं। जच्चा को खुली हवा न लेने देना, तेल-घी, मिठाई, मैदा से बने हुए लड्डू खिलाना, प्रसूति के कमरे में भूत-प्रेत भगाने के लिए आग जलती रखना—यह सभी प्रचलन आदि से अन्त तक गलत हैं। किन्तु वृद्धाओं ने जो देखा है, वे उसी अनुभव को सब कुछ मानकर प्रसूता को एक प्रकार से हैरान करती हैं। यों वे यह सब शुभ-चिन्तक के नाते करती हैं, पर उससे होता अनर्थ ही है। गन्दे वातावरण में, गन्दे कपड़ों से लिपटे हुए दम घुटने जैसे वातावरण में रहने के कारण जच्चा-बच्चा दोनों ही संकट में फँसते हैं। उन्हें स्वच्छ हवा और हल्के भोजन की आवश्यकता पड़ती है। बच्चे को घुड़ी आदि पिलाते रहना उसके स्वास्थ्य को खराब करना है।

पालन-पोषण में किन सतर्कताओं की आवश्यकता है, यह समस्त विवरण धात्री पुस्तकों से जाना जा सकता है या किसी सुशिक्षित नर्स से पूछा जा सकता है। दुर्बलों और बीमारों की जैसी परिचर्या की जानी चाहिए उसी से मिलती-जुलती व्यवस्था सद्यः प्रसूता एवं उसके बालक को भी उपलब्ध होनी चाहिए।

इन पंक्तियों में जच्चा-बच्चा प्रसंग के क्रिया पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा है, वरन् यह कहा जा रहा है कि आदतों में जो उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, उनकी देख-रेख कैसे करनी चाहिए ? उस शुभारम्भ का उपयुक्त मुहूर्त कौन-सा है ? गर्भकाल में बच्चा इतना सक्रिय होता

है कि मात्र नौ महीने की अवधि में अपनी समग्र संरचना परिपूर्ण कर लेता है। मिनट-मिनट पर वह स्वरूप को बदलता रहता है। इतना ही नहीं वह माता से शारीरिक पोषण प्राप्त करने के अतिरिक्त उसके स्वभाव और दृष्टिकोण को भी अपने में उतारता रहता है। यह क्रिया प्रसव के बाद भी जारी रहती है और जब तक वह माता पर आधारित रहता है, तब तक उसके मनःस्थान से ही तेजी के साथ प्रभाव ग्रहण करता रहता है।

देखा गया है कि छोटे बच्चे थकान उतारने के लिए अधिक समय सोये पड़े रहते हैं पर उनकी चेतना तब भी काम करती रहती है और जिस वातावरण में रहते हैं उसका भावनात्मक स्वर अप्रत्यक्ष रूप से चूसते रहते हैं और अपना स्वभाव विनिर्मित करने में लगे रहते हैं।

अनगढ़ आदतों में मल-मूत्र का यथासमय और यथास्थान न कर पाना—गन्दगी और स्वच्छता का अन्तर न समझ पाना, चिड़चिड़ाता और जोर-जोर से देर तक चिल्लाना, क्रुद्ध मुद्रा में हाथ-पैर पीटना जैसी आदतें प्रकट होने लगती हैं। यह निषेधात्मक दौर है। जिनके व्यक्तित्व विधेयक स्तर की ओर चलते रहते हैं। वे जाग्रत या प्रसुप्त स्थिति में हँसते-मुस्कराते हैं। अपनी भूख या मल त्याग, ठण्डक, गर्मी, मक्खी-मच्छर आदि की आवश्यकताओं को भगाने के इस प्रकार के अंग-संचालन करके संकेत करते हैं कि मनोयोगपूर्वक अनुमान लगाने पर उनकी इच्छा का पता चल सकता है, यहाँ तक कि उनका कोई अंग-अवयव पीड़ित हो रहा हो तो सांकेतिक भाषा समझने का अभ्यास करने पर वस्तुस्थिति का पता चलने लगता है। दोनों के बीच एक बेतार का तार काम करता रहता है और एक-दूसरे की मनःस्थिति का परिचय प्राप्त करते रहते हैं। प्रिता अथवा जो उसे हँसाने-खिलाने में सहयोग दान दे वह भी उसी परिधि में आने लगता है।

भावनात्मक संकेत पहुँचाकर लगभग उसी प्रकार शिक्षण दिया जा सकता है, जिस प्रकार बोलने-समझने वाले बालक को कह-सुनकर अच्छी आदतें अपनाने और बुरी आदतें छोड़ने के लिए प्रेरित किया जाता है। नियमित, अनुशासित और प्रसन्न रहने की, शान्ति से रहने और रहने देने की आदतें यदि कोई चाहे तो उस आयु में ही सिखा सकता है, जिसमें उसका समुचित बौद्धिक विकास नहीं हुआ होगा।

सांस्कृतिक उत्थान की नींव

बाल-उत्थान

भूलों, त्रुटियों और पापपूर्ण जीवन को कठोर तपश्चर्या और गहन पश्चाताप के बाद भी उतना पवित्र और निर्मल नहीं बना सकते जितना प्रारम्भिक जीवन के चरित्र निर्माण से ही मनुष्य का जीवन शुद्ध होता है।

अन्तर्मन में प्रसुप्त कुसंस्कार जब भी अनुकूल परिस्थिति पाते हैं, तभी मस्तिष्क में घोर क्रान्ति उत्पन्न कर देते हैं, जिससे आन्तरिक पवित्रता पर बार-बार मल-विकारों का उतार-चढ़ाव बना रहता है। इस स्थिति के रहते स्वाभाविक उज्ज्वलता आ नहीं पाती। इसलिए भारतीय धर्म का निरूपण करने वाले आचार्यों ने यह व्यवस्था पहले ही बना दी थी कि लोगों के चरित्र उनके शैशवकाल में ही दृढ़ कर दिये जाएँ। आयु बढ़ने के साथ उनमें चारित्रिक प्रौढ़ता आती जाती थी। ऐसे मनुष्य ही आगे चलकर महान, मनस्वी, तेजवान तथा आत्म-बल सम्पन्न होते थे। जब तक यह परम्परा देश में यथावत् चलती रही, तब तक यहाँ सुख-शान्ति और समृद्धि में किसी बात में कमी नहीं रही।

किन्तु आज जिस रूप में बालकों को इतना उपेक्षित देखते हैं, उससे प्रत्येक विचारवान को गहरा धक्का लगता है। बालकों के नैतिक अपराध आज जिस गति से बढ़ रहे हैं, उन्हें देखते हुए, समाज-सुधारकों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही है। स्वभाव में जब द्वेष तथा दुर्गुण गहराई तक जम जाते हैं, तो यदि किसी प्रकार के सुधार के कार्यक्रम बनाये भी जाएँ तो उनमें भारी शक्ति लगाकर भी मनोवांछित सफलता मिलती नहीं है। व्यावहारिक कठिनाई यह है कि हमारे अभिभावक इस जिम्मेदारी को उदारतापूर्वक वहन नहीं करते। अधिकांश को तो इस विषय में ज्ञान ही नहीं होता कि बालकों का चारित्रिक विकास किस प्रकार करें ? स्वेच्छाचारी बालक समाज के द्वेष-दुर्गुणों को ही ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि यही सब तो उनके आस-पास जमा होते हैं। बालकों का निर्माण गर्भावस्था में आने से ही होने लगता है। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही भारतीय आचार्यों ने संस्कार-पद्धति चलाई थी। इससे बालकों के नैतिक-प्रशिक्षण में किसी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी।

दार्शनिक सुक्रात के पास एक स्त्री गई। उसने पूछा गुरुदेव ! अपने बच्चे की शिक्षा मैं कब से प्रारम्भ करूँ ?

“बच्चे की उम्र क्या है ?” सुक्रात ने पूछा।

“चार वर्ष।” स्त्री ने सरलता से उत्तर दिया।

“तब तो आप चार वर्ष नौ माह, बच्चे को शिक्षा देने में पीछे रह गईं।” सुक्रात ने उसका समाधान किया। माता के आहार-विहार आदि से बच्चे के संस्कार बनने प्रारम्भ हो जाते हैं अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं कि गर्भावस्था से ही बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। हमारे यहाँ यह पद्धति क्रमिक और वैज्ञानिक थी। यही कारण था कि घर-घर ध्रुव, ब्रह्माद, भरत, अभिमन्यु जैसे प्रतिभाशाली बच्चे जन्म लिया करते थे। अब उन प्रथाओं के फिर से जाग्रत करने की आवश्यकता है। सांस्कृतिक उत्थान की नींव बालकों के उत्थान से प्रारम्भ

करें तभी चारित्रिक समृद्धि अपने मौलिक रूप में आ सकेगी।

बालकों को संस्कारवान बनाने का अभ्यास उनके गर्भ में आने से ही प्रारम्भ करना चाहिए। माता-पिता की मनोदशा का बालक की मनोदशा पर प्रभाव पड़ता है। माता के शरीर से रस और रक्त लेकर उसका स्वास्थ्य बनता है। उनके रहन-सहन का सूक्ष्म प्रभाव बालकों की आत्मा पर पड़ता है। अतएव खान-पान, रहन-सहन तथा व्यवहार में माता-पिता को गर्भावस्था में बालक के आते ही सात्विकता का पर्याप्त समावेश कर लेना चाहिए। जो माताएँ मिर्च-मसाले, खटाई, तीखे, कसैले बासी भोजन का प्रयोग करती हैं उनके बच्चे अधिकांश क्रोधी, दुष्ट तथा तामसी प्रकृति के होते हैं। वस्त्र, आभूषण, बोली-भाषा आदि का भी गर्भस्थ बच्चे पर प्रभाव पड़ता है। पति-पत्नी में प्रेम और सदाचार न हो तो बच्चे भी दुर्गुणी, नास्तिक तथा चिड़चिड़े प्रकृति के होते हैं। इन सभी बातों का माता-पिता को पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

जन्म लेने के पश्चात् किशोरावस्था में आने तक बच्चा अधिकांश माता के ही संरक्षण में रहता है। उस समय माता की चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का बालक बड़ी सूक्ष्मता से अवलोकन करता रहता है, इसलिए यह समय माता की सबसे बड़ी जिम्मेदारी का होता है। इस अवस्था में बच्चों को भय दिखाना, अपवित्र रखना, उन्हें निद्रा आदि के लिए नशीली वस्तुएँ खिलाना हानिकारक होता है। कामजन्म चेष्टाएँ, क्रोध, कलह आदि का दूषित प्रभाव बालक पर पड़े बिना रहता नहीं। जिन स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक स्नेह, प्रेम और मैत्री की भावना नहीं उनके बच्चे स्वभावतया उदण्ड और स्वेच्छाचारी ही बनते हैं अतएव यह हमेशा ध्यान बना रहे कि आप कोई ऐसी चेष्टा नहीं करते जो बालक के कोमल मस्तिष्क पर अपना बुरा असर जमा ले।

पाँच वर्ष की अवस्था आ जाने पर बालक की ज्ञान-पिपासा बढ़ने लगती है। अभी तक जिन वस्तुओं को मात्र खेल और तोड़-फोड़ की जरूरत समझता था, अब उनके प्रति उसका जिज्ञासा भाव बढ़ने लगता है। इस उम्र में बच्चों को चित्र, कथा, कहानियाँ बहुत पसन्द आती हैं। लोरियाँ व मधुर संगीत की भी उनकी रुचि जाग्रत होती है। इनके लिए वे कभी-कभी हठ भी करते हैं। इस समय बालकों को सुन्दर-सुन्दर चित्र जिसमें महापुरुषों के चित्र, प्राकृतिक दृश्य आदि हों, दिखाने चाहिए। कलात्मक वस्तुओं से अपने निवास को सजाना और बालकों में उसकी रुचि पैदा करना चाहिए। महापुरुषों की जीवनियाँ सरल व सुबोध ढंग से सुनानी चाहिए। करुण, शान्त और मनोरंजक लोरियों से बालकों का मन-बहलाव भी होता है और उनके मनोजगत में सात्विक संस्कारों का आविर्भाव भी होने लगता है। इस अवस्था में चाहें तो बच्चे का मस्तिष्क किसी भी दिशा में लगा सकते हैं।

इस युग में शिक्षा का उद्देश्य अर्थ-उपार्जन हो गया है। अतएव यह तो सम्भव नहीं है कि गुरुकुल प्रथा का एकाएक प्रचलन हो जाये पर इतना तो प्रत्येक अभिभावक कर ही सकते हैं कि बालकों को पूर्ण ब्रह्मचर्य और संयम के साथ रखकर उन्हें शिक्षित तथा विचारवान तो बना दें। अपरिपक्व अवस्था में विवाह या सांसारिक व्यवसाय आदि में लगा देना भारी भूल है। अनुभवहीनता के कारण ऐसे बच्चों का जीवन प्रायः असफल ही रहता है और उन्हें जीवनभर तरह-तरह के दुःख, कष्ट और क्लेश भुगतने पड़ते हैं। गृहस्थ की दुर्दशा का एक जबर्दस्त कारण यह भी है कि गृहस्थ की बागडोर जैसे मजबूत हाथों में पड़नी चाहिए थी वैसे, हाथ मजबूत हो नहीं पाते। अनियन्त्रित घोड़ों वाले रथ की जो दशा होती है, ठीक वैसी ही दुर्दशा उस गृहस्थ की भी होती है जिसके सदस्यों को न तो जीवन जीने की कला ही आती है, न उनमें इतना ज्ञान और अनुभव ही होता है। अन्ध-परम्पराओं के रूप में चल रही आज की गृहस्थियों में किस प्रकार के द्वन्द्व छाये हैं यह किसी से छुपा नहीं है।

शिक्षा मनुष्य के जीवन को सत्यवादी और कर्मशील बनाती है। यह शिक्षा यदि धार्मिकता से अनुप्राणित रहे तो गृहस्थ-जीवन में वह आनन्द आता है कि मनुष्य की बार-बार भूमि में आकर जन्म लेने की इच्छा होती है। सामाजिक प्रगति और राष्ट्रीय उत्थान के लिए भी यह आवश्यक बात है कि यहाँ का प्रत्येक नागरिक शिक्षित तथा धर्म-दीक्षित बने। शिक्षा मनुष्य का बौद्धिक विकास करती है और आध्यात्मिकता, लौकिक तथा पारलौकिक सुखों का आधार बनाती है। इस प्रकार मनुष्य का इहलोक और परलोक दोनों ही सुधरते हैं। जीवन के समग्र-विकास का सबसे अच्छा उपाय और कुछ हो नहीं सकता।

सांस्कृतिक उत्थान के लिए आत्म-निरीक्षण और जीवन-शोधन के द्वारा अपना जीवन समुन्नत बनाये, पर यह न भूलें कि इतने से ही अपनी संस्कृति को आर्ष-रूप में लाना सम्भव न होगा। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हमारे बालकों का चारित्रिक विकास हो। बालकों का नैतिक-उत्थान होगा तो वह परिस्थितियाँ आते देर न लगेगी, जिनमें हमारे समाज का गौरव फिर से अपने पूर्व रूप में झिलमिलाने लगेगा।

शिशु को आहार और सहयोग ही नहीं स्नेह भी चाहिए

भ्रूण जब तक गर्भावस्था में रहता है तब तक माता से परिपोषण और संरक्षण की सभी सुविधाएँ प्राप्त करता है। इसके उपरान्त संसार क्षेत्र में पदार्पण करने के उपरान्त भी माता से दूसरे प्रकार के अनुदान की आवश्यकता पड़ती है। वह आहार है—प्यार। उसे बहुत समय तक माता को ही देना पड़ता है। उसमें न्यूनता पड़ने पर

बाल-विकास में वैसी ही बाधा पड़ती है जैसी कि गर्भस्थ स्थिति में आवश्यक पोषण न मिलने पर अपंग बना देने जैसी विपत्ति बनकर सामने आती है।

नवजात शिशु और उसकी निकटवर्ती संरक्षिका के बीच प्यार का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान उसी प्रकार चलते रहना चाहिए जैसा कि गर्भावस्था से प्रकृति व्यवस्था के अनुरूप पोषक रसों के रूप में उसे अनायास ही उपलब्ध होता रहता था। जन्म के उपरान्त यह प्रक्रिया विवेकपूर्वक अपनायी पड़ती है और उसके लिए उदारता, सतर्कता एवं भाव-संवेदना की समुचित आवश्यकता पड़ती है। जननी का कौशल इसी स्थिति में परखा जाता है। वह इस अवसर पर दूध ही नहीं उससे भी बढ़कर स्नेह, वात्सल्य एवं श्रम, समय, संरक्षण आदि बहुत कुछ स्वेच्छापूर्वक प्रदान करती है। यदि इस प्रवाह-अनुदान में व्यतिरेक उत्पन्न हो तो बालक का व्यक्तित्व अविकसित रहेगा और शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से पिछड़ेपन की स्थिति में पड़ा रहना पड़ेगा साथ ही माता भी उत्तरदायित्व की उपेक्षा करके वैसा सन्तान सुख प्राप्त न कर सकेगी जैसा कि उसे इस कष्टसाध्य व्यवसाय के बदले प्राप्त होना चाहिए था।

नवजात शिशु की नाल को काटते ही वह एक स्वतन्त्र अस्तित्ववान प्राणी के रूप में अपनी भूमिका निभाने लगता है। प्राकृतिक शरीर रचना के अनुसार वह माँ से अपना सम्बन्ध समाप्त कर लेता है। अब उसका पोषण माँ के रक्त से न होकर माँ के द्वारा दिये गये आहार एवं प्यार से होने लगता है। माँ उस शिशु को देखकर अपने गत कुछ महीनों के स्वप्नों को अब साकार होने की कल्पना करती है कि उसका शिशु जल्दी ही सुयोग्य, बलवान और स्वतन्त्र विचारधारा वाले व्यक्ति के रूप में अपने व्यक्तित्व का विकास करेगा। वह अपने आनन्द की कई गुनी अभिवृद्धि का अनुभव करने लगती है, जब वह देखती है कि उसका शिशु अपनी माता को अन्य परिवार के लोगों से अधिक प्रिय मानता है। उसके आनन्द में फिर वृद्धि होने-लगती है, जब वह देखती है कि उसका शिशु उसके संकेतों को ग्रहण कर उस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगता है।

शिशु अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए पहले अपनी माता से, तत्पश्चात् अपने भाई-बहनों एवं पिता से प्रेम की प्राप्ति करता है और उनके द्वारा ही वह अपनी दुनिया एवं समाज को जानने का प्रयत्न करता है। अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास करने के लिए वह धीरे-धीरे मन्द गति से अपने विचारों को विकसित करने और अपना बोझ स्वयं वहन करने के लिए अपने परिवार वालों के संरक्षण से अलग हटना चाहता है। इस बाल चेष्टा को देखकर माँ अत्यन्त आनन्दित होती है, उसे शिशु का लालन-पालन भार स्वरूप अनुभव न होकर एक आह्लाद भरा कार्य प्रतीत होता है। एक शिशु जो कि अपरिष्कृत स्वकेन्द्रित प्राणी होता है और अपनी सारी

आवश्यकताओं के लिए माँ और परिवार पर आश्रित रहता है, वह अब अपेक्षाकृत स्वार्थहीन, परिष्कृत, सामाजिक इकाई के रूप में विकसित होना चाहता है। इसे ही दूसरे शब्दों में समाजीकरण की प्रक्रिया कह सकते हैं।

वास्तव में शिशु की प्यार पाने की लालसा ही उसके भावी व्यक्तित्व को आकार देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। विभिन्न शोधकर्ताओं ने इस बात को एक स्वर में स्वीकार किया है कि शिशु का मानव से सर्वप्रथम सम्बन्ध ही उसके भावी व्यक्तित्व की आधारशिला है और शिशु सर्वप्रथम अपनी जननी के प्यार के बन्धन में बँधता है। शिशु और उसकी जननी की एक-दूसरे पर आसक्ति ही अधिकतर शोधकर्ताओं का विषय रहा है। शिशु मूलतः मिलनसार नहीं होता। वह अपनी इच्छा की पूर्ति तत्काल चाहता है, किन्तु जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती जाती है, उसे सभ्य समाज का अंग बनने के लिए कई प्रतिबन्धों का पालन करके अपनी अनुचित इच्छाओं का त्याग करना पड़ता है।

मैनेविश्लेषक ओटो फेर्निकेल का मत है कि बालक के प्रेम को प्राप्त करने के लिए माँ बड़े से बड़ा त्याग और बलिदान करने को तत्पर रहती है। इसी प्रकार जब छोटा बालक 'प्यार पाने' में असफल होता है तो वह स्वाभिमान खो बैठता है और प्यार पाकर उसे फिर से प्राप्त कर लेता है और यही उसकी ज्ञान-पिपासा में सहायक होता है। बालक को प्यार पाने की इतनी अधिक आवश्यकता होती है कि उसे प्यार करने का लालच देकर अथवा प्यार न करने की धौंस देकर किसी भी बात के लिए राजी किया जा सकता है।

शोधकर्ताओं ने बताया है कि छोटा बालक अपनी आग्रहपूर्ण माँ के द्वारा अपने माता-पिता के व्यवहार पर अधिकार जमाता है। कुछ माताओं से साक्षात्कार करने पर मालूम हुआ है कि उन्हें अपने शिशु के व्यवहार पर अपनी प्रतिक्रिया आवश्यकता से अधिक व्यक्त करने के लिए विवश होना पड़ता है। शिशु निष्क्रिय रहकर अपनी बात मनवाने के लिए प्रतीक्षा करना नहीं जानता वरन् उसके लिए वह हाथ-पैर मारकर स्वयं प्रयत्न करता है।

आरम्भ में शिशु अपनी माँ को देखकर मुस्कराता फिर हँसता एवं किलकारी भरता है। कुछ दिनों बाद वह आनन्द भरी मुद्रा में उसका स्वागत करता है और बदले में इसी प्रकार प्रतिक्रियाओं की वह अपनी माँ से भी अपेक्षा करता है। माँ अपने बच्चे की कुछ क्रियाओं को प्रोत्साहित और कुछ को निरुत्साहित कर उसके व्यक्तित्व को आकार देती है, किन्तु विविध क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं द्वारा उसके व्यवहार को उसका शिशु भी वास्तविक आकार देता है। जननी और बालक का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही बालक को एक व्यक्ति के रूप में विकसित होने में सहायक सिद्ध होता है। माँ और बालक की मन-स्थिति ऐसी हो जाती है कि उनमें से

कोई भी एक-दूसरे को भुला नहीं सकता। मनोवैज्ञानिकों के परीक्षणों ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है। अपने एक प्रयोग में उन्होंने एक अनजान खाली कमरे में माँ और उसके शिशु को ले जाकर देखा फिर वहाँ से उसकी माँ को हटाया और उसके स्थान पर एक नये अनजान व्यक्ति को जब रखा गया तो उस बालक की विपरीत प्रतिक्रियाएँ देखी गईं।

बालक संकेत करने की कला में सिद्धहस्त होता है। वह अपने संकेत मुस्कराकर, हँसकर एवं बड़बड़ाकर व्यक्त करता है और निश्चयपूर्वक आशा करता है कि इन संकेतों के कारण उसके पास वयस्क लोग आवेंगे और उसके निकट सम्पर्क में रहेंगे। शिशु के कार्य-कलापों की ओर ध्यान देकर उसमें यथासम्भव भाग लेकर उसके बड़बड़ाने में, उसकी मुस्कान में वृद्धि की जा सकती है।

जन्म के प्रथम सप्ताह में ही शिशु लोगों से विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करने लगता है। यद्यपि अभी वह दो व्यक्तियों के बीच भेद करने में असमर्थ होता है। वह किसी भी व्यक्ति के पास आने पर अपनी स्थिति बदलकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। स्थिति बदलते समय वह मुस्कराता है, कसकर मुट्ठी बाँधता है, कभी दृष्टि मिलाता, कभी रोता तो कभी विशेष प्रकार की आवाज को सुनकर चुप भी हो जाता है। चार महीने की आयु होते-होते अपनी माँ के प्रति उसका व्यवहार विशेष प्रकार का होने लगता है। वह अपनी माँ को पहचानने लगता है, उसे देखकर मुस्कराता है और जब वह उसे छोड़कर इधर-उधर जाती है तो अपनी नज़रों से उसका पीछा करता है। मूर्धन्य वैज्ञानिक एवं चिकित्सक डॉ. एच. शेफर तथा डॉ. पेगी इमरसन ने स्कॉटलैण्ड के कुछ शिशुओं पर माँ के प्यार से उनके विकास पर पड़ने वाले प्रभाव पर शोध कार्य किये। उन्हें उनके मध्य आसक्ति का परिचय उस समय मिला जब बच्चे की माँ उसे कमरे में छोड़कर जाने लगती है और बच्चा रोने लगता है तथा उसके साथ जाने का असफल प्रयत्न करता है। रोते बच्चे को चुप कराने के सारे प्रयास विफल होते हैं, परन्तु माँ को पाते ही वह शान्त-चुप हो जाता है। इस कार्य में उसकी माता ही सक्षम होती है। इन अनुसन्धानकर्ताओं के लगभग एक दिन की आयु से लेकर १२ महीने की आयु वाले शिशुओं की ६० माताओं से साक्षात्कार किया और उनसे शिशु की प्रतिक्रिया को एक कमरे में अकेला छोड़ने पर बच्चों द्वारा व्यक्त की गई प्रतिक्रियाओं के बारे में जानना चाहा। उन्हें इस सर्वेक्षण से पता लगा कि छह माह की आयु सीमा के एक-तिहाई बच्चों ने और नौ माह की आयु वाले तीन-चौथाई बच्चों ने अपना विरोध प्रदर्शित किया। भावनात्मक रुचि दिखाने वाले बच्चों पर अध्ययन करने से पता चला कि उनमें से एक-चौथाई बच्चे अपने परिवार के सदस्यों से घनिष्टता से जुड़े होते हैं।

जब बालक अपनी स्वयं की शक्ति से बिना विघ्न के इधर-उधर चलने-फिरने लगता है। तब फिर भी अपनी माँ को अपने नेत्रों के सामने से ओझल नहीं होने देना चाहता। माँ पर अपनी अनुरक्ति उसके पास पहुँचकर उसके पीछे-पीछे चलकर, उसकी गोदी में बैठकर, अपने चेहरे को उसके आँचल में ढककर, अन्य लोगों को छोड़कर उसके पास ही अधिक समय तक रहकर प्रकट करता है। बालक माँ को एक सुरक्षित आधार-स्थल के रूप में प्रयोग करता है और उपन्यास के छापामार पात्र की तरह वह इधर-उधर घूम-फिरकर फिर अपने सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाता है।

अपने शिशु विषयक ज्ञान को बढ़ाने के लिए हमें उसका गहन व सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। शिशु उस व्यक्ति से ही अपना प्रेम बढ़ाएगा, जिससे उसे प्यार और सद्भाव मिलेगा। ऐसा व्यक्ति ही उस बालक को भावनात्मक मोड़ दे सकने में सफल हो सकता है।

मूर्धन्य भारतीय व पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक को ३ वर्ष की आयु से पूर्व किसी भी नर्सरी स्कूल में भर्ती नहीं कराया जाना चाहिए। उनका कहना है कि इस अवधि में नैतिक और मनोवैज्ञानिक शिक्षा उसे अपने माँ-बाप से प्राप्त होती है। इस अवधि में जितनी तद्विषयक शिक्षा उसे अपने माँ-बाप, घर-परिवार से मिल सकती है, उस स्तर की शिक्षा वह विद्यालय के परिवेश में नहीं प्राप्त कर सकता। उसके जीवन का यही वह नाजुक समय होता है, जब किसी अच्छे-बुरे व्यक्ति होने की नींव पड़ती है। इसी काल में उसका भावनात्मक विकास भी होता है। अतः कच्ची मिट्टी की तरह इस काल में बालक को जैसा वातावरण मिलेगा, वह तदनुरूप बन जाएगा।

जन्म से लेकर किशोर होने तक बालक को स्नेह-संरक्षण, सहयोग एवं मार्गदर्शन की नितान्त आवश्यकता रहती है। जो यह सब नहीं पा सकते, वे अविकसित रह जाते हैं और विकृत व्यक्तित्व से अपना और समाज का अहित करते हैं। इसके विपरीत जिन्हें इन आवश्यकताओं की पूर्ति का समुचित संयोग मिलता रहता है, वे सुयोग्य, समर्थ एवं सुसंस्कृत बनते और समुन्नत जीवन-यापन करते देखे जाते हैं। समूचे परिवार का उत्तरदायित्व है कि वे बालक को सुसज्जित रखने, सुविधा देने की ही बात न सोचें, वरन् यह प्रयत्न भी करें कि जिन्हें जन्म देकर सम्मानित अतिथि के रूप में बुलाया गया है, उनकी उन आवश्यकताओं को जुटावें, जिनके लिए वे नैतिक रूप से बंधे हुए हैं। जनक जननी पर तो यह उत्तरदायित्व और भी अधिक होता है। उन्हें इसे समझना भी चाहिए और निभाना भी चाहिए।

शैशव का विकास-क्रम

जीवन क्या है ? आत्मा के साथ शरीर का संयोग। चेतन अजर-अमर है। शुद्ध-बुद्ध है। पर शरीर में अनेक प्रकार की विकृतियाँ, विपन्नताएँ, दुर्बलताएँ तथा रुग्णताएँ उपजती रहती हैं। आवश्यक है कि इसका कारण खोजें, उपचार सोचें और इस प्रयत्न में सफल रहें तो स्वास्थ्य अक्षुण्य बना रहे, यह पूर्णतया सम्भव है। सृष्टि के सभी प्राणी समयानुसार मरते तो हैं, पर बीमार नहीं पड़ते। पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों को मरते तो देखा गया है पर उनमें से कोई बीमार नहीं पड़ता क्योंकि वे प्रकृति का अनुशासन निबाहते हैं। इस प्रसंग में उच्छ्वलता नहीं बरतते। इसलिए उन्हें दुर्बल रहने या बीमार पड़ने की विपत्ति नहीं सहनी पड़ती। एक मनुष्य ही है जो परस्पर ही अनाचार नहीं बरतता वरन् प्रकृति के नियम-मर्यादाओं को भी तोड़ता-मरोड़ता रहता है। इस उच्छ्वलता का दण्ड भी उसे मिलता रहता है। आये दिन बीमारियों का शिकार बनते उसे देखा जाता है। यह उसकी आमन्त्रित विपत्ति है, जो अनायास ही नहीं आती वरन् न्यौता देकर बुलाई जाती है। यदि संयम बरता और अनुशासन में रहा जाये तो प्रकृति इस प्रकार उसे प्रताड़ित न करे जैसे कि अनेकों अधि-व्याधियों से पीड़ित होकर रोते-कलपते देखे जाते हैं।

मनुष्य जीवन का शुभारम्भ उस दिन से होता है जिस दिन कि वह भ्रूण रूप में माता के उदर में आता है। उन दिनों बालक की समस्त आवश्यकता माता पूरी करती और जिम्मेदारियाँ उठाती है। इस सन्दर्भ में प्रथम नियम यह है कि माता स्वस्थ और प्रौढ़-परिपक्व हो। पिता को भी ऐसा ही होना चाहिए। दोनों में जो कोई अवयस्क, दुर्बल, रुग्ण या अविकसित है तो उन्हें गर्भाधान से दूर रहना चाहिए अन्यथा उन्हें भी दुर्बल बालक का भार वहन करना पड़ेगा। अविकसित माता-पिता द्वारा जना गया बालक स्वयं तो शारीरिक, मानसिक दृष्टि से असमर्थ होता ही है। कृशकाय माता को भी त्रास देता है। प्रसवकाल में पीड़ा सहता और देता है। यदि पिता ने इस सम्बन्ध में पहल की है, दबाव डाला या फुसलाया है तो समझना चाहिए कि उसने पत्नी और सन्तान दोनों के साथ अनीति बरती है। अत्याचारी कृत्य किया है। इसका दुष्परिणाम जननी और सन्तान को तो तत्काल भुगतना पड़ता है। आगे चलकर पिता भी उन दोनों की दुर्दशा करने के पाप का दण्ड भुगतता है। दो दुःखियारे उसे कोसते हैं और उपचार का तत्काल करते हैं।

बालक गर्भकाल में ही बनना, विकसित होना आरम्भ कर देता है। वह अपना शरीर और मन माता की स्थिति में से ही हिस्सा बँटाता है। गर्भिणी को अपनी स्थिति भी सँभालनी पड़ती है और बच्चे की संरचना भी करनी होती है। इस दुहरे कार्य की पूर्ति के लिए उसे उपयुक्त आहार-विहार, विश्राम, उत्साह, सन्तोष, सन्तुलन उपलब्ध होना चाहिए। पिता का विशेष रूप से और परिवार का साधारण रूप से यह दायित्व है कि ऐसे साधन जुटावें, ऐसा वातावरण बनावें जिसमें गर्भिणी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से सुखी, स्वस्थ, सन्तुलित

और प्रसन्न रहे। इन साधनों को उपलब्ध करने वाली गर्भवती ही सुविकसित बालक को जन्म देती है। सतर्कता, सुव्यवस्था का प्रथम चरण यही है। भ्रूण स्थिति के बालक को समुन्नत बनाने के लिए उसे धारणकर्त्री को ही अच्छी स्थिति में रहने देना चाहिए, क्योंकि बालक का शरीर माता के शरीर और मन का ही एक भाग होता है।

प्रसव के उपरान्त भी बालक प्रायः माता से ही चिपका रहता है। वही उसे स्तनपान कराती, सर्दी-गर्मी से बचाती, स्वच्छ रखती तथा अपने शरीर की विद्युत-शक्ति से उसकी जीवनी-शक्ति बढ़ाती है। इस स्थिति में भी उसे अपनी साज-सँभाल वैसी ही रखनी चाहिए जैसी कि भ्रूण को पोसते समय रखती थी। शिशु बड़े संवेदनशील होते हैं। वे माता की स्थिति का महत्वपूर्ण अंश सोचते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए माता को स्वयं अपने को अच्छी स्थिति में रहना चाहिए और पति समेत समूचे परिवार को यह ध्यान रखना चाहिए कि जन्मदात्री के माध्यम से बच्चे की शारीरिक और भावनात्मक आवश्यकताएँ पूरी होती रहें। कुपथ्य और आक्रोश बच्चे को प्रभावित करता है। उसे इस प्रकार पोसा जाना चाहिए जिसमें न अतिवाद हो, न उपेक्षा। समय पर हर काम करने और करने की आदत का यहीं से आरम्भ होना चाहिए। कुशल माताएँ इन दिनों-निर्भाई जाने वाली जिम्मेदारियों के सम्बन्ध में समय रहते आवश्यक जानकारीयें उपलब्ध कर लेती हैं और उन्हें कार्यान्वित भी करती हैं। बाल-विकास का यह दूसरा चरण है। बच्चा इस अवधि में प्रत्यक्ष रूप से तो चतुर नहीं होता पर परोक्ष रूप में उसकी अदृश्य क्षमता असाधारण रूप से तीव्र होती है। इसलिए उसे अनजान समझकर समीपवर्ती वातावरण ऐसा नहीं बनने देना चाहिए, जो कोमल किन्तु संवेदनशील बालक पर बुरा प्रभाव डाले।

बालक के बढ़ने के साथ-साथ उसकी आहार-विहार की, विनोद, खेल-कूद की ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिए, जो उसे समग्र रूप में विकसित होने में सहायक सिद्ध हो। जब तक वह पाँच वर्ष का न हो जाये, तब तक नये गर्भाधान की तैयारी नहीं करनी चाहिए अन्यथा प्रथम बालक को मिलने वाला स्नेह-सहयोग टूटकर दो हिस्सों में बँट जाता है। गर्भिणी प्रायः अस्वस्थ रहने लगती है। बालक उस उदासी, कठिनाई से मन ही मन खिन्न रहने लगता है। इन दिनों की यह खिन्नता आगे चलकर उसमें कई कमियाँ उत्पन्न कर देती है। बच्चे के भविष्य के साथ खिलवाड़ करके ही नया बालक बुलाने की जल्दबाजी की जा सकती है।

माता से थोड़ा हटने लगने पर बच्चा परिवार वालों के साथ रमने लगता है। यह समुदाय भी अनगढ़, उजड़ड़, असभ्य नहीं होना चाहिए, अन्यथा उनसे चलना, बोलना, खेलना आदि सीखने के साथ-साथ ही भले-बुरे गुणों का भी हस्तान्तरण होने लगता है। स्कूल जाने लगने पर साथी बच्चों के साथ तो आदान-प्रदान चलता ही है। अध्यापक

सबका अधिपति होने तथा परिपक्व रहने के कारण हर बालक को ज्ञान के साथ-साथ चरित्र भी उपलब्ध कराता है। हेय स्तर के अध्यापक पुस्तकीय शिक्षा भले ही प्राप्त करा दें, पर अपने छात्रों को चरित्रवान, सुसंस्कारी नहीं बना सकते। इसलिए देखना यह भी चाहिए कि जहाँ बालक को पढ़ाया जा रहा है, वहाँ का वातावरण कैसा है ? बालक पूर्व जन्मों के संस्कार तो साथ लाता ही है, पर इसके अतिरिक्त अभिभावकों, परिवारों, साथियों, अध्यापकों का भी प्रभाव उस पर पड़ता है। दस वर्ष की आयु तक पहुँचते वह बहुत कुछ बन और ढल चुका होता है। सतर्कता बरते जाने की यही अवधि है।

दस वर्ष से अधिक आयु होती चलती है तो बालक सम्बद्ध समाज से प्रेरणा लेने लगता है। जैसे आचरण-व्यवहार उसे देखने को मिलते हैं, उसकी नकल बनाने में अधिक उत्साह रहता है। चौदह-पन्द्रह वर्षों के उपरान्त किशोरावस्था आरम्भ होती है। इस समय में व्यक्तित्व उभरने लगता है। महत्वाकांक्षाएँ जागने लगती हैं। उमंगें उठती हैं और विपरीत लिंग के प्रति कामुक आकर्षण बढ़ने की शुरुआत हो जाती है। कुसंग में अधिक आकर्षण होता है। यदि कड़ी निगरानी न रखी गई तो आवारा साथी उसे कुमार्ग पर घसीट ले जाते हैं। जिन्दगी के बनने-बिगड़ने का यही मोड़ है।

सम्पन्न घरों में लोग अपने बच्चों को महँगे पब्लिक स्कूलों में इसलिए पढ़ने भेज देते हैं कि वहाँ अच्छी शिक्षा-सुविधा एवं विशिष्ट लोगों की मण्डली मिलेगी। यह होते हुए भी दो हानियाँ ऐसी हैं, जिनके कारण वह कदम निरर्थक हो जाता है। एक बात यह कि वे अपने अभिभावकों से बिछुड़ जाते हैं। उन्हें समुचित स्नेह नहीं मिल पाता। दूसरा यह कि बड़े लोगों का वह भाव नहीं रहता जो रहना चाहिए। माता, पिता, भाई, बहिन, चाचा, ताऊ, चाची, मामी आदि सभी अनजान विराने जैसे हो जाते हैं। भावनात्मक सम्बन्ध टूट जाने पर मात्र परिचितों जैसी मनःस्थिति हो जाती है। परिवार के प्रति विरानेपन की मान्यता बन जाती है। यह बीजांकुर बड़े होने पर इस प्रकार पनपते हैं कि पारिवारिक उन्नति-अवगति में उनकी विशेष रुचि नहीं रहती। अपने को अलग इकाई मानकर व्यक्तिगत लाभ-हानि की ही बात सोचने लगते हैं। परिवार को तो अपना निर्वाह भेजते रहने का स्रोत भर मानते हैं। दूसरी हानि यह है कि इन पब्लिक स्कूलों में बड़े आदमियों के लड़के पढ़ते हैं। खर्चीली व्यवस्था का अभ्यास उन्हें पड़ जाता है। अपने को बड़ा आदमी मानते हैं। अपनी एक अलग बिरादरी ही बना लेते हैं। अहंकार भी उसी स्तर का हो जाता है। छोटे लोगों के प्रति उपेक्षा और तिरस्कार की वृत्ति पनपती है। आगे चलकर यह एकता और समता का वातावरण बनाने में उसमें घुल-मिल जाने की प्रवृत्ति को पनपने देने में व्यवधान बनाती है।

अच्छा तो यह है कि अभिभावक अपनी व्यावसायिक व्यस्तता में कटौती करें और खेल-मनोरंजन में उन्हें सहभागी बनाने के लिए अपने को बच्चों जैसी मनःस्थिति में उतने समय के लिए रख लिया करें। स्कूली पढ़ाई में जो कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति में उनके साथ रहकर अभ्यास कराएँ। साथ ही चरित्रनिष्ठा और व्यवहारकुशलता के हर पक्ष पर प्रश्नोत्तर करते हुए उनका कर्तव्य ज्ञान बढ़ाएँ। इससे कम में अभिभावक का उत्तरदायित्व निभता नहीं है। बच्चों के व्यक्तित्व विकास को भी इतना ही जरूरी काम समझा जाय जितना कि व्यवसाय को एवं निजी मनोरंजन को समझा जाता है।

जो हर काम को दूसरों से कराते हैं, जिन्हें नौकर रखने की सुविधा है। वे मात्र स्कूली पढ़ाई पूरी करने के लिए मात्र ट्यूटर ही न रखें, वरन् ऐसे सुयोग्य व्यक्तियों की तलाश करें जो गार्जियन (अभिभावक) की भूमिका भी निभा सकें। अभिभावकों को जिस प्रकार बच्चे साथ रखकर हँसने, खेलने, सीखने, सिखाने का क्रम चलाना चाहिए। वैसा ही वे भी कर सकें। स्कूली फीस, पुस्तकें तथा कापी, कलम आदि जुटाने की जिस प्रकार खर्च का प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार एक छोटे बाल मण्डली के पीछे संरक्षक भी रखा जाय तो स्कूल से बचे समय का उस प्रकार उपयोग कराएँ, जिसमें उन्हें भी भार या बन्धन तो प्रतीत न हो पर बातों ही बातों में, खेल ही खेल में उतनी जानकारी मिलती रहे जो सामान्य ज्ञान की अभिवृद्धि का भी प्रयोजन पूरा करे और साथ ही स्कूली पाठ्यक्रम में जो कमी रह गई थी उसकी पूर्ति होती चले। घर के अभिभावक स्कूल के अध्यापक जिस पद पर रहे होते हैं, इसी प्रकार एक तीसरे मध्यवर्ती संरक्षक की भी आवश्यकता है। कुछ कर्तव्य-पालन अध्यापकों से छूट जाता है, कुछ अभिभावकों से। दोनों ही की कमियाँ इस संरक्षक को पूरी करनी है, साथ ही सहचर, सहपाठी जैसी मित्रता का निर्वाह भी करना है। बच्चे का सारा समय तो खप जाय पर उसे यह प्रतीत न हो कि उन्हें सारे दिन बन्धन में जकड़े रहने की स्वतन्त्रता छीन लेने की दुरभिसंधि की गई है। संरक्षण के योग्य वह है, जो हँसाने, खिलाने और पढ़ाने, बनाने की सभी आवश्यकताएँ पूरी करता रहे। समय को देखते हुए ऐसी संरक्षण पद्धति विकसित की जानी चाहिए। इसे अलग-अलग न करके सामूहिक रूप में किया जाय। शान्तिकुंज की बाल संस्कारशाला योजना इसी निमित्त है। इसका महत्त्व समझा जाना चाहिए और कार्यान्वित करने में यदि ढूँढ़-खोज की, व्यवस्था बनाने की, अर्थभार अतिरिक्त रूप से सहने की आवश्यकता पड़े तो उसे बाल-विकास के भारी सत्परिणामों को सोचते हुए करना ही चाहिए। घर के सद्विचारशील और सेवा-निवृत्त सदस्य यदि इस कार्य को अपने जिम्मे ले सकें। घर के बालकों के अतिरिक्त इस मण्डली में पड़ोसियों के बालकों को भी सम्मिलित कर सकें तो और भी अच्छा।

यदि उपरोक्त रचनात्मक कार्य न बन पड़ें तो कम से कम इतना तो ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा सुसंस्कारी परिवार के बच्चों के साथ ही मित्रता करे। इसकी आवारा लड़कों के साथ साँठ-गाँठ न होने पाये। उठती आयु का कुसंग उसके दुष्प्रवृत्तियों का अभ्यासी बना देता है और भविष्य को अन्धकार के गर्त में धकेल देता है। इस स्थिति में पड़ने देने से बचाव करने की परिवारीजन तीखी दृष्टि रखें।

शिक्षा सन्दर्भ कुछ समय पहले तक एक ही दिशा में ले जाता था और सीधा-सादा था। पढ़ाई का अर्थ नौकरी। जब तक शिक्षा कम थी और शिक्षित नौकरों की भी सरकारी और गैर-सरकारी संस्थान में आवश्यकता बनी रहती थी, तब तक कोई बात नहीं थी। थोड़ी पढ़ाई का थोड़ा और बड़ी पढ़ाई का बड़ा लाभ मिलता रहता था। किन्तु अब परिस्थितियों में जमीन-आसमान जैसा अन्तर आ गया है। जिस अनुपात से स्कूल-कॉलेज खुल रहे हैं और उनमें से उत्तीर्ण होकर जितनी संख्या शिक्षितों की निकल रही है। इस हिसाब से न स्थान खाली हो रहे हैं और न नये बन रहे हैं। यही कारण है कि शिक्षितों की बेकारी चरम सीमा तक पहुँच रही है। काम न मिलने पर युवा और विकसित बुद्धि वाला व्यक्ति कुछ न कुछ खुराफत सोचता है। वह न चैन से बैठता है न बैठने देता है। इस सम्भावित स्थिति का प्रत्येक अभिभावक और विद्यार्थी को पहले ही अनुमान लगा लेना चाहिए और विकल्प सोचने के लिए मस्तिष्क पर दबाव डालना चाहिए। दूसरे अनुभवों लोगों से इस सम्बन्ध में पूछताछ करनी चाहिए। शिक्षा में समय भी लगता है और पैसा भी। उठती उम्र में इसके लिए घर वाले भी सुविधा दे देते हैं, पर जब आयु बढ़ जाती है और नौकरी कहीं नहीं लगती तब भारी निराशा होती है और साथ ही सम्पर्क क्षेत्र में भर्त्सना भी सहनी पड़ती है। अच्छा हो कि यह स्थिति आने ही न पाये। पहले से ही यह सोचना चाहिए कि नौकरी नहीं मिलेगी, तब जो काम करना पड़े, उसे आरम्भ से ही सीखना चाहिए। शिल्प व्यवसाय में अभी भी गुंजाइश है। भविष्य में भी रहेगी। अपना देश कृषि प्रधान है। इसमें खेती, पशु-पालन, परिवहन के लिए अधिक अच्छी तरह काम करने की अभी भी गुंजाइश है और आगे भी रहेगी। पैतृक धन्या यदि समय के अनुरूप है तो उसे करके अभिभावकों का हाथ बँटाया जा सकता है। उसमें उन्नत तरीकों का समावेश करके अधिक लाभदायक बनाया जा सकता है। भवन-निर्माण, जल-व्यवस्था के लिए पम्प, सैप्टिक टैंक वाले पाखाने, शुद्ध खाद्य-पदार्थों के सहकारी स्टोर, कपड़ों की धुलाई, डेरी आदि कितने ही काम अब ऐसे निकलते आ रहे हैं, जिनकी आवश्यकता समय की प्रगति के साथ बढ़ी है। कुछ समय पहले उनकी ओर ध्यान भी नहीं दिया जाता था और भारी गरीबी के कारण मजबूरी भी थी, पर अब ऐसे उद्योगों के लिए गुंजाइश बन रही है, जो बड़े गाँवों

और कस्बों में आरम्भ किये जा सकते हैं, चल भी सकते हैं।

बच्चों की प्राथमिक शिक्षा तो अनिवार्य है। माध्यमिक शिक्षा को पूरी करने तक भी बच्चों की आयु इतनी नहीं हो पाती कि वे शिल्प व्यवसाय की बारीकियों को समझ सकें और मन लगाकर सतर्कतापूर्वक उनका अभ्यास कर सकें, किन्तु माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के उपरान्त उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है कि वे नौकरी न मिलने की दशा में वैकल्पिक कारोबार के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकें और स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप किसी सुलभ निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

आवश्यक नहीं कि अपने वैकल्पिक व्यवसाय चयन के अनुरूप सरकारी शिक्षा व्यवस्था ही हो। यदि है भी तो उसमें काम के विषय कम और जंजाल अधिक होते हैं। दूर भेजने पर खर्च भी पड़ता है और संरक्षण के अभाव में कुसंग में पड़कर दुर्गुण सीख लेने का भी जोखिम रहता है। इसलिए यह उत्तम है कि किसी चलते कारोबार में इस तरह साथ लगा दिया जाय कि भले ही वेतन न मिले और उस कारोबार में संचालक जी खोलकर उतार-चढ़ाव की शिक्षा देते रहें। तान्त्रिकों, मान्त्रिकों की तरह शिल्पी भी ऐसा सोचते हैं कि नये लोग कारोबार में प्रवेश करेंगे तो उन्हें प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ेगा और आजीविका घट जायेगी। यदि कोई कारोबार बढ़ता है तो उसका उपयोग नये लोगों की समझ में आता है और प्रचलन बढ़ने से उसमें अभिवृद्धि ही होती है। अर्थोपार्जन के लिए हमें बदलते हुए समय के अनुरूप नये कारोबार की खोज करनी चाहिए और उस उत्पादन पर ध्यान देकर ऐसी प्रवीणता प्राप्त करनी चाहिए जो नौकरी नर्सरी का एक नया उद्योग ही अगले दिनों विकसित होने वाला है। किसान मात्र अन्न उगाने के साथ ऐसी दूसरी जिन्से भी पैदा करेंगे जो अधिक लाभ देती हैं, जिनकी बाजार में अभी कमी है।

कॉलेज में शिक्षा उन्हीं लोगों को ग्रहण करनी चाहिए जो बढ़ी हुई बौद्धिकता की योग्यता का कोई उच्चस्तरीय उपयोग कर सकते हैं। डॉक्टर, इन्जीनियर आदि बन सकते हैं। सरकारी उच्च अफसर बनने के सपने जितने कम विद्यार्थी और उनके अभिभावक देखना बन्द करें, उतना ही अच्छा है। हवा का रुख बदलते देखकर अपनी कार्यपद्धति को बदल लेने में ही बुद्धिमानी है।

बच्चों का विवाह तब करना चाहिए जब वे कमाने लगे। पत्नी का खर्च अपनी निजी कमाई से चलाने लगे। इससे पूर्व विवाह कर देना उनकी शिक्षा और प्रगति में बाधा डालना है। चित्त दो ओर बँट जाने से दोनों ही कार्य अधूरे रह जाते हैं। समग्र सफलता के लिए यह आवश्यक है कि तन्मयतापूर्वक किसी एक ही कार्य में लगे रहा जाय। कच्ची आयु में विवाह हो जाने पर शरीर

की क्षीणतावाली बात तो शीशे की तरह स्पष्ट है। शरीर और मन को असमय में ही कोंचने-कचोटने लगना उन्हें गिराने-जलाने के बराबर है।

ज्ञान वृद्धि के माध्यम विद्यालय नहीं पुस्तकालय हो सकते हैं। स्कूलों में पाठ रटाये जाते हैं ताकि परीक्षा के समय स्मृति के आधार पर उनके उत्तर लिखे जा सकें। पढ़ाई में कई तरह-तरह की जानकारीयाँ तो होती हैं, पर जीवन में निरन्तर काम आने वाले विषयों से सम्बन्धित उतार-चढ़ावों का उनमें कोई उल्लेख नहीं होता। इसके अतिरिक्त किसी जिज्ञासु की किसी विषय विशेष में अतिरिक्त अभिरुचि है और वह उसमें प्रवीण-पारंगत होना चाहता है तो भी उसकी इच्छा की पूर्ति स्कूली किताबों से नहीं हो सकती क्योंकि उसमें अनेक विषयों का चुंचु प्रवेश मात्र ही होता है। प्रवीणता उपलब्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि अभीष्ट विषयों में कितने ही लेखकों की कितनी ही पुस्तकें पढ़ी जायें ताकि उनमें पाये जाने वाले विशेष प्रतिपादनों और मतभेदों को भी समझने का अवसर मिले। यह कार्य समर्थ पुस्तकालयों में ही हो सकता है। इतनी अधिक पुस्तकें खरीद सकना सामान्य स्थिति के व्यक्ति के बलबूते की बात भी तो नहीं है।

जिस प्रकार नित्य भोजन किया जाता है उसी प्रकार मानसिक उत्कर्ष के लिए उपयोगी स्वाध्याय भी आवश्यक है। यह क्रम निरन्तर चलना चाहिए। स्वाध्याय में उसी प्रकार प्रमाद नहीं किया जाना चाहिए जैसे—सोने, खाने, नहाने, मल-मूत्र त्यागने जैसे नित्य कर्मों की उपेक्षा नहीं की जाती। स्वाध्याय के लिए ऐसा साहित्य चुना जाना चाहिए जो उपयोगी जानकारीयाँ देता हो और जीवन को आदर्शों की, सत्यवृत्तियों की ओर धसीट ले जाता हो।

विद्यालय गाँव-गाँव खुलने के लिए उत्साह पाया जाता है। इससे भी बढ़कर पुस्तकालयों पर ध्यान दिया जाना चाहिए, जिनमें उपयोगी विषयों की चुनी हुई पुस्तकें हों। पुस्तकालयाध्यक्ष ऐसा होना चाहिए, जो हर शिक्षित के रुझान से तालमेल बिठाते हुए प्रगतिशील साहित्य का परामर्श दे सके और पढ़ने के लिए उत्साह, फलश्रुतियाँ बताते हुए उत्पन्न कर सके। इस प्रयोजन की पूर्ति में झोला पुस्तकालय या चल पुस्तकालय का स्वरूप अति उत्तम है, जिसमें हर शिक्षित को घर बैठे उपयोगी साहित्य उपलब्ध करते रहने का निरन्तर लाभ मिलता रहता है। स्कूली पढ़ाई पूरी करने के बाद ज्ञान वृद्धि का सिलसिला समाप्त न कर दिया जाय, वरन् उसे पुस्तकालय के माध्यम से आजीवन गतिशील रखा जाय। युवावस्था में तो यह उत्साह बढ़ी-चढ़ी स्थिति में रहना चाहिए, ताकि भावी जीवन के लिए समुचित मात्रा में उपयोगी ज्ञान सम्पदा संचित होती रह सके।

प्रजनन—एक आमन्त्रित संकट

सीताजी की अग्निपरीक्षा की तरह अब भी नारियों को जीवन में कई बार ऐसे ही धर्म-संकटों में फँसना पड़ता है। वह परीक्षा है—प्रसव वेदना। छोटे-मोटे आपरेशनों के लिए सुन करने या बेहोशों की दवा देने का प्रचलन है। किन्तु प्रसव के मेजर आपरेशन जैसा होते हुए भी सुँघाने या सुन्न करने की मनाही है क्योंकि बालक पेट से बाहर निकलने के लिए जब कठोर संघर्ष करता है, तो उसकी उत्तेजना से प्रजनन अंगों को फैलने का अवसर मिलता है। सुन्न कर देने पर माता की ओर से अपना पक्ष पूरा किया जाना सम्भव नहीं हो पाता। नवागन्तुक बालक अकेले का पुरुषार्थ उसे बाहर आने में सफलता प्रदान नहीं करता। इसलिए वेदना निग्रह की दवा उस समय नहीं दी जा सकती। इससे बच्चे को शारीरिक एवं मानसिक क्षति हो सकती है और अपंगता एवं बुद्धि मन्दता जैसी कोई विपत्ति बच्चे के पीछे जीवन भर के लिए जम सकती है।

जिन महिलाओं के शरीर सुदृढ़ हैं और गर्भकाल में भी किसान मजदूरों जैसा परिश्रम या व्यायाम करती हैं, उनकी नस-नाड़ियाँ इस योग्य बनी रहती हैं कि वे प्रसव वेदना सहते हुए भी उसके कारण होने वाली क्षति की पूर्ति कर सकें किन्तु जो लड़कियाँ छोटे कद की, कम आयु की एवं भावुक प्रकृति की होती हैं, उनके लिए इस आपरेशन का कष्ट असाधारण कष्टकर होता है, विशेषकर पहली बार। लम्बे समय तक—कई-कई दिन पीड़ा चलने की सम्भावना देखकर बुद्धिमान डाक्टर अपवाद स्वरूप पेट का 'सीजेरियन आपरेशन' करके बच्चे को बाहर निकाल देते हैं। इसमें बेहोश करने की अवधि थोड़ी होती है। इसलिए बच्चे पर अधिक बुरा असर पड़ने की आशंका नहीं रहती। जिन्हें यह 'सुविधा' साधन न होने एवं दुर्गम स्थान होने के कारण प्राप्त नहीं है, उन्हें 'प्रसव : नया जन्म' की कहावत चरितार्थ करनी पड़ती है। अनेक महिलाएँ इसी वेदना में दम तोड़ देती हैं।

बाहर रहने वाले लोगों को उस कष्ट की अनुभूति नहीं होती। प्रजनन के कारण इसे स्वाभाविक माना जाता है। पर दाइयाँ जानती हैं कि इस कारण जननी के अवयव कितने क्षत-विक्षत हो जाते हैं, कितना रक्त निकलता है और उन जख्मों को भरने में कितना समय लगता है ? यह जख्म भरने की क्रिया सही रीति से सम्पन्न न हो तो सैण्टिक होने तथा इसके बाद जन्म भर के लिए श्वेत प्रदर जैसी व्याधौ लग जाने और उनके कारण शरीर खोखला होते रहने का डर रहता है। गुर्दे की, मूत्राशय की, अन्यान्य उदर के नीचे भाग से सन्बन्ध रखने वाले अवयवों को कोई और व्याधि लग सकती है और वह जन्मभर चलती रह सकती है।

यह सम्भावनाएँ प्रथम प्रसव (प्राइमीपेरा) में तो विशेष रूप में रहती हैं। किन्तु आगे की संतानों में भी यह खतरा सर्वथा समाप्त नहीं हो जाता है जितने अधिक बच्चे होते हैं, वे उतनी ही बार पाचन-तन्त्र आँतों, मूत्राशय, गुर्दे, जननेन्द्रिय की माँसपेशियों पर दबाव डालते हैं और हर बार यह आशंका रहती है कि इन अंगों में से कोई रोगग्रस्त न हो जाय।

पेट में नौ महीने बालक रहता है। इतने दिनों में उसका शरीर माता के शरीर में से ही कटकर बनता है। अतः दुर्बलता आना स्वाभाविक है। बच्चे के बढ़ने के साथ-साथ आमाशय और आँतों पर दबाव बढ़ता है। फलतः भूख कम लगती है। पाचन ठीक से नहीं होता। अतएव नया रक्त माँस बनने की प्रक्रिया में कटौती हो जाती है। अपच से और भी कई तरह की विकृतियाँ बनती हैं। उन दिनों तेज दवा भी नहीं दी जा सकती। इससे उदरस्थ बच्चे पर बुरा असर पड़ने की आशंका रहती है।

अच्छा हो डिलेवरी किसी अच्छे अस्पताल में ही कराई जाय। गाँव की दाइयों के मैले हाथ और नाल काटने के गन्दे औजार टिटनिस जैसी बीमारियाँ लगा सकते हैं और बच्चे तथा जननी दोनों के लिए संकट खड़ा कर सकते हैं।

प्रजनन के उपरान्त जननी की शारीरिक, मानसिक क्षति की पूर्ति होना भी एक समस्या है। हल्का किन्तु पौष्टिक भोजन दूध, फल आदि ही हो सकते हैं। उसकी व्यवस्था साधारण आर्थिक स्थिति के परिवार में नहीं हो सकती। घी मिले ही पदार्थ पौष्टिक समझे जाते हैं परन्तु गरिष्ठ होने के कारण ठीक तरह पचते नहीं और लाभ के स्थान पर हानि करने लगते हैं। प्रसूतिगृह के घरों में उतनी स्वच्छता भी नहीं रह पाती जितनी कि जननी और नवजात शिशु के लिए आवश्यक है।

प्रसव का शरीर पर ही नहीं मस्तिष्क पर भी दबाव पड़ता है। फलतः सिरदर्द, घुमेड़, नींद का कम आना, बुरे सपने दीखना जैसी मानसिक विकृतियाँ बहुधा दीख पड़ते हैं। भावुक महिलाएँ इस अग्निपरीक्षा से अत्यधिक भयभीत हो जाती हैं और मानसिक सन्तुलन खो बैठती हैं। उनमें न्यूनाधिक मात्रा में विक्षिप्तता के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। आवेश में रूठने का, रोने का, भूलने का, कुछ का कुछ कह बैठने का नया परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि वह स्थिति परिवार वाले मिल-जुलकर सँभाल न लें तो भविष्य में किसी छोटे-बड़े मानसिक रोग की भी आशंका रहती है।

अपने देश में बुद्धियाँ को, विवाह के तुरन्त बाद बच्चे होने की प्रतीक्षा रहती है। देर होने पर वे देवी-देवताओं की मनौती मनाने लगती हैं। लड़का ही होना चाहिए। लड़की न हो। लड़की होने पर उस जननी तथा बच्ची का तिरस्कार होता है। उनकी उपेक्षा होने लगती है।

१.६४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

इसका बुरा असर जननी पर पड़ता है और उसकी शारीरिक और मानसिक क्षति पूरी होने में और भी अधिक कठिनाई पड़ती है।

कई बार प्रसव भय जननी के मन में बुरी तरह समा जाता है और उनकी कामवासना ही समाप्त हो जाती है। वे उस संकट के फिर आने की कल्पना से अपना प्राण बचाती फिरती हैं। फलतः इसी प्रश्न को लेकर पति-पत्नी में मन-मुटाव रहते देखा जाता है, जो छोटे-छोटे कारणों को लेकर कलह रूप में फूटता है। नीरसता छाने लगती है।

देश की वर्तमान स्थिति में कम से कम अगले बीस वर्षों तक प्रजनन पूरी तरह बन्द रखे जाने की जरूरत है। इसे नासमझ तो नहीं पर समझदार तो कर ही सकते हैं। पुरुषों का फैमिली प्लानिंग कम जोखिम और कम कष्ट का है। फिर भी उन्हें डर लगता हो तो महिलाओं को करा लेना चाहिए।

जनगणना के हिसाब से इन दिनों अपने यहाँ १००० पुरुषों के पीछे ८२३ महिलाएँ हैं। कारण कि कितनी ही महिलाएँ प्रसवकाल में या उसके बाद अपने प्राण गँवा बैठती हैं। संख्या असन्तुलन को देखते हुए अब लड़कियों की आवश्यकता अधिक है और लड़कों की कम तो भविष्य-मान्यताओं का आधार पर हर कोई लड़का चाहता है। उनसे वंश चलते और बुढ़ापे का सहारा होने की आशा करता है। यह दोनों ही आशाएँ समय को देखते हुए सर्वथा निरर्थक हैं। फिर भी पुरानखण्डी सड़े दिमाग के नर-नारी बेटा होने की ही रट लगाये रहते हैं। लड़की होने पर वधू का और उन निर्दोष बच्चे का तिरस्कार करते हैं।

वर्तमान स्थिति को देखते हुए प्रजनन में अधिक उत्साह दिखाने से जननी का स्वास्थ्य चौपट होता है। पिता पर आर्थिक संकट चढ़ता है। परिवार की आवश्यकताओं में कटौती होती है। बच्चे को सुविधा-साधन न मिलने से उनका भविष्य खराब होता है। बढ़ती हुई आबादी देश की प्रगति में सबसे बड़ी बाधक है। इन सब बातों को देखते हुए उचित यही है कि प्रजनन का संकट बुलाकर अकरण मुसीबत मोल न ली जाय। पति चाहें तो पत्नी को इस संकट से थोड़ी-सी बुद्धिमत्ता एवं सहानुभूति का परिचय देकर सहज बचा सकता है।

आमन्त्रितों को दुर्दशा के गर्त में

न धकेलें

मेहमानों को आमन्त्रित करने से पूर्व सभी विचारशील यह प्रबन्ध करते हैं कि आगन्तुकों को बिठाने और उनको खिलाने आदि का प्रबन्ध करके रखा जाय वैसे अविवेकी थोड़े ही होते होंगे जो प्रीतिभोज का ही नहीं, स्थाई रूप से उनके घर निवास करने की बात भी

कहें। पर जब वे लोग नियत समय पर घर आ पहुँचे तो बगलें झाँकें और उन बेचारों को तिरस्कार की, अस्त-व्यस्तता की स्थिति में डालकर हैरान करें। इस सन्दर्भ में आमतौर से सभी बुद्धिमान व्यक्ति सावधानी बरतते हैं और वैसा कदम उठाने से पूर्व आवश्यक प्रबन्ध कर लेते हैं।

यह सावधानी न जाने क्यों बच्चे उत्पन्न करने के सम्बन्ध में नहीं बरती जाती। ये नवागन्तुक अपने आप नहीं आ टपकते वरन् आग्रहपूर्वक निमन्त्रण देकर बुलाने पड़ते और नियत समय पर उनके पधारने की प्रतीक्षा होती रहती है। दिन गिने जाते रहते हैं पर जब वे आ विराजते हैं, तब लगता है कि अदूरदर्शिता बरती गई। उन्हें बिठाने, खिलाने, स्वागत, आतिथ्य करने का प्रबन्ध नहीं बना तो उन्हें क्यों बुलाया जाना चाहिए ? बिना उन्हें आमन्त्रित किये क्या हर्ज हो रहा था ? न बुलाते तो किसे क्या दबाव पड़ रहा था ? बुला लेने पर अपने को क्या उन आगन्तुकों ने भला मनाया।

भारत गरीब देश है। उसकी जनसंख्या पहले से ही इतनी बढ़ी हुई है कि जो है उन्हीं का गुजारा भारी पड़ रहा है। फिर नयों को बुलाकर अपने लिए, नये आगन्तुकों के लिए तथा समूचे समाज के लिए आफत उत्पन्न करने का कोई तुक रहता नहीं। वर्तमान पीढ़ी के लिए अन्न, वस्त्र, निवास, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका, जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए साधन नहीं तो फिर अन्य हिस्सेदारों को बुलाकर जो वर्तमान लोगों के हिस्से में आना है, उसमें और अधिक कटौती होती है, जो ऐसी मुसीबत उत्पन्न करते हैं, उनकी नादानी पर दुःख ही व्यक्त किया जा सकता है।

जनसंख्या की दृष्टि से विश्व में भारत का स्थान दूसरा है। १९९६ के प्रारम्भ में भारत की जनसंख्या लगभग ९० करोड़ तक पहुँच चुकी है। इस समय भारतवर्ष की जनसंख्या में प्रतिवर्ष लगभग एक करोड़ दो लाख वृद्धि हो रही है। हर सेकण्ड में २ बच्चे पैदा हो रहे हैं। आबादी की यह सालाना वृद्धि देश की राजधानी दिल्ली की कुल आबादी की दुगुनी है। जनसंख्या की इस वार्षिक वृद्धि से अतिरिक्त साधनों की भी वार्षिक आवश्यकता बढ़ती जा रही है जैसे एक लाख तीस हजार स्कूल खोले जायें, तीन लाख चार हजार अतिरिक्त अध्यापक हों, एक करोड़ ढाई लाख क्विंटल अतिरिक्त अनाज, पन्द्रह लाख चालीस हजार मीटर अतिरिक्त कपड़ा, बत्तीस लाख सरसठ हजार अतिरिक्त नौकरियाँ हों। बहुत प्रयत्न करने पर भी इतने अभावों की पूर्ति हर साल होते चलने और चक्रवृद्धि गति से बढ़ने वाली नई जनसंख्या की आवभगत का कहीं कोई प्रबन्ध बनते दीख नहीं रहा है।

ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि पुराने निवासियों की मुसीबत बढ़े और नये लोग त्रास सहें। गरीबी का

सबसे अधिक भार बालकों पर पड़ता है, क्योंकि उनकी कोमलता, असमर्थता को देखते हुए जितनी देखभाल एवं साधन-सुविधा की आवश्यकता है, वह न मिल सके तो उन बच्चों को अपने शारीरिक, मानसिक विकास से वंचित रहकर अन्धकार भरे भविष्य की ओर रेंगना होता है। बड़ी आयु के तो कुछ कर भी सकते हैं। अपनी आवश्यकता बताने और जुटाने की भी क्षमता होती है पर असमर्थ बालक तो सर्वथा पराधीन होते हैं। संरक्षकों, अभिभावकों के पास यदि उनकी सहायता करने के लिए समय, कौशल, साधन न हों तो फिर इन नवागन्तुकों का दुर्दर्शाग्रस्त होना स्वाभाविक है। वैसा ही हो भी रहा है।

केन्द्रीय सरकार की एक रिपोर्ट के अनुसार देश में ६ वर्ष तक की उम्र के बच्चों की संख्या ग्यारह करोड़ पचास लाख है, जिनमें से चार करोड़ साठ लाख घोर दरिद्रता का जीवन बिता रहे हैं। इसी प्रकार एक आँकड़े के अनुसार भारत में १४ वर्ष तक की आयु के २५ करोड़ ६६ लाख बच्चे हैं, जिनमें लगभग ११ करोड़ ९० लाख बच्चे निर्धनता की रेखा से भी निम्न स्तर का जीवनयापन कर रहे हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ३२ देशों में ही बाल-कल्याण का ठोस कार्य कर पा रहा है, पर ४३ देश ऐसे हैं जिनमें बच्चों की वर्तमान स्थिति बड़ी दयनीय है—उनमें अफगानिस्तान, बंगलादेश, वर्मा, बुरुन्दी, चाड, केन्द्रीय अफ्रीका साम्राज्य, यमन, मिश्र, उत्तरी कोरिया, जाम्बिया, घाना, ग्वाटेमाला, गाइना, गाइनाबिसाऊ, होंडुरास, आइवरी कोस्ट, केनिया, मेडागास्कर, माली, नेपाल, नाइजीरिया, पाकिस्तान, श्रीलंका, सूडान, युगाण्डा, कैमरून, तंजानिया तथा भारत भी है। विश्व का सम्पन्न वर्ग बाल-कल्याण के लिए उदासीन है।

ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले चौदह वर्ष तक के १६ करोड़ बच्चों को सुरक्षित पानी भी उपलब्ध नहीं है। १ लाख १३ हजार गाँवों में पीने का पानी या तो १.६ किलोमीटर दूर है या विषाक्त रूप में प्राप्त है, जो हैजा, कृमि या रसायन की अधिकता और न्यूनता के लिए उत्तरदायी है। अन्य २ लाख १४ हजार गाँवों में जहाँ कुआँ, नदियाँ, नालों, तालाबों से पर्याप्त मात्रा में पानी तो मिलता है पर ये भी प्रदूषित अवस्था से प्राप्य है। १ लाख ८५ हजार गाँवों में पानी की आपूर्ति अपर्याप्त और असुरक्षित है।

भारत में कुल मृत्युओं की संख्या ४० प्रतिशत पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की होती है और इन मृत्युओं में भी आधी संख्या तो एक वर्ष से भी कम उम्र के बच्चों की होती है।

एक वर्ष से कम उम्र वाले बच्चों की ५० प्र. श. मृत्यु अतिसार के रोगों के कारण होती है। एक से चार

वर्ष के बच्चों की मृत्यु श्वसन, पचन तथा कीटाणु वाले रोगों के कारण होती है।

स्कूल जाने वाले बच्चों में से ३० प्रतिशत किसी न किसी तरह के रोग से ग्रस्त पाये जाते हैं।

भारत की लगभग ८० प्र. श. जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। लेकिन उन क्षेत्रों के अस्पतालों में मात्र ३० प्र. श. मरीजों को रखने की व्यवस्था है तथा देशभर के २० प्रतिशत डाक्टर उनकी सेवा के लिए उपलब्ध हैं।

सरकार द्वारा कई स्वास्थ्य केन्द्र भी इन क्षेत्रों में ग्रामीणों की स्वास्थ्य सेवा के लिए खोले गए हैं, हर वर्ष खोले जाते हैं परन्तु गाँवों से उनकी औसत दूरी १० किलोमीटर से भी अधिक होने के कारण आम लोग इससे लाभान्वित नहीं हो पाते। प्रसव के समय बहुत कम स्त्रियों को विशिष्ट सहायता मिलती है।

देश में लगभग २५ करोड़ बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मात्र २५ बच्चों के बड़े अस्पताल और ४२४ बाल-चिकित्सा बोर्ड हैं, जहाँ ९,३०० रोगग्रस्त बच्चों को रखने की सुविधाएँ हैं। ये सारी सुविधाएँ न्यूनतम आवश्यकता की मात्र ५० प्र. श. ही हैं। वे सुविधाएँ गाँव से बहुत दूर पर स्थित हैं। बिहार, उड़ीसा और हरियाणा में तो एक भी बच्चों का अस्पताल नहीं है।

ब्रिटेन से प्राप्त सूचना के अनुसार प्रतिवर्ष दुनिया के लगभग १ करोड़ २० लाख बच्चे पोलियो आदि निरोधात्मक रोगों से मर जाते हैं। अन्य एक और सूचना के अनुसार पोलियो, तपेदिक, टिटनिस, डिप्थेरिया, काली खाँसी तथा छोटी माता जैसे रोगों से प्रतिवर्ष विश्व के ५० लाख बच्चे पर्याप्त संरक्षण के अभाव में एक वर्ष होते ही मर जाते हैं। इसी कारण से १५ वर्ष की उम्र तक के लगभग १ करोड़ २० लाख बच्चे हर वर्ष इन रोगों से मर जाते हैं।

राष्ट्रसंघ की रिपोर्ट के अनुसार संसार में २५ करोड़ बच्चों के लिए शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। तथा विश्व में १ अरब ५० करोड़ ऐसे अशक्त, अनपढ़ तथा दरिद्र व्यक्ति हैं, जिनके भरण-पोषण का कोई प्रबन्ध नहीं है। उनके बच्चों की क्या गति होगी, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

गरीब देशों में, धनी देशों की तुलना में शिशु मृत्यु-दर ८ गुनी अधिक है और शिशु के बच जाने पर उसकी औसत आयु ३० वर्ष से अधिक नहीं है। पिछड़े देशों में ९० प्रतिशत लोगों के लिए १० किलोमीटर के भीतर चिकित्सा केन्द्र नहीं है। ९७ ऐसे पिछड़े देश हैं जिनकी देहाती आबादी के ९५ प्रतिशत के लिए शुद्ध पेयजल भी प्राप्य नहीं है। विश्व में ८० प्रतिशत बीमारी, रोग तथा मृत्यु का कारण शुद्ध पेयजल का अभाव है।

१.६६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

गरीब देशों में १५ वर्ष तक की उम्र के ५० प्रतिशत बच्चे अनपढ़ हैं। यदि यही क्रम रहा तो १९९५ तक विश्व के ६-११ वर्ष की उम्र वाले बच्चों में, प्रति दस बच्चों के पीछे केवल तीन ही शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। सन् १९८१ में विश्व भर में स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या एक मोटे आँकड़े के अनुसार ३१ करोड़ २० लाख थी और स्कूल जाने की उम्र होते हुए न जाने वालों की संख्या ३६ करोड़ ९० लाख से भी अधिक थी।

सन् १९६० में विश्व में अशिक्षित बच्चों की संख्या ७० करोड़ थी तथा १९७० में यह संख्या बढ़कर ७५ करोड़ ६० लाख हो गई। सन् १९६९-७१ के बीच अशिक्षित लड़कों की संख्या में मात्र १ करोड़ १० लाख की वृद्धि हुई जबकि अनपढ़ लड़कियों की संख्या में ४ करोड़ ५० लाख की वृद्धि हुई। लगभग यही क्रम गत दशक १९७०-१९८१ में भी रहा है जबकि उसी अनुपात में आबादी बढ़ी है। एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व में इस समय ११० करोड़ व्यक्ति अशिक्षित हैं। इनमें से लगभग तीस करोड़ तो हमारे ही हिस्से में आते हैं।

लन्दन विश्वविद्यालय की एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व में ३५ करोड़ बच्चे पौष्टिक भोजन, स्वस्थ स्थान, शुद्ध पेयजल तथा शिक्षा के अभाव से ग्रस्त हैं और इसी स्थिति के कारण उनकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है या वे मानसिक दृष्टि से गई-गुजरी स्थिति में जीवन बिताते हैं।

यह एक स्मरणीय तथ्य है कि वर्ष १९८१ विश्व बाल वर्ष के रूप में मनाया गया। इस वर्ष संसारभर में १२ करोड़ २० लाख शिशु जन्मे। उनमें से १ वर्ष के भीतर १ करोड़ २२ लाख बच्चे मर गए। विश्व में प्रतिदिन ३५ हजार बच्चे इसी प्रकार मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं।

सन्तानोत्पादन से पूर्व नवागन्तुकों की व्यवस्था कर सकने में असमर्थ बुद्धिहीन जीवधारी हो तो एक बात है पर मनुष्य जैसे बुद्धिमान समझे जाने वाले प्राणी के लिए सर्वथा अशोभनीय है। बहुप्रजनन की प्रवृत्ति निर्दयतापूर्वक कुचलकर रख देती है। मक्खी-मच्छरों के झुण्ड और श्वान-विलावों के बच्चे ऐसे ही ठण्ड से अकड़कर, पहियों के नीचे कुचलकर, भूख से तड़पकर मरते देखे जाते हैं। यदि इसी निमित्त मनुष्य भी अविवेकपूर्ण प्रजनन करे और अपनी सन्तान को दुर्दशाग्रस्त देखें तो उसकी मूर्खता ही नहीं, दुष्टता भी कही जायेगी।

सन्तान को सुसंस्कारवान भी बनायें

बच्चों पर एक वर्ष से लेकर दो वर्ष की आयु के मध्य से सम्पर्क का प्रभाव पड़ना शुरू हो जाता है और वह अठारह वर्ष की आयु होने तक तेजी से चलता

रहता है। इसलिए यह आयु व्यक्तित्व के निर्माण की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

स्कूली पढ़ाई का अपना महत्त्व है। उसके पाठ्यक्रम से कई प्रकार की जानकारीयें मिलती हैं। पर जहाँ तक स्वभाव का सम्बन्ध है वह सम्पर्क से बनता-बिगड़ता है। सहपाठियों से, अध्यापकों से बच्चा बहुत कुछ सीखता है। पाठ्य-पुस्तकों का मूल्य उसकी तुलना में बहुत कम है।

बच्चों का आरम्भिक भाषा-ज्ञान घर-परिवार के लोगों द्वारा ही सीखने को मिलता है। घर के लोग जो भाषा बोलते हैं, उसे बच्चे सहज ही सीख जाते हैं। तब तक न स्कूल जाते हैं और न पुस्तक पढ़ते हैं पर भाषा-ज्ञान परिवार का अनुकरण करके ही बालकों को उपलब्ध हो जाता है। कहीं-कहीं घर वालों से एक और बाहर वालों से दूसरी भाषा बोलनी पड़ती है। ऐसी दशा में उन्हें दो भाषाओं में वार्तालाप करने में भी कठिनाई होती है। शब्दकोश को बड़ा बनाना और व्याकरण की त्रुटियों को निकालना, यह काम स्कूल में होता है पर कामचलाऊ भाषा-ज्ञान वे तीन वर्ष के होने तक सीख जाते हैं। इन दिनों उनके सीखने की क्षमता व आकांक्षा बहुत तीव्र होती है। भाषा के अतिरिक्त रहन-सहन, पहनाव-उढ़ाव, खान-पान आदि सम्बन्धी ढेरों बातें हैं, जो परिवार के लोगों तथा साथी बच्चों से उन्हें सीखने को मिल जाती हैं। व्यक्तित्व की ढलाई का शुभारम्भ यहीं से होता है। स्कूल जाने से पहले वे पड़ोस के बच्चों के साथ खेलने जाते हैं। इसमें उनके अनुकरण से ढेरों बातें सीखते हैं। अब स्कूली समय आता है। इसमें वे आपस में अपने व्यक्तित्व की छाप दूसरों पर छोड़ते हैं। किताबें हर बच्चे की अलग-अलग होती हैं। पढ़ते तो वे उन्हीं को हैं पर क्लास का, स्कूल का वातावरण अलग ही होता है। इस सामूहिक परिवार का असाधारण प्रभाव एक-दूसरे पर पड़ता है, इसमें सिखाया नहीं सीखा जाता है। इसमें लड़के क्या करते हैं, इसको ढेरों तरह से वे देखते हैं और उनमें से जो आकर्षक लगती हैं उनकी नकल करते हैं। सहपाठियों की गतिविधियों में ढेरों आकर्षक लगते हैं, ढेरों अनाकर्षक। बिना किसी के कहे-समझाये हुए भी आकर्षक गतिविधियों को लड़के एक-दूसरे से ग्रहण करने लगते हैं। इस प्रकार परिवार-पड़ोस की संस्कृति से बाहर निकलते ही स्कूली संस्कृति में प्रवेश पाते हैं। सीखने की द्रुतगामी पीढ़ी इन तीन क्षेत्रों में इतना सीख लेती है, जितना गुरुजनों के उपदेश या पाठ्य-पुस्तकों का प्रशिक्षण भी उन्हें सिखा नहीं पाते।

बात आरम्भिक कक्षाओं की ही नहीं कही जा रही है। महत्वपूर्ण किशोरावस्था को माना जा रहा है। छोटे बच्चों में तेजस्विता नहीं होती। समझाने या धमकाने से अक्ल बदल जाती है किन्तु किशोरावस्था में नया रक्त होता है। निज की बुद्धि होती है और निज की पसन्दगी। वे जो बात पसन्द करते हैं उसके लिए आग्रही हो जाते

हैं। रोकने पर अपना अपमान अनुभव करते हैं और विद्रोह पर उतर आते हैं। बड़ों से लड़ना-झगड़ना नहीं बन पड़ता तो मौन हो जाना, रोटी न खाना, रूठकर घर से चले जाना जैसे टेढ़े रास्ते अपनाते हैं। प्रकरणान्तर से यह विद्रोह का गुणा है और रोकने-समझाने वालों को दबाने, मजबूर करने का ढंग है। तर्क करने और विवेकपूर्वक किसी निष्कर्ष तक पहुँचने की क्षमता विकसित नहीं होती। सही बात के लिए समझाना, रोकना भी उन्हें अपमान लगता है। यह असमंजस भरी परिस्थिति ऐसी होती है, जिससे सहसा समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय ?

छोटी आयु में शारीरिक गन्दगी लपेटे रहने वाले, कटु या अश्लील वचन बोलने वाले, शिष्टाचार उल्लंघन करने वालों की संगति से बच्चों को दूर रखना चाहिए। ये आदतें छोटेपन में ही पीछे पड़ जायें तो बड़ी आयु में पककर दुःख देती हैं। भूख न होने पर भी बार-बार खाना माँगने, कुछ न कुछ सदा खाते ही रहने की आदत उनका पेट खराब करके तरह-तरह की बीमारियाँ पीछे लगा देती हैं। इसी प्रकार किशोरावस्था में बड़े आदमियों के लड़कों के साथ रहने, उनसे दोस्ती गाँठने के पीछे भी कई खतरे हैं। यहाँ बड़े आदमियों से मतलब मालदार आदमियों से है, वे अपने बड़प्पन को फिजूलखर्चों में दिखाते हैं। पैसे का भी एक अहंकार होता है। ओछी प्रकृति के आदमी उसे दिखाये बिना रह नहीं सकते। वे जिस प्रकार स्वयं ढेरों प्रकार की फिजूलखर्चियों के द्वारा अपनी अमीरी का प्रदर्शन करते हैं, उसी प्रकार बच्चों को भी इस रूप में पेश करते हैं मानो वे सामान्य नहीं हैं। शरीर तो सभी का एक जैसा है तो फिर अमीरी कैसे झलके ? इसके लिए कीमती वस्त्र, आभूषण, वाहन, नौकर जैसे माध्यम ही ऐसे हैं जो विद्यार्थी की अमीरी और तज्जनित अहंकार को प्रकट करते हैं। उतना पैसा पास में न होने से वे साधन तो पास में नहीं हो सकते, पर अहंकार की नकल आसान है। अहंकार के साथ कई तरह के व्यसन जुड़ जाते हैं, उन्हें साथी बनाकर अपनाया जा सकता है। अमीर लड़कों की दोस्ती या चापलूसी के सहारे जब तब उन व्यसनों में भागीदार बनने का अवसर भी मिलता है। बीड़ी, सिगरेट, ताश, शतरंज, सिनेमा आदि का व्यसन बड़े आदमियों, लड़कों में आमतौर से होते हैं। कई शराब भी पीने लगते हैं। इन सभी के लिए पैसा चाहिए, उसके लिए पहले घर वालों से किसी बहाने या पैसे चुराकर प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। पीछे बाहर चोरी, उठाईगिरी पर हाथ साफ करते हैं। कई लड़कों का गिरोह बनाकर अपराधी प्रवृत्तियों को सफल बनाने में सफलता भी अधिक मिलती है। पीछे हौसला बढ़ जाता है तो अमीरी एवं अहंकार दिखाने के लिए पैसे मिलने लगते हैं। कई भोले लड़कों पर दबाव डालकर उनके घर में चोरी करते हैं और सिनेमा, सिगरेट आदि के लिए पैसे मिलते हैं। छुरी, चाकू अब आसान

हो गया है। उनकी कीमत अधिक नहीं रही। देशी पिस्तौलें, कट्टे अब गाँव-गाँव के लुहार बनाते और बेचते हैं। धमकी दिखाने और पैसे ऐंठने के लिए ये भी काम दे जाते हैं। जब गिरोह बन जाता है तो उससे निकलना भी कठिन हो जाता है। साथी धमकाते हैं और गिरोह टूटने नहीं देते। ऐसे लड़कों को फैशन बनाने से लेकर और भी कई तरह की बुरी लतें पड़ जाती हैं, जिनमें एक आलस भी है। अहंकार प्रदर्शन करने वाला आलसी होता है। हाथ से काम-करने में शान कम होती है। ऐसे ही लड़के, पढ़ने में लगाया जाने वाला समय आवागर्दी में लगाते हैं और जब परीक्षा का समय आता है; तब मास्टर्स को छुरी, चाकू दिखाकर पास हो जाने देने की धमकी दिखाते हैं। छोटा गिरोह छोटे अपराध करता ही रहता है, पर जब हिम्मत खुल जाती है तो डकैती, हत्या जैसे बड़े अपराधों पर उतर आता है।

साधारणतया किशोर बालकों से आशा की जाती है कि वे घर की स्थिति के अनुरूप मितव्ययिता से काम चलायेंगे। अमीर लड़कों के कुसंग से दूर रहेंगे। अपने में कोई दुर्व्यसन न पलने देंगे। अपना पूरा समय पढ़ने में लगायेंगे और अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होकर दिखायेंगे। बुद्धिमान और मेहनती लड़कों में अपनी गणना करावेंगे। घर के बड़े लोग यह आशा करते हैं कि वे अब बड़े हो गये हैं तो घर के छोटे-मोटे कामों में उन्हें हाथ बँटाना चाहिए, जिससे प्रतीत हो कि वे पारिवारिक उत्तरदायित्वों को समझते और उनमें हाथ बँटाते हैं।

अमीर घराने के लोगों के पास फलतू पैसा होता है। उस पैसे को शान के लिए खर्च करने में ही उनके बड़प्पन दिखता है। इसलिए वे हाथ खोलकर खर्च कर सकते हैं किन्तु गरीब एवं मध्यम घर के लड़कों की शान और बुद्धिमानी इसी में है कि अधिक परिश्रम और कम खर्च करें। ऐसे लड़कों को अमीर लड़कों की दोस्ती से बचना चाहिए। वह उन्हें मँहंगी पड़ेगी। व्यर्थ ही चापलूसी करनी पड़ेगी और उसके दुर्व्यसनों में भागीदार बनना पड़ेगा। कुछ दिन यह दोस्ती चलती रहे तो नकल करते हुए फिजूलखर्चों के लिए पैसा पाने के लिए कुछ न कुछ अनुचित तरीके अपनाने पड़ेंगे। गरीब होते हुए भी जब अमीरों का स्वाँग करना पड़ता है, तो उसकी कीमत दुर्व्यसनों में, दुश्चरित्रता में चुकानी पड़ती है। इसलिए आरम्भ से ही ध्यान रखना चाहिए कि छोटी आयु के लड़के गन्दे, अशिष्ट स्वभाव के लड़कों की संगति से बचाये जायें और बड़ी उम्र के किशोरवय वालों को उद्धत अमीरों से दूर रखा जाय। आवश्यक नहीं है कि हर खाती-पीती परिस्थिति वालों का उनके घर वाले शिष्टाचार न सिखाते हों और शालीनता के शिकंजे में कसकर न रखते हों। बुद्धिमान बालकों की गतिविधियों पर पूरी तरह ध्यान रखते हैं। इस कड़ाई के बिना गरीब-अमीर किसी के भी बच्चे प्रगतिशील नहीं बन

सकते। पहचान इसकी यह है कि वे अपने बच्चों को व्यस्त रखते हैं। दोस्ती के फेर में नहीं पड़ने देते। आजकल दोस्ती और आवारागर्दी दोनों ही चीजें हैं। फिजूलखर्ची हजार दुर्गुणों की जननी है, चाहे पैसा बेकार उड़ाया जा रहा हो, चाहे समय। प्रकरणान्तर से दोनों एक ही बात है।

यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि शिष्ट और सज्जन प्रकृति के लड़के होते ही नहीं और उनके साथ मिल-जुलकर रहने में कोई हर्ज है। जिस प्रकार बुरी संगति में दुर्गति होती है, उसी प्रकार सत्संगति से सदगुण विकसित होने का लाभ भी मिलता है। पर इस सम्बन्ध में बहुत जाँच-पड़ताल कर लेने की आवश्यकता है, क्योंकि इन दिनों समय की हवा ऐसी चल रही है जिसमें सज्जनता बुरी तरह घट रही है और दुर्गुणों की आँधी अपनी चपेट में भले लड़कों को भी बर्बाद करती रहती है।

किशोरावस्था सबसे महत्वपूर्ण अवधि है। जो इन दिनों सँभल जाते हैं, वे आगे चलकर प्रशंसा के योग्य बनते हैं और प्रगतिशील कहलाते हैं। साथ-ही-साथ यह बात भी निश्चित है कि जिन्होंने उठती आयु बे-सिलसिले गँवा दी, उनकी बाद में सुधारने की आशा बहुत कम रह जाती है। सादा जीवन प्रगतिशीलता का मन्त्र है। यहाँ सादगी के साथ सज्जनता को भी जोड़े रखने की आवश्यकता है।

यह जिम्मेदारी प्रधानतया अभिभावकों की है। वे जहाँ अपने बालकों को लाड़-प्यार करते हैं, वहाँ दूसरा उत्तरदायित्व उन्हीं के कंधों पर यह भी आता है कि उन्हें सुधारने की ओर पूरा-पूरा ध्यान रखें। घर का वातावरण ऐसा बनावें जिससे आरम्भ से ही उन्हें सुसंस्कार मिलें। 'एक आँख प्यार की—एक आँख सुधार की' रहे तो कोई कारण नहीं कि बच्चे दुर्गुणी बन सकें।

यह सोचना गलत है कि हमने बच्चों के लिए बहुत पैसा छोड़ रखा है। उन्हें कमाने के लिए कुछ करना न पड़ेगा। ध्यान रहे, दुर्गुणों के रहते दौलत रहती नहीं। जीवन में आदमी को कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। बिना किये किसी का भी काम नहीं चलता। कोई व्यक्ति कमा नहीं रहा होगा तो अच्छे काम नहीं तो बुरे काम कर रहा होगा। बुजुर्गों की छोड़ी दौलत पोखर के समान है। जिन्दगी ऐसी होनी चाहिए जैसे झरना। चाल तेज न हो, मन्द सही। किन्तु आदमी को निरन्तर सक्रिय रहना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि यह सक्रियता यदि सज्जनता से जुड़ी हुई न होगी, सदगुणों का उसमें समावेश न होगा तो फिर पतन और पराभव कहीं-न-कहीं से आकर घेर लेगा।

मनुष्य-मनुष्य सब एक जैसे हैं। आकृति से नहीं, प्रकृति में अन्तर पाया जाता है। जब गाय-भैंस, घोड़े, गधे, भेड़-बकरी आदि मिलती-जुलती आकृति में होते हैं

तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच चेहरे के यत्किंचित अन्तर के अतिरिक्त और कोई बड़ा अन्तर हो। अन्तर प्रकृति का होता है जिसके कारण एक महात्मा गाँधी और दूसरा दर-दर ठुकराये जाने वाला चोर-उच्चक्का बन जाता है। यह प्रकृति ईश्वरकृत नहीं मनुष्यकृत है। गुण, कर्म, स्वभाव के समन्वय को ही संस्कार कहते हैं। यही संस्कृति किसी की उन्नति और अवनति का मूलभूत कारण बनती है। संस्कारी बनाना अभिभावकों का काम है। शरीर भूषण के रूप में आता है। पिता के संयोग से बनता है। शिक्षा एवं सम्पत्ति की व्यवस्था भी अभिभावक करते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि संस्कार भी उन्हें ही बनाने चाहिए। इसके लिए सत्संगति सबसे आवश्यक है। कुसंग से बचाना और सत्संग का सुयोग जुटाना जो जानते हैं, समझना चाहिए कि अभिभावक की जिम्मेदारी निभाना उन्हीं को आता है। सन्तान के सच्चे अर्थों में शुभचिन्तक वे ही हैं।

भावी पीढ़ी की चिन्ताजनक स्थिति

किसी देश का भविष्य उसकी नवीन पीढ़ी पर निर्भर है। जो आज गोद में खेलते या स्कूल में पढ़ते हैं, वे ही कल समाज का निर्माण एवं नेतृत्व करेंगे। इसलिए छोटा होने के कारण उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सन्दर्भ में अपने देश की स्थिति विचारणीय है। देहाती क्षेत्र में कुपोषण एवं चिकित्सा के अभाव में शहरों से भी अधिक संख्या में वे मरते हैं। शहरों में अस्पताल हैं, चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध हैं तथा दूसरी सुविधाएँ हैं, इसलिए उनकी मृत्यु-दर कम है।

आँकड़े बताते हैं कि ग्रामीण जन-स्वास्थ्य की स्थिति बड़ी दयनीय है। नगरों में बच्चों की मृत्यु-दर ९.३ प्रति हजार है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह १५.३ प्रति हजार तक है। शहरों में शिशु मृत्यु-दर हजार पीछे ७० है, किन्तु गाँवों में यह १७० प्रति हजार है। गाँवों में रहने वालों की औसत आयु भी शहरों की तुलना में १० वर्ष कम है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में एक वर्ष से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु-दर ५० प्रतिशत है। एक से आठ साल की आयु वालों की ४० प्रतिशत है। यह आँकड़े बताते हैं कि प्रायः आधे बच्चे माता पर ९ महीने वजन लादकर और बाद में उन्हें रोती-बिलखती छोड़कर विदा हो जाते हैं। इनसे भविष्य की आशा कैसे बँधे ?

स्वास्थ्य विशेषज्ञों के एक सर्वे के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष १ करोड़ २० लाख बच्चों की पोलियो से और पचास से अस्सी लाख तक की टिटनेस, डिप्थीरिया, काली खाँसी, छोटी चेचक आदि बीमारियों के कारण मृत्यु हो जाती है। निर्धन एवं पिछड़े देशों में इन बीमारियों से शिशुओं की मृत्यु-दर धनी एवं विकसित देशों की तुलना में ८ गुना अधिक है। वहाँ लोगों की

औसत आयु भी अपेक्षाकृत कम है। लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित एक स्वास्थ्य सर्वेक्षण के अनुसार दुनिया भर में ३५ करोड़ बच्चे पौष्टिक आहार, स्वच्छ पेयजल, समुचित आवास तथा शिक्षा के अभाव में जिस-तिस प्रकार जीवन व्यतीत करने और गई-गुजरी, अनगढ़ मानसिक स्थिति में बने रहने को बाध्य हैं।

सुप्रसिद्ध चिकित्साविज्ञानी डा. केनहाल का कहना है कि अधिकांश शिशु जन्म से ही विकृतियों लिए होते हैं। इन विकृतियों में शिरोवृद्धि, हाथ-पैरों का अपेक्षाकृत अधिक बड़ा या टेढ़ा-मेढ़ा होना, कानों के बाह्य भाग का गायब होना, आँखें बाहर निकली हुई एवं पलकें जुड़ी हुई, असामान्य आवाज, यौन विकास न होना आदि असमानताएँ हैं, जिनका बोझ जिन्दगी भर उन्हें ढोना पड़ता है। इसके अतिरिक्त रक्त की कमी और मानसिक विकास में अवरोध ऐसी कमियाँ हैं, जो जीवन को भारभूत बना देती हैं।

डा. केनहाल के अनुसार नवजात शिशुओं की विकृति का प्रमुख कारण जन्मदाताओं की अभिरुचि, रहन-सहन एवं व्यवहार में कृत्रिमता, पालन-पोषण की समुचित जानकारी का अभाव, बाजारू रंगीन एवं गन्धयुक्त पदार्थों एवं तीव्र औषधियों पर बढ़ती निर्भरता है। शहरों में जहाँ महिलाएँ विभिन्न क्षेत्रों में सेवारत हैं, उनकी सन्तानों में उच्च विचार अधिकतर देखे जाते हैं। नौकरी पेशा महिलाएँ दोहरा श्रम करती हैं, अतः यह दुष्परिणाम उन्हें कम देखने पड़ रहे हैं। पिछले दिनों ब्रिटेन के औद्योगिक शहरों में किये गये शिशुओं के स्वास्थ्य सर्वेक्षण का विवरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया है कि बच्चों में सबसे अधिक विकृतियाँ वहाँ के वातावरण में पाई गईं जहाँ प्रदूषणजन्य विषाक्तता की भरमार के कारण है। देहातों की तुलना में यह १० गुना अधिक है। यह स्थिति तब है जबकि नगरों में चिकित्सा की सबसे अधिक सुविधाएँ हैं।

अपने देश का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ अन्य देशों से विकृत शिशुओं की संख्या यहाँ न्यूनतम है। कारण यह है कि भारत में प्रदूषण एवं अखाद्यों का प्रचलन उतना नहीं है। यौनाचार में भी अपेक्षाकृत कमी है।

गाँवों में दूसरे ढंग की समस्याएँ हैं, शहरों में दूसरे ढंग की। किन्तु दोनों ही क्षेत्रों में बच्चों का अविकसित, अस्वस्थ और अवांछनीय स्थिति में दिन गुजारने पड़ते हैं।

समय रहते समस्या का सुधार न किया गया तो अगले दिनों हम नयी पीढ़ी को इस योग्य न पा सकेंगे, जो उज्ज्वल भविष्य का नवसृजन करने में सफल हो सकें।

हम कहते हैं कि हम बुद्धिमान हैं

विज्ञान का उपयोग मानवी जीवन में जिस स्तर पर जिस क्रम से चलता है उससे कहीं अधिक, कहीं पहले ज्ञान का विभिन्न रूपों में प्रयोग चल पड़ता है। छोटे शिशुओं को मलमूत्र त्यागने की, भूख, सर्दी-गर्मी आदि को बताने के लिए रोने का संकेत करने की आदत डालनी पड़ती है। इसके बाद भाषा-ज्ञान का, अपने-पराये का भेद करने का ज्ञान विकसित होता है। शिष्टाचार निर्वाह, समय का पर्याप्त उपयोग, आहार में रुचिकर-अरुचिकर का वर्गीकरण ग्रहण करने की मात्रा का अनुमान जैसी अनेकें जानकारीयें अभिभावकों और परिजनों से प्राप्त होती रहती हैं। इन सबकी गम्भीरता, आवश्यकता एवं उपयोगिता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जो सीखा और सिखाया जाता है उसका अधिकांश भाग अनुपयुक्त होता है। यही कारण है कि अनुपयुक्त को चरितार्थ करते रहने के कारण बालकों में से अधिकांश बीमार पड़ते और बेमौत मरते हैं। आदतें आरम्भ से ही ऐसी पड़ जाती हैं, जिनके कारण सदा-सर्वदा कठिनाइयों, आपदाओं का सामना करना पड़ता है। यदि शिशुपालन की उनके विकास की सही जानकारी अभिभावकों, परिजनों में हो तो बच्चा विकास के क्रम पर सही रीति-नीति से चलता रह सकता है। उसका शरीर स्वभाव और विधि-निषेध करने का निर्णय करने वाला मन सुसंस्कारी ढाँचे में ढल सकता है। किन्तु कठिनाइयाँ प्रत्यक्ष हैं। बच्चा अपन बलबूते ज्ञानार्जन कर नहीं सकता और जो सिखाने वाले हैं, उन्हें इस बात का पता नहीं होता कि आरम्भिक आयु कितनी महत्वपूर्ण है और उसके निमित्त किस अवसर पर, किस प्रकार क्या सीखा और क्या सिखाया जाना चाहिए ?

संसार में प्रतिमिनट हजारों बच्चे पैदा होते हैं पर उनमें से कुछ ही ऐसे भाग्यवान होते हैं, जो आहार से लेकर आदतों तक का सही आधार उपलब्ध कर सकते हैं। इससे पूर्व शिशुप्रजनन की प्रक्रिया भी आँखें बन्द करके चल पड़ती है। शिशु के आविर्भाव के यही क्षण हैं। बीज बोने से पहले खेत को उर्वर बनाना पड़ता है। उसके लिए खाद-पानी, निराई-गुड़ाई, रखवाली आदि की अग्रिम व्यवस्था बनानी पड़ती है। शिशु उत्पादन से पूर्व उसकी जन्मदात्री का स्वास्थ्य, चिन्तन, वातावरण, अनुशासन, आवश्यकताओं की पूर्ति-प्रकरण यह सभी बातें ऐसी हैं जिनकी सही और समुचित जानकारी न केवल जननी को वरन् उसके संरक्षकों-सहायकों को भी उस प्रसंग में निष्णात होना चाहिए। इतना ही नहीं, इस अभिभावक परिकर के प्रत्येक सदस्य को, जननी को ऐसी परिस्थितियों में रखने में सहायक होना चाहिए जिससे वह उस गुरुतर कार्य का भार वहन सही रीति से कर सके। इस सम्बन्ध में अधिकांश परिवार एवं दम्पति नितान्त अज्ञान में फँसे होते हैं। यही कारण है कि आकाश से बरसने वाले रात्रि

के ओस कणों की तरह बच्चे जन्मते रहते हैं। वे किसी प्रकार धरती पर कूद तो पड़ते हैं, पर यह अनुमान नहीं कर पाते कि मनुष्य जन्म लेने के पीछे कितने अधिक कर्तव्य और उत्तरदायित्व उसके पीछे लदे हैं, उन्हें किस प्रकार पूरा करना है ? फलतः ऊसर, बीहड़ों में उगने वाले झाड़-झंखाड़ों की तरह उनकी उत्पत्ति और अभिवृद्धि होती रहती है।

चूँकि बच्चा समझदार नहीं होता, वह अपने उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में न तो कुछ सोच ही सकता है और न व्यवस्था बनाने, साधन जुटाने में ही समर्थ होता है। ऐसी दशा में सभी स्तर की जिम्मेदारियाँ उन सबके कंधों पर आती हैं, जिन्होंने प्रजनन का वातावरण बनाया, प्रोत्साहन या सहयोग दिया। यदि बड़े होने पर बालक अस्वस्थ, असंस्कृत, अनगढ़ स्तर का है तो उसकी जिम्मेदारी अभिभावक समुदाय की है। दुःख की बात यह है कि इस समुदाय को इस सन्दर्भ में यह ज्ञान होता ही नहीं, जिसको नितान्त आवश्यक समझा जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में कोई सज्जनोचित शास्त्र रचा भी नहीं गया है। एक अनगढ़ ढर्रा चला आता है। उसी को सहज बुद्धि के लोग अपना लेते हैं। फलतः बच्चे वैसे ही बन जाते हैं जैसे कि बिना माली वाले उद्यान या बिना किसान वाले खेत को होना चाहिए।

बालक छोटी आयु में अत्यधिक संवेदनशील होता है। वह गर्भकाल से लेकर बोलने-चलने योग्य होने तक व्यक्तित्व को विनिर्मित करने वाली अधिकांश विद्याएँ हृदयंगम कर लेता है। सम्पूर्ण जीवन में वह इसी पूँजी के सहारे अपने व्यक्तित्व का परिचय देता है। व्यवसाय कुछ भी क्यों न हो पर दृष्टिकोण वही रहता है जो अल्प-वयस्क स्थिति में अपना लिया जाता है अथवा यों कहिये कि जो अभ्यास करा दिया जाता है।

उदाहरण के लिए, कन्या और पुत्र के बीच बरता जाने वाला भेदभाव है। यह विभेद बालक पर थोपा हुआ है। उसे लिंग भेद के संस्कार आरम्भ से ही थोपे जाते हैं। लड़के का सम्मान लड़की की उपेक्षा। आत्मपरिचय देने में स्त्रीलिंग वाचक शब्द-विन्यास को प्रयुक्त करना, कपड़े स्त्रीलिंग वाले वर्ग के धारण करना, प्रसाधन-उपकरण, खिलौने उसी प्रकार के देना, वार्तालाप करते समय उसके भावी जीवन का निरन्तर संकेत देते रहना, सहेलियों में खेलने देना, अध्यापिकाओं द्वारा शिक्षण दिलाना आदि-आदि बातों से बालक यह समझने लगता है कि वह मानव समाज में हेय वर्ग का घटक है, जिसे पराधीनता भरा जीवन जीना है। जो कमी रह जाती है उसकी पूर्ति नाक, कान छेदकर, केश-विन्यास का, कपड़ों का तरीका बदलकर यह विश्वास करा दिया जाता है कि वह पिछड़े वर्ग का प्राणी है।

उसे यह सोचने का अवसर ही नहीं मिला कि वह पूर्ण मनुष्य है। मनुष्य में जो मनोबल-पुरुषार्थ पाया जाता

है, उसकी वह अधिकारिणी है और अवसर मिलने पर उस प्रतिभा का सर्वतोमुखी परिचय दे सकती है, जो किसी भी पूर्ण मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। यदि ऐसी स्थिति रही होती तो नर-नारी का वर्तमान दुःखदायी हेय-हीन विभेद वर्गीकरण न होता। आधे मनुष्य कैदी की और आधे जेलर की स्थिति में न रहते। दोनों वर्ग मिल-जुलकर सहयोगपूर्वक काम करते। एक-दूसरे का भार हल्का करते और मिल-जुलकर साथी को आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते। ऐसी दशा में समाज की स्थिति आज की अपेक्षा सर्वथा दूसरे ढंग की होती। समूची जनसंख्या समर्थ, सुयोग्य, सुसंस्कृत, सुविकसित एवं सुसम्पन्न होती। ऐसे युग यदि दूरदर्शिता अपनाकर अपने साथी के, बच्चे के, समाज के हित को गम्भीरतापूर्वक समझते हुए प्रजनन की दिशा में कदम बढ़ाते तो निश्चित रूप से भावी पीढ़ी उस स्तर की ढलती, जिसे सहज ही महामानव की संज्ञा मिलती।

इस लाभ से आज समूचा समाज वंचित है। इसका एकमात्र कारण है प्रजनन एवं शिशु-विकास सम्बन्धी विचारणा में गहिर्त तत्त्वों की भरमार का होना। दूरदर्शी विवेकशीलता और तथ्यान्वेषी विचारशीलता को कहीं प्रभ्रय ही नहीं मिलता।

इतने महत्वपूर्ण, आरम्भिक विषयों पर ऐसी उपेक्षा क्यों बरती गई ? इतनी महती आवश्यकता की पूर्ति क्यों नहीं की गई ? स्थिति पर पुनर्विचार क्यों नहीं हुआ ? उपर्युक्त मार्ग क्यों नहीं खोजा गया। सही दृष्टिकोण अपनाकर सही व्यवस्था बनाने का उत्साह मानव मन में उत्पन्न नहीं हुआ ? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि ज्ञान के धनी तो हम बनते रहे, बुद्धिमत्ता का ढिंढोरा भी पीटते रहे, उसका अहंकार भी करते रहे, पर मौलिक सूझ-बूझ से दूर रहे। परम्परा ही हमारे लिए पत्थर की लकीर है। उसी को ज्ञान-विज्ञान शास्त्र मानते हैं। इस पर भी दावा करते हैं कि हमें ज्ञान प्राप्त है, हम जानकार या बुद्धिमान हैं।

भावी पीढ़ी का निर्माण यों कीजिए

‘भावी पीढ़ी का निर्माण करिये’ का अर्थ है, बच्चों को अच्छा बनाइये। क्योंकि बच्चे ही कुछ समय में सयाने होकर आपकी जगह समाज और राष्ट्र का सारा भार अपने ऊपर लेंगे। लेंगे ही क्या, वह तो स्वभावतः उन पर आ ही जायेगा। किन्तु एक सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना से स्वभावतः आने वाला भार भी जब दायित्वपूर्ण ढंग से सँभाला जाता है तो उसका वहन सरलता और सुन्दरता से किया जा सकता है और आने वाला भार जब अनजाने ही ऊपर आ पड़ता है तो उसको सँभालने की ठीक-ठीक तैयारी न होने से वह एक दुर्बल बोझ ही बन जाता है, जिसे वहन तो करना ही पड़ता है, किन्तु उसमें वह वांछित सुख-सुन्दरता नहीं रहती जो होनी चाहिए।

आज हम अपने को ही देख लें कि हममें से कितने ऐसे हैं जो समाज में वर्तते हुए भी अपना दृष्टिकोण सामाजिक रखते हैं। हम जब भी कोई विचार करते हैं केवल अपने को आगे रखकर सोचते हैं। जो कुछ करते हैं अपने लिए और जो कुछ चाहते हैं अपने लिए ही। इस निजत्व की प्रधानता के कारण ही आज हममें सामाजिकता का नितान्त अभाव हो गया है। हर आदमी अपने चारों ओर स्वार्थ का कुण्डल मारकर सर्प की भाँति स्थित हो गया है और इसी संकीर्णता के कारण पारस्परिकता का सारा भाव उठता चला जा रहा है।

जिस समाज में पारस्परिकता का अभाव हो जाता है वह ऊपर से एक जैसा दीखता हुआ भी अन्दर से विभ्रंखलित होता है और विभ्रंखल समाज अपनी अथवा अपने राष्ट्र की रक्षा में असमर्थ रहने के कारण सदा सशंकित रहा करता है। उसका प्रत्येक सदस्य अपने को हर प्रकार से असुरक्षित एवं असहाय अनुभव किया करता है।

समाज को सुरक्षित बनाने के लिए वर्तमान पीढ़ी को अपने तुरन्त बाद आने वाली पीढ़ी को एक सुनिश्चित सामाजिक चेतना के साथ आगे बढ़ाना चाहिए—अर्थात् अपने बच्चों का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए कि वे अपने को अपने समाज का एक महत्वपूर्ण अंग समझें, वे जो कुछ सोचें सामाजिक दृष्टिकोण से और जो कुछ करें समाज को ध्यान में रखते हुए ही करें।

समाज में बुराइयों का जन्म ही तब होता है जब उसके सदस्यों में सामाजिक भावना का अभाव हो जाता है। हर व्यक्ति निरंकुश रूप से, मनमाने ढंग से बर्ताव करने लगता है। उसको अपने बर्ताव से दूसरे को होने वाले कष्टों का ध्यान ही नहीं रहता, जिससे कदम-कदम पर संघर्ष होने लगता है और जीवन सुखमय बनने के स्थान पर दुःखमय बन जाता है।

आज भारतीय समाज दिन-दिन दुःखमय बनता चला जा रहा है। उन्नति और प्रगति के प्रचुर साधन होने पर भी इसकी उन्नति एवं प्रगति के सारे मार्ग अवरुद्ध से दिखाई देते हैं। दिन-दिन इसमें बुराइयों की वृद्धि होने से संसार में इसकी साख घटती जा रही है। एक दिन संसार में सर्वोपरि कहा जाने वाला भारतीय समाज आज निम्नतर हो गया है। इसका क्या कारण है कि इसके सारे आदर्श, सारी संस्कृति और सारे साधन मौजूद हैं फिर भी यह दिन-दिन गिरता जा रहा है ? इसका एकमात्र कारण है इसकी सामाजिक भावना का हास हो जाना।

लोग धर्म का अनुगमन करते हैं, संस्कृति एवं सभ्यता की बात करते हैं किन्तु अलग-अलग केवल अपने तक सीमित होकर। बड़े-बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, प्रकाण्ड विद्वान और महान से महान व्यक्तित्व होने पर भी हमारा भारतीय समाज समग्र रूप से फिर भी कुछ

नहीं दीखता। संसार में इसकी गणना पिछड़े हुए समाजों में ही की जाती है।

अस्तु, अपने समाज को प्रगतिशील बनाने के लिए आगामी पीढ़ी का नया निर्माण करना बहुत आवश्यक है। समाज में सुधार लाने के लिए निरन्तर प्रयत्न हो रहे हैं किन्तु उनका कोई महत्वपूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है कि जो पीढ़ी आज समाज को चला रही है, वह केवल अपने सुधार में लगी हुई है। जबकि आवश्यक यह है कि अपना सुधार करने के साथ-साथ बच्चों पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए।

प्राइडों की अपेक्षा बच्चों का निर्माण अधिक सरल होता है। उनका मानसिक धरातल इतना कोमल और निर्विकार होता है कि उसमें बोये हुए बीज आसानी से फल-फूल सकते हैं। इसलिए सामाजिक कल्याण के लिए बच्चों का एक निश्चित रूप से निर्माण किया जाना चाहिए।

बच्चों के निर्माण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनके लिए कोई निर्माण करने वाली संस्थाएँ खोली जाएँ या उन्हें समय-समय पर एक जगह इकट्ठा करके किसी सामान की तरह उनका निर्माण किया जाये। बच्चों के निर्माण की जो संस्थाएँ हैं उनका लाभ तो उठाया ही जाना चाहिए, किन्तु उन पर सर्वथा निर्भर नहीं रहना चाहिए। बच्चों का सबसे स्थायी और प्रभावपूर्ण निर्माण घर पर अभिभावकों के द्वारा ही हो सकता है।

बच्चों को प्रारम्भ से ही एक ऐसे वातावरण में रखना चाहिए, जिससे उनमें उदार भावनाओं का विकास हो। उनके भाई-बहनों से समता का व्यवहार सिखाया जाना चाहिए। जिन घरों में अनेक बच्चे होते हैं, वहाँ बहुधा देखा जाता है कि कोई एक बच्चा माता-पिता का अधिक प्यारा होता है। उसके अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक विशेषता दी जाती है। यह व्यवहार उचित नहीं है। इससे अन्य बच्चों में असमानता का भाव जागता है और वे आपस में एक-दूसरे से असमानतापूर्ण व्यवहार करना सीख जाते हैं।

बहुत बार छोटे बच्चों को बड़े बच्चों का इतना मातहत बना दिया जाता है कि बड़ा बच्चा दूसरे छोटे भाई-बहनों को बिल्कुल अपना सेवक समझ लेता है और अपना हर काम उनसे लेने का प्रयत्न करने लगता है। इससे बड़े बच्चे में अनुचित अधिकार और परावलम्बन की भावना पनपने लगती है और दूसरी ओर छोटे बच्चे में एक हीन भावना घर करने लगती है।

अनेकों बार ऐसा होता है कि बच्चों की शिक्रयत सुनते समय अभिभावक किसी बच्चे का अनुचित पक्षपात कर बैठते हैं जिससे एक बच्चा ढीठ और दूसरा कायर हो जाता है। यदि इसी प्रकार के पक्षपात की पुनरावृत्ति

बहुत बार होती है तो बच्चों में न्याय के प्रति अग्रद्वारा का भाव पैदा हो जाता है।

अस्तु, अनेक बच्चों के परिवार में बच्चों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाना चाहिए जिससे उनमें समता, सत्यता, न्याय और पारस्परिकता का भाव जगे।

बच्चों से धीरे-धीरे क्रम से ऐसे काम लेने और सौंपने चाहिए जिससे वे करते समय अपने अन्दर एक उत्तरदायित्व अनुभव करें। इन कामों में से एक काम घर का हिसाब रखना भी हो सकता है। किन्हीं मित्रों अथवा सम्बन्धियों को प्रीतिभोज अथवा खाने के समय उन्हें भोजन परोसने में मदद करना आदि। अधिकतर लोग करते यह हैं कि इस तरह के उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्यों और अवसरों पर बच्चों को अधिक से अधिक दूर रखते हैं, जबकि उत्तरदायी बनाने के लिए उन्हें यथासम्भव इन कामों में शामिल करना चाहिए।

उनको रहन-सहन, ओढ़ने-पहनने और उठने-बैठने का एक सलीका सिखाना चाहिए, जिससे उनमें अस्त-व्यस्तता अथवा लापरवाही का विकार पैदा न होने पावे। शिष्टाचार और मिलनसारियत सिखाने के लिए सम्बन्धियों और मित्रों के यहाँ जाते समय यथासम्भव उन्हें साथ ले जाना चाहिए, इससे उनमें परिचय की जिज्ञासा का जन्म होगा और उनके परिचय का क्षेत्र बढ़ेगा।

यह ऐसी कुछ बातें हैं जिनका सम्बन्ध घर के लोगों के बीच व्यवहार से है। बच्चों को बाहर व्यवहार में आने वाली कुछ छोटी-मोटी बातों का भी ध्यान रखना चाहिए। जैसे वह अपने साथियों के साथ कैसा व्यवहार करता है ? बाहर अपने से बड़ी आयु वालों के साथ कैसे पेश आता है ? वह कहाँ किन-किन बातों में दूसरों से दबता है और कहाँ किन-किन बातों में दूसरों को दबाने का प्रयत्न करता है ? यदि बच्चों सम्बन्धी ऐसी बातों का पता लगे तो उनमें तत्काल आवश्यक सुधार किया जाना चाहिए। उसके बाह्य व्यवहारों में एक सन्तुलन पैदा किया जाना चाहिए।

बच्चों में सामाजिकता और पारस्परिक स्नेहभाव उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी पर्व आदिकों पर उसे अवसर दिया जाना चाहिए कि वह अपने साथियों को अपने घर चाय-पानी करने या भोजन करने के लिए आमंत्रित करे। इससे उनमें आपस में स्नेह और विश्वास बढ़ेगा और अभिभावकों को उसके साथियों को पहचाने का अवसर मिलेगा।

अधिकतर अभिभावक बच्चों पर चारों ओर से एक घेरा डाले रहते हैं, जिससे उनका व्यक्तित्व दबकर रह जाता है। उनको अच्छी-बुरी संगत पर ध्यान रखते हुए उन्हें अपने अनुरूप समाज में घुलने-मिलने और एक-दूसरे को जानने, समझने में बाधा न दी जानी चाहिए।

यह सब बातें अपने बच्चों के साथ बर्ताव में लाने की है। कुछ ऐसी आवश्यक बातें भी हैं, जो दूसरों के बच्चों के साथ व्यवहार में लाई जानी चाहिए। उनमें से सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात यह है कि हर बच्चे को बिल्कुल अपने बच्चे के समान समझना और उससे प्यार करना चाहिए। कोई भी बच्चा किसी अभिभावक के सामने आकर यह न अनुभव करे कि वह किसी गैर के सामने खड़ा है, उसे ऐसा अनुभव होना चाहिए कि वह अपने माता-पिता अथवा सगे-सम्बन्धियों के सामने है। किसी भी बच्चे को कोई गलती या बुरा काम करते देखें तो उसे ठीक उसी प्रकार सुधारने की कोशिश की जानी चाहिए जैसे अपने बच्चे को।

अधिकतर देखने में आता है कि आपस में दो मित्र एक-दूसरे के अभिभावकों से या तो डरते हैं या बहुत शरमाते हैं। यदि दो मित्र आपस में बैठे हैं और उनमें से किसी के अभिभावक आ जाते हैं तो वे दोनों एकदम सिटपिटा जाते हैं। एक-दूसरे के घरों पर बैठे होने पर अभिभावकों के आने का समय होने पर खिसक चलते हैं। इसका मूल कारण यह है कि अभिभावक अपने बच्चों के मित्रों से परिचित नहीं होते और होते भी हैं तो उनके ठीक अपने बच्चे जैसा व्यवहार नहीं करते।

इस प्रकार क्या अपना और क्या पराया, हर समय हर बच्चे का नव-निर्माण ध्यान में रखते हुए व्यवहार किया जाना चाहिए, जिससे कि बच्चों की आने वाली नागरिक पीढ़ी कुछ सुधरकर आ सके।

बच्चों का नैतिक विकास

आचरण के लिए समाज निर्धारित नियमों के अनुसार चलना ही नैतिकता माना जाता है। अतः विभिन्न समाज द्वारा आचरण के लिए निर्धारित विभिन्न नियमों के अनुसार नैतिकता के स्वरूप में कुछ भेद पाया जा सकता है। इस प्रकार एक ही समाज के विभिन्न वर्गों की नैतिकता के स्वरूप में भी विभेद पाया जा सकता है। अच्छे तथा बुरे व्यवहार सम्बन्धी किसी वर्ग के विचार के अनुसार ही यह निर्णय किया जा सकता है कि उस वर्ग के व्यक्तियों के लिए नैतिक व्यवहार क्या है ?

अच्छे नैतिक व्यवहार के लिए कुछ बातों की आवश्यकता होती है—

१. अच्छा स्वास्थ्य। २. संवेगात्मक सुरक्षा, दूसरों से प्यार और आदर पाने की प्रवृत्ति। ३. विभिन्न भावनाओं के प्रकाशन के लिए स्वास्थ्यकर साधनों की प्राप्ति, जिससे व्यक्ति अवांछित मार्ग की ओर न झुके। ४. कुछ आत्म-नियन्त्रण रखना, जिससे बचपन जैसी प्रकृतियों पर आवश्यक रोक रखी जा सके। ५. सामाजिक दृष्टिकोण का सदा विस्तार होते रहना, जिससे व्यक्ति दूसरों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता दिखला सके और दूसरों

के अधिकारों और सुविधाओं पर ध्यान दे सके। ६. उचित वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए प्रेरणा का रहना और उचित कार्य को ही करने में सन्तोष प्राप्त करना।

बच्चा न तो नैतिक होता है और न अनैतिक। वस्तुतः वह तो विनैतिक होता है, क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होता। नैतिक व्यवहार दिखलाने के पहले बालक को यह सीखना चाहिए कि उसका समाज किस वस्तु को अच्छा और किसको बुरा कहता है ? यह सब धीरे-धीरे अपने मित्रों, शिक्षकों तथा माता-पिता से सीखता है। यदि समाज द्वारा मान्य व्यवहार बालक के लिए सुखद है तो उसे वह शीघ्र सीख लेगा और उस प्रकार के व्यवहार दिखलाने की उसकी आदत हो जायेगी। अतः उचित पथ-प्रदर्शन और शिक्षण से माता-पिता तथा शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि सामाजिक सन्दर्भ में बालकों के अनुभव यथासम्भव सुखद हों, तभी वे सरलता से नैतिकता का पाठ सीख सकेंगे। यदि बालक को कोई कार्य करने के लिए विवश किया जाता है तो वह कुछ भी न सीख सकेगा। अतः स्वाभाविक रूप से ही उसे सब कुछ सिखाने का प्रयत्न करना चाहिए।

नैतिक व्यवहार का विकास—नैतिक विकास के दो अंग किए जा सकते हैं—(१) नैतिक व्यवहार का विकास और (२) नैतिक प्रत्यय का विकास। इन दोनों अंगों पर हम नीचे विचार करेंगे।

सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार व्यवहार दिखा पाना बच्चा कई वर्षों में सीख पाता है। यदि उसके ऊपर मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण रखा गया और उसके विविध अनुभव सुखद बनाए गये, तो वह नैतिक व्यवहार दिखलाने में समर्थ नहीं होता। आवश्यक ज्ञान देने के बाद उदाहरण द्वारा यह दिखलाना चाहिए कि उस ज्ञान को कार्यान्वित कैसे किया जाए ? कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही बालक को नैतिक व्यवहार सिखलाया जा सकता है।

नैतिक व्यवहार सिखाने के लिए सर्वप्रथम बालक को यह सिखाना चाहिए कि घर पर उचित व्यवहार कैसे दिखलाना चाहिए ? इसके बाद स्कूल जाने लगने पर उसे स्कूल के नियमों के अनुसार नैतिक व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। तब उसे यह सिखाना चाहिए कि खेल के मैदान में नैतिक व्यवहार का तात्पर्य क्या होता है ? यदि घर, स्कूल और खेल के मैदान के नैतिक नियम समान न हुए अर्थात् यदि व्यवहार सम्बन्धी उनमें कुछ विरोध होता है तो बालक विस्मित होता है कि एक परिस्थिति में उसके किसी व्यवहार की क्यों प्रशंसा की जाती है और दूसरी परिस्थिति में उसी प्रकार के व्यवहार की क्यों निन्दा की जाती है ? ऐसी स्थिति में नैतिक प्रत्यय का विकास करना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बालक को

चुपके-चुपके सन्दूक से मिठाई निकालकर खाने की सुविधा दे दी जाती है, तो वह यह नहीं समझ पाता है कि दूसरे बालकों की पेन्सिलें चुराने पर उसे क्यों दण्ड दिया जाता है ? कहने का अर्थ यह है कि 'चोरी करना' प्रत्येक स्थिति में अनैतिक मानना चाहिए, चाहे वह घर में, स्कूल में अथवा खेल के मैदान में हो।

नैतिक व्यवहार का सीखना संयोग पर नहीं छोड़ा जा सकता और न इसे बालक के प्रत्यय और भूल सम्बन्धी अनुभवों पर ही छोड़ा जा सकता है। बालक को नैतिक व्यवहार सिखलाने के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) नैतिक व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत नियमों पर चलना चाहिए। (२) बच्चे को स्पष्टतः यह बतलाना चाहिए कि क्या उचित है और क्या अनुचित। (३) समझने योग्य हो जाने पर बालक को यह बतलाना चाहिए कि कुछ बातें ठीक मानी जाती हैं और दूसरी गलत। (४) बच्चों के पथ-प्रदर्शन का भार जिनके ऊपर है, उन्हें यह देखना चाहिए कि उचित व्यवहार के साथ बच्चों को सुखद अनुभव मिलते हैं और अनैतिक व्यवहार के साथ दुःखद अनुभव मिलते हैं। अर्थात् नैतिक व्यवहार पर बच्चे को पुरस्कार देना चाहिए अथवा उसकी प्रशंसा करनी चाहिए और अनैतिक व्यवहार पर उसे दण्ड देना अथवा उसकी निन्दा करनी चाहिए।

किसी भी आदत-निर्माण का यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि इसमें कभी छूट नहीं देनी चाहिए, अर्थात् आदत को दृढ़ करने के लिए एक अवसर को भी न खोना चाहिए। नैतिक आदतों के सम्बन्ध में यह नियम लागू करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के क्रम में कभी विरोध न दिखलाई पड़े। जो बात आज गलत मानी जाती है, उसे कल भी गलत कहना चाहिए। यदि इस स्थिरता की रक्षा न की गई तो बालक की समझ में कुछ न आयेगा। इस स्थिरता के अभाव में बहुत-से बालक समस्या-घातक हो जाते हैं, क्योंकि वे नहीं समझ पाते कि उनसे क्या अपेक्षा की जा रही है ?

नैतिक प्रत्ययों को सीखना नैतिक विकास का दूसरा अंग है। इसमें बालक शान्ति रूप से उचित और अनुचित के सिद्धान्तों को सीखता है। बहुत छोटे बालक के लिए यह समझना कठिन होता है। जब बालक में इतनी मानसिक शक्ति आ जाती है कि वह विभिन्न बातों का विश्लेषण और संश्लेषण कर सके, तब वह इन सब सिद्धान्तों को समझ सकता है। तभी वह एक परिस्थिति में सीखे हुए आचरण नियमों को दूसरी परिस्थिति में लागू कर सकता है। भाषा कौशल में निपुणता प्राप्त करने के साथ नैतिक प्रत्ययों को समझने की शक्ति भी बालक में बढ़ जाती है क्योंकि तब अमूर्त सिद्धान्तों और वास्तविक परिस्थितियों के परस्पर सम्बन्ध को समझना उसके लिए पहले से सरल हो जाता है।

अपने कार्यों के फलस्वरूप बालक अपने आचरण को अच्छा या बुरा मानता है। बड़ा होने पर बालक को यह समझना चाहिए कि उसके कार्यों का सामाजिक फल क्या होगा ? उसे अब यह सोचना चाहिए कि उसके किसी आचरण के बारे में उसके समूह के लोग क्या सोचेंगे ? समूह के सम्पर्क से ही वह समझ पाता है कि उसके व्यवहार के बारे में दूसरे क्या सोचते हैं ? अपने अथवा दूसरों के कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य को समझ सकने की योग्यता स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभवों से आती है, न कि नैतिक सिद्धान्तों पर दूसरों का प्रवचन सुनने में।

बच्चों के नैतिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में कई परीक्षण हुए हैं। उनसे यह पता चला है कि नैतिक प्रत्ययों और बुद्धि तथा प्रौढ़ता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'मैकाले' और 'वाटकिन्स' ने २५०० बालकों को सबसे अधिक पाप पूर्ण बातों की सूची बनाने के लिए कहा। उन्होंने देखा कि नौ वर्ष की उम्र तक बच्चों के प्रयत्न मूर्त और निश्चित होते हैं। इस अवस्था तक अमूर्त बातों को समझना उनके लिये कठिन होता है। नौ वर्ष के बच्चों के लिए सबसे अधिक पापपूर्ण बातों का सम्बन्ध माता की अवज्ञा करना अथवा छोटे पशुओं को चोट पहुँचाना था। नौ वर्ष के बाद नैतिक विकास का घेरा कुछ बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, अब बच्चे 'चोरी करना' क्यों बुरा मानते हैं, चाहे जिस वस्तु की चोरी की जाए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब उनमें चोरी करने का सामान्य प्रत्यय बन गया है। बच्चों के उत्तरों से उचित और अनुचित के ज्ञान के स्रोत का अनुमान किया गया और यह देखा गया है कि वे इसका ज्ञान बहुधा अपनी माँ से सीखते हैं। उनके उत्तरों में पिता की ओर संकेत बहुत कम ही मिला।

व्यवहार और ज्ञान का सम्बन्ध—कुछ परीक्षात्मक अध्ययनों से पता चलता है कि नैतिक प्रत्यय के होने से यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति तदनुकूल नैतिक व्यवहार भी दिखलावे। 'हार्टशोन' और 'मे' ने देखा कि धोखा देने के अर्थ को समझ लेने पर विशिष्ट परिस्थिति के आने पर बच्चे अपने धोखा देने की प्रवृत्ति का संवरण नहीं कर सके। एक परीक्षा में १३३ विद्यार्थियों को नकल करते पाया गया। इनमें ८९ प्रतिशत ने बतलाया कि वे जानते थे कि नकल करना धोखा है। अपराधी बालकों के सम्बन्ध में नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार के अन्तर को अच्छी तरह समझा जा सकता है, क्योंकि ये लड़के बहुधा उचित और अनुचित का ज्ञान रखते हुए भी असामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं। हाईस्कूल के विद्यार्थियों तथा अपराधी बालकों के नैतिक प्रत्ययों के ज्ञान में बड़ी समानता थी। 'बेवर' ने किसी जेल स्कूल की १२८ लड़कियों से एक क्रम से १६ बुरी बातों की सूची बनाने के लिए कहा। उनकी सूचियों से

बेवर को ज्ञात हुआ कि उनमें उतनी ही अन्तर्दृष्टि होती है जितनी विश्वविद्यालय की लड़कियों में होती है। इन सब निष्कर्षों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उचित और अनुचित का ज्ञान किसी को अनैतिक व्यवहार से रोकता नहीं, अर्थात् नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेने का तात्पर्य यह नहीं होता कि व्यक्ति तदनुकूल व्यवहार भी दिखलाए ही।

विकास की अन्य अवस्थाओं के सदृश्य नैतिक विकास भी एक क्रम से चलता है। अतः बालकों के सम्बन्ध में यह पूर्व अनुमान किया जा सकता है कि किस अवस्था पर कौन-से नैतिक गुण बालक में अपेक्षित किए जा सकते हैं। अपने नैतिक विकास के क्रम में बालक एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बड़े धीरे-धीरे आता है। विकास की एक अवस्था महीनों तक चल सकती है। नीचे नैतिक विकास की केवल तीन प्रधान अवस्थाओं का संक्षेप में उल्लेख किया जायेगा—(१) शैशव में नैतिकता, (२) प्रारम्भिक बचपन में नैतिकता, (३) बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता।

शैशव में नैतिकता—पीछे कहा जा चुका है शिशु न तो नैतिक होता है और न अनैतिक, वह विनैतिक (Non moral) होता है। अतः उसे उचित और अनुचित कार्यों को सीखना है। समाज द्वारा स्वीकृत और अस्वीकृत नैतिक नियमों का अर्थ बालक के लिए कुछ नहीं होता। उसके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। सुख और दुःख की अनुभूति के आधार पर वह किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य के विषय में निर्णय करता है। उसके कार्य से किसे लाभ अथवा हानि होती है इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। बिना बुरे परिणाम को जाने बच्चे के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि उसका कोई कार्य बुरा है। वह सोचता है कि उसके व्यवहार का सम्बन्ध केवल उसी से है और जब तक उसे अपने किसी कार्य का अरुचिकर अनुभव नहीं मिलता, तब तक उसमें सुधार लाना वह आवश्यक नहीं समझता।

तीन या चार वर्ष की अवस्था से बच्चा कुछ-कुछ समझने लगता है कि जिसे लोग चाहते हैं, वह कार्य अच्छा है और जिसकी लोग निन्दा करते हैं, वह कार्य बुरा है। इस समय दूसरों के प्रति किसी कर्तव्य की भावना उसमें नहीं रहती। अतः जो मन में आता है, वही वह करता है। किसी को प्रसन्न करने की भावना उसमें नहीं रहती। उसके कार्य से यदि दूसरों को किसी प्रकार का दुःख पहुँचता है, तो उसमें पश्चाताप की भावना नहीं आती।

शैशव में सम्पत्ति अधिकार की भावना बच्चे में नहीं रहती। बच्चे को जो अच्छा लगता है, उसे वह उठा

लेता है, वह यह नहीं सोचता कि वह किसकी वस्तु है ? दूसरे के खिलौने अथवा किसी दुकान के खिलौने को वह बिना संकोच के उठा लेगा। यह सब करने में उसमें चोरी की भावना नहीं होती।

बचपन में नैतिकता—तीसरे या छठे वर्ष के अन्दर नैतिक आवरण के कुछ मूल सिद्धान्तों से बच्चों का परिचय हो जाना चाहिए। लेकिन इस काल में बच्चे से यह कहना आवश्यक नहीं है कि कोई कार्य क्यों बुरा है, क्योंकि इस समय बच्चे की मानसिक प्रौढ़ता इतनी अधिक नहीं होती कि वह इन सब बातों को समझ सके। किसी अनुचित कार्य के करने पर उसे कैसा दण्ड मिलता है ? इसी के आधार पर किसी कार्य के औचित्य को वह समझता है। अतः उसके वातावरण के लोग जिस प्रकार के कार्य करने पर उसकी प्रशंसा करते हैं, वह वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। इस समय उसकी नैतिकता का स्तर केवल यहीं तक रहता है। इस प्रकार कभी-कभी वह उचित कार्यों को करता है, परन्तु वह उनके औचित्य के कारण को नहीं समझता।

पाँच या छह वर्ष के हो जाने पर बच्चे में आज्ञाकारिता की आदत आ जानी चाहिए। 'अच्छा', 'बुरा', 'बहुत ठीक' 'शरारती' 'पाजीपन' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से इस समय बच्चे को 'अच्छे' या 'बुरे' का कुछ विचार दिया जा सकता है।

नैतिक प्रत्यय और अनैतिक व्यवहार का अन्तर इस काल में देखा जा सकता है। बच्चा स्वयं अच्छे या बुरे की ओर संकेत कर सकता है। परन्तु तदनुसार आचरण दिखलाने में वह असमर्थ हो सकता है।

समूह के नैतिक विचारों के अनुसार ही बचपन के अन्तिम दिनों में व्यक्ति के नैतिक विचार होते हैं। छठे वर्ष की उम्र से लेकर किशोरावस्था आने के पूर्व तक बालक उसी प्रकार आचरण दिखलाने का प्रयत्न करता है जैसा कि उसका समूह उससे अपेक्षा करता है। दस या बारह वर्षों की अवस्था पर बालक नैतिक नियमों में निहित सिद्धान्तों को कुछ-कुछ समझने लगता है। विभिन्न परिस्थितियों में अब तक वह नैतिक और अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को कुछ हद तक समझ सकता है, परन्तु अब भी अपने कार्यों की नैतिकता को पूर्णरूपेण वह नहीं समझ सकता। अतः अब भी उसे दूसरों के निर्णय पर निर्भर रहना पड़ता है।

दस-बारह वर्ष के बाद बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, वह 'न्याय' और 'आदर' के अर्थ को समझने लगता है। अब वह समझने लगता है कि झूठ बोलना, दूसरों की निन्दा करना, गाली देना, कायरता दिखलाना, दूसरों को सताना या हानि पहुँचाना, मित्रों को धोखा तथा दूसरों की वस्तुओं को ले लेना बुरा अर्थात् अनैतिक है। अतः जो झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं अथवा चोरी करते हैं, उनसे वह घृणा करने लगता है।

'लर्नर' और 'मर्की' के अनुसार आठ से दस वर्ष की अवस्था में व्यक्ति नैतिकता के दोहरे स्वरों से अनुशासित होता है। उदाहरणार्थ, माता और पिता के साथ अपने व्यवहार में बच्चे इस काल में दो सिद्धान्तों के अनुसार चलते हैं। वे पिता से बहुत डरते हैं अथवा उनकी अवज्ञा की कल्पना वे शीघ्र नहीं करते। इसके विपरीत माता से वे कम डरते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि माता उन्हें अधिक प्यार करती है और उनके दोषों पर वह विशेष ध्यान नहीं देती। इस भावनावश माता से झूठ बोलना अथवा उसे किसी बात में धोखा देना उसके लिए कठिन नहीं होता।

बच्चों में विनय कैसे आये—व्यवहार के मान्य स्तरों के अनुसार चलने का तात्पर्य विनय के अनुसार चलना है। विनय के अनुसार चलने के लिए बालक को अपनी कुछ आदतें बनानी चाहिए। आदतें बनाने के सम्बन्ध में विनय के चार प्रधान सिद्धान्तों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. बालकों को वांछित रूप में व्यवहार करना चाहिए। उसे अपने अवांछित व्यवहार को छोड़ देना चाहिए। २. वांछित कार्यों से उसे सुख का अनुभव करना चाहिए और अवांछित कार्यों से दुःख। ३. उसे वांछित कार्यों को इस प्रकार करना चाहिए कि वे स्वचालित हो जायें अर्थात् उन्हें करने के लिए दूसरे के आदेश और नियन्त्रण की आवश्यकता न हो। ४. अवांछित व्यवहार के स्थान पर वांछित व्यवहार दिखलाना उसे सीख लेना चाहिए।

प्रशंसा और पुरस्कार के रूप में विधेयात्मक अभिप्रेरणा (पोजिटिव मोटीवेशन) निषेधात्मक अभिप्रेरणा (नेगेटिव मोटीवेशन) की अपेक्षा बालक को नैतिकता की ओर खींचने के लिए अधिक उपयुक्त है। परन्तु बालक के नैतिक विकास में 'दण्ड' के स्थान की अपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी कार्य का सम्भावित फल क्या होगा इस समझ के आधार पर बालक अपने कार्य के औचित्य और अनौचित्य को समझने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार वह स्वयं यह निश्चय कर सकेगा कि उसका कार्य अच्छा है अथवा बुरा है। ऐसा निश्चय कर सकने का अर्थ यह है कि बालक विनय के नियमों के अनुसार कार्य करने में समर्थ हो रहा है अर्थात् उसका व्यवहार नैतिकता की ओर उन्मुख है।

विनय के नियमों का प्रयोग बालक के सम्बन्ध में इस प्रकार करना चाहिए कि वह उनके तथा प्रौढ़ों के प्रति स्वास्थ्यप्रद भावना कर सके। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह पता चला है कि शारीरिक दण्ड के अत्यधिकता से बच्चों में वास्तविकता से भागने की तथा प्रौढ़ों के ध्यान और प्रेम पर निर्भरता की प्रवृत्ति आ जाती है। अत्यधिक डाँटने और डराने से बच्चों का व्यक्तित्व अनाकर्षक होता

जाता है। बच्चों से प्रायश्चित्त कराने अथवा उन्हें धमकियों दिखलाने का फल अच्छा नहीं होता। इससे उनमें सामाजिकता की प्रवृत्ति घट जाती है और उनकी आत्मनिर्भरता कम हो जाती। घर में कड़े नियन्त्रण और विनय का बालक के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें—बालक के नैतिक विकास पर उसके वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वातावरण की जिन बातों से उसका नैतिक विकास प्रभावित होता है, उनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण बातों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है—

कुटुम्ब-कुटुम्ब के लोगों का बालक के नैतिक विकास पर चार प्रकार का प्रभाव पड़ता है—

(१) कुटुम्ब का व्यवहार बालक के लिए आदर्शस्वरूप होता है, अतः वह उसके अनुकरण की चेष्टा में रहता है। (२) पुरस्कार, प्रशंसा तथा दण्ड के सहारे कुटुम्ब बालक को सामाजिक व्यवहार दिखलाना सिखलाता है। (३) बुरे कार्य के अनुसार दण्ड देकर कुटुम्ब बालक को उसके बुरे कार्य की कठोरता को समझाता है। (४) अच्छे कार्य को करने के लिए कुटुम्ब बालक को अनेक प्रकार की प्रेरणा दे सकता है। इसीलिए कुटुम्ब को बच्चे की प्रथम पाठशाला कहा गया है।

साधारणतः बालक अपने कुटुम्ब के बड़े लोगों, जैसे माता-पिता, चाचा-चाची तथा भाई-बहिन के व्यवहार को आदर्श मानता है और उनके बुरे आचरण को भी अच्छा समझता है और तदनुसार स्वयं व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करता है। माता-पिता का बुरा स्वास्थ्य तथा उनकी मन्दबुद्धि, बुरी आर्थिक स्थिति तथा अन्य बातों से घर का वातावरण दूषित हो जाता है। घर के बुरे वातावरण से बालक का नैतिक विकास अवांछित दिशा की ओर जा सकता है और आगे चलकर बालक सामाजिक कार्यों में भाग ले सकता है। लड़कियों को प्रायः घर के अन्दर रहना पड़ता है। अतः बुरे वातावरण का उनके नैतिक विकास पर लड़कों की अपेक्षा अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

अपराधी लड़कियों के अपने अध्ययन में 'फर्नवर्ड' ने देखा कि उनमें से ८७ प्रतिशत कुव्यवस्थित घरों की थीं। अपने चिकित्सालय में लाये गये बालकों के अध्ययन में 'वेन्टर' और 'ब्लनचर्ड' ने देखा कि उनमें ९० प्रतिशत बुरे कुटुम्बिक वातावरण से आये थे। जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ कर देता है तो दिन का उसका अधिकांश समय घर के बाहर ही बीतता है। अब वह प्रौढ़ों की अपेक्षा अपने ही उम्र के अन्य बालकों के सम्पर्क में अधिक आता है। अतः उसके नैतिक विकास पर उसके साथियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

मनोवैज्ञानिक 'फिट' ने अपने अध्ययन में देखा कि नर्सरी स्कूल के बच्चों के भी नैतिक व्यवहार पर उनके

साथियों का प्रभाव पड़ता है। 'वार्नर' ने अपराधी बालकों के अध्ययन से निष्कर्ष निकाला है कि हर प्रतिशत अपराध बुरे साथियों द्वारा अभिप्रेरित किये जाते हैं।

प्रतियोगिता—स्कूल जाने लगने से बालक प्रतियोगिता के खेलों में भाग लेने लगता है। प्रतियोगिता सम्बन्धी खेलों में नैतिक शिक्षा के बड़े अवसर मिलते हैं। खेल में बच्चों को ईमानदार बनने तथा स्वार्थ त्याग करने की शिक्षा मिलती है। खेल में खेल के नैतिक नियमों की जो अवहेलना करता है, उसे अन्य लड़के हेय दृष्टि से देखते हैं। अतः ऐसे अवसरों पर नैतिक नियमों का पालन करना बालक को बड़ा ही आवश्यक जान पड़ता है। जो खिलाड़ी किसी तरह जीतना चाहता है उसे अच्छा खिलाड़ी नहीं कहा जाता। जो खेल में सारा श्रेय अपने ही पास रखना चाहता है और अपने अन्य साथियों को अपना कौशल दिखलाने का अवसर नहीं देता, उसकी निन्दा की जाती है। इस प्रकार स्कूल के द्वारा आयोजित खेलों से बालकों को नैतिक शिक्षा मिलती है।

जिस स्कूल में स्वशासन के आधार पर विनय स्थापना की व्यवस्था की जाती है, उस स्कूल के बालकों के वांछित नैतिक प्रत्ययों का विकास होता है, क्योंकि इससे आत्म-नियन्त्रण तथा दूसरों की सुविधाओं पर ध्यान देने की शिक्षा मिलती है। प्रत्यक्ष परिस्थितियों में वास्तविक अनुभूति से बालकों को बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। कहना न होगा कि ऐसे अवसरों का स्कूल में सरलता से आयोजन किया जा सकता है।

पुस्तकें—जिस प्रकार माता-पिता तथा शिक्षकों का प्रभाव बच्चों के नैतिक विकास पर पड़ता है, उसी प्रकार उनके द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों का भी प्रभाव पड़ता है। छपी हुई बातों का प्रभाव पाठक पर बड़ी ही जल्दी पड़ता है।

सिनेमा—मनोवैज्ञानिकों ने यह जानने का विशेष प्रयत्न किया है कि बालकों के नैतिक विकास पर सिनेमा का क्या प्रभाव पड़ता है ? जिस प्रकार सिनेमा का व्यक्ति की वाणी और पहनावे पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार उसका भाव, उसके नैतिक व्यवहार पर भी पड़ता है। सिनेमा से व्यक्ति के जीवन-दृष्टिकोण पर प्रभाव पड़ सकता है। उससे धन और वैभव की इच्छा व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती है। उससे उसकी प्रवृत्ति अपराध करने की ओर भी जा सकती है। किशोर अवस्था में बालकों में निर्देश की योग्यता बड़ी प्रबल होती है। अतः इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए कि वे कैसा सिनेमा देखने जा रहे हैं। नैतिकता के लिए केवल बुद्धि की ही आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि नैतिकता के विकास में बुद्धि की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि किसी परिस्थिति की अच्छाई और बुराई को समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है। परन्तु इसे समझने के लिए बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की बुद्धि की आवश्यकता नहीं। एक सामान्य बुद्धि

वाला व्यक्ति भी इसे सरलता से समझ सकता है। 'टरमन' को १००० बालकों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि उनमें १३० बुद्धि-लब्धि वाले ईमानदारी, सच्चाई तथा अन्य समान नैतिक गुणों में सामान्य बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़े हुए थे।

'विगम' का कथन है कि बुद्धि नैतिक व्यवहार के साथ-साथ इसलिए चलती है, क्योंकि बुद्धिमान लड़के समझते हैं कि उचित व्यवहार ही बुद्धि-युक्ति आचरण है। बुद्धिमान लड़के प्रायः नैतिक व्यवहार दिखलाते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा व्यवहार ही सबसे अच्छा फल देगा। एक बुद्धिमान बच्चा अथवा प्रौढ़ व्यक्ति यह शीघ्र समझ लेता है कि जीवन में जो कुछ वह चाहता है, उसे बेईमानी और धोखे की अपेक्षा ईमानदारी और सच्चाई के सहारे अधिक सरलता से पा सकता है।

शरारतें—कुछ बच्चे अपने मन में यह धारणा बना लेते हैं कि ऊधम करने से वे दूसरों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित कर सकेंगे। इन ऊधमों के कारण दण्ड पाने पर भी वे अपने ऊधमों को शीघ्र नहीं छोड़ते, क्योंकि दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में उन्हें कुछ विशेष आनन्द आता है।

कुछ बड़े बच्चों का समूह शरारतें करने में विशेष आनन्द का अनुभव करता है। दूसरों को चिड़ाने, दरवाजे की घण्टी बजाने, चुपके से साइकिल या मोटर वाले की टायरों की हवा निकाल देने, सड़कों, रास्तों या दीवारों पर मनमाने चित्र बनाने या लिख देने में समूह का प्रत्येक सदस्य आनन्द लेता है, क्योंकि वह समझता है कि परिस्थिति का वह पूरा स्वामी है। स्कूल में दूसरे बालकों के साथ कानाफूँसी करने, इधर-उधर कागज के टुकड़े पहुँचाने तथा दूसरे बच्चों को तंग करने से दण्ड पाने पर भी कुछ बालकों को इसमें आनन्द आता है, क्योंकि वे सोचते हैं कि वे दूसरों के ध्यान के केन्द्र हो जाते हैं।

कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में सारे बचपनभर शरारत पाई जाती है। बचपन में बालक माता-पिता के नियन्त्रण को ढीला कर समूह के नियन्त्रण में आ जाता है। अतः इस काल में उसमें शरारतों का पैदा होना स्वाभाविक है। अतः इस काल की शरारतों से माता-पिता तथा शिक्षक का घबड़ाना ठीक नहीं। घर पर की जाने वाली शरारतों में बिस्तर पर पेशाब कर देना, ऊधम मचाना, छोटे बच्चों को अनायास पीट देना, मटरगश्ती करना, अवज्ञा करना, अनियमितता, झूठ बोलना तथा चोरी करना आदि के नाम लिए जा सकते हैं। ये सभी शरारतें बच्चे के अप्रौढ़ता के लक्षण हैं। मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण और व्यवहार दिखलाने पर इनमें से अधिकांश स्वतः दूर हो जाते हैं।

तरुणावस्था के पूर्व अर्थात् ग्यारह से चौदह वर्ष के लगभग बच्चों में स्वार्थपरता तथा उत्तरदायित्व से भागना अधिक देखा जा सकता है। इस समय उन्हें अपने

व्यक्तित्व स्थापना की कुछ चिन्ता हो जाती है। अतः अपने कार्यों में दूसरों के हस्तक्षेप का भी वे कभी-कभी स्पष्टतः विरोध करते हैं।

बच्चों के झूठ—बच्चों की शरारतों में 'झूठ बोलने' का मनोवैज्ञानिकों ने विशेष अध्ययन किया है। 'लेनार्ड' ने बच्चों के ७०० झूठ का अध्ययन किया है और उसमें देखा है कि उनमें ६८ प्रतिशत दूसरों द्वारा अस्वीकृति तथा दण्ड के भय से थीं। उनमें से १२ प्रतिशत बच्चों की कल्पना अथवा अतिशयोक्ति के कारण और २० प्रतिशत जानबूझकर कल्पना के कारण अथवा धोखा देने के उद्देश्य से थीं।

'मार्गन' ने कहा है कि बच्चों में झूठ को सात श्रेणियों में रखा जा सकता है—

१. कल्पना के कारण खेल में। २. बातों को ठीक-ठीक न समझ सकने का कारण अथवा दूसरों द्वारा बहकाने में। ३. दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए। ४. घृणा और प्रतिशोध की भावना से। ५. कड़े नियन्त्रण के भय से। ६. अपने स्वार्थपूर्ति के हेतु दूसरों को धोखा देने में। ७. अपने मित्र की रक्षा के लिए।

कुछ लड़के और लड़कियाँ दण्ड के भय से दूसरों को दोष देती हैं। लड़के झूठ बोलकर दण्ड से बच जाने में प्रायः अपनी बहादुरी समझते हैं, जिसमें प्रौढ़ लोग शोखी में अनायास झूठ बोला करते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन में देखा है कि झूठ बोलने वाले बच्चे प्रायः ऐसे अव्यवस्थित घरों से आते हैं, जहाँ उन्हें कोई प्यार नहीं करता और जहाँ उन्हें अस्थिर विनय नियमों का पालन करना होता है। ऐसे बच्चों की माताओं के अध्ययन से पता चला कि उनमें से लगभग ६७ प्रतिशत अपने बचपन में बहुत झूठ बोलती थीं।

बेईमानी—बच्चों की बेईमानी के सम्बन्ध में 'हर्टशोन' और 'मे' ने ११००० बच्चों का कुछ परीक्षात्मक अध्ययन किया। अपने अन्वेषण के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि धोखा देने में लिंग भेद विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उनका कहना है कि बड़े बच्चे छोटे बच्चों की अपेक्षा अधिक धोखा देते हैं। ऊँची सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चे भी कम सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा कम धोखा देते हैं। ईमानदारी और बेईमानी बहुत हद तक परिस्थिति विशेष तथा बच्चों के निहित उद्देश्य पर निर्भर करती है न कि किसी सामान्य नैतिक गुण पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक परिस्थिति में बालक ईमानदार हो सकता है और दूसरी परिस्थिति में बेईमान तथा एक परिस्थिति में उसके निहित ध्येय के अनुसार बेईमानी का लक्षण उसमें देखते हुए भी उसे ईमानदार कहा जा सकता है और दूसरी परिस्थिति में उसके ध्येय के अनुसार उसे बेईमान कहा जा सकता है।

बच्चों का निर्माण वाणी से नहीं, आचरण से किया जाय

सोचा यह जाता है कि उपदेश अथवा भाषण द्वारा दूसरों को प्रभावित किया जा सकता है तथा इतने भर से लोग अपना दृष्टिकोण एवं व्यवहार परिवर्तित कर लेते हैं, श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने लगते हैं। इस मान्यता के आधार पर आज प्रवचनों, उपदेशों एवं लेखों की धूम मची हुई है। यह यदि सत्य होता तो किसी व्यक्ति में अवगुण नहीं पाये जाते, प्रत्येक व्यक्ति सदाचारी एवं चरित्रवान होता। परन्तु तथ्य इससे सर्वथा विपरीत है। वक्ता का व्यक्तित्व एवं चरित्र ही वह आधार है, जिससे प्रभावित होकर लोग अपनी गतिविधियाँ बदलने के लिए विवश होते हैं।

यहाँ प्रवचन एवं भाषण की अनुपयोगिता नहीं बताई जा रही है, न ही यह कहा जा रहा कि इनका कुछ भी प्रभाव व्यक्ति के ऊपर नहीं पड़ता है बल्कि इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा रहा है कि वक्ता अथवा प्रवचनकर्ता के दिये गये व्याख्यान का प्रभाव तभी पड़ता है जबकि उसके अनुरूप उसका व्यक्तित्व हो तथा उन बातों को उसने अपने आचरण का अंग बनाया हो।

राजनैतिक से लेकर सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में वक्ताओं की कमी नहीं है। जुआ, नशा सिनेमा, असंयम, आलस्य, कुविचार जैसे दुर्गुणों पर इनके व्याख्यान आये दिन होते रहते हैं परन्तु उनका प्रभाव सुनने वाले व्यक्तियों पर नहीं पड़ता है। इन बुराइयों के परित्याग करने में उच्च कोटि के श्रेष्ठ संस्कार वाले व्यक्ति ही सफल होते हैं क्योंकि वे अपनी वाणी से नहीं अपने आचरण एवं व्यक्तित्व द्वारा दूसरों को प्रभावित करते हैं। इनके प्रभाव से दुराचारी, अचरित्रवान तथा दुष्ट सन्त बनते देखे जाते हैं। व्यक्ति की गतिविधियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर देना इन्हीं के द्वारा सम्भव होता है।

वाणी की चतुरता की कला को अब जनता द्वारा उपेक्षित किया जा रहा है। लोग इससे कुछ मनोरंजन भले ही कर लें परन्तु उनके आचरण में परिवर्तन सम्भव नहीं है।

यह तथ्य जितना सामाजिक क्षेत्र में लागू होता है उतना ही पारिवारिक क्षेत्र में। हम चाहते हैं कि हमारे परिवार के बच्चे सभी हमारा कहना मानें, उनके आचरण श्रेष्ठ हों तो उनके सामने अपना श्रेष्ठ आचरण प्रस्तुत करना होगा। समझाने-बुझाने का कुछ न कुछ प्रभाव तो पड़ता ही है परन्तु स्वभाव, विचार एवं भाव में परिवर्तन करना हो तो पहले स्वयं का निरीक्षण एवं उसमें आवश्यक सुधार करना होगा। उत्कृष्ट व्यक्तित्व का प्रभाव ही परिवार के सदस्यों पर पड़ता है। जलता हुआ दीपक ही दूसरे दीपक को जला सकता है।

परिवार में शान्ति एवं व्यवस्था भी तभी रह सकती है जब परिवार में सज्जनता, स्नेह, सदाचरण की गतिविधियाँ अपनायी जाएँ। आज चारों तरफ जो दूषित वातावरण फैला है, उससे लोग शीघ्र ही प्रभावित होते हैं। अच्छाई की अपेक्षा बुराई शीघ्र ही ग्रहण की जा सकती है। परिवार के बड़ों का अनुकरण अन्य सदस्य एवं बच्चे शीघ्र ही कर लेते हैं। घर में व्यक्ति की आदतें गंभीर होती हैं क्योंकि अपने दुर्गुणों की पूर्ति वह घर के वातावरण में स्वतन्त्र रूप से करता है। घर के बाहर तो ढोंग से भी काम चल जाता है।

परिवार में दुर्गुणी सदस्य उतना ही दुःख देते हैं जितना कोई कष्टसाध्य रोग। इनका सुधार करना उतना ही आवश्यक है जितना कि बीमार को नीरोग बनाना। इसकी उपेक्षा करने से परिजनों में घुसे दुर्गुण पूरे परिवार की सुख-शान्ति को नष्ट कर नारकीय स्थिति बना डालते हैं। दुर्गुणों के उपचार के लिए आरम्भिक स्तर पर ही प्रयास किया जाना चाहिए अन्यथा परिपक्वता आ जाने पर सुधार की गुंजाइश बहुत ही कम रह जाती है।

किसी व्यक्ति को यदि सुख की आकांक्षा हो तो उसे परिवार को भी सुसंस्कृत बनाना होगा। यह सोचते समय हमें ध्यान देना होगा कि परिवार के सदस्यों पर उपदेश की प्रक्रिया का बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। इतने से यदि काम चलता तो प्रत्येक परिवार में कोई न कोई समझाने वाला रहता ही है, जिनके समझाने से घर के सभी सदस्य सदगुणी होते तथा वातावरण स्वर्ग जैसा दिखाई देता। फिर कोई घर अशान्ति का केन्द्र क्यों रहता ? बच्चे उद्दण्ड एवं अवगुणी क्यों होते ?

परिवार को सुधारने की इच्छा रखने वालों को सर्वप्रथम अपने आपको सुधारना चाहिए क्योंकि वास्तविक प्रवचन यही है कि माता-पिता के ऊपर बच्चों को जन्म देने का ही नहीं उन्हें सुसंस्कारी बनाने का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। बच्चों की आदतों के ठीक न होने का अधिकांश दोष उनके अभिभावकों को ही दिया जा सकता है। लाड़-प्यार में माँ-बाप बच्चों पर बहुत अधिक खर्चा करते रहते हैं। परिणामस्वरूप बच्चा पैसे का मूल्य समझ नहीं पाता तथा फिजूलखर्ची की आदत सीख जाता है। यही आदत बड़े होने पर अपव्यय के रूप में देखी जाती है।

माता-पिता में जो परस्पर कलह-संघर्ष होता रहता है, उसका प्रभाव बच्चे के कोमल हृदय पर पड़ता है। वे भी द्वेष, घृणा, कटुता की भावनाएँ अपना लेते हैं जिसका परिणाम आगे चलकर पारिवारिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होता है। जिस माता के हृदय में अपने बड़ों के प्रति श्रद्धा होगी, उसके बच्चे भी अपने माता-पिता, बड़ों के प्रति श्रद्धावान एवं भावनाशील होंगे।

माता-पिता के संयोग से बच्चे का शरीर ही नहीं बनता, वरन् उनकी मानसिक स्थिति के आधार पर ही

बालक का मन भी विनिर्मित होता है। जो अभिभावक स्वयं दुर्गुणों एवं कुसंस्कारों से भरे हैं, उनके बच्चों में भी प्रायः उसी स्तर के संस्कार आयेगे।

अच्छी सन्तान सुसंस्कारी माता-पिता प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न कर सकते हैं। इसके लिए माँ-बाप को पहले अपने आपको संस्कारवान बनाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। कुसंस्कारी बच्चे तो पैदा होते ही रहते हैं और समाज के लिए भार बनते देखे जाते हैं। यदि संस्कारी बच्चों की कामना है तो उसके लिए स्वयं में परिष्कार करना ही होगा अन्यथा यह कामना छोड़ देनी चाहिए तथा जैसे भी दुर्गुणी बच्चे जन्में उन्हें अपनी करनी का फल मानकर सन्तोष करना चाहिए।

एक सन्त के पास एक महिला यह जानकर पहुँची कि उनकी बातों का प्रभाव शीघ्र ही पड़ता है तथा व्यक्ति अपने अवगुणों को छोड़ देता है। उस महिला का बच्चा शक्कर खाता था, जिससे उसका स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। डाक्टरों एवं स्वयं उसके द्वारा समझाये जाने का उस बालक के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सन्त ने उससे पन्द्रह दिन का समय माँगा तथा उसके बाद आने को कहा।

इस अवधि के बाद वह अपने बच्चे को लेकर पहुँची। सन्त ने बच्चे से शक्कर न खाने का उपदेश दिया। परिणामस्वरूप उसी दिन से उसने शक्कर खाना छोड़ दिया। निकट रहने वालों ने सन्त से इसका रहस्य पूछा कि इतनी-सी बात तो आप पन्द्रह दिन पहले भी कह सकते थे फिर इतना समय लेने का क्या कारण था ? उन्होंने बताया कि वह स्वयं उन दिनों शक्कर बड़ी रुचि के साथ खाते थे, इसलिए उनके द्वारा दिये गये उपदेश का प्रभाव उस समय बच्चे पर नहीं पड़ता। इन पन्द्रह दिनों में उन्होंने स्वयं शक्कर का त्याग किया जिससे यह सम्भव हो सका कि बच्चे को शक्कर छोड़ने का उपदेश दे सकें।

प्रत्येक माता-पिता एवं अभिभावक अपने बच्चों को राम, कृष्ण, श्रवण के रूप में देखना चाहते हैं परन्तु यह नहीं सोचते कि दशरथ, वासुदेव के समान पहले इस इच्छा की पूर्ति के लिए मूल्य चुकायें। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से अपने को इस योग्य बनायें कि उनके बच्चे भी श्रेष्ठ आचरण करें। वाणी की अपेक्षा अपना अनुकरणीय आचरण सामने प्रस्तुत करके बच्चों का सुधार आसानी से कर सकते हैं।

पहले अभिभावकों को ही

शालीनता का पाठ पढ़ना होगा

विख्यात समाजशास्त्री डा. जेम्स बोसार्ड ने अपने जीवन के ४० वर्ष “आज के पारिवारिक जीवन की

सबसे उपेक्षित समस्या” का समाधान निकालने और बच्चों के पालन-पोषण की सही रीति-नीति के अनुसन्धान में लगाये हैं। अपने अनेक प्रयोगों में से एक का निष्कर्ष बताते हुए उन्होंने लिखा है कि विभिन्न परिवारों के व्यक्तियों द्वारा भोजन के समय की जाने वाली बात-चीत के विषय का अध्ययन करते समय मैं यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि कुल वार्तालाप का ९९ प्रतिशत से भी अधिक दूसरों की निन्दा से सम्बन्धित था। निन्दा की यह पद्धति इतनी अधिक प्रचलित है कि शायद इन परिवारों के लोग दूसरों की प्रशंसा में एक शब्द भी नहीं कहते हैं। दोस्तों, रिश्तेदारों, पड़ोसियों, उधार देने वाले दुकानदारों, धोबियों, ग्वालों सभी की वे निन्दा ही निन्दा करते हैं। परिवार का यह निन्दामय वातावरण अभिभावकों की उपेक्षावृत्ति और लापरवाही के कारण बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर जहर-सा खतरनाक असर करता है। ऐसे परिवारों के बच्चे अधिकतर समाज विरोधी और क्रोधी स्वभाव के हो जाते हैं। ऐसे परिवारों के छोटे-बड़े सदस्य साधारण-सी बातों पर अपनी तुनकमिजाजी का प्रदर्शन करते रहते हैं और आपस में झगड़ते रहते हैं। बच्चे भी इन दुष्प्रवृत्तियों का चोरी-छिपे अनुकरण करने में गर्व महसूस करते हैं, जिन्हें वे अपने दैनिक जीवन में परिवार में देखते हैं।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि शत-प्रतिशत परिवारों का यही हाल है। ऐसे भी परिवार हैं, जिनके सदस्य अपने शिष्ट एवं सौम्य व्यवहार से बच्चों के मानसिक विकास में अपना योगदान देते हैं। अपनी आपसी बात में उन्हें भी हिस्सा लेने देते हैं तथा उनका उत्साहवर्द्धन करते हैं। सुझाव देते हुए डॉ. बोसार्ड का कहना है कि अभिभावकों को अपनी बात-चीत की पद्धति बदल देनी चाहिए, जिससे बच्चों को स्वस्थ वातावरण मिल सके। इस बात पर हमेशा ध्यान देना जरूरी है कि हम जो बातें करते हैं, उस पर बच्चे भी अपना विचार प्रकट करना चाहते हैं। भले ही वे विचार अपरिपक्व हों, हमें उन्हें गौर से सुनना चाहिए अन्यथा उनके विचार सदैव के लिए अपरिपक्व ही रह जायेंगे।

डॉ. बोसार्ड का कथन है—‘आपको सही तरीका नजर नहीं आये तो आप उस मशहूर वकील का तरीका अपनाइये जो प्रतिदिन अपनी परिवार गोष्ठी में एक प्रश्न उठाता था। उसकी पत्नी और बच्चे एक-एक करके उसका समाधान करने की चेष्टा करते थे। अन्त में वह सही उत्तर बताता था। वकील के इस प्रयास से बच्चों की तर्क, बुद्धि और ज्ञान का विकास तो होता ही था—आवश्यक निन्दाओं और आलोचनाओं की बुरी आदतों से भी उनकी अनायास ही रक्षा हो जाती थी।

आर्मी में एवं कान्वेंट स्कूलों में पढ़ाई की जो अन्य विशेषताएँ हैं वे अलग हैं, पर 'एटीकेट' का शिक्षण अपने आप में एक ऐसी स्वचालित प्रक्रिया है कि वह बच्चों के कच्चे मन में अच्छी तरह जड़ जमाती चली जाती है। आध्यात्मिक शिक्षण, नैतिक मूल्यों की जीवन में महत्ता, जीवनोद्देश्य एवं उसकी गरिमा का ज्ञान उन विद्यालयों में नहीं दिया जाता—इसलिए बच्चा एकांगी शिक्षा पाता है, मात्र 'एटीकेट' सीखकर रह जाता है, यह शिक्षण पारिवारिक संस्था में अभिभावक भली-भाँति दे सकते हैं। यह इस पर निर्भर करता है कि सहज रूप में, अपने जीवनक्रम में वे आपस में किस प्रकार बात करते हैं। सिविकसेन्स, शिष्टाचार, शालीनता का जीवन में समावेश एक बालक की पोषक आहार की पूर्ति से भी बड़ी आवश्यकता है।

आवश्यकता है कि समय रहते परिवारों की इस उपेक्षित समस्या के समाधान के प्रयास आरम्भ किये जायें और इसे माता-पिता, बड़े भाई-बहिन पहले स्वयं पर प्रयुक्त करें, तभी हमारी दिनों-दिन टूटती-बिखरती जा रही परिवार संस्था को नष्ट-प्रष्ट होने से बचाया जा सकेगा।

बाल मनोविज्ञान को समझें,

उन्हें सही दिशा दें

बालकों का मनोविज्ञान बहुत रोचक है। उनके कार्य-कारण का सम्बन्ध समझने का ढंग अनूठा है। वे अनायास न तो ऊँचाई से कूदते हैं, न एक बार हाथ जला लेने पर दुबारा आग या गरम वस्तु को छूते हैं। किसी वस्तु की अच्छाई-बुराई, शोर मचाना, मारपीट को अभ्यास के उपरान्त समझने लगता है। छोटे बच्चे अन्धानुकरण करते हैं, बड़े होने पर उनमें मौलिकता आ जाती है। आयु बढ़ने के साथ उनकी दिलचस्पी, रुचि, चेष्टाएँ बढ़ने लगती हैं। बाल-मनोविज्ञान को समझना और सही रचनात्मक दिशा प्रदान करना, हर अभिभावक या माता-पिता का प्रथम अनिवार्य कर्तव्य है।

जब छोटे बच्चे किसी काम को करना आरम्भ करें और उसमें त्रुटि की आशंका हो, तो उन्हें डाँटना नहीं चाहिए। यदि काम खराब भी किया जा रहा है तो उसे दूसरे काम पर लगाकर उसका ध्यान बँटा भर देना पर्याप्त है। डाँटने-फटकारने से तो उनमें हीन भावना ही विकसित होगी। इससे तो काम के प्रति अस्वच्छ-व्यस्तता और अरुचि ही पैदा होती है।

बालकों में कुछ न कुछ करते रहने, जानने-सीखने की प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति इनके विकसित भविष्य का संकेत है। इसमें इनका सहयोग किया जाना चाहिए। टूट-फूट की आशंका, समय खर्च हो जाने की वजह से कितने ही अभिभावक बच्चों को डाँट-फटकार कर उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति समाप्त कर देते हैं। दो वर्ष पूरा

करते-करते बच्चे इतने समझदार हो जाते हैं कि वस्तु उठा-पटककर बना-बिगाड़ सकते हैं। तीन साल की उम्र तक बच्चा हाथ में पेंसिल उठाना सीख जाता है और आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचने लगता है। गोल छेद में गोल, चोकोर में चोकोर वस्तु फँसाना भी सीख लेता है। इस तरह उनका क्रमशः बौद्धिक विकास होता जाता है।

बच्चों की वाक्शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि घर का अथवा संगी-साथियों का वातावरण उसे कैसा मिला ? बालक सुन-समझकर, देखकर और अनुभवों से उस वातावरण और ध्वनि से अभ्यस्त हो जाता है। उसे इसके लिए अपने दिमाग पर सीखने के लिए जोर नहीं डालना पड़ता, वरन् सहज अभ्यास से ही वह उस शब्दावली, हाव-भाव, भाव-भंगिमा से अभ्यस्त होने लगता है। जिन बच्चों के कोई साथी नहीं होते वे अपने गुड्डे-गुड्डियों, खिलौने, तस्वीर से वार्तालाप करने लगते हैं। बच्चों के विकास के लिए संगीत, मधुर भावनात्मक कविताएँ, कहानियाँ सुनाना एवं अभिनय, चित्रकारी आदि कराना चाहिए। उसके अनुरूप खेल, नाटक आदि कराते रहना चाहिए। इस माध्यम से उन्हें जितनी ही रचनात्मक दिशा दी जायेगी उतना ही विकास होगा।

अमेरिकन मनोवैज्ञानिक ई. आर. हिलगार्ड ने अपने अध्ययन 'द साइक्लॉजी ऑफ चिल्ड्रेन विहेवियर' में कहा है कि बालकों को माता-पिता के गुण-दोष, स्वभाव-संस्कार विरासत में सहज ही मिल जाते हैं। सूक्ष्म जीन्स से लेकर दिन-प्रतिदिन का आचरण-व्यवहार बच्चों को प्रभावित करता है। समीपस्थ वातावरण आदि से मिलकर ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इन सबके अतिरिक्त शिक्षण का अपना महत्त्व है, जिससे उसकी अनेकानेक विकास की सम्भावनाओं का मार्ग प्रशस्त होता है।

हिलगार्ड के अनुसार लोगों का यह अनुमान सही नहीं है कि बच्चा बोल नहीं पाता इसलिए कुछ नहीं समझता। छह महीने से एक वर्ष का बालक ध्वनियों और संकेतों के माध्यम से भावनाओं को समझ लेते हैं। वही बालक अपने माँ-बाप की आवाज सुनकर हँसता है, पशुओं की आवाज अथवा विस्मय-डरावने संकेतों से उसे कौतूहल होता है और डरता है।

विख्यात मनोविद् आर. एच. वुड फ़ील्ड ने बाल-मनोविज्ञान के क्षेत्र में गहन अध्ययन किया है। अपने अध्ययन के निष्कर्ष को 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस इन चिल्ड्रेन साइक्लॉजी' में प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया है कि योग्यता एवं कुशलता वंश परम्परा की उतनी देन नहीं है जितना कि शिक्षण द्वारा उसका विकास किया जा सकता है। उनके अनुसार दोनों ही बातें अपने स्थान पर आंशिक रूप से सही या गलत हो सकती हैं किन्तु तथ्य यह है कि अभिभावकों तथा परिवेश का अपना विशेष महत्त्व है। जिज्ञासु प्रवृत्ति यदि उसे विरासत में प्राप्त हुई है तो बौद्धिक विकास की सम्भावनाएँ अधिक सुनिश्चित हैं। जिन

बच्चों की जिज्ञासु प्रवृत्ति मन्द है अथवा है ही नहीं उन्हें कोई वस्तु-दृश्य आकर्षित नहीं करते। वे सामान्य बुद्धि या मन्द बुद्धि के रह जाते हैं। जिनके मन में नित नये प्रश्न उभरते हैं, वे विशद ज्ञान के भण्डार संचय कर लेते हैं। माता-पिता को चाहिए कि ऐसे बच्चे की प्रश्नोत्तरी दमित करने का प्रयास न करें, उसे संतुष्ट करने का प्रयत्न करें। इससे उसके मन की परतें खुलेगी, ज्ञान विकसित होगा।

आयु के विकास के साथ बालकों की जिज्ञासा की परिधि की सीमा भी बढ़ती जाती है। घर-परिवार की वस्तुएँ, सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति, आवश्यक उपकरण सभी परिचित जाने-माने से लगने लगते हैं। अतः कुछ समय पश्चात् उनमें कुछ नवीनता न दिखाई देने से अब वह बाह्य वातावरण को झाँकने का प्रयास करता है। ऐसे में अभिभावकों को चाहिए कि टोक-टोकी 'मत करो', 'मत जाओ' जैसे रोकने की आदेशात्मक अथवा उपदेशात्मक शैली न अपनाकर उसका सहज मार्गदर्शन करें। यह उसके हित में एवं विकास में सहायक होगा। रोकने-टोकने से उसमें विद्रोही भावनाएँ जाग्रत होती हैं। उनकी प्रवृत्ति ज़िद करने की बन जाती है, जो आगे चलकर विद्रोह-विग्रह का रूप धारण कर लेती है। बच्चों की ज्ञान पिपासा, जिज्ञासु वृत्ति की तुष्टि करने का यही अवसर होता है। उनका विकासक्रम अवरुद्ध नहीं होने पाता। इस प्रकार के बाल मनोविज्ञान की जानकारीयों आमतौर से माता-पिता को नहीं होतीं। वे तो हर समय बालक को रोकते रहते हैं, जिससे वे उद्‌ण्ड, जिद्दी, हठी, उपद्रवी हो जाते हैं।

बालकों के विकास का एक मनोवैज्ञानिक तरीका यह है कि उनको रुचिकर कार्यों के प्रति प्रेरित किया जाय। बच्चों द्वारा किये गये कार्यों में गलती निकालकर उनको सही ढंग से करने का तरीका इस तरह बताया जाय कि उनको मनोरंजन-कौतूहल जैसा कुछ न कुछ जान पड़े। बच्चे असफलता से निराश न होकर दूने उत्साह से उस काम को करें, ऐसा प्रयास हर अभिभावक को करना चाहिए। उनकी सफलता पर हर्ष व्यक्त किया जाना चाहिए। साहसी प्रयासों पर उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। प्रलोभन देकर किसी काम में संलग्न करने की अपेक्षा उस कार्य की उपयोगिता बताई जाय। उसके दूरगामी परिणाम होंगे अन्यथा लोभवश तो उसको काम में रुचि रहेगी किन्तु प्रलोभन के बिना टालमटोल करने की उसकी प्रवृत्ति बन जाएगी, जो उसके भविष्य निर्माण के लिए हितकर न होगी।

उक्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखकर प्रत्येक अभिभावक अपने बच्चों के अन्तराल में निहित विकास एवं प्रतिभा के बीजों को न केवल अंकुरित कर सकता है, वरन् उनका संवर्द्धन भी कर सकता है। इन्हें न समझ पाने के कारण अनेक बच्चे कुण्ठा का शिकार हो जाते हैं, अनेक प्रतिभा के खजाने यों ही दबे-छिपे पड़े रह

जाते हैं। यदि उन्हें प्रतिभा-प्रदर्शन एवं स्वस्थ-प्रतिस्पर्धा का अवसर दिया जा सके तो उनके मानसिक विकास में सहायता मिलती है। उनके अन्दर कुछ करने और कुछ बनने की तीव्र उत्कण्ठा उभरती है। प्रतिभा प्रदर्शन के उनके कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। यही प्रोत्साहन उनके आगे बढ़ने में, किये कार्यों में संतोषप्रद सफलता दिलाता है।

बच्चों को कहानियाँ सुनाइये

बड़ा व्यक्ति हो या बच्चा, जिस वस्तु, विषय या चर्चा में उसका मन लगता है उस स्थिति को कहते हैं—तन्मयता। यह तन्मयता व्यक्ति के अन्तर्जगत पर अपने इतने गम्भीर और गहरे प्रभाव डालती है कि उसकी जीवन-दिशा धीरे-धीरे उसी ओर मुड़ने लगती है। आकस्मिक रूप से घटने वाली कोई घटना या बात जो हृदय को छू लेती है और तत्काल सम्बन्धित व्यक्ति का जीवन-प्रवाह बदल डालती है। उस समय तो व्यक्ति की तन्मयता इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि लगता है कि समाधि ही लग गयी।

पर ऐसी घटनाएँ हर किसी के साथ नहीं घटती और न ही घटने की आशा की जानी चाहिए। इसलिए बच्चों के व्यक्तित्व को किसी साँचे में ढालना है तो आवश्यक है कि उसमें उपयुक्त संस्कार डालने से पूर्व संस्कार माध्यमों के प्रति तन्मयता उत्पन्न की जाय।

तन्मयता लाना एक बात है और बच्चा किस माध्यम से तन्मय होता है यह अलग बात है। पहले की अपेक्षा दूसरा तरीका ही अधिक आसान और व्यावहारिक है। हम देखते हैं—बच्चा कोई गम्भीर बात या विषय में रस नहीं लेता क्योंकि उसकी मानसिक क्षमता इतनी विकसित नहीं होती।

इसलिए बेहतर है कि ऐसा कोई माध्यम अपनाया जाय जिससे बच्चे को रस भी मिले और संस्कार भी। वह माध्यम है—कथा-कहानियाँ सुनाने का। अब तक हमारे देश में दादी और माताएँ बच्चों को सोते समय कथा-कहानियाँ सुनाती आयी हैं। पर उनका स्तर इतना घटिया होता है कि बच्चों में कोई अच्छी वृत्ति पलने, अच्छे संस्कार उत्पन्न होने की अपेक्षा अन्ध-विश्वास, भय और अज्ञान ही जड़ें जमाता है। बड़े-बड़े इन्जीनियर, डॉक्टर या सुशिक्षित लोगों में भी तरह-तरह के अन्ध-विश्वास देखे जाते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा ठीक प्रकार से न हुई हो अथवा उनमें विचारशीलता का अभाव हो, वरन् इसका कारण यह है कि बचपन में अम्मा, दादी से उन्होंने भूत-प्रेतों की, जादू-टोनों की, टोने-टोटकों की जो कहानियाँ सुनी थीं उनके संस्कार इतनी मजबूती के साथ मानस पर जम गये हैं कि पत्थर की लकीर बन गये हैं।

एक प्रभाव तो यह है—बच्चों को कहानियाँ सुनाने का, जो उन्हें आजीवन भीरु, कायर और अन्ध श्रद्धालु बनाये रहता है। इसका एक और उजला पक्ष भी है कि बच्चों को अच्छी कहानियाँ सुनाई जाएँ, जिससे उनमें विचारशीलता जागे, अच्छी आस्थाएँ उत्पन्न हों, अच्छी मान्यताएँ जाग्रत हों और आगे चलकर उनका व्यक्तित्व फूल की तरह खिले तथा चन्दन की तरह महके।

एक नहीं ढेरों उदाहरण हैं इस तरह के जिनमें कि बच्चों को केवल कहानियाँ सुनाकर ही योग्य बनाया गया। आचार्य विष्णु शर्मा की कथा प्रसिद्ध है। उस राज्य के राजकुमार मन्दबुद्धि और अयोग्य थे। राजा को बड़ी चिन्ता थी कि मेरे बाद इस राज्य का क्या होगा ? कई शिक्षक नियुक्त किये गये, पर कोई परिणाम नहीं आया। अन्ततः विष्णु शर्मा ने अपने ढंग का एक अनूठा ही प्रयोग किया—जानवर पात्रों की कथाएँ सुना-सुनाकर राजकुमारों को योग्य और राजनीति में दक्ष बना दिया। उस प्रयोग का विवरण इतिहास में आज भी पंचतन्त्र के नाम से मशहूर है।

राम-लक्ष्मण को बाल्यकाल में जब विश्वामित्र अपने आश्रम में ले गये थे तो उनका अधिकांश शिक्षण कहानियों द्वारा ही किया। यहाँ तक कि सीता स्वयंवर के लिए आश्रम से जनकपुर जाते समय मार्ग में पड़ने वाली नदियों, वनों, स्थानों, पर्वतों और खण्डहरों तक के अतीत का विवरण कहानी शैली में बताते थे। महर्षि गौतम के उजड़े हुए आश्रम के सम्बन्ध में उन्होंने बताया था कि यह आश्रम इन्द्र द्वारा गौतम पत्नी अहिल्या को छले जाने के बाद इस दशा को प्राप्त हुआ है।

भगवान बुद्ध के समय में सर्वसाधारण का बौद्धिक विकास इतना नहीं हुआ था कि वह गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को उसी स्तर की भाषा में समझ सके। इसलिए जातक कथाएँ, वार्तालाप, दृष्टान्त, उपदेश और कथा पद्धति को ही अपनाया गया।

जीजाबाई अपने बेटे शिवाजी को लेकर पूना में अलग रहीं। वे चाहती थीं कि मुगल शासकों के अधीन एक मामूली मुलाजिम पिता की परछाई और संस्कार भरे बेटे पर न पड़े, वरन् वह हिन्दू जाति का मुख उज्ज्वल करने वाला वीर पुरुष बनकर इतिहास में एक देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में चमके। इसलिए उन्होंने शिवाजी को बचपन से ही रामायण और महाभारत की वीरतापूर्ण कहानियाँ सुनाना आरम्भ किया। फलस्वरूप शिवाजी में स्वदेश भक्ति, स्वातन्त्र्य प्रेम, जाति और धर्म के प्रति निष्ठा की भावनाएँ इस कदर जम गई कि ये बचपन से ही ग्वाले जाति के पिछड़े और अशिक्षित, असम्पन्न बच्चों को संगठित कर युद्ध-विद्या का अभ्यास करने लगे।

बाद में कोण्डदेव शिवाजी के गुरु बने। सत्य और न्याय की भावना तब तक और भी परिपक्व हो चुकी थी। कोण्डदेव में भी यही संस्कार बचपन से भरे थे। एक बार

की घटना है। कोण्डदेव कहीं बाहर से आ रहे थे। रास्ते में एक बगीचा पड़ा और दिखाई दिया ऊपर सुन्दर-सुन्दर पके हुए आम के फल लगे हैं। एक आम तोड़ लिया। तभी संस्कारों ने कहा—‘अरे यह तो चोरी है।’ और उन्होंने प्रायश्चित्तस्वरूप अपने हाथ काट लिए। यह शिक्षा भी कोण्डदेव को अपने माता-पिता द्वारा सुनाई कहानियों से मिली थी।

बच्चों को शिक्षाप्रद कहानियाँ उपलब्ध कराया जाना आवश्यक है। इसके दो ही स्रोत हो सकते हैं। माता-पिता द्वारा सुनाई कहानियाँ और दूसरे बाल साहित्य। प्रश्न उठता है बच्चों को कैसी कहानियाँ सुनायें ? प्रातः बच्चों को अलौकिक कहानियाँ अधिक पसन्द होती हैं पर आजकल जितनी भी अलौकिक कहानियाँ मिलती हैं वे तो परियों, दानवों, भूत-प्रेतों और जादू-टोनों से ज्यादा सम्बन्ध रखती हैं। कुछ कहानियों की शुरुआत इस प्रकार भी होती है—एक राजकुमार था। वह घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था, बीच में एक महल दिखाई दिया उसके झरोखे में से राजकुमारी ने उसे देखा और दोनों एक-दूसरे की ओर आकृष्ट हो गये।

इस तरह की प्रेम-कथाएँ भी बच्चों के लिए बेमतलब की होती हैं और उनके अच्छे संस्कार नहीं पड़ते। परियों, दानवों और राक्षसों की कहानियाँ न सुनाई जाएँ, भले ही वे शिक्षाप्रद हों पर बच्चे के मन में उनका ऐसा काल्पनिक चित्र बन जाता है कि वे उन पात्रों को सचमुच का ही मान लेते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इस तरह की कहानियाँ बच्चों के मन में पलायनवाद का भूत भर देती हैं। अलौकिक कहानियों का इतना ही तात्पर्य नहीं है कि उनमें राक्षसों और भूत-पात्रों की ही भूमिका हो। वरन् इसका वास्तविक तात्पर्य है कि कहानी की विषय-वस्तु पृथ्वी की ही हो और मनुष्य की असीमित क्षमताओं का प्रगटीकरण करती हो।

कहानियाँ सुनाने का एक ही उद्देश्य है कि एक मनुष्य में जो सद्गुण होना चाहिए, बच्चों में उनके अंकुरण योग्य मानस-भूमि बनायी जाय और उसे योग्य नागरिक बनने की दिशा में अग्रसर किया जाय। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि बच्चों को कहानियाँ सुनाते समय उनके चयन में उपयुक्त सावधानी बरतना आवश्यक है। उस समय माता-पिता अथवा दादी को यह लक्ष्य अपने सामने रखना परम आवश्यक है।

प्रश्न उठता है कि फिर किस उम्र के बच्चों को कहानियाँ सुनाना चाहिए ? प्रायः तीन-चार वर्ष के बच्चों का मानसिक विकास इतना हो चुका होता है कि उन्हें हल्की-फुल्की बातें समझाई जा सकें। तब से ही कहानियाँ सुनाने का क्रम आरम्भ कर दिया जाय। कहानी पाँच से दस मिनट लम्बी हो ताकि उसमें समाविष्ट की गई बातों को बच्चा अच्छी तरह ग्रहण कर सके। प्रारम्भ में प्रतिदिन एक कहानी सुनाने का क्रम ही रखा जाय। बच्चा रुचि

लेता दिखाई दे तो कहानियों की संख्या फिर बढ़ाई भी जा सकती है। ऐसी कहानियाँ कहीं से प्राप्त की जाएँ ? अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, कर्ण, शिवि, राजा नल, भीष्म, राम, लक्ष्मण, भरत, सीता से लेकर बुद्ध, महावीर, प्रताप, शिवाजी, गाँधी, नेहरू, शास्त्री जी तक अनेक महापुरुष हैं जिनके जीवन में असंख्य प्रेरणा प्रसंग भरे हैं। उनमें से चुन-चुनकर सुनाये जा सकते हैं। इस तरह के प्रसंगों से बच्चों को नैतिक शिक्षा तो मिलती ही है, उनका सामान्य ज्ञान भी बढ़ता है।

बच्चे जब बड़े हो जाएँ। स्कूल जाने लगेँ और पढ़ना-लिखना सीख जाएँ तो, उन्हें केवल स्कूली किताबों से ही चिपटाये न रखा जाय, वरन् नैतिक शिक्षा देने वाला बाल साहित्य भी पढ़ाया जाय। पर समस्या यह है कि आजकल स्तरीय बाल साहित्य मिलता कहीं है ? आप किसी भी रोडवेज, रेलवे या बाजार के बुक-स्टाल पर चले जाइये, आपको वहाँ रोमाण्टिक उपन्यास मिल जायेंगे, जासूसी उपन्यास मिल जायेंगे, अर्धनग्न तस्वीरों वाली कुत्सा और वासना भड़काने वाली पत्रिकाएँ मिल जायेंगी, पर जीवनोपयोगी साहित्य शायद ही कहीं मिले। खेद की बात है कि बाल साहित्य को भी इस बाजारूपन ने भ्रष्ट कर दिया है और प्रेरणाप्रद कथा-कहानियों तथा आदर्श महापुरुषों के जीवन-चरित्रों की पुस्तकों के लिए भटकते रहना पड़ता है।

फिर भी निराशा होने की आवश्यकता नहीं है। कंकड़ों की भीड़ में हीरे भी अभी हैं। सस्ती और चटपटी पुस्तकों के जंगल में उपयोगी साहित्य भी ढूँढ़ा जाय तो मिल सकता है। बच्चों को वही पढ़ने को दिया जाय अन्यथा जो मिला सो पढ़ने को दे दिया की नीति अपनाई गई तो बच्चों के लिए विषतुल्य ही सिद्ध होगी।

कथा-कहानियाँ न केवल बच्चों के ही हृदय को छूती हैं, वरन् जन-सामान्य के लिए भी वे बड़ी उपादेय होती हैं। उन्हें भी कहानियों से बड़ी प्रेरणा मिलती है और रस भी आता है। यही कारण है कि हमारे यहाँ वेद-उपनिषद् और दर्शन ग्रन्थों की अपेक्षा रामायण, भागवत, महाभारत, पुराण और कथा आदि अधिक लोकप्रिय हैं। उनके कई-कई दिन तक सुनाने और सुनने की बड़ी महिमा है। इसका कुल इतना ही कारण है कि विशुद्ध सैद्धान्तिक प्रतिपादन प्रबुद्ध लोगों के बूते की ही बात है अन्यथा सर्वसाधारण का मन तो कथा-कहानियों में ही लगेगा फिर बच्चों को सुसंस्कारी बनाने के लिए क्यों न इस लोकप्रिय माध्यम का उपयोग किया जाय ?

लोकशिक्षण में कथा साहित्य का कितना महत्त्व है ? यदि इस तथ्य को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि हर परिवार को यह माध्यम अनिवार्य रूप से अपनाना ही चाहिए।

लेखकों, पुस्तक विक्रेताओं और प्रकाशकों का क्षेत्र प्रधान रूप से कथा साहित्य होता है। आधी से अधिक

पुस्तकें कथापरक छपती और बिकती हैं। यह लोक-रुचि सनातन है। वेद चार ही लिखे जा सके, पर पुराण अठारह और उपपुराण अठारह लिखे गये। चारों वेदों में मात्र २० हजार मन्त्र हैं पर अकेला महाभारत ही एक लाख श्लोकों का—अर्थात् चारों वेदों का पाँच गुना है। अन्य कई पुराण भी इतने ही बड़े हैं। संस्कृत में नाटक काव्य आदि कथा साहित्य के अन्य ग्रन्थ भी कम नहीं हैं। व्रत-पर्वों के साथ अगणित कथाएँ जुड़ी हुई हैं और वे चावपूर्वक कही-सुनी जाती हैं। वह प्राचीन अभिरुचि अभी भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। आज भी कथा-कहानियों का, पत्रिकाओं में प्रमुख स्थान रहता है। फिल्में आखिर कहानियों का दृश्य रूप ही तो हैं। नाटक अभिनय, गीत वाद्यों में प्रायः कथा-प्रसंग ही जुड़े रहते हैं। लोक-रुचि इसी क्षेत्र के इर्द-गिर्द उमड़ती-धुमड़ती रहती है।

कथा-क्षेत्र में मध्ययुगीन भटकाने की दो मुख्य दिशाएँ याद रखना और उनसे बचना चाहिए—(१) अस्वस्थ अवांछित प्रवृत्तियों को उकसाने, बढ़ाने वाली अर्थात् डर, मक्कारी, हताशा, खुदगर्जी बनाने वाली और होशियारी के नाम पर झूठ, पाखण्ड, कपट सिखाने वाली कथाएँ। (२) अवास्तविक, अविवेकी आस्थाएँ जमाने-बढ़ाने वाली अर्थात् भूत-प्रेत, टोना-टोटका, चमत्कार पर विश्वास जमाने वाली कथाएँ।

बच्चों के लिए कहानियाँ चुनते समय उनके आयु-वर्ग का यह ध्यान तो रखना ही पड़ेगा कि बच्चा अभी शिशु है या किशोर हो गया है, किन्तु प्रत्येक दो वर्ष में उसके लिए कोई विभाजक सीमा-रेखा नहीं खींची जानी चाहिए।

कहानियाँ चुनते समय वैविध्य का ध्यान रखना ही चाहिए। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कुछ कहानियाँ मुख्यतः भावनात्मक हों, तो कुछ अन्य मुख्यतः जानकारी देने वाली उपयोगी कथाएँ हों।

बच्चों की कल्पना-शक्ति अत्यधिक उर्वर होती है। साथ ही उसके दिमाग पर जानकारी का ज्यादा बोझ डालना भी अनावश्यक होता है। इसलिए प्रारम्भ में उसकी कल्पना और भावना को उकसाने वाली तथा तुष्ट करने वाली कहानियाँ ही सुनानी चाहिए। बच्चे की कल्पना में चिड़ियों द्वारा आदमी की बोली बोलना, यहाँ तक कि फूलों, नदी, पर्वतों, चाँद-तारों से बातें करना, हवा में उड़ने वाली परी की कल्पना करना और स्वयं को भी हवा में उड़ने में समर्थ मानना—यह सब नितान्त स्वाभाविक है। अपनी परिचित वस्तुओं और परिचित क्रियाओं से जुड़ सकने वाला कल्पना विस्तार शिशु को भाता तो है ही, उसे याद भी अपेक्षाकृत शीघ्र हो जाता है। राजकुमार, राजा आदि की या रक्षकों, भूत-प्रेतों की कहानियाँ उसके दिमाग में प्रभाव तो छोड़ती हैं, पर वे उसे याद बहुत कम रह पाती हैं, सिर्फ उनकी छाप ही

उसके मन पर अंकित रह जाती है। बच्चों को याद कराये जाने वाले गीतों के बारे में भी यही बात ध्यान में रखनी चाहिए। “चुग-धुग करती आई चिड़ियाँ, दाल खजाना लाई चिड़ियाँ” अथवा “बड़ी भली है अम्मा मेरी, मुझको दूध पिलाती है” जैसी पंक्तियाँ उसे भीतर तक छू जाती हैं। वह खिल उठता है, लेकिन देवताओं के यशोगान या कि “हम हैं भारत माँ के लाल” जैसी पंक्तियाँ बच्चे को सुनानी बेकार हैं। हाँ, उसके लिए अर्थहीन बोझ है। यह इस तरह के गीत किशोरों के काम के हैं, “देश की रक्षा कौन करेगा ? हम करेंगे, हम करेंगे” जैसे उद्घोष ३-४ साल का शिशु भी झट याद कर लेगा, क्योंकि “हम करेंगे” में उसके आत्म-प्रदर्शन की आकांक्षा तृप्त होती है और इसी के सहारे वह देश से भी भावनात्मक रूप से जुड़ सकता है। उसके अनुभवों से जुड़ी कल्पना को फैलाना तो उसे भायेगा ही, परन्तु भारत माता का वह लाल कैसे है समझ नहीं सकता। हाँ, भारत माता की कोई प्रतीक प्रतिमा या प्रतीक-चित्र (नारी-मूर्ति) उसे दिखाकर फिर कहा जाये कि भारत-माता यह कह रही थीं, भारत माता ऐसी हैं आदि, तो यह कल्पना कर सकता है। चोर या डाकू की कहानी भी शिशु को नहीं सुनानी चाहिए। ये किशोरों को सुनाई जा सकते हैं। परियों, पशुओं, पक्षियों और परिचित वस्तुओं की कल्पनापरक उत्साहवर्द्धक कहानियाँ शिशुओं को सुनाना उपयोगी होता है। जो कहानियाँ जानकारी बढ़ाने के लिए हों, उनमें आवृत्तियाँ होनी चाहिए अर्थात् सरल-रोचक ढंग से तरह-तरह से एक ही बात बार-बार कहनी चाहिए। जैसे—“हम क्या हैं ?” हम बन्दर नहीं हैं। हम शेर नहीं हैं। हम मछली भी नहीं हैं और कुत्ता ? हम कुत्ता भी नहीं हैं। कोई पेड़ भी नहीं हैं हम। हम तो आदमी हैं।” यह शैली छोटे बच्चों के लिए उपयुक्त है।

लोरियाँ बच्चों को बहुत भाती हैं। उनमें आवृत्तियाँ भी होती हैं और चन्दा-मामा, खीर, कटोरी, दूध, मलाई, परियों जैसी उनकी परिचित वस्तुओं का ही मनभावन वर्णन होता है—ये लय-तालयुक्त ढंग से गाई जाती हैं। इससे बच्चों को लोरियाँ गहराई तक छू जाती हैं और मीठी पुलक से भर देती हैं।

नन्हें-मुन्नों के शिक्षण के लिए लोक-कथाएँ भी बहुत उपयोगी हैं। किन्तु उनमें से डर पैदा करने वाली, भूत-पलीतों, जन्त-मन्तर, टोना-टोटका पर विश्वास बढ़ाने वाली कथाएँ न चुनकर परिचित चिड़ियों, जानवरों आदि की कथाएँ ही, चुननी और सुनानी चाहिए।

किशोरों को लोक-कथाएँ सुनाने समय भी यही सावधानियाँ बरतनी होती हैं। साथ ही किशोरों के योग्य लोक-कथाओं में से कई जाति-विशेष की खिल्ली उड़ाने वाली या जाति-विशेष का दर्प बढ़ाने वाली होती हैं, ऐसी कहानियाँ किशोर-मस्तिष्क में जातीय भेदभाव का जहर बोती हैं, इनसे परहेज रखना जरूरी है।

किशोरावस्था का भाव जगत् शिशु की तुलना में बहुत अधिक विस्तृत हो जाता है। ऐतिहासिक कथाएँ, साहस, संघर्ष और वीरता की गाथाएँ, नई-नई खोजें एवं वस्तुओं का परिचय उन्हें आकर्षित करता है। शिक्षण का यानी जीवन-कला सिखाने का भी यही अवसर होता है। रामायण, महाभारत की कथाएँ और पंचतन्त्र, हितोपदेश के किस्से सुनाने-पढ़ाने का यही समय है। अब उसे लोरियाँ और पशु-पक्षियों की कहानियाँ उतनी आकर्षक नहीं लगतीं। १३ वर्ष की उम्र के बाद तो किशोरों को सभी प्रकार की कहानियों में रुचि होने लगती है। यहाँ दो बातें ध्यान में रखने की हैं—एक तो वैज्ञानिक और तकनीकी जानकारी देने के फेर में किशोरों को जटिल बोझिल शब्दावली में कहानियाँ न सुनाई जायें, अन्यथा उनकी रुचि इनमें खत्म हो जायेगी और तब वे मुहल्ले-पड़ौस में दुस्साहसिक कथाएँ सुनना या जासूसी उपन्यास चोरी छिपे पढ़ना पसन्द करने लगेंगे।

दूसरे, आजकल बाजारों में आयु-वर्ग के आधार पर वर्गीकृत पुस्तकें बहुत बिकती हैं। शिक्षित माता-पिता इन्हें खरीद-पढ़कर यह भ्रान्ति पाल सकते हैं कि अमुक आयु के किशोर को अमुक ढंग की ही कहानियाँ सुनानी चाहिए। यह एक नकली विभाजन है और इसका शोर व्यापारिक कारणों से अधिक मचाया जाता है। एक तो प्रत्येक बच्चे की बौद्धिक तीक्ष्णता भिन्न-भिन्न होती है, कोई एक किशोर या किशोरी ८-९ वर्ष की उम्र में इतना जान-समझ सकती है, जितना दूसरे १२-१३ वर्ष की उम्र में। यह तथ्य भी स्मरणीय है कि आज दुनिया भर से जो बाल-साहित्य की मानक पुस्तकें मानी जाती हैं—जैसे पंचतन्त्र, हितोपदेश, जातक-कथाएँ, बैताल-पच्चीसी या कि ‘एलिस इन दि वण्डर लैंड’ आदि। वे वस्तुतः बड़ों के लिए लिखी गई पुस्तकें हैं तो भी वे बच्चों के शिक्षण का सर्वोत्तम माध्यम हैं। तुलसीदास या सूरदास के कई पद जो चौथी, पाँचवीं के बच्चों को आनन्द देते हैं, वही बी. ए., एम. ए. के छात्रों को भी। किशोर बच्चों को सुनाई जाने वाली एक-सी कहानियाँ, ८ वर्ष के किशोर को अलग ढंग के भाव से, १० वर्ष वाले को भिन्न तथा १२-१४ वर्ष वाले को किसी अन्य भाव से उल्लसित-आनन्दित कर सकती हैं। इसलिए आयु सीमा के विभाजन के फेर में माथापच्ची करने की बजाय प्रेरक, ज्ञानवर्द्धक, सुरुचिपूर्ण, मनोरंजक कथाएँ उन्हें सुनानी चाहिए।

कहानी सुनने के साथ ही बच्चों को कहानी कहने का भी शौक होता है। उन्हें इसके लिए प्रेरित करना चाहिए। शिशु तो अपनी अनुकरण-वृत्ति से ही कहानी सुनाते हैं, पर किशोरों में विकसित कल्पना-शक्ति होती है। इसीलिए उन्हें ऐसी कहानियाँ सुनना अधिक अच्छा होता है, जिसे वे अपनी कल्पना-शक्ति से थोड़ी भिन्नता के साथ कह सकें। इसके लिए कहानियों का अन्त इस

प्रकार किया जा सकता है कि वे “आगे क्या हुआ होगा ?” इसकी कल्पना कर उड़ानें भरते रहें या फिर प्रारम्भ इस प्रकार का रखा जा सकता है कि उसे कई रूप दिये जा सकें।

लोक-कथाओं में वे कहानियाँ बड़ी मार्मिक होती हैं, जो मैना, तोता, कौआ, कोयल तथा परिचित चिड़ियों या कुत्ता-बिल्ली, गाय-बैल, भैंस-बकरी, घोड़ा-हाथी, ऊँट आदि सुपरिचित पशुओं की बोली और रहन-सहन के मनोरंजक अर्थ गढ़कर कही जाती हैं। जैसे भोर में बोलने वाली एक चिड़िया को यह बताना कि वह रोज अपने चिड़ा को जगाती हुई कह रही है—“ठाकुर जी, उठो”—आदि। पंचतन्त्र और हितोपदेश की कथाएँ तथा उसी तर्ज पर रची गई प्रचलित लोककथाएँ बच्चों का मनोरंजन एवं भाव-परिष्कार उत्तम रीति से करने में समर्थ होती हैं। उन्हें प्रत्येक कहानी के बाद उनका निष्कर्षपरक शिक्षण भी स्पष्ट कर देना चाहिए।

ऐतिहासिक स्थानों से जुड़ी रोचक कथाएँ तथा महापुरुषों की जीवनियाँ अधिक उम्र के किशोरों के लिए बहुत प्रेरक एवं उपयुक्त होती हैं।

प्रत्येक स्थिति में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कहानी का बच्चे पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? वह उसका आत्मबल बढ़ायेगी या घटायेगी ? विवेक पर बल दे रही है या अन्धविश्वास पर भरोसा जमा रही है ? मनोरंजन के साथ संस्कार-सम्बर्द्धन की क्षमता कहानी में होना आवश्यक है।

कथा-कहानियों का महत्त्व समझें

इस देश में कथा सप्ताहों की परम्परा प्राचीनकाल से चली आ रही है। परम्पराएँ और अन्धविश्वास के सम्पुट जोड़ दिए जाने के कारण आज इन कथाओं की कितनी उपयोगिता रह गई है, यह अलग और विचारणीय प्रश्न है किन्तु इसमें दो सम्मत्तियाँ नहीं हो सकती कि जनमानस को आदर्शोन्मुख बनाये रखने में कथाओं की महत्ता असाधारण है। आज इनका रूप भले ही विकृत और व्यावसायिक बन गया हो किन्तु भागवत सप्ताह, रामायण नवाह्न पारायण, सत्यनारायण व्रत-कथाओं के पीछे लोकशिक्षण की ही भावना रहती रही है और किसी युग में यह आधार व्यक्ति के चारित्रिक विकास और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उनका सर्वोपरि योगदान रहा है।

वाणी और विचार मन को प्रेरित और प्रभावित कर सकते हैं, किसी को प्रसन्न करके तात्कालिक लाभ भी लिया जा सकता है किन्तु मन को प्रभावित करने से सम्पूर्ण जीवन प्रभावित नहीं हो सकता। मन की गहराई उथली होती है, चित्तवृत्तियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। इसलिए आज जो वस्तु मन को प्रिय लगती है कल वही अप्रिय लगने लगती है, किन्तु विचारणा का एक और भी

स्तर है जिसे अन्तःकरण या भाव संवेदना कहते हैं। यह मानवीय अस्तित्व की गम्भीर इकाई और स्थिर तत्त्व है—अन्तःकरण में जड़ जमा लेने वाले संस्कार परिस्थितियों के दबाव में भी बदलते, झुकते और टूटते नहीं। राजवैभव त्यागकर ईश्वर दर्शन के लिए तप करने वाला बालक ध्रुव, विचारों का नहीं भावनाओं से बना था। माता-पिता की सेवा में अपने सुखों को तिलांजलि देकर काँवर उठाये फिरने वाले श्रवणकुमार के संस्कार अन्तःप्रेरित थे। देश के लिए हँसते-हँसते शहीद जो जाने वाले रामप्रसाद बिस्मल, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और राजगुरु संवेदनशील व्यक्ति थे, जोन ऑफ आर्क, कैसावियान्का और पम्पई के प्रहरी ऐसे ही व्यक्ति थे जिनके कर्तृत्व अन्तःकरण का स्पर्श करते थे। इसीलिए प्राचीनकाल से हमारी पारिवारिक परम्पराएँ, शिक्षा-पद्धति, सामाजिक व्यवहार सभी में भाव संवेदना को उच्चस्तरीय स्थान प्रदान किया गया था। इन संवेदनाओं को उभारने में कथा-साहित्य की प्रधान भूमिका रही है। आज सिनेमा ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली है, उसका भी आधार यही है कि कथा के माध्यम से मर्मस्थल का स्पर्श किया जाये ? जो फिल्म जितनी अधिक मर्मस्पर्शी होती है वह उतनी ही लोकप्रिय और देर तक चलती है। इसके विपरीत भाव-विहीन कथानकों वाली फिल्में कुछ ही दिन चलकर बन्द हो जाती हैं। कथाओं में मानवीय अन्तःकरण को प्रभावित करने वाले कोई विलक्षण तत्त्व, कोई गहन दर्शन विद्यमान है तभी तो और कुछ कोई सुनना चाहे या नहीं, पर कहानी, कथाएँ सुनने की उत्कण्ठा बालक वृद्ध, स्त्री-पुरुष हर किसी को होती है। इस सर्वाधिक शक्ति तत्त्व को भुलाया और उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। वरन् उसकी सार्थकता मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठापन में है, उसे सफल बनाया जाना चाहिए।

इस पुण्य परम्परा का प्रारम्भ बच्चों को कहानियाँ सुनाने से होता है। बड़ों की अपेक्षा बच्चे अधिक भावुक और संवेदनशील होते हैं इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रारम्भिक आयु में उस पर चाहे जैसे संस्कार डाल दिये जायें, बच्चा उसी दिशा में ढल जायेगा, ढलाव में आई यह दृढ़ता फिर जीवन भर डिगाये नहीं डिग सकेगी। भारतीय आचार-संहिता के आचार्यों ने उस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

यन्त्रवे भाजने लघ्नः संस्कारः नान्यथा भवेत्।

कथाच्छतोन् बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते॥

अर्थात्—बालक को कहानियों के माध्यम से जो कुछ भी सुनाया जाता है, वह उसी को अपने आचरण में ढाल लेता है और वह संस्कार फिर जीवन भर उसको नहीं छोड़ते। तात्पर्य यह है कि कथाएँ बालकों को इच्छानुकूल ढालने वाले साँचे होती हैं। उन्हें नियमित रूप से कहानियाँ सुनाई जाती रहें, तो कहानियों में जो भी

अच्छे-बुरे आदर्श, प्रेरणाएँ और प्रभाव मुखर होंगे बच्चा उन्हें ही ग्रहण करता चला जायेगा।

इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि सती मदालसा ने पौराणिक आख्यायिकाओं का आश्रय लेकर जहाँ अपने पूर्ववर्ती बच्चों को ब्रह्मनिष्ठ, सन्त और भक्त बनाया वही दिशा बदलकर तीसरे राजकुमार को उन्होंने ऐतिहासिक कहानियों के आधार पर राजनीति के संस्कारों में ढाल दिया। यही राजकुमार अन्त में राजगद्दी का उत्तराधिकारी हुआ।

माँ सुनीति से धार्मिक कथाएँ सुनकर ध्रुव को ब्रह्म-ज्ञान की दीक्षा बाल्यावस्था में ही मिल गई थी, उधर सीताजी को स्वयं उनके पिता जनक ने कर्मयोग का शिक्षण कथाओं के माध्यम से किया था। राम और लक्ष्मण में अनीति के विरुद्ध संघर्ष की भावना वशिष्ठ और विश्वामित्र ने कथाओं के माध्यम से ही जाग्रत की थी—

कर भोजन मुनिवर विज्ञानी। लगे कहन कुछ कथा पुरानी॥

वेद पुरान वशिष्ठ बखानहि। सुनिहि राम यद्यपि सब जानहि॥

इन दोनों चौपाइयों में जहाँ महर्षि विश्वामित्र व वशिष्ठ द्वारा राम की कथा दीक्षा की बात बताई गई है वहीं बालकों को कहानियाँ सुनाने के महत्त्व और अवश्य सुनाये जाने का निर्देश भी स्पष्ट है। 'सुनिहि राम यद्यपि सब जानहि'—का अर्थ भी यही है कि शिक्षित और ज्ञानवान होकर भी कहानियाँ अवश्य सुनी या सुनाई जानी चाहिए क्योंकि उनसे लोगों में संस्कारों का विकास होता है।

इस प्रतिपादन का एक दूसरा पक्ष भी है और वह इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह है कथानकों का चुनाव। कथाएँ सुनने का अर्थ मात्र पुराण सुनने से नहीं, असंगत कल्पनाओं वाली कहानियाँ तथा जिनका न कोई आधार है, न यथार्थता; ऐसी कथा वस्तुएँ तो लाभ के स्थान पर हानिकारक अधिक होती हैं। बन्दूक की गोली से आत्म-रक्षा भी हो सकती है, आत्म-हत्या भी। रस मनुष्य को जीक भी दे सकते हैं, पर विकृत होने पर वही प्राण तक हरण कर सकते हैं। कहानियाँ भी एक प्रकार का रस हैं जिन्हें निश्चित अनुपात, मर्यादा और मानवीय आदर्शों की दृष्टि में रखकर प्रयुक्त किया जाये तो वह व्यक्ति व समाज, दोनों के लिए कल्याणकारक हो सकती हैं किन्तु यदि वह विकृत है तो सामाजिक शान्ति और सुव्यवस्था को चौपट कर देने वाले दुष्परिणाम ही पैदा करती हैं।

इसीलिए आचार्यों ने जहाँ बालकों को कहानियाँ सुनाने की महत्ता और आवश्यकता पर जोर दिया वहीं उन्होंने सावधान भी किया है कि—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्॥

अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दतिहा सताम्॥

किमन्यैरस दालापैरायुषो यद् सद् व्ययः॥

—श्रीमद् भा. ३/१३/४

अर्थात्—इतनी सावधानी अवश्य बरती जाये कि कथाएँ आध्यात्मिक उत्थान और जीवन में ब्रह्मी गति देने वाली हों, जो चरित्र निर्माण में सहायक हों वही कथाएँ सुनी जाएँ अनर्गल और झूठी अधोमुखी प्रेरणाएँ देने वाली कथाओं से बचने में ही कल्याण है। यह अत्यन्त दुःखद बात है कि आज कथाओं, कहानियों के नाम पर यह विकृति ही सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है।

यह आवश्यक नहीं कि कथाएँ धार्मिक ही हों, विष्णु शर्मा की भाँति गद्दी हुई, ऐतिहासिक एवं समसामयिक घटनाएँ भी हो सकती हैं, किन्तु उनमें किसी न किसी रूप में सदिच्छाओं, सद्गुणों और साहस, सूझ-बूझ, स्वावलम्बन, सच्चाई, ईमानदारी, नैतिकता जैसे गुणों का ही प्रस्फुटन होना चाहिए। तभी बच्चों में रचनात्मक प्रतिभा का विकास हो सकता है।

आज की पत्र-पत्रिकाएँ, उपन्यास, साहित्य तथा सिनेमा आदि इस दिशा में बिल्कुल भी न्याय नहीं वरत रहे हैं। किशोरों, बालकों और युवकों के दिक्भ्रान्त होने का यही कारण है। आये दिन किशोरों द्वारा ऐसी दुर्घटनाओं के समाचार छपते रहते हैं, जिनमें उनकी स्वीकारोक्ति यह होती है कि चोरी, हत्या, अपराध की प्रेरणा उन्हें अमुक पुस्तक या अमुक फिल्म से मिली। यह एक प्रकार से बालकों के प्रति कहानियाँ सुनाने की जिम्मेदारी की अपेक्षा करना ही है। यह अपेक्षा और अधिक देर तक नहीं चलने देनी चाहिए। आज ही अभी-अभी यह विचार करें कि क्या हम बच्चों के प्रति इस बड़े उत्तरदायित्व का पालन कर रहे हैं या नहीं यदि नहीं तो यह कर्तव्य अभी से पालन करना प्रारम्भ करें।

बच्चों को कहानियाँ ऐसे सुनाएँ

गूढ़ से गूढ़ तथ्यों, सिद्धान्तों को भी कथा-कहानियों के माध्यम से जितने रोचक और प्रभावशाली ढंग से समझाया जा सकता है, उतना गहन विश्लेषण द्वारा भी सम्भव नहीं है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से कथा कहने और सुनने का बड़ा महत्त्व माना गया है। हमारे यहाँ पुराण, उपनिषद्, महाभारत, भागवत, रामायण आदि के साथ अनेक छोटी-छोटी कथाएँ संयुक्त हैं। प्रायः हिन्दू वत-त्यौहारों के अवसरों पर इन्हें कहने का विशेष माहात्म्य माना गया है। प्रत्येक कथा-कहानी का निर्माण किसी उद्देश्य विशेष को सम्मुख रखकर किया है और वृद्धजनों द्वारा उन्हें बच्चों को सुनाने की परम्परा प्रायः हर घर में है। इसका उद्देश्य यही है कि बच्चों में बचपन से ही सात्विक संस्कार जम जायें।

सत्य बोलना, वचन का पालन करना, कठोर परिश्रम से सिद्धि, दृढ़-संकल्प की महत्ता, दानशीलता, प्रेम-सहानुभूति, सेवा और सहयोग, पात्यव्रत या पत्नीव्रत, न्यायशीलता आदि को स्पष्ट करने के लिए भारतीय ऋषियों ने बड़ी ही सुन्दर बोधगम्य कहानियों का निर्माण किया है। आज भी कथाएँ अनेक स्थानों पर सुनी जाती हैं।

कथा कहने वाला और सुनने वाला दोनों ही पुण्य के भागी माने गये हैं। जब कोई व्यक्ति उपदेश प्रधान कल्याणकारी कथा कहता है तो कुछ देर के लिए उसकी मानसिक भूमि में समग्र कल्याणकारी, विश्व-हितकारी भावनाओं और विचारों का एक वातावरण बनता है। कुछ देर के लिए वह स्वयं कथा के पात्रों के साथ घुल-मिलकर तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। उसका अलग कोई व्यक्तित्व नहीं रह जाता। इसलिए वे सदगुण उसके ऊपर जादू जैसा प्रभाव डालते हैं। संगति का व्यापक प्रभाव होता है। देव-पूजा, देव-आराधना से संयुक्त इन पवित्र गाथाओं के सत्संग से कहने तथा सुनने वाले की आत्मा शुद्ध होती है, उनके ऊपर समाज के कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं, मनोविकार घटते हैं और कथाओं के शुभ संकल्प मजबूत बनते हैं।

प्रत्येक हिन्दू धार्मिक कथा का गुप्त तात्पर्य आत्मकल्याण है, इसी में पवित्र विचारों को सर्वत्र प्रधानता दी गई है। इनमें ऐसे-ऐसे रोचक तत्त्व भरे पड़े हैं कि सुनने वाला बड़ी उत्सुकता से कथा को सुनता जाता है। स्त्रियाँ तो इसमें बेहद दिलचस्पी लेती हैं। वास्तव में ये हिन्दू ऋषियों के मस्तिष्क के चमत्कार ही हैं, जिनमें ज्ञान, उपदेश, भक्ति, दान, तप, कर्म की सदृशिकाएँ भरी पड़ी हैं। मनुष्य के असुरत्व को घटाकर उसमें देवत्व की, न्याय की, सतोगुण की, धर्मपक्ष की प्रवृत्ति उत्पन्न करना, ठीक दिशा में कदम आगे बढ़वाना और असत्य से लड़ना या उसका विरोध करने के लिए सदा तत्पर बनना, इन कथाओं का उद्देश्य है।

इस पद्धति से अच्छा वातावरण उत्पन्न हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि इन सब धार्मिक, लोक-कथाओं को एकत्रित कर इनके सस्ते, सुलभ संस्करण तैयार कराये जाएँ और स्कूलों में इनका व्यापक प्रचार किया जाय। इनकी भाषा सरल और बोधगम्य रखी जाय जिससे हमारे ग्रामीण भाई भी इन्हें आसानी से समझ सकें।

हमारे पुराणों में जो छोटी-छोटी कथाएँ हैं, उनमें भारतीय संस्कृति का खजाना छिपा हुआ है। अनेक प्रकार के उच्चकोटि के उपदेश, ज्ञानसूत्र, प्रतीक, उपयोगी तत्त्व इनमें भरे पड़े हैं। हमारे पुराणों में हमारे उन पूर्वजों की यशोगाथाओं का संग्रह है, जिनसे हमारा संस्कारों और रक्त का सम्बन्ध है। वे स्वभावतः हमें प्रिय हैं। उनका प्रभाव केवल हमारे मस्तिष्क पर ही नहीं, हृदय पर भी

पड़ता है। यदि हम पुराणों की कथाओं को ही सुनाएँ, तो उन अलौकिक कथाओं के साथ ऐसी कथाएँ भी सुनने को मिलती हैं, जो हमारे अन्धकारमय जीवन में प्रकाश उत्पन्न करती हैं और इतिहास की कसौटी पर भी सत्य उतरती हैं। पुराण स्वयं अपने पाठकों की त्रुटियों को पहचानते और शंकाओं का समाधान करते हैं। उनकी कथाओं को कह और सुनकर जो आनन्द और उच्च जीवन के लिए प्रेरणा मिलती है, वह वर्णनातीत है। पौराणिक गाथाएँ तो हमारे वे भण्डार हैं, जिनमें छोटी से छोटी वस्तु से लेकर बड़ी से बड़ी वस्तु एक स्थान पर सरल ढंग से सजाकर रख दी गई है। पुराण साहित्य के अलावा भी ऐसी कई कथाएँ बिखरी पड़ी हैं, जिन्हें सुनाकर बच्चों को चरित्र निर्माण की प्रेरणा दी जा सकती है।

बच्चों के निर्माण में कथा-कहानी सुनाने की प्रक्रिया बड़ी ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। इस क्रम में कुछ बातें ध्यान में रखना चाहिए। एक तो यह कि कहानियाँ अधिक लम्बी-चौड़ी न हों, छोटी कहानियाँ ही बच्चों को भली-भाँति स्मरण रह सकती हैं। इसलिए कहानियाँ छोटी ही चुनी चाहिए। दूसरे कहानी कहते समय वाक्यों को छोटा ही रखा जाय और सरल शब्दों का प्रयोग किया जाय। जहाँ तक हो सके रात-दिन क्रम आने वाले शब्दों को ही कहानी सुनाने में प्रयुक्त करना चाहिए। कहानियाँ सुनाते समय यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कहानी का निष्कर्ष भी बच्चों को समझा दिया जाय। इस प्रकार बच्चों के मन पर कहानियों का अभीष्ट प्रभाव पड़ सके और उनमें अपेक्षित संस्कार डाले जा सकें। प्रयोग के तौर पर हम यहाँ कुछ कहानियाँ प्रकाशित कर रहे हैं, जिन्हें आधार मानकर बच्चों को कहानियाँ सुनाई जा सकती हैं।

सच्ची धित्रता

यमुना नदी के किनारे एक बहुत बड़ा जंगल था। उसमें तरह-तरह के पेड़ लगे हुए थे। कोई आम का था तो कोई बबूल का, कोई बरगद का था तो कोई पीपल का। उन पेड़ों पर अनेक पक्षी रहते थे।

आम के पेड़ पर एक कोयल रहती थी। उसका नाम था चित्रा। चित्रा बड़ा ही मीठा गाना गाती थी। तोता, मैना, कौवा, कबूतर आदि सभी पक्षी सुबह-शाम काम में लगे रहते थे। दोपहर में वे थोड़ा आराम करते थे। उस समय चित्रा सबका मनोरंजन करती थी।

चित्रा कोयल में एक और बहुत बड़ा गुण था। वह था सबकी सहायता का, भलाई करने का। एक बार हरियल तोता का पैर टूट गया तो वह सात दिन तक उसके लिए नित्य लोमड़ी के यहाँ से दवा लाती रही, पट्टी बाँधती रही। चित्रा की कबूतर को बुखार आ गया तो वह उसकी सेवा करती रही। जो भी बीमार पड़ता, चित्रा सभी की सेवा को हाजिर रहती। जो भी दुःख-मुसीबत

होती, चित्रा उसे दूर करने को तैयार रहती। यही कारण था कि सभी चित्रा को बहुत-बहुत प्यार करते थे।

एक बार की बात है, नदी के उस पार से एक बारहसिंगा उस जंगल में आया। चिड़ियाँ, कबूतर, तोता, मैना सभी ने चहचहाकर उसका स्वागत किया। बारहसिंगे ने पेड़ों पर बैठे सभी पक्षियों को एक बार देखा। जाकर नदी के किनारे हरी-हरी घास में आराम से बैठ गया।

उसका यह व्यवहार सभी पक्षियों को बड़ा बुरा लगा। कबूतर बोला—“कैसा है यह, हमारी बात का कोई जवाब भी नहीं देता।”

तोता बोला—“अरे, घमण्डी है, घमण्डी ! इसलिए मुँह फेरकर चल दिया है।”

मैना बोली—“यह हमारा मेहमान है। चलो हम एक बार और उसका स्वागत करते हैं।” फिर वह चित्रा से बोली—“चित्रा दीदी, तुम बारहसिंगे के स्वागत में सुन्दर-सा गाना गाओ।”

चित्रा मोठे स्वर में गाने लगी—बड़े दादा तुम्हारा स्वागत—कुहू करते हम सब पक्षी आज—कुहू यह भी घर अपना समझो—कुहू मिल-जुलकर रहें हम सब ही कुहू; पर इसका भी कोई प्रभाव न पड़ा। वह सोच रहा था मैं तो बड़ा हूँ। बड़े घर का हूँ। इन छोटे-छोटे पक्षियों से क्यों मित्रता करूँ ? और वह वहाँ से छलाँग लगाकर जंगल में भाग गया।

चित्रा को यह बड़ा बुरा लगा। पहले तो उसे गुस्सा आया। पर फिर उसने सोचा कि यह तो उसके माता-पिता की गलती है कि उसे व्यवहार करना नहीं सिखाया, चित्रा ने सोचा कि मैं उसे व्यवहार करना सिखाऊँगी।

वह जंगल बड़ा ही हरा-भरा और सुहावना था। खाने को भी वहाँ खूब मिल जाता था। इसलिए बारहसिंगा वहाँ रोज जाता था। पर वह बोलता किसी से नहीं था। अकेला ही झाड़ियों में सींग उलझा-उलझा कर खेलता रहता था। कबूतर, मैना, तोता कोई भी उससे बोलने का प्रयास नहीं करते थे। बोलती तो उससे चित्रा भी नहीं थी पर उसका आना चित्रा को अच्छा लगने लगा था। यह घण्टों उसके लम्बे सींगों को, चंचल कुदानों को देखती रहती थी।

एक दिन अचानक ही जंगल की शान्ति भंग होने लगी। खट-खट और धाँय-धाँय की आवाजें सुनाई देने लगीं। तोता, कबूतर आदि सभी घबरा गये। वे अपने पंखों को फड़फड़ा-फड़फड़ा कर कभी इस पेड़ पर, कभी उस पेड़ पर उड़ने लगे। इतने में कौवा भागा-भागा आया और बोला—“भागो सभी यहाँ से ! दो शिकारी आ रहे हैं। उनके पास बन्दूक भी है। भून डालेंगे हम सभी को।”

कौवे की बात सुनते ही सभी पक्षी अपने घोंसले को छोड़-छोड़कर तेजी से नदी के उस पार उड़ चले।

रास्ते में चित्रा ने देखा कि बारहसिंगा दौड़ा-दौड़ा उसी जंगल में जा रहा है। चित्रा चिल्लाई “दादा, वहाँ न जाना। शिकारी हैं। भून डालेंगे।”

बारहसिंगे ने, जैसा कि उसकी आदत थी, पक्षियों को देखकर भी अनदेखा कर दिया था। चित्रा अभी कह ही रही थी कि वह तेजी से छलाँग लगाकर आगे बढ़ गया था। चित्रा की पूरी बात भी वह न सुन पाया था।

जंगल में जाते ही बारहसिंगे ने शिकारियों को देखा। अब उसकी समझ में सारी बात आ गयी। वह तेजी से वहाँ से भागा। उसने पीछे मुड़कर भी न देखा। पर शिकारियों ने उसे भागते हुए देख लिया। फिर क्या था, वे लगे उसका पीछा करने। जो लोग सच्ची मित्रता अपनाते हैं। उनकी बात पर ध्यान न देने के कारण इसी तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

बारहसिंगा अपने को झाड़ियों में छिपाकर भागते हुए तंग हो गया। पर अन्त में एक गोली आकर उसके पैर में लग ही गई। वह बेहोश होकर घनी झाड़ियों के पीछे गड्ढे में गिर पड़ा।

शिकारी अपने शिकार को दूँदते-दूँदते आये। उन्होंने चारों ओर देखा पर कहीं भी वह दिखाई नहीं दिया। घनी झाड़ियों और गड्ढे ने उनकी दृष्टि से बारहसिंगे को छिपा लिया था। अन्त में वे निराश होकर लौट गये।

रात होने पर भी जब बारहसिंगा न लौटा तो जंगल के उस पार आम के पेड़ पर बैठी चित्रा को चिन्ता होने लगी। एक बार उसके मन में यह भाव भी आया कि बारहसिंगा जब बोलता तक नहीं तब फिर क्यों उसकी परवाह की जाये, पर दूसरे क्षण उसने सोचा कि हम सब जीव-जन्तुओं को मिल-जुलकर रहना चाहिए। एक-दूसरे की सेवा-सहायता करनी चाहिए। सारा आलस्य त्यागकर, नींद से भरी आँखों को खोलकर चित्रा ने अँगड़ाई ली, अपने पंखों को फड़फड़ाया और जंगल की ओर उड़ चली।

चाँदनी रात थी। हर जगह चाँदनी छिटकी थी। सभी कुछ साफ-साफ दिखाई दे रहा था। चित्रा ने नदी के किनारे, पेड़ों के नीचे, हरी-भरी घास पर, झाड़ियों के बीच में सभी जगह घूम-घूमकर बारहसिंगे को देखा पर कहीं भी वह दिखाई न दिया। अन्त में निराश होकर चित्रा उड़ चली। झाड़ियों के बीच में से वह उड़ रही थी, तभी उसकी निगाह उस गड्ढे पर पड़ी जहाँ बारहसिंगा पड़ा था। वह तुरन्त नीचे उतरी। उसने देखा बारहसिंगा बेहोश पड़ा है। वह अपनी चोंच में भरकर तीन-चार बार नदी से पानी लायी और उसे बारहसिंगे के मुँह में डाला। तब कहीं जाकर उसे होश आया।

आँखें खुलने पर बारहसिंगे ने सामने चित्रा कोयल को देखा। सुबह की घटना उसकी आँखों के आगे घूम गई। पलभर में उसकी समझ में सारी बात आ गई। यह

सोचकर कि वही चिड़िया मेरी सहायता कर रही है, जिससे मैं बात तक न करता था, बारहसिंगे की आँखों में आँसू भर आये।

“अभी आयी दादा” कहकर चित्रा उड़ गई। थोड़ी देर बाद लौटी तो उसकी चोंच में लगी थी हरी-हरी घास और फल। आते ही बोली—“सुबह से भूखे हो, लो खाओ।”

भूखा तो था ही बारहसिंगा। वह जल्दी-जल्दी खाने लगा। अन्त में उससे न रहा गया और पूछ ही बैठा—“चित्रा बहिन, एक बात बताओ। तुम मेरी इतनी सहायता, इतनी सेवा क्यों कर रही हो ? मैं तो तुमसे बोलता तक न था। सुबह भी मैंने तुम्हारी बात न सुनी।”

चित्रा मुस्कराई और बोली “भइया, हम दूसरों के काम आ पायें, उनकी सहायता कर पायें, इसी में जीवन की सार्थकता है। जो केवल अपने लिए जीते हैं, अपनी ही बात सोचते हैं, वह बड़े तुच्छ होते हैं।”

बारहसिंगे की समझ में भी बात आने लगी थी। बोला—“हाँ, हम सबको एक ही ईश्वर ने बनाया है। हम भाई-बहिन हैं। सभी को मिल-जुलकर ही रहना चाहिए।”

रात आधी के करीब बीत चुकी थी। चित्रा ने बारहसिंगे से सोने के लिए कहा और स्वयं भी आम के पेड़ पर बने अपने घोंसले में जाकर सो गई। दूसरे दिन यमुना नदी के उस पार सभी पक्षी भी वापस आ गये।

अब बारहसिंगा, तोता, मैना, कौवा, कबूतर सभी से बड़े स्नेहपूर्वक बातें करता है। किसी को भी उससे शिकायत नहीं रही है। चित्रा कोयल ने भी नीतू लोमड़ी के यहाँ से रोज़ दवा-ला-लाकर बारहसिंगे को स्वस्थ बना दिया है। वह तो अब उसकी पक्की सहेली ही बन गई है। दोनों दोपहर भर आम की अमराई में बैठे बतियाते रहते हैं।

इस कहानी से शिक्षा मिलती है कि अपने आप को बड़ा समझकर दूसरों को छोटा नहीं समझना चाहिए। दूसरे जब सच्चे हृदय से हमारे मित्र बनना चाहें तो घमण्ड में आकर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सबसे प्रेम, सच्चे मित्रों की पहचान और उनकी मित्रता से अनेक संकटों से बचाव होता है। कहना चाहिए जिन्दगी में सच्चे मित्रों की जरूरत सभी को पड़ती है।

भेड़िया और बकरी

एक बार की बात है। कालू भेड़िया अपने घर जा रहा था। वह शेर से लड़कर आ रहा था। इसलिए गुस्से में भरा था। चलते-चलते अँधेरा भी हो गया था। रास्ते में एक जगह कुआँ पड़ता था। पर गुस्से में होने के कारण भेड़िये को यह ध्यान ही न रहा। गुस्से में बहुत-से गलत काम हो जाते हैं। बहुत हानि हो जाती है। कालू को भी

कुएँ का ध्यान नहीं रहा। उसका पैर कुएँ के ऊपर पड़ गया। कालू कुएँ में गिर गया।

कुएँ में पानी अधिक नहीं था। जैसे-तैसे कालू ने वहाँ रात बिताई। सुबह से ही उसने चिल्लाना शुरू कर दिया—“कोई मुझे कुएँ से निकाल लो ! मुझे कुएँ से निकाल लो।” पर किसी ने उसे निकाला नहीं। ऐसी बात नहीं थी कि वहाँ कोई नहीं था। शेर, गीदड़, लोमड़ी, हाथी, ऊँट सभी उस जगह से गए थे। सभी ने कालू भेड़िए की आवाज भी सुनी थी। पर सभी यह कहते हुए चले गए कि तुम तो सभी से लड़ते-झगड़ते रहते हो। तुम कभी किसी की सहायता नहीं करते। फिर हम ही तुम्हें क्यों निकालें ? उन्हें डर भी था कि यदि वे भेड़िये को निकालेंगे तो वह उन्हें काट खायेगा।

कालू बड़ी देर तक कुएँ में पड़ा-पड़ा रोता-चिल्लाता रहा। एक रंजू बकरी भी उसी रास्ते से जा रही थी। उसने भेड़िये की आवाज सुनी। रंजू ने इधर-उधर देखा। उसे कोई भी दिखाई न दिया। रंजू बकरी ने पूछा “तुम कौन हो, कहाँ से बोल रहे हो ?”

कालू चिल्लाया “दीदी”, मैं यहाँ कुएँ में हूँ। मुझे जल्दी निकालो। नहीं तो मैं डूब जाऊँगा।

रंजू को दया आ गई। वह दौड़ी-दौड़ी अपने घर गई। वहाँ से एक मोटी-रस्सी लाई। रंजू ने रस्सी का एक सिरा पकड़ा और एक कुएँ में लटका दिया। फिर बोली “कालू भइया ! तुम जल्दी से रस्सी का सिरा पकड़कर ऊपर आ जाओ। मैं दूसरा सिरा पकड़े यहाँ खड़ी हूँ।”

भेड़िया रस्सी पकड़कर धीरे-धीरे ऊपर तक आया। पर यह क्या-कालू भेड़िये का हल्का-सा धक्का लगा रंजू संभल न पाई। वह कुएँ में गिर पड़ी। वह कुएँ के अन्दर से चिल्लाई “कालू भइया ! जल्दी निकालो ! नहीं तो मैं डूब जाऊँगी।”

पर कालू बड़ा स्वार्थी था। अपनी जान बचाने वाली बकरी की भी उसने परवाह न की। उसने बहाना बनाया “रात भर कुएँ में रहने से मेरे हाथ जकड़ गए हैं। मैं तुम्हें निकाल नहीं सकता।” कालू सोच रहा था कि बकरी मरे तो मर जाये। मुझे इससे क्या ? मैं तो बच ही गया।

बकरी कालू की चालाकी समझ गई। वह बोली—“दुष्ट कालू ! सब ठीक कहते हैं कि तू बड़ा स्वार्थी है। तुझे बचाने के कारण मैं कुएँ में गिरी। पर तुझे मेरी जरा भी परवाह नहीं। तू न बचाए तो न सही। मुझे निकालने वाले बहुत आ जायेंगे। मैं तो दूध देती हूँ। सभी को पिलाती हूँ। सभी का उपकार करती हूँ। तू ही नीच है जो किसी के काम नहीं आता। सबको हानि पहुँचाता है। इसलिए किसी ने तेरी सहायता नहीं की।”

कालू तो चला गया। थोड़ी देर बाद एक आदमी उधर से निकला। उसने बकरी के मिमियाने की आवाज सुनी। आदमी ने पूछा—“तू कहाँ से बोल रही है ?”

‘मैं यहाँ कुएँ में हूँ, बकरी बोली।’

आदमी ने सोचा यह तो बड़े काम की है। इसे देखकर मेरे बच्चे खुश होंगे। यह दूध देगी। उसने जल्दी से बकरी को निकाल लिया। बाहर आकर बकरी बोली ‘कका, मैं तुम्हारी कृतज्ञ हूँ। तुमने मेरी जान बचाई है।’

आदमी ने पूछा कि वह कुएँ में कैसे गिरी थी ? बकरी ने सारी घटना बताई। आदमी बोला—“तू तो बहुत अच्छी है। चल मेरे साथ घर चला।” वह बकरी को अपने घर ले गया। वहाँ बकरी उसके बच्चों के साथ खेलती रहती थी। खूब खाती-पीती थी। खूब काम करती थी। इस कहानी से शिक्षा मिलती है कि जो भेड़िये की तरह दूसरों को हानि पहुँचाता है, किसी की सहायता नहीं करता, उसे कोई नहीं चाहता। जो बकरी की तरह दूसरों को लाभ देता है, अच्छे काम करता है, वह सुखी रहता है। यह शिक्षा भी मिलती है कि मीठी बातें बोलकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले भी दुनिया में कम नहीं हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति से समझकर ही व्यवहार करना चाहिए।

घोंसला

एक लड़की थी, उमा। उमा के घर के पीछे एक बबूल का पेड़ था। उमा अपने कमरे की खिड़की से उसे देखती रहती थी। एक दिन उसने देखा कि एक चिड़िया बार-बार आ रही है। वह अपनी चोंच में छोटे-बड़े तिनके लाती है। उन्हें वह एक पेड़ की डाल पर रखती जाती है। उमा ने देखा कि एक बड़ा ही सुन्दर घोंसला बनना शुरू हो गया। उसने अपनी माँ से पूछा—‘माँ, यह चिड़िया कैसा सुन्दर घोंसला बना रही है ? पर हमारे घर में जो चिड़िया घोंसला बनाती है, वह तो इतना अच्छा नहीं होता। ऐसा क्यों है ?’

माँ ने कहा—“तुम यह जो घोंसला देख रही हो, यह बया नाम की चिड़िया का है। यह चिड़िया घोंसला बनाने के लिए बड़ी प्रसिद्ध है। इसके घोंसले बड़े ही सुन्दर होते हैं। इसका कारण यह है कि यह जी-जान से अपने काम में जुटी रहती है। यह अपने काम को पूरी मेहनत और लगन से करती है। इससे इसका काम अच्छा होता है।”

यह कहकर माँ तो रसोई में खाना बनाने चली गई। अब उमा को एक शरारत सूझी। उसने खिड़की में से एक डण्डा डाला। डण्डे से धीरे-धीरे हिलाकर घोंसला गिरा दिया। इतने में दाना चुगकर चिड़िया वापस आई। उसने देखा कि घोंसला टूटा पड़ा है। कुछ तिनके बिखर गये हैं, कुछ हवा में उड़ गये हैं। अपनी मेहनत यों बेकार होते देख बया को बड़ा दुःख हुआ। वह थोड़ी

देर तक चीं-चीं करके रोती रही। फिर उसने सोचा कि रोने से क्या होता है ? रोते रहने से तो कोई भी काम पूरा हो नहीं सकता। इससे अच्छा तो यही है कि मैं दुबारा से ही घोंसला बनाना शुरू करूँ। अतएव वह फिर अपने काम में जुट गई।

दूसरे दिन बया जब खाना खाने गई तो उमा ने फिर उसका घोंसला गिरा डाला। उसने यह न सोचा कि इससे उसे कितनी परेशानी और दुःख होगा ? दो-तीन दिन तक यही होता रहा। बया घोंसला बनाती। उसके जरा हटने पर उमा उसे तोड़ डालती। एक दिन जब उमा घोंसला गिरा रही थी तो उसकी माँ ने उसे देख लिया। उन्होंने कहा—‘उमा ! तुम यह क्या कर रही हो ? किसी के काम को बिगाड़ते नहीं हैं। बया चिड़िया है तो क्या, तुम्हारे काम से उसे बड़ी कठिनाई होती है। तुम्हें उसकी सहायता करनी चाहिए। उसे तंग नहीं करना चाहिए। मनुष्य हो या पशु-पक्षी किसी को परेशान नहीं करते।’

पर माँ की बात का भी उमा पर कोई असर नहीं हुआ। जैसे ही वह कमरे से बाहर जाती, वह डण्डा उठाकर घोंसला गिराने लगती। पर बया थी कि बार-बार घोंसला बनाये जाती थी। वह सोचती थी, कभी तो उसकी मेहनत सफल होगी।

माँ ने देखा उमा गलत काम करती है। वह उनकी बात नहीं मानती। उन्होंने एक उपाय सोचा। माँ ने उमा के सामने उसकी गुड़िया तोड़ डाली। उस गुड़िया को उमा बहुत प्यार करती थी। प्यारी गुड़िया के दो टुकड़े देखकर उमा बड़ी दुःखी हुई। वह फूट-फूटकर रोने लगी।

माँ ने कहा—‘मैं तुम्हारी गुड़िया जोड़ दूँगी। पर तब, जबकि तुम भी बया का घोंसला बनाकर आओगी। अब तक तो उसका पूरा घोंसला बन जाता। तुमने उसकी सारी मेहनत बेकार कर दी।’

माँ की बात सुनकर उमा दौड़कर कमरे से निकली। उसने अपने घर के बगीचे से तिनके और टूटी घास बीनी। वह पिछवाड़े से निकलकर जल्दी से पेड़ के पास पहुँची। वह सोच रही थी कि मैं अभी मिनटों में घोंसला बनाकर तैयार किये देती हूँ। वह डाल पर तिनके रखती, घास से उन्हें लपेटती जाती। पर तिनके थे कि डाल पर टिकते ही न थे। कुछ नीचे गिर जाते थे। कुछ हवा के झोंकों से उड़ जाते थे। वह बार-बार कोशिश करती पर सब बेकार जाती। अन्त में वह खीजकर पेड़ के नीचे बैठकर रोने लगी। जिसे वह छोटा-सा काम समझ रही थी, वह तो बड़ा कठिन निकला। थोड़ी देर बाद लगा कोई उसके सिर पर हाथ फिरा रहा है। उमा ने पीछे मुड़कर देखा तो माँ सामने खड़ी थीं। वे कह रही थीं, ‘कोई काम बिगाड़ना तो सरल है पर बनाना कठिन होता है। यदि कर सकती हो तो दूसरों की सहायता करो। किसी को न तो सताओ, न उसका काम बिगाड़ो।’

लगन का फल

पुराने समय की बात है। एक बड़े विद्वान गुरु थे। उनके आश्रम में दूर-दूर से बच्चे पढ़ने आते थे। गुरुजी जब पढ़ाते थे तो सारे बच्चे बड़े ध्यान से उनकी बात सुनते थे। पर एक बालक ऐसा भी था जो अपना मन पढ़ाई में नहीं लगाता था। उसका नाम था वोपदेव। जब कुछ बात सिखाई जाती थी तो वह बाहर देखता रहता था। कभी वह हिरणों का दौड़ना देखता। कभी चिड़ियों का फुदकना देखता तो कभी बच्चों को खेलते हुए देखता रहता। उसका मन करता था कि वह भी बाहर जाकर खेले-कूदे। पर गुरुजी के डर से ऐसा नहीं कर पाता था। इस सबका फल यह हुआ कि वोपदेव मूर्ख ही रह गया। उसके दूसरे साथी पढ़-लिखकर होशियार होते गये।

गुरुजी को यह अच्छा नहीं लगता था कि वोपदेव कुछ न पढ़े-लिखे, क्योंकि जो बच्चे शुरू से मन लगाकर नहीं पढ़ते, वे बड़े होकर भी अच्छे नहीं बनते। पहले तो गुरुजी ने वोपदेव को प्यार से समझाया कि वह ठीक से पढ़े-लिखे। पर वह फिर भी न माना। तब एक दिन गुरुजी को गुस्सा आ गया। उन्होंने वोपदेव को खूब डाँटा।

डाँट खाकर वोपदेव फूट-फूटकर रोने लगा। उसने सोचा कैसे मैं गुरुजी को मनाऊँ ? कैसे फिर उनका प्यार पाऊँ ? मैं तो कक्षा में बहुत पिछड़ गया हूँ। अब मैं कैसे आगे बढ़ सकता हूँ ? यही सब सोचते-सोचते वह आश्रम से बाहर आ गया। उसे दुःख हो रहा था कि उसने समय क्यों बर्बाद किया। मन लगाकर क्यों नहीं पढ़ा। गुरुजी जो कुछ कहते हैं, उसकी भलाई के लिए ही कहते हैं। उनके कहे के अनुसार ही उसे काम करना चाहिए। तभी वह अच्छा बच्चा बन सकता है।

चलते-चलते वोपदेव को प्यास लगी। उसे एक कुआँ दिखा, वहाँ कुछ स्त्रियाँ पानी भर रही थीं। वह पानी पीने उसके पास पहुँचा। पानी पीकर वोपदेव ने देखा कि कुएँ के मुँड़े पर कई बड़े गोल-गोल गड्ढे बने हुए थे। उन्हें देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इतने चिकने-सुडौल गड्ढे किसने बनाये हैं ? उसने उन स्त्रियों से पूछा—“क्या इतने सुन्दर गड्ढे तुमने बनाये हैं ?” यह सुनकर वे सभी हँस पड़ीं। उनमें से एक बड़ी आयु की महिला बोली—“बेटा ! यह गड्ढे किसी ने बनाये नहीं हैं ? हम सब यहाँ रोज पानी भरकर अपने घड़े रखती हैं। इससे पत्थर पर घिसाव पड़ता है और गड्ढा बन जाता है। यह मिट्टी का घड़ा कड़े पत्थर में अपने बैठने की जगह बना लेता है।” यह सुनकर वोपदेव को और भी अचम्भा हुआ। उसे लगा कि इतने कड़े पत्थर से घड़े से गड्ढे कैसे बन सकते हैं ?

उसने पूछा—“सच कह रही हो ? घड़े से ही यह गड्ढे बने हैं ?”

स्त्री बोली—“हाँ बेटा ! अगर हम एक काम को हर दिन करते रहें तो उसका अभ्यास हो जाता है। रोज-रोज मन लगाकर किया गया काम, चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो, जरूर पूरा होता है।”

वोपदेव को बड़ी खुशी हुई। वह गुरुजी के पास दौड़ा गया और बोला—“गुरुजी ! मैं पढ़ाई में बहुत पिछड़ गया हूँ तो क्या हुआ। जब मैं रोज-रोज मन लगाकर पढ़ूँगा। खूब मेहनत करूँगा। मैं अच्छा बच्चा बन जाऊँगा।”

तब वोपदेव ने सच्चे मन से पढ़ना शुरू किया। पहले पढ़ाई उसे कठिन लगती थी, वही अब सरल लगने लगी। अपनी लगन के फल से वह बड़ा विद्वान बना। वोपदेव बड़े होकर अपने ज्ञान के लिए प्रसिद्ध हुए। उन्होंने व्याकरण की एक पुस्तक भी लिखी, जिसका नाम है—‘मुग्धबोध’। आज भी विद्वान बड़े आदर से इसे पढ़ते हैं।

इस कहानी से शिक्षा मिलती है कि सच्चे मन से जो कार्य किया जाता है, वह जरूर सफल होता है। यह भी कि प्रत्येक व्यक्ति अपना जो भी लक्ष्य बना ले, उसे प्राप्त कर सकता है। संसार में कोई भी काम कठिन नहीं है, परिश्रम से सभी काम सरल हो जाते हैं।

हारिये न हिम्मत

विज्ञान के क्षेत्र में आइन्स्टाइन का नाम सभी का जाना-माना है। आज वे सारे विश्व में अणु विज्ञान के परिचायक महान गणितज्ञ और वैज्ञानिक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु आइन्स्टाइन प्रारम्भ से ही ऐसे प्रतिभाशाली नहीं थे।

बालक आइन्स्टाइन जब विद्यार्थी थे तो कक्षा के सहपाठी उन्हें बुद्ध कहकर चिढ़ाया करते थे। कई बार साथी उनकी पीठ पर चिट चिपका देते जिस पर लिखा होता था ‘बुद्ध’। साथी हँसते परन्तु आइन्स्टाइन कोई उत्तर न दे पाते। ऐसा लगता था जैसे वह स्वयं को वैसा ही समझते हों।

गणित कक्षा में तो उनकी शायद ही आ जाती। अध्यापक किसी प्रश्न को कई-कई बार समझाने के पश्चात् जब उनसे पूछते तो वह बगलें झाँकते बुद्ध से ताकते रहते। एक बार अध्यापक ने उनके इस भौदूपन से चिढ़कर कहा कि “तुम सात जन्मों में भी गणित नहीं सीख सकते, कुछ और सीखो।” यह बात आइन्स्टाइन को चुभ गई और उन्होंने कठोर परिश्रम आरम्भ कर दिया।

आत्मविश्वास के साथ कठोर श्रम करते रहने के कारण आइन्स्टीन के इस युग के महान वैज्ञानिक और गणितज्ञ बने। अपनी इस महानता के रहस्य को उन्होंने

एक विद्यार्थी को बतलाया कि मैंने अपने जीवन में कभी भी हिम्मत नहीं हारी। निराश न होकर निरन्तर श्रमपूर्वक प्रयत्न करता रहा। इसी से सबसे कठिन विषय गणित मेरे लिए सरल बन गया।

आत्मविश्वासपूर्वक निरन्तर सही दिशा में प्रयत्न करते हुए भी बुद्ध बुद्धिमान बन जाता है।

सत्यप्रिय जार्ज

एक बार एक किसान ने अपने छोटे बेटे को एक कुल्हाड़ी लाकर दी। वह देखने में बड़ी चमकदार थी और उसकी धार भी तेज थी। बालक उसे पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। बड़ी देर तक उसे उलट-पलट कर देखता रहा। फिर उसकी इच्छा हुई कि इसकी धार को अजमाया जाये। वह कुल्हाड़ी लेकर बगीचे में चला गया। वहाँ उसने बहुत-से पेड़ों पर कुल्हाड़ी चला-चलाकर देखी। उसकी धार इतनी तेज थी कि जहाँ भी लगती थी, पेड़ कट जाता था। बालक यह देखकर बड़ा प्रसन्न होने लगा। इसी प्रकार काफी समय अपना मनोरंजन करने के बाद वह घर चला गया।

बालक का पिता जब बगीचे में आया तो उसे देखकर सन्न रह गया। उसके प्यारे वृक्ष जगह-जगह से कटे पड़े थे। किसी का तना कटा हुआ था तो किसी की डाल। किसी के फल गिरे पड़े थे तो कोई जड़ से ही कटा पड़ा था। पिता ने गुस्से में भरकर मालियों को उनकी लापरवाही के लिए डाँटा। उन सभी को आश्चर्य हो रहा था कि बाहर का कोई भी व्यक्ति तो आया नहीं है फिर वृक्ष कैसे कट गये ?

घर आकर उसने बड़े खिन्न मन से पत्नी से सब नुकसान की यह बात बतलाई। जार्ज भी यह सुन रहा था। बोला—‘पिताजी ! मैंने ही पेड़ों पर कुल्हाड़ी चला कर देखी थी कि इसकी धार कितनी तेज है ? मैं ही इस काम के लिए दोषी हूँ।’ बालक जानता था कि पिता उस पर क्रुद्ध हो सकते हैं, उसे दण्ड दे सकते हैं, पर उसे लगा कि सच्चाई को स्वीकार तो करना ही चाहिए।

पिता उसकी बात से नाराज तो हुए पर बोले—‘बेटे, तुमने वृक्षों को नुकसान पहुँचाकर बुरा काम किया है। पर फिर भी सच बोला है, झूठ बोलकर अपनी करनी छिपाई नहीं है इसलिए मैं तुमसे प्रसन्न हूँ।’

आगे चलकर यही बालक जार्ज वाशिंगटन के नाम से अमेरिका का राष्ट्रपति बना तथा अपनी सत्यप्रियता, न्यायशीलता और ईमानदारी के कारण प्रसिद्ध हुआ।

पुरस्कार वापस

गणित की कक्षा चल रही थी। अध्यापक ने गणित का एक कड़ा प्रश्न पूछा। सारे विद्यार्थी चुप बैठे रहे। कोई उस प्रश्न को हल न कर सका।

थोड़ी देर में एक नन्हा विद्यार्थी उठा और उसने प्रश्न का सही उत्तर बता दिया। अध्यापक विद्यार्थी की प्रतिभा से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस बालक को एक पुरस्कार भी दिया। पुरस्कार लेते में बालक कुछ अशान्त-सा हो गया। घर पहुँचकर तो उसकी अशान्ति और उदासी इतनी बढ़ गई कि वह रातभर सोया नहीं। बस दिन निकलने और विद्यालय पहुँचने की चिन्ता करता रहा।

दूसरे दिन विद्यालय पहुँचते ही बालक अध्यापक के सामने गया। उसने पुरस्कार उनके सामने रख दिया और हाथ जोड़कर बोला—‘गुरुजी ! कल प्रश्न का उत्तर मुझे एक-दूसरे सहपाठी ने बताया था। मैंने स्वयं नहीं सोचा था। इसलिए यह पुरस्कार भी आप कृपया उसे दीजियेगा।’

अध्यापक बालक के साहस, सत्यप्रियता और ईमानदारी से बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सारे विद्यार्थियों को एकत्रित कर उस बालक की बात उन्हें बताई। उन्होंने सभी बालकों को समझाया, ‘झूठ बोलने वाले का झूठ चाहे कोई और जाने अथवा न जाने परन्तु भगवान और अपना अन्तरात्मा जानता है। इसीलिए झूठ बोलने और बेईमानी करने से शान्ति और सुख नहीं मिलता। जैसे इस बालक को नहीं मिला। इसलिए हमें सदैव सत्य का पालन करना चाहिए।’

पुरस्कार उस बालक को लौटाते हुए उन्होंने कहा—‘यह पुरस्कार अब तुम्हारी अच्छाई, साहस और सत्य-पालन के लिए है। तुम इसके सच्चे अधिकारी हो।’

यह नन्हा बालक था गोपालकृष्ण गोखले, जो बचपन से अभावों और कठिनाइयों में पले। परन्तु कभी सत्य, न्याय, ईमानदारी और देशभक्ति में पीछे नहीं रहे।

छोटी-छोटी भूल

एक बार भाई-बहिन दोनों घूमने निकले। घूमते-घूमते वे जंगल की ओर चले गये। अब दोनों में होड़ लगी कि कौन पहले दौड़कर रास्ता पार करता है ? बालिका इलायजा तेजी से दौड़ी जा रही थी। अपनी धुन में उसे कुछ भी ध्यान न था। उसके आगे एक कृषक बालिका चली जा रही थी। उसके सिर पर अमरूदों से भरी टोकरी रखी थी। इलायजा की टक्कर लगी और अमरूदों की टोकरी पास ही बहते नाले में जा गिरी।

अब क्या था—‘किसान की वह गरीब लड़की फूट-फूटकर रोने लगी। इलायजा ने यह देखा तो घबड़ा

गई। इतने में पीछे से बालक नैपोलियन भी आ गया। इलायजा बोली—“चलो, जल्दी भाग चलें यहाँ से। कोई आ गया तो मुसीबत खड़ी हो जायेगी।”

बालक समझदार था। बोला—“नहीं, गलती हमने की है तो उसका प्रायश्चित्त भी हम ही करेंगे। चाहे कोई देखे या न देखे पर भगवान हमारे सारे काम देखता है।”

उधर वह गरीब बालिक रोते हुए कह रही थी कि “अब मैं बाजार में जाकर क्या बेचूँगी ? कहाँ से पैसे लाऊँगी ? अपने बीमार माता-पिता को दवा और दूध कैसे लाऊँगी ?”

उसकी बात सुनकर बालक का हृदय पिघल उठा। उसकी जेब में कुछ पैसे पड़े थे। उन्हें वह देते हुए बोला—“तुम हमारे साथ चलो। हम अपने घर से तुम्हें फलों का मूल्य दे देंगे। हमने गलती की है तो उसका दण्ड भी हम ही भुगतेंगे।”

तीनों घर पहुँचे। माँ ने सारी बातें सुनीं तो झुँझला उठीं और बोली—“तुम जानते नहीं कि घर का खर्च भी जैसे-तैसे बड़ी कठिनाई से चलता है। मैं कहाँ से पैसे दूँ ?”

बालक जो पहले से ही कुछ विचार कर रहा था बोला—“माँ ! गलती हम दोनों की है। उसके कारण यह गरीबी कष्ट क्यों उठाये ? तुम इसे मेरे और दीदी के विद्यालय के नाश्ते के पैसे दे दो। हम दोपहर में नाश्ता नहीं करेंगे।”

माँ ने उस लड़की को अमरूदों के पैसे दे दिये और वह बड़ी खुशी से अपने घर चली गई। बालक और उसकी बहिन ने दो महीने तक विद्यालय में दोपहर का नाश्ता नहीं लिया।

अपनी छोटी-छोटी भूलों पर गम्भीरता से विचार करने वाला, उन्हें सुधारने वाला यही बालक बड़ा होकर नैपोलियन बोनापार्ट के नाम से विश्व में प्रसिद्ध हुआ।

दृढ़निष्ठा

लाहौर के मिशन स्कूल की घटना है। एक बार वहाँ के प्रधानाध्यापक नवी कक्षा को पढ़ा रहे थे। पढ़ाते-पढ़ाते हिन्दू धर्म की कुछ चर्चा आई और उन्होंने उसमें दोष निकालने, उस पर आक्षेप छोड़ने प्रारम्भ कर दिये। काफी देर तक जब यह चर्चा चलती रही तो एक विद्यार्थी से यह सहन न हुआ। उसने तुरन्त उन बातों का खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया, उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि नैतिक मूल्यों पर सभी धर्मों में बल दिया गया है। जहाँ तक कुरीतियों और अन्धविश्वासों का प्रश्न है, वे ईसाई धर्म में भी कम नहीं हैं। इसके लिए किसी धर्म विशेष को दोषी ठहराना ठीक नहीं है।

किशोर की बातों से प्रधानाचार्य का आक्रोश और बढ़ गया। उन्होंने बेंत से बालक की खूब पिटाई की। तब भी क्रोध न गया तो कॉलेज से उसका नाम ही काट दिया।

बालक तो चला गया पर प्रधानाचार्य के मस्तिष्क में कई दिनों तक तर्क-वितर्क चलता रहा। उनके अन्तरात्मा उन्हें धिक्कारने लगी कि उन्होंने धर्म के मद में चूर होकर किसी निरपराधी बालक के प्रति दुर्व्यवहार किया है। अन्त में उन्होंने उसे वापस स्कूल में बुला लिया।

यही किशोर बड़ा होकर महात्मा हंसराज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जीवनभर उन्होंने हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के अनुरूप शिक्षा देने के लिए पंजाब में ‘दयानन्द आर्य महाविद्यालय’ की भी स्थापना की।

गौरवान्वित माँ

एक बार बालक सुभाष तीन-चार दिन घर नहीं लौटा। कई व्यक्ति उन्हें ढूँढ़ने-खोजने इधर-उधर दौड़े, सभी जगह खोजा, पूछ-ताछ की, परन्तु कुछ पता न चला। बेचारी माता बालक के किसी कष्ट में पड़ जाने की आशंका से बिलख रही थी।

व्याकुल माता की आँखों को अचानक पीछे से आकर किसी ने नन्हें हाथों से बन्द कर लिया। माता स्पर्श पहचान गई। आँख बन्द करने वाले हाथों को पकड़कर उसे अपनी गोद में खींच लिया और पूछा—“चार दिन से तुम कहाँ थे बेटे ?”

बालक सुभाष मुस्कराते हुए बोला—“माँ ! यहीं पास के गाँव में हैजा फैला था। बीमारों को सेवा-सहायता की आवश्यकता थी। इसलिए इतने दिन वहीं उनकी सेवा में लगा रहा। तुम्हें सूचना देने का समय ही नहीं रहा।”

माँ ने उसकी सेवा-भावना को सराहा और सराहते हुए कहा “शाबाश बेटा ! तुमको पुत्र रूप में पाकर मैं गौरवान्वित हूँ।”

यही बालक भारत माता का वीर सपूत स्वाधीनता सेनानी नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नाम से अमर है।

लोभी कबूतर

एक जंगल में कबूतरों का एक झुण्ड रहता था। वह सब एक ही परिवार के थे, उनका एक मुखिया था। सारे कबूतर उसकी आज्ञा का पालन करते थे। एक दिन कबूतरों का झुण्ड शाम को अपने घर लौट रहा था। रास्ते में एक जगह बहुत-से दाने बिखरे पड़े थे। झुण्ड के कुछ कबूतरों को दाने चुगने का लोभ आ गया। उनमें से कुछ नीचे उतरने लगे पर मुखिया बड़ा चतुर था उसने समझाया—भाइयो ! अनाज बड़ी कीमती चीज होती

है, उसे लोग सँभालकर घरों में रखते हैं, यहाँ इतने दाने बिखरे पड़े हैं इसका मतलब कोई धोखा है, तुम लोग दानों का लालच न करो, अब शाम हो गई है, इसलिए भी रुकना ठीक नहीं।

मुखिया के इतना समझाने पर भी कबूतरों का लालच कम न हुआ। धीरे-धीरे सब कबूतर नीचे उतर गये, टोली नायक को भी विवश होकर साथ देना पड़ा पर अभी वे मुश्किल से दो-चार दाने ही मुँह में डाल पाये थे कि उन्होंने देखा कि वे सचमुच जाल में फँस गये हैं और शिकारी जिसने जाल फैला रखा था दूर से दौड़ा हुआ उन्हें पकड़ने के लिए आ रहा था।

कबूतरों की पहली गलती तो यही थी कि उन्होंने पेट भरे होने पर भी अनावश्यक लालच किया। घर पहुँच गये होते तो बच्चों से मिलते-जुलते, विभ्राम करते पर लोभ के कारण सबके सब जाल में फँस गये। दूसरी भूल उन्होंने यह की कि अपने से बड़े टोलीनायक की आज्ञा नहीं मानी। बड़ों का अनुभव और ज्ञान दोनों बड़े होते हैं, इसलिए अच्छे-बुरे की पहचान भी उन्हें अधिकतर होती है।

छोटे बच्चों और घर के लोगों पर उन्हें स्नेह होता है, इसलिए वे जब भी कोई शिक्षा देते हैं, भले के लिए ही देते हैं, पर जो लोग उनकी शिक्षाओं पर नहीं चलते और आज्ञाओं का पालन नहीं करते वे भी कबूतरों की तरह ही कठिनाइयों और मुसीबतों के जाल में फँस जाते हैं।

संकट आया जान कबूतरों ने अपने मुखिया से कहा अब तो आप ही हमें इस कष्ट से छुटकारा दिला सकते हैं ठीक भी है। जब कोई कष्ट आये तो बड़े और बुद्धिमान व्यक्तियों की शरण में जाने से कल्याण होता है। कबूतरों ने इतनी तो बुद्धिमानी की कि कष्ट पड़ने पर उन्होंने अपने विश्वासपात्र मुखिया को याद किया और अपनी भूल स्वीकार की। कुछ देर तक सोचने के बाद दलनायक बोला—“भाइयो ! अब हमारे सामने एक ही रास्ता है और वह यह कि सब लोग मिलकर शक्ति लगायें और जाल समेत यहाँ से उड़ चलो।” कबूतरों ने बात मान ली। सबने मिलकर जोर लगाया जिससे जाल का बोझ भी उठ गया और वे आकाश में उड़ गये, शिकारी हाथ मलता ही रह गया। मिल-जुलकर काम करने की शक्ति ऐसी ही होती है।

कबूतरों का दल अपने निवास स्थान के समीप ही एक स्थान पर उतर पड़ा। वहाँ दलनायक का एक मित्र चूहा रहता था। उसने अपने मित्र को बुलाया। चूहा निकलकर बाहर आया। अपने मित्र को जाल में फँसा हुआ देखकर वह बड़ा दुःखी हुआ। उसने इस तरह फँस जाने का कारण पूछा। कबूतर ने सारा किस्सा अपने मित्र चूहे को सुनाया। कबूतरों के लालच और दलनायक की बात न मानने की सारी कथा सुनकर चूहे ने

कहा—मित्र ! लाओ मैं जाल काटकर तुम्हें मुक्त कर दूँ। पर इन लोगों को तो किये का फल पाने दो। दलनायक बोला—नहीं भाई, ऐसी बात न कहो। तुम मेरे विश्वासपात्र मित्र हो। ऐसा मित्र जो कठिनाइयों में काम आये वही सच्चा मित्र होता है। ऐसे मित्र संसार में हर व्यक्ति को रखने चाहिए, जो कठिन से कठिन आपत्ति पड़ने पर साथ दे सकें।

परमार्थी कबूतर की बात सुनकर चूहा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने थोड़ी देर में ही सारा जाल काट दिया। कबूतरों का दल फिर स्वतन्त्र हो गया। चूहे को धन्यवाद देकर सब अपने घर लौटे।

साधारणतया घरों में कहानी सुनकर जैसे ही उसका अन्त हुआ लोग प्रसंग को वहीं समाप्त कर देते हैं पर दर-असल कहानी का यथार्थ लाभ इतने से नहीं मिल सकता। इतनी कहानी का अर्थ यह हुआ कि एक शिक्षा के लिए आपने सुनने वालों के मस्तिष्क में केवल वातावरण बनाकर छोड़ दिया। उसमें लहर पैदा करने वाली बात छूट गई। इसलिए कहानी के अन्त में निष्कर्ष देकर समझाने वाली पद्धति आवश्यक है। उसके बिना कहानी का सारा महत्त्व बेकार हो जाता है, वातावरण तैयार हो जाना उसी तरह है जैसे बीज बोने के लिए खेत तैयार कर दिया गया। बीज डालने का काम तो अब शुरू होता है। तभी तो दी हुई शिक्षा की पौध उग सकती है। इसलिए कहानी के अन्त में उससे सम्बन्धित शिक्षा देना अनिवार्य है। जैसे प्रस्तुत कहानी में निहित शिक्षा के समझाने के निमित्त यह कहा जा सकता है—कबूतरों ने नासमझी और जल्दीबाजी न की होती तो इतना सारा झंझट ही क्यों पैदा होता ? हमारे जीवन में भी ऐसी परिस्थितियाँ अक्सर आती हैं, जो लोग उनसे बच जाते हैं वे बुद्धिमान होते हैं। पर जो फल-कुफल पर ध्यान नहीं देते उन्हें कबूतरों की तरह ही संकट में पड़ना पड़ता है। इसके बाद लम्बी परेशानी उठाकर ही वे उस संकट से बचते हैं। जैसे दूसरों के धन का लालच करने वाले चोरों को सजा होती है, अधिक मुनाफे का लोभ नहीं त्याग पाते और मिलावट करते हैं। ऐसे बनियों और दुकानदारों की लोग बड़ी निन्दा करते हैं, पकड़े जाने पर दण्ड दिया जाता है। लोभ छोटा हो अथवा बड़ा वह हमेशा मनुष्य को कष्ट ही देता है इसलिए बुद्धिमान और विचारवान लोग पहले ही उसका परित्याग कर देते हैं। वे लोग ईमानदारी और परिश्रम की कमाई पर विश्वास करते हैं फिर जो कुछ मिलता है उसे अपने लिए ही नहीं रखते वरन् मिल-बाँटकर उपभोग करते हैं। इससे सबका भला होता है और खुद को भी सुख मिलता है। याद रखो—लोभ संकट की जड़ है, इससे सदैव बचना चाहिए।

छोटी-सी कहानी में शिक्षाएँ और परिस्थितियों का विश्लेषण देकर जितना चाहें बढ़ा लेते हैं। परिवार निर्माण

के लिए इससे अच्छा प्रशिक्षण और क्या हो सकता है ? पर हमें याद रखना चाहिए कहानी केवल मनोरंजन के लिए न कही जाय, वरन् उसमें शिक्षाओं और सम्पत्तियों का समन्वय भी किया जाये। उसका प्रारम्भ और निष्कर्ष दोनों उद्देश्यपूर्ण रहने चाहिए।

मनुष्य मात्र एक कोरा कागज है

फिलीपाइन्स के एक कबाइली इलाके में ऐसे परिवार पाये गये हैं, जिन्हें आदिम सभ्यता का अवशेष समझा जा सकता है। वे पत्तों से वस्त्र का काम लेते हैं और वनस्पतियों तथा जन्तुओं को आहार बनाते हैं। वे घुमन्तू स्तर के हैं। जब तक मर्जी होती है पर्वतीय गुफाओं में या पेड़ों के झुरमुटों में बस जाते हैं और जब उचंग आती है, इच्छानुसार किसी भी दिशा में चल पड़ते हैं।

किन्तु रहते कबाइली सीमा में ही हैं। सभ्य मनुष्यों के सम्पर्क में लाने के लिए अब तक के किये गये सभी प्रयत्न निष्फल हुए हैं। उन्हें अपना ढर्रा ही पसन्द है। बदलने की अपेक्षा जान देना या लेना उन्हें अधिक पसन्द है। समुदाय में नरों की संख्या अधिक है, नारियों की कम क्योंकि वे प्रजनन तथा कष्टसाध्य जीवन को वहन करने में पिछड़ जाते हैं।

इस खोज से पता चलता है कि यदि मनुष्य को सभ्यता, सुसंस्क्रिता का वातावरण न मिले, तो वह आदिम काल की पशु परिस्थितियों में ही बना रहेगा।

ऐसे और भी कबीले संसार के अन्यान्य स्थानों में हैं, जिनका रहन-सहन, आचार-व्यवहार सामान्य लोगों की तुलना में कहीं अधिक पिछड़ा हुआ है। वे पशुओं से कुछ ही ऊँचे दर्जे तक पहुँच पाते हैं।

यह सोचना गलत है कि मनुष्य जन्मजात रूप से अनेक विशेषताएँ लेकर साथ आता है। साथ तो मनुष्य की संरचना ही अपवाद रूप मान लेना पर्याप्त है। ऐसे हाथ किसी को नहीं मिले। दो पैरों के सहारे चलना भी किसी को नहीं आता और मस्तिष्कीय ग्रहणशीलता का, संवेदना का उपहार और किसी प्राणी को नहीं मिला। किन्तु साथ ही निश्चित है कि इनका अद्भुत उपयोग सिखाने पर ही सीखा जा सकता है। इसलिए विकास की दिशा में अग्रसर करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसे समुचित प्रशिक्षण प्राप्त हो, भले ही वह अभिभावकों, कुटुम्बियों, सम्बन्धियों या पड़ोसियों द्वारा दिया जाय। मनुष्य दूसरों को देखकर उसकी नकल बनाने में प्रवीण है, जबकि दूसरे प्राणी वैसा नहीं कर पाते।

ऐसे उदाहरण संसार में कितने ही हैं कि भेड़िया या चिम्पाजियों द्वारा मनुष्य बालकों का अपहरण किया गया। उन्होंने उन्हें मारा नहीं, वरन् अपना बच्चा समझकर पाल लिया। बड़े होने पर वे शिकारियों द्वारा प्रयत्नपूर्वक

पकड़े गये। पाया गया कि उनमें अपने पालकों की सभी आदतें अभ्यास में उतर गई हैं। वे उसी प्रकार रहते, खाते और बोलते, जैसे कि उनके पालने वाले। पकड़े जाने के उपरान्त उन्हें मनुष्योचित रहन-सहन एवं शिष्टाचार, उच्चारण सिखाने का बहुत प्रयत्न किया गया, पर इसमें आंशिक सफलता ही मिली। परिपूर्ण मनुष्य वे न बन सके। कारण कि बालक जन्म के उपरान्त आरम्भिक तीन वर्षों में जो कुछ सीख लेता है, वह इतना अधिक होता है कि जिसकी तुलना जीवन के शेष भागों में सम्पादित किये गये अनुभव से नहीं हो सकती। मानसिक बीजांकुर इसी अवधि में उगते और बढ़ते हैं। पूर्णता-परिपक्वता शेष जीवन में आती है।

इस वास्तविकता को देखते हुए आवश्यक हो जाता है कि बच्चों के लिए भोजन, वस्त्र का ही प्रबन्ध न किया जाय, वरन् उनमें उन संस्कारों के बीजारोपण का भी प्रबन्ध किया जाय, जिससे वे समझदार, बुद्धिमान और नीतिवान नागरिक बन सकें।

नन्हें शिशुओं की प्रकृति का अध्ययन कीजिए

बच्चों की मूल भावनाएँ तो लगभग समान हैं किन्तु उन सबकी रुचि एक ओर नहीं झुकती। उनमें कुछ का झुकाव किसी ओर तो कुछ का किसी दूसरी ओर होता है। एक शिशु प्रारम्भ से तस्वीरें बनाने में आनन्द लेता है, दूसरा गाना गाता है, तीसरा पढ़ना-लिखना नहीं छोड़ता, चौथा पेड़-पौधों में प्रवृत्त है। नन्हें बच्चों की विशेष प्रवृत्तियाँ पहचानने में प्रत्येक माता-पिता को बड़ा सतर्क रहना चाहिए। बच्चा जिस दिशा की ओर अधिक प्रवृत्त है, वह उसकी विशिष्टता है। प्रकृति ने वह विशेष गुण शिशु को उपहारस्वरूप प्रदान किया है। अतः उस मनोवृत्ति का किसी मनोवैज्ञानिक से अध्ययन कराकर उसे अपने स्वभाविक गुणों के विकास में सहायता करना चाहिए।

किन्तु सभी शिशुओं की छुपी हुई प्रवृत्तियों के बीज एक से नहीं पनपते। किसी बालक में विकास अन्यों की अपेक्षा तेजी से होता है, किसी की प्रवृत्ति का विकास संतोषप्रद हो पाता है, किसी का यौवन में होना प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि युवावस्था में सबकी मानसिक प्रवृत्तियों में जन्मगत भेद दिख पड़ता है। बच्चे की कौन-सी विशिष्टता किस मर्यादा तक विकसित होगी, यह बात बच्चे के जन्मजात संस्कारों पर निर्भर है।

बच्चे की मनोवैज्ञानिक रीति से शिक्षा का प्रबन्ध अनिवार्य है। मनोविज्ञान इस बात पर जोर देता है कि बच्चे के स्वभावतः गुणों को उचित रीति से बढ़ने, फैलने, पूर्ण परपक्व होने का अवसर प्रदान किया जाय। उसके सहज गुणों का विकास मार-पीट, सख्ती, अनुपयुक्त

वातावरण, बुरी संगति—कहीं रुक न जाय। यदि बच्चे के चारों ओर एक तीव्र सहानुभूतिमय दृष्टि रखी जाय और प्यार से उसकी बुद्धि को समझकर उसका विकास किया जाय तो जन्मजात दोष पनप नहीं सकते और उसकी महत्ता का पूर्ण प्रकाश हो सकता है।

मानव इस विविध-विध बाधा संकुल जगत् से त्रस्त होकर निज इच्छा तृप्ति के लिए एक कल्पनिक जगत् की सृष्टि किया करता है। स्वप्न भी हमारी छिपी हुई इच्छाओं की एक पूर्ति का मार्ग है। हमारे बच्चे भी २ से ७ वर्ष की अवस्था तक अधिकतर कल्पनिक जगत् में विचरण किया करते हैं। ८ वर्ष पश्चात् बालक को स्वप्नजगत् तथा इस कटु जगत् में अन्तर प्रतीत होने लगता है।

शैशवावस्था में किए गए अत्याचार इसी अवस्था में अपना विषैला प्रभाव दिखाना प्रारम्भ करते हैं। बच्चों के भय, भूत-प्रेत, हव्वा इत्यादि के डर दिल में बैठकर घोर मानसिक यंत्रणा पहुँचाता है, बच्चा कायर, डरपोक एवं बिछुड़ने वाला बन जाता है। कभी-कभी कामोत्तेजना का शिकार बनकर आत्मग्लानि का शिकार बनता है और पाप के विचारों से दबा रहता है।

सच पूछा जाय तो बचपन में ही जीवन निर्माण का कार्य होता है। अव्यक्त मन में जो अच्छे-बुरे संस्कार बैठ जाते हैं, वह जीवनपर्यन्त चलते हैं। अतः बच्चों को कोमल मन में केवल उत्तम, स्वास्थ्यप्रद, हिम्मत एवं बड़प्पन के विचार ही जमाइये। बच्चे ऐसे शान्त एवं आनन्द के वातावरण में रहें कि उत्तम संस्कार ही उन पर पड़ें। शिशु का कल्पनिक जगत् महत्वाकांक्षा से ओत-प्रोत बनना चाहिए। शिवाजी, प्रताप इत्यादि पर शैशवावस्था में ऐसा ही प्रभाव पड़ा था।

प्रायः हम सभी थोड़ा-बहुत चिढ़ते हैं किन्तु कुछ बालकों में अन्यों की अपेक्षा चिढ़ने की प्रवृत्ति अधिक होती है। यह निर्बल इच्छाशक्ति एवं न्यून सामर्थ्य की द्योतक है। ऐसे शिशुओं का स्वभाव अत्यन्त सुकोमल होता है तथा 'अहं' की भावना अत्यन्त बढ़ जाती है। चिढ़ प्रायः बच्चे की किसी विशेष दुर्बलता की सूचक होती है। हम चिढ़ते तब ही हैं, जब दूसरे हमारे 'अहं' वृत्ति पर आक्षेप करते हैं। चिढ़ने से हीनत्व की भावना शिशु में घर कर जाती है।

स्मरण रखिए, प्रत्येक बच्चा किसी विशेष क्षेत्र में अनुपम है। इस क्षेत्र को खोज निकालने से चिढ़ दूर हो जाती है। बच्चे का मजबूत पहलू खोज निकालिये। उस क्षेत्र में वह सदैव विजयी होता है। ऐसे बच्चे को ऐसे अवसर दीजिए कि उसकी छिपी हुई शक्ति को निकलने का मौका मिले और वह अपने क्षेत्र में मजबूत बने।

कितने ही शिशुओं का मानसिक एवं भावात्मक वातावरण इतना नीचा होता है कि वे अपनी शक्तियों को

विकसित नहीं कर पाते। ऐसे बच्चे प्रायः शारीरिक विकास में भी पंगु रह जाते हैं। फिसड्डी बच्चों में शारीरिक रोग तो होते ही हैं किन्तु उसमें संगति का भी कम प्रभाव नहीं होता। जब बालक में मानसिक न्यूनता होती है तो उसकी बुद्धि मन्द पड़ जाती है, तब शारीरिक दुर्बलता उसके पिछड़ने का एक सहायक कारण हो जाती है।

ऐसे मन्दबुद्धि के बालकों को बड़ी सहानुभूति से पढ़ाने की आवश्यकता है। इनके लिए एक पृथक् कक्षा होनी चाहिए और प्रत्येक बालक पर पृथक् ध्यान देना चाहिए, जिससे प्रत्येक क्षेत्र की न्यूनता पूर्ण हो जाय। सहानुभूति, जिम्मेदारी एवं प्रशंसा से हम कितने ही मन्दबुद्धि बच्चों को पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करने में मदद कर सकते हैं। इस तत्त्व का ध्यान रहे कि बच्चे की हिम्मत सदैव बढ़ती रहे, उसे निरन्तर प्रोत्साहन, उत्साह, सहानुभूति मिलती रहे। स्कूल में घर जैसा वातावरण बन जाय।

अनेक छोटे-छोटे बालक हीन बुद्धि होने के कारण अपराध करते हैं। कुछ दूषित वातावरण के शिकार होते हैं, कुछ को भयंकर ताड़ना, सजाएँ मिली हुई होती हैं। अतः उनकी प्रेरणा निन्दनीय कामों की ओर हो जाती है। शाररती बच्चों में ये ही छिपी हुई अव्यक्त क्रियाएँ प्रकट हुआ करती हैं। अपराधी बच्चों की अन्य शक्तियाँ प्रायः अत्यन्त विकसित होती हैं, जिनकी पर्याप्त वृद्धि द्वारा उनका यह स्वभाव दोष मूल से मिटाया जा सकता है।

बच्चे का भी हमारी तरह एक व्यक्तित्व है। अतः जिस कुटुम्ब में बालक बड़ा होता है, उसका प्रभाव उसके विकास पर अधिक पड़ता है। यदि बच्चे की मानसिक शक्तियों के विकास के लिए योग्य वातावरण का सृजन किया जाय, तो बचपन से ही बालक की शक्तियाँ विकसित होनी प्रारम्भ हो जाएँ और अवस्था के साथ-साथ बढ़ती जावें। जिन-जिन मानसिक शक्तियों के अनुकूल संगति और परिस्थितियों में बच्चा रहता है, वे शक्तियाँ उसमें उत्पन्न होती तथा विकसित होती हुई दिखाई देती हैं। सुखी दम्पति के शिशु बड़े सन्तुष्ट एवं सुखी रहते हैं। उनके मुख पर संतोष की छटा रहती है।

बच्चे ढीठ तथा जिद्दी अधिक प्रेम के कारण हो जाते हैं। अतः प्रेम करते समय संयम, सीमा तथा उचित-अनुचित का सदैव ध्यान रखना चाहिए। इसी प्रकार अधिक डाँटने-फटकारने से भी बच्चे के 'अहं' भाव पर भयंकर ठेस लगती है।

चौदह वर्ष पश्चात् बालक युवा हो जाता है और यौवन की कुछ अस्पष्ट तरंगें उसके मनःप्रदेश में उद्देलित होने लगती हैं। वह अपने आपको प्रकट करने के लिए श्रृंगार करता, गाता-बजाता, सिगरेट पीता फिरता है। वह अपने आपके साथ, साथी या मित्र जैसा व्यवहार चाहता है। उसकी दबी हुई इच्छाएँ क्रमशः निकलनी शुरू होती

है। इस अवस्था में जो मानसिक एवं शारीरिक परिवर्तन होते हैं, उनके अनुसार ही व्यवहार होना चाहिए।

ऐसा नव-युवक सहानुभूति की आकांक्षा करता है तथा जो कोई सहानुभूति प्रदर्शन करता है, उसी का चिरदास हो जाता है। किन्हीं बच्चों में अतृप्त कामेच्छा उत्तेजित होकर भयंकर उत्पात मचाती है और वे निम्न पथों में पड़कर जीवन बिगाड़ लेते हैं। अतः माता-पिता को चढ़ती जवानी में सदैव सतर्क रहना चाहिए। कामवासना का जाग्रत होना स्वभाविक है। इसे दबाने के स्थान पर निकलने के नए अवसर देने चाहिए—चित्रकारी, संगीत, कविता, व्यायाम, आदर्श जीवन में प्रवेश करा सकते हैं। कितने ही युवा कामवासना के प्रकाशन को भयंकर पाप समझकर आत्मग्लानि के शिकार रहा करते हैं। पाप की कल्पना से वे इतने चिंतित रहते हैं कि यह कारण हीनत्व की भावना ग्रन्थि निर्माण कर देता है, जो उन्हें सदैव कष्ट देती रही है। माता-पिता को अपना उत्तरदायित्व समझकर युवा से व्यवहार करना चाहिए।

बच्चों के सदगुण जगाये और बढ़ाये जाएँ

हम सब सामाजिक व्यक्ति हैं। हमारे बच्चे भी सामाजिक व्यक्ति हैं, यह ठीक है कि आज वे समाज में उस तरह से नहीं बरत रहे हैं, जिस प्रकार से हम सब। वे अभी पारिवारिक ही अधिक हैं तथापि उनका इस समय भी एक समाज है, बाल समाज, जिसमें वे उसी प्रकार कुछ भिन्नता के साथ व्यवहार करते हैं जिस प्रकार हम प्रौढ़जन अपने प्रौढ़ समाज में करते हैं। फिर जल्दी ही उन्हें पूरा सामाजिक बन ही जाना है। जल्दी ही वे सामाजिकता का अर्थ जानेंगे और उत्तरदायी नागरिक होकर कर्मक्षेत्र में उतरेगे। सफल नागरिक बनकर समाज में रहना ही नागरिकता है। दूसरों की प्रतिष्ठा का मार्ग प्रस्तुत करते हुए अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखना एक सच्चे नागरिक का मुख्य लक्षण है। जो नागरिक अपनी प्रतिष्ठा खो बैठते हैं वे दूसरों की प्रतिष्ठा भंग करने की कुत्सित प्रवृत्ति के शिकार बन जाते हैं। जो स्वयं प्रतिष्ठित हैं, वही दूसरे की प्रतिष्ठा का मूल्यांकन कर सकता है। अस्तु, हम सब अभिभावकों का कर्तव्य है कि बच्चों में अभी से प्रतिष्ठा का भाव बढ़ाने में सहयोग करें। बच्चों को ऐसे गुण और ऐसी परिस्थितियाँ दें जिससे कि उनकी प्रतिष्ठा बढ़े, वे उसका मूल्य समझें, आगे-आगे चलकर भी उसकी रक्षा करते हुए एक सफल नागरिक/सिद्ध हों।

प्रतिष्ठा का सबसे बड़ा आधार है—सद्गुण। धन-वैभव, जमीन-जायदाद, व्यापार-व्यवसाय, सम्पन्नता, सुविधा-साधन अथवा दल-बल को प्रतिष्ठ का हेतु मानने वाले भूल करते हैं। यह सब चीजें तो दुष्ट तथा दुराचारी व्यक्ति को भी मिल जाती हैं, किन्तु इससे वह प्रतिष्ठा

का अधिकारी नहीं बन जाता। दुर्गुणी व्यक्ति कितना ही धनवान अथवा बलवान क्यों न हो प्रतिष्ठ का अधिकारी नहीं हो सकता। उसके प्रति मान-सम्मान, आदर-सत्कार का भाव या तो नहीं दिखला सकता है जो स्वयं उस जैसा ही दुर्गुणी होगा अथवा कोई स्वार्थी चाटुकार कोई भद्र पुरुष तो दुष्ट का सादर नहीं कर सकता कि वह कितना ही बलवान अथवा धनवान क्यों न हो ?

सच्ची प्रतिष्ठा का आधार सद्गुण ही माने गये हैं। ऐसे एक नहीं हजारों सत्पुरुष संसार में हुए हैं और आज भी हैं, जो धन के दृष्टिकोण से कुछ भी न होते हुए भी गुणों के कारण समाज ने जिनको सदा सिर आँखों बिठाया है। इसलिए प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए बच्चों को धनवान बनाने की अपेक्षा गुणवान बनाने की ओर अधिक ध्यान दीजिए।

बच्चों को गुणों में सबसे पहला गुण सिखाइए शिष्टता। शिष्टता बच्चों का वह दिव्य अलंकार है जो उनको अत्यधिक आकर्षक बना देता है। सबसे विनम्रतापूर्वक मीठी बोली बोलने वाले, गुरुजनों का यथायोग्य आदर करने वाले बच्चे सबको प्यारे लगते हैं। जो भी उन्हें देखता है प्रसन्न हो उठता है। उनकी मुस्कान भरी मीठी बोली सुनने के लिए उन्हें विरमा लेता है। उनसे अच्छे-अच्छे प्रश्न पूछकर प्यारे-प्यारे उत्तर सुनने के लिए उत्सुक रहता है। मुँह पर उन्हें शाबाशी देता है, पीठ और सिर पर हाथ फेरता है, पीछे सरहना करता है और दूसरे बच्चों को वैसा बनने की प्रेरणा देता है। शिष्ट बच्चे सबके लिए आकर्षक, श्लाघ्य तथा प्यारे होते हैं। यही लोकप्रियता बच्चों की प्रतिष्ठा है, जिसे दिलवाने के लिए अभिभावकों को उन्हें शिष्टाचार के साँचे में ढालना चाहिए।

दूसरा गुण उन्हें परिश्रम तथा परोपकार का दीजिए। परिश्रमी बच्चे स्वस्थ रहते हैं—एक बात, दूसरे वे आलसी न होने से आज्ञाकारी भी होते हैं। उनमें स्फूर्ति, ताजगी तथा प्रसन्नता बनी रहती है, जिससे वे न केवल मन लगाकर पढ़ते ही हैं बल्कि सहज ही अपने पाठों को हृदयंगम भी कर लेते हैं। जो बच्चे पढ़ने में तेज हों, तुरन्त आज्ञा का पालन करने वाले हों, वे किसका हृदय न जीत लेंगे ? सम्पर्क में आने वालों की सद्भावना पा लेने वाले बच्चे प्रतिष्ठित ही माने जाएँगे।

बच्चों का परोपकार उनकी सेवा-भावना में ही निहित रहता है। उनके लिए जरूरी नहीं कि वे दानी हों, जरूरी नहीं है कि आवश्यकता के स्थानों में जाकर शारीरिक अथवा आर्थिक परोपकार करें, नंगों को वस्त्र एवं भूखों को भोजन दें। बच्चे इस स्थिति में नहीं होते। उनका परोपकार तो दूसरों की सेवा ही माना गया है। घर में गुरुजनों की सुविधा का ध्यान रखना। छोटे भाई-बहनों को साफ-सुथरे रहने तथा पढ़ने-लिखने में सहायता करना, अपने निर्धन साथियों को समय-समय पर अपनी पुस्तकें

उधार दे देना। उनका पाठ तैयार करा देना अथवा कोई अस्वस्थ हो गया है तो उसकी देख-रेख तथा परिचर्या करना आदि वे सेवाएँ हैं, जो उनका परोपकार ही माना जायेगा। बाजार जाते समय पड़ोस की नानी, दादी, ताई अथवा किन्हीं वृद्धजनों का सौदा ला देना, छोटे बच्चों को साथ लेकर स्कूल पहुँचा देना अथवा जो बच्चे स्कूल नहीं जा पाते, उन्हें थोड़ा-बहुत पढ़ा देना उनका परोपकार ही है। बच्चों का यह परोपकार उन्हें कितनी प्रतिष्ठा दिला सकता है इसका अनुमान तो तभी लग सकता है जब हमारे बच्चे वैसे बनें और वैसा करते दिखलाई दें। परोपकारी बालक एक स्थायी स्वभाव तथा स्थिर प्रतिष्ठा सहज ही अर्जित कर लेते हैं, जो आगे चलकर भी उनके साथ बनी रहती है, जो उनके सफल नागरिक बनने में सहायक होती है।

बच्चों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उन्हें स्वच्छता तथा व्यवस्था का गुण दीजिए। शिष्ट, सदाचारी तथा सेवा-भावी बनाने पर भी यदि आप उन्हें स्वच्छता तथा व्यवस्थाप्रिय न बना सके तो मानिए उनको बहुत कुछ देकर भी न दिया। जहाँ उनके अन्य गुण उनके अंक बढ़ायेँगे, वहाँ गन्दगी तथा असम्भ्यता उनके नम्बर कटवा देगी। गन्दे आदमी से कोई सेवा भी लेने को तैयार नहीं होता। गन्दे बच्चे गुणी होने पर भी कम ही पसन्द किये जाते हैं। अव्यवस्थित स्वभाव के बच्चों से अनुशासनहीनता हो जाने का भय रहता है। सब कुछ अच्छा करते हुए भी उन्होंने यदि धूल से भी कोई अनुशासनहीनता कर दी तो सारे किये किये पर पानी फिर जायेगा। अव्यवस्थित अथवा अस्त-व्यस्त बालक से काम लेते भी डर लगता कि कहीं यह काम बनाने के बजाय बिगाड़ न दें। यदि सेवा-भाव से किया हुआ किसी का काम बिगड़ जाये तो बड़ी हानि होती है। अच्छाई में बुराई पैदा हो जाती है। लोग यही समझते हैं कि यह तो बेगार टालता है अथवा काम बिगाड़ने के लिए ही सेवा का नाटक करता है। यह भयानक अपवाद होगा। इससे बच्चे की प्रतिष्ठा बढ़ने की जगह वह दूसरों की नजरों से गिरेगा ही। अस्तु, उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाने की दिशा में उन्हें स्वच्छता तथा सुव्यवस्था का गुण देना एक बड़ी सहायता है।

जो अभिभावक अपने बच्चों का सम्मान स्वयं नहीं करते उन्हें या तो महत्त्वहीन समझकर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं अथवा उनकी उपेक्षा करते हैं; वे समाज में भी उनकी उपेक्षा की भूमिका बना देते हैं और तो और उसके समीपस्थ साथी तथा सहपाठी तक यह कहकर व्यंग्य करते रहते हैं—क्या बातें बनाते हो दिनभर तो घर पर धुत्तेरे की होती रहती है, कोई दो कौड़ी का पूछता नहीं छोटे भाई वह तक किसी गिनती में नहीं लाते और यहाँ हम सबके बीच शान दिखाते हो। यह बात तो उनके सामने करो जो तुम्हारी दशा जानता न हो, अभिभावकों से अनाहत बच्चे समाज में अनायास ही

अनहत हो जाते हैं। लोग यह समझकर उनका उपहार नहीं करते कि जरूर ही इसमें कोई दुर्गुण होंगे तभी तो घर पर इसका कोई आदर नहीं होता। बच्चों को अपनी औलाद और उसके नाते अपने से तुच्छ समझकर अनाहत नहीं करना चाहिए इससे उनकी अप्रतिष्ठा होती है। बच्चों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए स्वयं भी उनका उचित सम्मान करिए। उनके स्वभाव, सद्व्यवहार, उनके अधिकारों की रक्षा तथा जिनके साथ प्रेम-पूर्वक बोलना ही उसका आदर है जो हर अभिभावक को करना ही चाहिए। जो अभिभावक स्वयं अपने बच्चों का सम्मान करते हैं, उनका तिरस्कार करने का साहस बाहर वाले नहीं कर सकते। माता-पिता तथा भाई-बहनों से आदर पाये हुए बच्चे साथियों की दृष्टि में अनायास ही ऊँचे उठ जाते हैं और वे प्रभावित होकर उनका आदर करने लगते हैं। “घर आदर तो बाहर भी आदर” वाले सिद्धान्त को ध्यान में रखकर सभी अभिभावकों को अपने बच्चों का समुचित सम्मान करना चाहिए।

किसी का आदर, सम्मान उसकी संगति के आधार पर भी होता है। जिसकी संगति खराब है, वह बुरा बनेगा और जो बुरा है उसको प्रतिष्ठा पाने का अधिकार भी क्या हो सकता है ? कुसंग वाला बच्चा जहाँ भी जायेगा लोग उसे दूर रखने की कोशिश करेंगे। न कोई ठीक से बात करेगा और न उसकी किसी बात की ओर ध्यान दिया जायेगा। उसके द्वारा किया हुआ कोई अच्छा काम भी मान्यता से वंचित रह जाता है। एक बार यदि वह स्वयं खराब न भी हो तब भी लोग संगति के कारण उस पर विश्वास न करेंगे। सभी लोग उसका अपने बच्चों के साथ मिलना-जुलना नापसन्द करेंगे। अपने बच्चों को उसके साथ खेलने से मना करेंगे और उसके आने पर आपत्ति करेंगे। कुसंग अप्रतिष्ठा का बहुत बड़ा कारण है। इसमें बच्चों को अवश्य ही बचाये रखना चाहिए। बच्चे की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आपका कर्तव्य है कि आपसे अच्छे साथी चुन सकने में मदद दीजिए। ऐसे परिवारों से सम्पर्क करिये जिनके बच्चे सज्जन तथा शिष्ट हों। ऐसे परखे हुए बच्चों को घर पर प्यार से बुलाइये जो पढ़ने-लिखने में तेज तथा अपने माता-पिता द्वारा शुभ संस्कारों में ढाले गये हों। इस प्रयत्न से आपके बच्चों का सम्पर्क अच्छे बच्चों के साथ हो जायेगा। बच्चों को कुसंग-सुसंग की हानि-लाभ बतलाये और इस बात की प्रेरणा दें कि ऐसे बच्चों से ही मित्रता करें, जो सभ्य तथा सुशील हों। सुसंगत से ही मनुष्य गुणवान बनता है और गुणों के आधार पर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। एक बार व्यक्तिगत रूप से खराब आदमी भी अच्छी संगत, ऊँचे तथा महान मित्रों की आड़ में सम्मान का भागी बन जाता है। अस्तु, बच्चों की प्रतिष्ठा के लिए उनको उचित साथी चुन सकने में मदद देने से प्रमाद न करें।

बच्चों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उसके साथियों से प्यार भरा व्यवहार करना चाहिए। बहुत-से अभिभावकों को अपने बच्चों के साथी देखे नहीं भाते। यदि उनमें से कोई घर आ जाता है तो उनकी आवाज में नाराजगी तथा दृष्टि में तीक्ष्णता आ जाती है। बच्चे के साथी से प्यारपूर्वक बोलना तो दूर उसका अभिवादन स्वीकार करने का भी शिष्टाचार नहीं करते। यदि कोई बच्चा साथी को पूछने आ जाता है तो उसे ऐसे कर्कश तथा तीखा उत्तर देते हैं कि बेचारे का दिल टूट जाता है और रोता हुआ-सा वापस चला जाता है। ऐसे कठोर एवं अशिष्ट अभिभावकों के बच्चे साथियों द्वारा सम्मान नहीं पाते। कभी-कभी बदलने में उनके अभिभावकों से कर्कश व्यवहार भी पा जाते हैं। कर्कश अभिभावक बच्चों की प्रतिष्ठा के बड़े गहरे दुश्मन होते हैं। जो अभिभावक बच्चों के मित्रों को उनकी तरह ही प्यार करते हैं, उनको वात्सल्य देते हैं, उनका हित-चिन्तन करते हैं, उनके बच्चों का सर्वत्र सम्मान होता है। साथी माता-पिता के सद्व्यवहार से परिप्लावित होकर साथी को सिर आँखों चढ़ा लेते हैं। इसलिए बच्चे का सम्मान बढ़ाने के लिए अभिभावकों को चाहिए कि वे उसके साथियों से सदा व्यवहार ही करें। थोड़ा-सा प्रेम, थोड़ी-सी सदभावना और थोड़ी-सी धुरता लिए दो ममत्व भरे शब्द किन्हीं साथियों को ओत-प्रोत करने के लिए पर्याप्त हैं। ऐसा करने से पास से क्या जाता है ? हर कोई कर ही सकता है।

माता-पिता के आचार-व्यवहार और घर के वातावरण का, बच्चों की प्रतिष्ठा, अप्रतिष्ठा से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जिनके माता-पिता सदाचारी, सज्जनोचित व्यवहार और ऊँचे व्यवहार वाले होते हैं और जिनके घरों में सदा शान्ति बनी रहती है सब सबसे प्रेम रखते, मिल-जुलकर रहते हैं उनके बच्चों को समाज में अनायास ही प्रतिष्ठा मिल जाती है। जिनके माता-पिता असहायों जैसा व्यवहार करें, अस्त-व्यस्त दशा में रहते परस्पर लड़ते-झगड़ते और गाली-गलौज करते रहते हैं, उनके बच्चों का भी सम्मान नहीं होता। बच्चों को प्रतिष्ठित बनाने के लिए अभिभावकों को चाहिए कि वे अधिक से अधिक अच्छे बनें। समाज में उनकी प्रतिष्ठा रहे।

बच्चे भी सामाजिक होते हैं। उनका भी एक समाज होता है—बाल समाज। उनकी भी अपनी प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा होती है इसलिए हर प्रकार से यह प्रयत्न करना चाहिए कि बच्चों की प्रवृत्ति प्रतिष्ठा बढ़े, वे गुण तथा गौरवान् बनें। यह हम सब अभिभावकों का केवल कर्तव्य ही नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व भी है जिसे निभाना ही चाहिए।

बच्चों का निर्माण—

आवश्यक सावधानियाँ

बच्चा घर में शैतानी करता या उद्विग्नता बरतता है तो माँ अक्सर कहती है—“आजकल मास्टर लोग स्कूलों-

में पढ़ाते तो हैं नहीं, यों ही निठल्ले बैठे रहते हैं और विद्यार्थियों पर कोई ध्यान नहीं देते। इसीलिए तो देखो न, लड़का कैसी-कैसी शैतानियाँ करना सीख गया है।” दूसरों पर दोषारोपण कर, स्वयं को निर्दोष साबित करने की प्रवृत्ति हर जगह पाई जाती है। कई मामलों में दूसरे दोषी हो भी सकते हैं, पर बच्चों के सम्बन्ध में ऐसा कहना एकदम अपनी लापरवाही का शर्मनाक परिचय देना है क्योंकि बच्चा जो कुछ सीखता है, उसका अस्सी प्रतिशत भाग घर में ही पाया हुआ होता है। वैसे भी बच्चा चार-पाँच घण्टे से अधिक स्कूल में नहीं रहता और शेष सारा समय घर में—माता-पिता के संरक्षण में व्यतीत करता है। पिता भी उपार्जन, निर्वाह-व्यवस्था के लिए अपना अधिकांश समय बाहर ही गुजारता है, इसलिए अधिक ज़िम्मेदारी माता पर ही आती है।

अधिक ही नहीं, बल्कि पूरी कही जा सकती है। अब तक हुई मनोविज्ञान की शोधों से यह निश्चित हो चुका है कि छह वर्ष की आयु तक बच्चे के सम्पूर्ण जीवन का आधार बनकर तैयार हो जाता है। इस उम्र तक वह जिन परिस्थितियों से भी गुजरता है, जैसी शिक्षा और संस्कार ग्रहण करता है, जिस तरह के वातावरण में रहता है, तदनुसार ही उसके जीवन की दिशा और प्रवृत्ति निर्धारित होती है और छह वर्ष की आयु तक बच्चा पूरी तरह माता के संरक्षण-सान्निध्य में रहता है। अतः स्वयं सिद्ध है कि कोई व्यक्ति अच्छा, सच्चरित्र और ईमानदार है तो उसका अधिकांश श्रेय उसकी माँ को जाता है और कोई व्यक्ति बुरा, चरित्रहीन, बेईमान तथा निन्द्य-प्रकृति का है तो उसके लिए ज्यादातर दोषी उसकी माँ है।

असंस्कृत घरों में बच्चा बाहर से किसी की कोई वस्तु उठाकर लाता है और उसकी इस हरकत पर ध्यान नहीं दिया जाय तो बहुत सम्भव है कि बच्चा आगे चलकर चोर बन जाये। झूठ बोलने वाले बच्चे बेईमानी, दूसरों के साथ मार-पीट करने और उनकी वस्तुएँ छीन लेने वाले बदमाशी तथा उच्छृंखलता की दिशा प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें छोटी-छोटी बातें चरित्र का बहुत बड़ा दोष बन जाती हैं। उस चोर का उदाहरण कई बार दिया जाता है, जिसने पकड़े जाने पर अपनी बूढ़ी माँ को बहुत बुरी तरह फटकारा था। वस्तुतः व्यक्ति का भविष्य उसके बचपन से ही आँका जा सकता है कि वह आगे क्या बनेगा और उसका स्वभाव कैसा रहेगा ? और इस सबका श्रेय अथवा दोष माता पर आता है। इसीलिए कहा गया है कि माँ न केवल बच्चे की जन्मदात्री है, वरन् उसकी निर्मात्री भी है।

अपने बच्चों को अच्छा, सच्चा और श्रेष्ठ व्यक्ति बनाने के लिए माता का समझदार और सुशिक्षित होना जरूरी है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि माँ के अतिरिक्त शेष सभी सदस्यों को चाहे जिस ढंग से रहना चाहिए। बच्चे के निर्माण में माता की भूमिका प्रथम है अवश्य, हर परिवार में अन्य सदस्य भी होते हैं, जिनसे कि घर का वातावरण बनता है। उनके रहन-सहन, व्यवहार और बोलचाल का भी बच्चों पर निश्चित प्रभाव पड़ता है। इसलिए माँ के सुशिक्षित, समझदार और सुसंस्कारी होने के साथ-साथ परिवार के अन्य सदस्यों को भी अपना रहन-सहन तथा प्रवृत्ति नियंत्रित और अनुशासित रखना चाहिए।

लेकिन गिने-चुने परिवारों को छोड़कर अधिकांश घरों में बच्चों के निर्माण को लेकर न गम्भीरता से कुछ सोचा जाता है और न सावधानीपूर्वक कोई ध्यान दिया जाता है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ पुरानी रूढ़ियाँ, कुरीतियाँ, अन्धविश्वास, संकीर्ण और हानिकारक रीति-रिवाज समाप्त होने लगे हैं, वहीं दूसरी ओर बच्चों के आवारा बनने, घर से भाग जाने, शैतानियाँ करने तथा उच्छ्वंखलता, उद्दण्ड होते जाने की शिकायतें भी बढ़ती जाती हैं। घर में जब कभी माता-पिता अपने बच्चों की शिकायतें सुनकर आपस में चर्चा करते हैं तो माँ, पिता को इसका कारण बताती है और पिता, माँ को। कई बार इस प्रकार भी एक-दूसरे पर दोषारोपण किया जाता है—लड़का ठीक तुम पर गया है।

स्मरणीय है, बच्चे के व्यक्तित्व में न केवल माता का हाथ है और न केवल वह पिता की प्रकृति है, वरन् बच्चा दोनों के व्यक्तित्व और स्वभाव का संगम-समन्वय है। कहा जा सकता है कि माता-पिता तो अपने-अपने काम में व्यस्ततापूर्वक रहते हैं या घर में ही रहते हैं। फिर आवारा हो जाने वाले बच्चे आवारागर्दी कहाँ से सीख लेते हैं ? दरअसल बच्चों का मन जब घर के वातावरण से वितृष्ण हो उठता है तो वे अपना सन्तोष बाहर खोजने लगते हैं। इस वितृष्णा का कारण प्रमुख रूप से घर का वातावरण कलहपूर्ण होना है। घर के सदस्य आपस में मनमुटाव रखते हैं या माता-पिता में रोज तनाव पैदा होता हो तो इस कारण होने वाले कुहराम अथवा सुनेपन से बच्चे भयभीत हो उठते हैं और वे इस वातावरण से यथासाध्य अलग रहने की कोशिश करते हैं। एक तो यह विलगाव तथा दूसरे घरेलू वातावरण का संस्कार उन्हें आवारा-उद्दण्ड बना देता है।

बच्चों के कुमारगामी होने की परिस्थितियाँ माता-पिता के स्वभाव में रहने वाली त्रुटियों से भी बनती हैं। यह तो सभी जानते हैं कि बच्चे अनुकरण से सीखते हैं। पिता में सिगरेट पीने या मदिरापान करने की आदत होती है तो बच्चे भी स्वाभाविक ही दुर्व्यसनी होंगे। माँ झूठ बोलती हो या परिवार के बुजुर्ग सदस्यों का निरादर

करती हो तो बच्चों में भी अशिष्टता और उद्दण्डता जन्मेगी। माता-पिता की प्रत्येक प्रवृत्ति का बच्चों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ता है और वे बेरोक-टोक अपने माता-पिता की अनुकृति बन जाते हैं।

प्रायः घर के वयस्क सदस्य बच्चों को योग्य और सच्चरित्र बनाने के लिए, मेहनती व लगनशील बनाने के लिए तरह-तरह से प्रेरित किया करते हैं। पर यदि स्वयं उसके विपरीत आचरण किया जा रहा हो तो किये गये सारे प्रयास व्यर्थ चले जाते हैं। स्वभावतः अनुकरणप्रिय बच्चा अपने पिता को सिगरेट पीता देखकर समझता है कि यह अच्छा काम है, क्योंकि उसके लिए तो घर के लोग ही आदर्श हैं और वह भी सिगरेट पीने अथवा माता-पिता की दूसरी गन्दी आदतों का अनुकरण करने लगता है। डाँट-डपट कर उन्हें मना लिया जाता है तो वे चोरी-छुपे करने लगते हैं और समझाया-बुझाया जाता है तो उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि जब यह काम खराब है तो ये लोग क्यों कर रहे हैं ? कई बच्चे पूछ भी उठते हैं और उस समय अभिभावक निरुत्तर हो जाते हैं।

कई बार घर के बड़े लोग बच्चों के साथ अकारण ही मारपीट या डाँट-डपट कर बैठते हैं। कितने ही लोगों के लिए वह प्रेम जताने का ढंग भी है। वे बच्चों को रुला देते हैं और फिर उसे चुप कराते हुए समझाते हैं कि हम तो तुम्हें प्यार कर रहे थे। जिन लोगों के लिए यह आदत स्वभाव का अंग-सी बन चुकी हो, उनको तो इसमें कोई खास बात नजर नहीं आती। लेकिन विचारशीलता की दृष्टि से देखा जाय तो इससे अधिक अविवेकग्रस्तता कोई दूसरी नहीं दिखाई देगी। स्नेह-दुलार को दुश्मनी की तरह व्यक्त करना या फटकार कर प्रेम जताना कहाँ की संगति रखता है ?

बच्चे अपनी सामर्थ्य भर तो इस विचित्र स्नेह प्रदर्शन का प्रतिरोध करते ही हैं, क्योंकि इससे उन्हें कष्ट होता है। पर समझने वे भी यही लगते हैं कि प्रेम-प्रदर्शन इसी प्रकार होता है और वे भी अपने से छोटे बच्चों को तंगकर उसी तरह की स्नेहभिव्यक्ति करने लगते हैं। बच्चों में झगड़ालू प्रवृत्ति का जन्म यहीं से होता है। दूसरों को पीड़ित करने में आनन्दित होने की प्रवृत्ति हिंसक ही कही जा सकती है और किसी भी कोण से हिंसा तथा प्रेम का तालमेल नहीं बैठता। नाम उसे 'प्रेम' क्यों न दिया जाय, पर वह प्रेम नहीं होता और हिंसा का, उत्पीड़क व्यवहार का प्रभाव भी उसी रूप में होता है। इस तरह का व्यवहार भुगत चुके बच्चों के झगड़ालू बन जाने पर कोई आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिए।

गलतियाँ करने पर बच्चों की पिटाई भी की जाती है। वैसे तो पिटाई करना मात्र बच्चों के मन में हीनता या कुण्ठा की श्रृंखला बनाता है। अकारण जब पीटा जाता है तो वह और भी ज्यादा हानिकारक होता है। ऐसे में

उन्हें यह समझाना कि हम बड़े हैं, इसलिए तुम्हें पीट सकते हैं—उन्हें दूसरे बच्चों के साथ मार-पीट करने को उकसाता है। जब वे दूसरे छोटे बच्चों के साथ मार-पीट करते हैं, तो भी उन्हें डाँट-फटकारा जाता है। इस तरह उन्हें हर बात में डराने, दबाकर रखने का कोई अर्थ समझ में नहीं आता। या तो हम उन्हें निर्जीव खिलौना समझकर यह व्यवहार कर रहे होते हैं अथवा दुर्बल को दबाने की नीति बरतते होते हैं। दोनों ही अर्थों में बच्चों के निर्माण की भावना का चिह्न कहीं दिखाई देता है ? सिद्ध यही होता है कि बच्चा होने के नाते उन्हें मनमाने ढंग से तोड़ा-मरोड़ा जाता रहता है और इसका दुष्प्रभाव उन्हें कभी भी अच्छा नागरिक तथा सुयोग्य व्यक्ति नहीं बनने देता। उनके लिए जीवन भर चलने वाली दौलत इकट्ठी करके भी हम छोड़े जा रहे हों, तो भी इस तरह हम उनके साथ दुश्मनी ही बरत रहे होते हैं, क्योंकि इससे उत्पन्न हुए बुरे संस्कार और कुप्रभाव उनमें सम्पत्ति के दुरुपयोग की सम्भावना को ही अधिक प्रबल बनाते हैं।

इसीलिए सन्तान के लिए उत्तराधिकार में सम्पत्ति छोड़ने की अपेक्षा उन्हें गुणवान और सच्चरित्र बनाना अधिक महत्वपूर्ण समझा गया है। उनके चरित्र का विकास अनुशासन पर निर्भर है। पर अनुशासन ऐसा न हो, जो वे ऊपर से लादा हुआ या जबरन अनुभव करें। वरन् उनमें ऐसी मनोभूमि का विकास किया जाय, जिससे कि वे गुणों का महत्त्व समझें और उन्हें अर्जित करने के लिए स्वेच्छया मर्यादाओं को निबाहें। स्मरणीय है, यह कार्य न कठोरता से सम्भव है और न क्रूरतापूर्ण दमन से। वरन् इसके लिए प्रेम और प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

अपने बच्चों को सभी कोई चाहते हैं, उन्हें प्रेम करते हैं और प्रायः इसीलिए उन्हें दबाते या कठोरता भी बरतते हैं, पर इसके लिए विवेक का होना भी नितान्त जरूरी है। इसके अभाव में बच्चे प्रेम की अनुभूति नहीं कर पाते और न प्रोत्साहन ही पाते हैं। उदाहरण के लिए कई अभिभावक बच्चों में फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति पैदा न होने देने के लिए उन्हें जेब-खर्च देना एकदम अनुचित समझते हैं। यदाकदा बच्चे माँगते भी हैं, तो उन्हें बुरी तरह डाँट देते हैं। लाड़-प्यार की अधिकता से बच्चों को अनाप-शनाप खर्च करने के लिए पैसा देना जितना बुरा है, उतना ही बुरा है—उन्हें खर्च करने के लिए एकदम कुछ भी न देना। अपने दूसरे साधियों को बाजार में खर्च करते देखकर बच्चों में वैसी ही ललक पैदा होना स्वाभाविक है। यदि उसे निर्दयतापूर्वक दबा दिया जाय तो बच्चों में असन्तोष का भाव आ जाता है। इससे बचने के लिए होना यह चाहिए कि उन्हें निश्चित जेब-खर्च देने के साथ-साथ खर्च करना भी सिखाया जाय। कहीं वह भूल के कारण अनुचित खर्च करता हो तो उसके लिए समझाया जाय।

कई बच्चे चिड़चिड़े और जिद्दी स्वभाव के होते हैं। बात-बात पर मचलना, ज़िद करना या रोना उनकी आदत बन जाती है। ऐसा तभी होता है, जबकि बच्चा अपने को उपेक्षित समझ रहा हो या उस पर समुचित ध्यान न दिया जा रहा हो। प्रायः बच्चों के लिए खाना खिला देना, नहला देना, कपड़े बदलना और स्कूल भेज देना ही पर्याप्त समझा जाता है। शेष समय माँ को अपने कामों से फुरसत पाकर बच्चों से बातचीत करने, उनके मनोरंजन का ध्यान रखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं होती। ऐसी परिस्थितियों में बच्चा अपने को घर का महत्वहीन सदस्य मान लेता है और अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने को ज़िद करने लगता है।

बच्चे का घर महत्वपूर्ण अंग है। उनके साथ बातचीत करने, हँसने-बोलने के लिए पर्याप्त समय निकालकर कहानियों, नीति-कथाओं, अच्छी शिक्षाओं के साथ-साथ बाल-सुलभ जिज्ञासाओं का समाधान भी करना चाहिए।

बालकों की प्रत्येक गतिविधि पर निगाह रखें कि वह बाहर क्या करता है ? स्कूल में उसकी क्या प्रगति है ? कैसे लड़कों के साथ रहता है ? दूसरों के साथ वह कैसा व्यवहार करता है ? आदि बातों की जानकारी रखी जाय तो बच्चों में उत्पन्न होने वाली कितनी ही विसंगतियों का निपटारा किया जा सकता है। यह निगरानी गुप्तचर की तरह नहीं, वरन् मित्र की तरह हो और मित्र की भाँति ही उसे सही दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी जाती रहे।

इस प्रकार सजगता और सावधानी से बच्चों में अच्छे संस्कार उत्पन्न किये जाएँ तथा उन्हें सही दिशा दी जाय तो बच्चों के चरित्र, भविष्य और निर्माण की आवश्यकता एक बड़ी सीमा तक पूरी की जा सकती है तथा उन्हें योग्य नागरिक और सच्चरित्र व्यक्ति बनाया जा सकता है।

बच्चों का निर्माण उपदेश से नहीं आचरण से

किसी विचारक ने कहा है कि बच्चों की मनोभूमि एक रंगफलक की होती है, जिस पर अभिभावक अपने आचरण, व्यवहार और व्यक्तित्व की तुलिका से और कलाकारिता से कोई चित्र बनाते हैं। उसे यों भी कहा जा सकता है कि बच्चों का व्यक्तित्व जिस दिशा में भी मुड़ता है और जैसा जो कुछ बनता है, यह उसके अभिभावकों पर ही निर्भर है। यह निर्माण किन्हीं विशेष प्रयत्नों, रोक-टोक और सुझाव-निर्देशों के द्वारा नहीं अपने आचरण और व्यवहार के प्रभाव से ही होता है। बच्चों का मन तो एक कोरे कागज जैसा होता है जिस पर जो चाहा लिखा और जो चाहा वह अंकित किया जा सकता

है। यह अभिभावकों पर निर्भर करता है कि वे अपने बच्चों को क्या बनाना चाहते हैं ? कैसा बनाना चाहते हैं ? और उसके लिए क्या करते हैं ?

यह निर्विवाद है कि बच्चों का व्यक्तित्व अपने समान ही ढलता और बनता है। इसलिए जिन्हें अपने बच्चों को सुसंस्कारी, सच्चरित्र बनाना है, उन्हें चाहिए कि वे इस तरह की व्यवस्था करें और अपने व्यक्तित्व के माध्यम से ही उनके व्यक्तित्व पर वैसा प्रभाव छोड़ें। खेत में लहलहाती फसल की सुरक्षा के लिए चतुर किसान उसके चारों ओर मेंड़ बाँधता, कँटीले तार लगाता और समय-समय पर उसकी पहरेदारी करता है। इतना करने पर कहीं जाकर फसल को वन्य पशुओं से बचा पाना सम्भव होता है। यदि खेत को यों ही बिना देख-रेख के छोड़ दिया जाए तो सारी फसल को चिड़िया, तोते, गिलहरियाँ, खरगोश और ढोर-ढंगर यों ही चर जायेंगे। भली-भाँति सुरक्षा का प्रबन्ध करने पर ही फसल जल से, वायु और सूर्य से पर्याप्त पोषण प्राप्त कर परिपक्व होने लगती है। इस क्रिया में जितना समय लगता है, उसमें किसान को कितनी दौड़-धूप करनी पड़ती है, श्रम और सावधानी बरतनी पड़ती है। बच्चे को भी एक सुकुमार पौधा कहा जा सकता है, जिसे जिधर चाहा मोड़ दिया।

बच्चे के व्यक्तित्व की पौध घर की चहारदीवारी में ही सुरक्षा पाती है और वहीं वह अपने जीवन विकास की आवश्यक सामग्री या कि पोषण अपने माता-पिता तथा अभिभावकों से प्राप्त करता है। वृक्ष की जड़ें अपने लिए आवश्यक जीवन-तत्त्व धरती से चूसती रहती हैं और बच्चा अपना बौद्धिक पोषण, व्यक्तित्व का आहार अपने अभिभावकों से प्राप्त करता है। सुकुमार स्थिति से बढ़कर पूर्ण नागरिक बनने तक बच्चे की सुरक्षा घर में ऐसी ही होती है जैसे किसान अपने खेतों की रखवाली करता है। इसलिए बच्चों के विकास में कई तरह की सावधानियाँ और सतर्कताएँ बरतना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो जाता है।

प्रायः सभी विचारकों, मनीषियों और ऋषि-मुनियों ने बच्चों को परमात्मा का स्वरूप बताया है। यह तो सभी जानते हैं कि उसमें निश्छलता, स्वाभाविक और प्रकृतितत्त्व रूप में होती है। जाति-पाँति, भाषा भेद, ऊँच-नीच और आगे-पीछे का ज्ञान बच्चों में नहीं होता है। इन सभी दृष्टियों से उसे निर्दोष और आदर्श कहा जा सकता है। कमी होती है तो मात्र इतनी कि वह अबोध होता है और उसकी अबोधवस्था के लिए कारण यह माता-पिता पर निर्भर है कि वे चाहें तो उसे विकसित कर उच्च चरित्र वाला नैतिक सदगुणों से सम्पन्न बनावें अथवा उसका समूल नाश कर दें। वह तो कोरा कागज है कि जिस पर चाहे काली स्याही से भौड़ी आकृति बना दें और चाहें तो उस पर सुन्दर रंगीन कलाकृति चित्रित कर दें।

बच्चों को किस प्रकार सुविकसित व्यक्तित्व सम्पन्न, सदगुणी और सच्चरित्र बनाया जाए इसके लिए किसी को अँगुली पकड़कर सिखाने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता स्वयं के माध्यम से ही उस पर अभीष्ट प्रभाव डालने की है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध बाल मनोवैज्ञानिक आर्थर डिंग्ले ने कहा है कि—“बालक उस पर अमल नहीं करता जो कुछ आप कहते हैं, बल्कि वह तो उससे सीखता है जो आप करते हैं।” यह अक्षरशः सत्य है।

परिवार का वातावरण अनिवार्य रूप से बच्चों को प्रभावित करता है। घर के लोगों का रहन-सहन कैसा है ? वह कैसे उठते-बैठते और व्यवहार करते हैं ? उनकी क्या आदतें हैं और स्वभाव कैसा है ? आदि बातें ही किसी बच्चे के व्यक्तित्व को अपने साँचे में ढालती हैं। घर के लोगों का स्वभाव उसके व्यक्तित्व को असामान्य रूप से प्रभावित करता है और वहाँ का वातावरण ही उन्हें अपने अनुरूप ढालता है। यही कारण है कि इतिहास में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनमें से दो-चार को छोड़कर शेष सभी अपने माता-पिता से ही प्रभावित हुए हैं। अपवादों की बात जाने दें तो यह ध्रुव सत्य है कि सुसंस्कृत, सुविकसित और सच्चरित्र दम्पति ही उच्च मनोबल और उत्कृष्ट व्यक्तित्वसम्पन्न मेधावी बालकों का निर्माण करने में समर्थ हो सके हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, श्रवणकुमार, भरत, लवकुश, कर्ण, अभिमन्यु, गोरु, बादल, फतेहसिंह, शिवाजी, गाँधी, तिलक, टैगोर जैसी विभूतियों को उनके विभूतिवान होने का प्रमाण छोटी आयु में ही देना केवल उनके अभिभावकों का ही पुण्य-प्रताप था। सती मदालसा ने जिस पुत्र के सम्बन्ध में चाहा कि वह बालक ब्रह्मविद, आत्मवेत्ता बने तो वैसा ही हुआ और जब चाहा कि यह पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बने तो उसे राजकुमार बना दिया। शकुन्तला को न तो राजकीय संरक्षण प्राप्त था और न ही वह महलों में रही थी। यहाँ तक कि प्रसव भी वन में हुआ किन्तु उसने अपने पुत्र को ऐसी शिक्षा दी कि एक दिन वहाँ सम्पूर्ण आर्यावर्त का स्वामी बना और उसी भरत के नाम पर, अपने देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

बच्चे गीली मिट्टी की तरह होते हैं। जिस साँचे में उन्हें ढाला जाता है वे वैसे ही बन जाते हैं और वैसा ही आदर्श प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इसके लिए किन्हीं विशेष प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने व्यक्तित्व के माध्यम से ही उनमें वैसा प्रभाव उत्पन्न कर पाना सम्भव है। अपना आचरण और व्यक्तित्व भिन्न तरह का हो तथा बच्चे को भिन्न तरह का ढालने के लिए डॉट-डपट की जाए, मौखिक उपदेश, निर्देश दिए जाएँ तो उससे बच्चों में भय, विद्वेष, क्रोध और कटुता की भावनाएँ ही पैदा होती हैं। कहना नहीं होगा कि ये भावनाएँ बच्चों के जीवन निर्माण में हानिकारक प्रभाव डालती हैं। इससे उसका साहस विलुप्त हो जाता है और

दिनोदिन भय तथा कायरता की हीनता वृत्ति बढ़ती, पनपती जाती है। ऐसे बच्चों में सहयोग और सहानुभूति की भावनाएँ प्रायः नहीं ही पनप पातीं। परिणामस्वरूप वे अल्पविकसित और अविकसित ही रह जाते हैं और जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय प्रगति या सफलता प्राप्त नहीं कर पाते।

ऐसी संतति जो स्वभाव से ही दुर्बल, भीरु और कायर हो वह किसी समाज या राष्ट्र को कैसे सुदृढ़ और शक्तिशाली बना सकती है ? जो अपने व्यक्तिगत जीवन में ही किसी मसले को ठीक तरह से नहीं सुलझा पाते वे राष्ट्र निर्माण के महान दायित्व को कैसे वहन कर सकते हैं ? इसके लिए अभिभावकों को चाहिए कि वे बच्चों के सामने सही आचरण करना सीखें और अपने व्यक्तित्व के माध्यम से ऐसा आदर्श प्रस्तुत करें, जिससे कि उनका पथ-प्रदर्शन हो। अन्य प्रकार से उन्हें अभीष्ट दिशा में मोड़ने का प्रयास न केवल असफल होता है, अपितु उनके स्वाभिमान को भी आहत कर, बलपूर्वक किसी दिशा में लगाने का प्रयत्न किया जाए तो उनका स्वविवेक नष्ट हो जाता है और सही दिशा चुनने की मौलिक शक्ति का पतन हो जाता है।

बड़े लोगों में जो आदतें परिपक्व रूप में देखी जाती हैं, वस्तुतः उनके बीज बचपन में घर के लोगों द्वारा ही बो दिए गए होते हैं। घर के वातावरण में यदि अशुभ संस्कारों का, हानिवृत्तियों का कुटिल आचरण और क्लेश-कलह का वातावरण है, परिवार के समझदार सदस्य ऐसी ही दुष्प्रवृत्तियों से घिरे हुए हैं तो बच्चों में विकसित और सुसंस्कृत बनने की सम्भावनाएँ क्षीणतर ही हो जाती हैं। अतः चाहिए कि परिवार के लोग शुभ-वृत्तियाँ अपनाएँ और अशुभ अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों का परिहार कर दें। इसी तरह के वातावरण में पले बच्चे ही सुन्दर आचरण विचार वाले बनते हैं। अस्तु, बाह्य संस्कारों के प्रभाव की प्रतीक्षा किए बिना परिवार के समझदार सदस्यों को अपने आन्तरिक सदगुणों का ही विकास करना चाहिए। ताकि बच्चे भी उनका शुभ प्रभाव ग्रहण कर सकें।

बालकों के निर्माण में अभिभावकों के उत्तरदायित्व

प्रसिद्ध बाल-मनोवैज्ञानिक डा. ओनील ने बाल समस्याओं का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक में एक घटना उद्धृत की है। वे लिखते हैं—“एक दिन मेरे क्लिनिक में एक बच्चे को लाया गया। पिता ने कहा—इसे चोरी करने का दुर्व्यसन लग गया है। हमने तो पूरा प्रयास कर लिया, अब आप ही इसे छुड़वा सकते हैं।” डॉ. ओनील ने बच्चे को अध्ययन के लिए अपने पास रोक लिया। पता चला बच्चे की आयु १३

वर्ष थी। इसके बावजूद उसके पिता ने उसके लिए आधी टिकट खरीदकर रेलवे को जान-बूझकर धोखा दिया। उम्र पूछी जाने पर पिता ने उम्र कम बता दी। पिता की इस हरकत को बच्चे ने बड़ी गहराई से देखा और पूछा—तो पिता ने ऐसे ही हल्के से जवाब से बात समाप्त कर दी। बालक के मन में यह अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा एवं उसने यह सोचा कि पिता ने सरकार की चोरी की व कोई गलत काम इसे नहीं माना। यहीं से उसकी चोरी की आदत आरम्भ हुई क्योंकि उसके विकसित हो रहे बालक मन ने उसे कभी अनैतिक-नैतिक सोचने पर मजबूर ही नहीं किया।

डॉ. ओनील लिखते हैं कि जो पिता स्वयं गलत काम करता है, वह अपने बच्चे से क्यों यह आशा रखता है कि वह चोरी की आदत छोड़ देगा। पिता व बच्चे दोनों की चिकित्सा एक साथ की गयी। पिता ने उसी मूल्य का टिकट खरीदा व फाड़ दिया। बच्चे ने बात का महत्व समझा व चोरी की आदत छोड़ दी।

रोजमर्रा के जीवन में हम देखें तो पता चलता है कि हम स्वयं ही जान-बूझकर या अनजाने में अपने बच्चे को झूठ बोलने की शिक्षा देते हैं। वह घटना तो चुटकुले के रूप में अक्सर याद की जाती है, जिसमें एक बालक ने आगन्तुक से कहा—“पिताजी कह रहे हैं कि अमुक आये तो कह देना घर में नहीं है वस्तुतः यहीं से बालक के मन में कुसंस्कार जड़ जमाना आरम्भ करते हैं। सत्य एक ऐसा गुण है जिसकी उपेक्षा-अवज्ञा यदि अभिभावकगण ही करने लगे तो बालक क्यों कर उसका महत्व समझेगा ? कभी-कभी तो हम दूसरों से नहीं स्वयं अपने बच्चों से भी झूठ बोल बैठते हैं, झूठे वायदे कर देते हैं और इस प्रकार उनके मन में यह बात बिठा देते हैं कि सत्य का कोई महत्व नहीं।

यह एकमात्र सामान्य बहुविदित तथ्य है कि विदेशों से आये माल की बाजार में बड़ी माँग रहती है। मूल्य चाहे भारत में बनी वस्तुओं से अधिक हो, हमारे देशवासी आयातित माल लेना अधिक पसन्द करते हैं। इसका एकमात्र उत्तर यही है कि उनके माल में सच्चाई है। जो भी कुछ बाहर लिखा है, वही अन्दर है। इसके विपरीत कतिपय, स्वार्थी, धोखेबाजों के कारण हमारी साख बुरी तरह गिरी है। सच्चाई का सौदा हर जगह प्रमाणिकता बढ़ाता है। अभिभावकगण भी इस सौदे में भाग लेकर अपनी अप्रामाणिकता के प्रचार को और बढ़ाते हैं तथा बच्चों को भी सिखाते हैं। बच्चों को सत्यनिष्ठ बनाने के लिए उन्हें यह विश्वास दिलाना होगा कि सच बोलने में, ईमानदारी बरतने में, सदाचारी रहने में किसी प्रकार की कुटिलता, होशियारी नहीं बरतनी पड़ती, जबकि झूठ बोलने वाला उसे छिपाने के लिए कई झूठ बोल जाता है—ठग, चोर, बेईमान बनता है। आवश्यक है कि बचपन

से ही सत्य बोलने की आदत डाली जाय। इसके लिए क्या किया जाय ?

पहली बात तो यह कि माँ-बाप स्वयं सच बोलें। झूठे माँ-बाप अपने बच्चों में सत्य के प्रति कभी आस्था नहीं पैदा कर सकते। महात्मा गाँधी ने सत्य का पाठ अपने पिता से ही पढ़ा। उनके पिता राजकोट रियासत में एक उच्च पदाधिकारी थे किन्तु सत्य बोलने के कारण उन्हें राजा का कोपभाजन बनना पड़ा और वे जेल भेज दिये गये। थोड़े दिनों बाद उन्हें छोड़ दिया गया। परन्तु सत्यनिष्ठ होने की उनकी ख्याति तब और फैल गयी। माँ-बाप के ज्वलन्त उदाहरण ने बालक मोहनदास में सत्य के प्रति ऐसी निष्ठा पैदा की कि उसने उसे अपने जीवन का एक अंग बना लिया।

दूसरी आवश्यकता यह है कि ऐसा वातावरण बच्चों को मिले कि वे सच्चाई को जीवन-नीति मानने लगें। दूसरे शब्दों में इसे सत्संग भी कह सकते हैं। आदर्श व्यक्तियों अथवा उनकी पुस्तकों के सतत् सम्पर्क में बच्चों को रखा जाय। बचपन से ही सत्यनिष्ठ महापुरुषों की कथा-गाथाएँ सुनाकर मदालसा व विनोबा की माँ की तरह हर माता अपनी सन्तानों में ये संस्कार डाल सकती है। बच्चे के संगी-साथी ऐसे हों जैसा कि माता-पिता अपने बच्चों को बनाना चाहते हैं। फैशनपरस्त, फिजूलखर्च, बात-बात में बहाना बनाने वाले बच्चों के साथ तो अपने बालक को रहने ही न दिया जाय।

सामान्यतया १४-१५ वर्ष की अवस्था में ही भटकाव आता है। उमंगों से भरी यह उम्र ऐसी होती है कि हर किशोर को जीवन का अच्छा-बुरा मजा चखने को प्रेरित करती है। इसमें उसे कोई गलत-अनैतिक बात नजर नहीं आती। नियन्त्रण इसी आयु में होना चाहिए। बच्चों की तर्कशक्ति व बहानेबाजी की कला इस आयु में कुछ बढ़ भी जाती है। इस अवस्था में कुछ कड़ाई करनी भी पड़े तो अवश्य की जानी चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि मनोरंजन का अवसर बच्चों को न दिया जाय। ऐसा जब भी अवसर आये उसे औचित्य-अनौचित्य भली-भाँति समझकर स्वस्थ मनोरंजन की ओर प्रेरित करें।

जब भी अवसर मिले सत्य बात कहने, सत्याचरण करने का उदाहरण प्रस्तुत करने व बच्चे ने जब भी कोई ऐसा आचरण किया हो, उसकी प्रशंसा करने में कंजूसी न की जाय। सार्वजनिक रूप से उसके कार्य की चर्चा की जाय एवं उपयोगी वस्तुएँ उपहार में दी जाएँ।

बच्चे प्रायः भय के कारण झूठ बोलते हैं। उन्हें यह समझा जाय कि भूलें तो सबसे होती है। ऐसे में अपनी कोई गलती की पुरानी घटना को सुनाया जा सकता है। उन्हें यह लगेगा कि हम से जो भी गलती हुई है, वह अस्वाभाविक नहीं है। अभिभावक यदि बच्चों को भयरहित कर प्रोत्साहित करें तो बच्चे के मन में सत्य के प्रति सही माने में आस्था पैदा होगी।

लेकिन सत्य अकेला ही काम का नहीं। यह भी बालकों को बताया जाना चाहिए कि सत्यशील युक्त हो। सत्य अप्रिय हो तो प्रतिद्वन्द्विता और खड़ी कर देता है। गोस्वामी जी ने सत्य को ध्वज, तो शील को पताका की उपमा दी है। पताका के सहारे ही ध्वज लहराती है। सत्य की शोभा इस प्रकार शील से ही है। शील अर्थात् शालीनता-शिष्टाचार युक्त आचरण। महात्मा गाँधी जीवन भर सत्य और अहिंसा का प्रचार करते रहे। सत्य पर सदैव दृढ़ रहे पर व्यवहार में हमेशा मुलायम। अपनी बात वे इस प्रकार कहते थे कि सुनने वालों को कर्ण कटु न लगे। मीठी वाणी से भी अपने विरोधी के हृदय तक अपनी बात उतार देना सम्भव है, इसकी झाँकी गाँधी जी के जीवन में देखी जा सकती है।

सद्व्यवहार-शालीनता का बच्चों को अभ्यास सत्य के साथ कराया जाय तो कोई कारण नहीं कि सुसंस्कृत, सभ्य एवं ईमानदारों से युक्त एक मानव समाज बना सकना सम्भव न हो।

बच्चों को यदि ये दो सुसंस्कारिता के अभ्यास करा दिये गये तो मान लेना चाहिए कि परिवार में सुख-शान्ति भरा वर्तमान तथा समृद्धि उज्ज्वल भविष्य वाला वातावरण विनिर्मित हो गया। बच्चे ही वे नींव के पत्थर हैं जिन पर राष्ट्र रूपी भवन बनता है। यदि इसे मजबूत बना लिया तो राष्ट्र भी सुदृढ़ होगा, समर्थ बनेगा। जिन कोमल कलियों को प्यार भरे परामर्श की आवश्यकता है उन्हें समय रहते हर माता-पिता परिवार रूपी पाठशाला में चारों ओर उपलब्ध साधनों से गढ़ना आरम्भ कर सकते हैं।

बच्चे ऐसे सुधारे जाते हैं

जो माताएँ बच्चों के चरित्र-निर्माण के लिए पत्थर की तरह कठोर होती हैं, वह अपने ही बच्चों का नहीं समाज का भी महत्वपूर्ण मार्गदर्शन करती हैं। ऐसी अनेक घटनाएँ इतिहास के पृष्ठों पर पढ़ने को मिलती हैं। लीजिए पढ़िए एक साधारण गृहस्थी में रहकर बच्चों के जीवन किस तरह सुधारे और समुन्नत बनाए जाते हैं ?

किशनपुर में 'मातृ-मन्दिर' इस गाँव का एक भव्य भवन है। इस मकान के बनाने वाले श्री अतिबल सिंह जी हैं। उनकी वह गाथा भी उतनी ही पवित्रता से सुरक्षित है जिसमें उनके इस स्थिति में पहुँचने का रहस्य बना हुआ है। इस परिवार में सब मिलाकर सात सदस्य हैं। सब सम्मिलित कुटुम्ब में रहते हैं किसी में कोई झगड़ा नहीं है, इसका सम्पूर्ण श्रेय अतिबलजी की माता शारदा देवी को है।

शारदा देवी दर्जा ५ तक पढ़ी थीं। उनके एक ही पुत्र अतिबल का जन्म हुआ था उसके तीसरे वर्ष ही वह विधवा हो गई। समाज में उनका जीना कठिन था। आजीविका सम्बन्धी ही सैकड़ों कठिनाइयाँ थीं पर उन्होंने

इस बात का ध्यान कड़ाई से रखा कि बच्चे में कहीं ओछे संस्कार तो जड़ नहीं पकड़ रहे। जहाँ भी ऐसी स्थिति दिखाई दी उन्होंने उसे निर्ममता से दबाया और कुचल दिया।

बच्चा पढ़ने जाने लगा। उसे घर से पैसे नहीं मिलते थे। एक दिन एक बच्चे के पैसे चुरा लिये। दूसरे बच्चे ने देख लिया। उसने आकर शारदा से शिकायत कर दी। शारदा ने पहले दिन बच्चे को उपयुक्त सजा दी। एक दिन बिल्कुल भूखा रखा। उसे चोरी से व्यक्ति की हानि और उसके कारण समाज में होने वाली प्रतिक्रिया समझाई और प्रेमपूर्वक बताया कि पाप का प्रायश्चित्त होना ही चाहिए। उसे एक दिन भूखा रहना ही चाहिए और जिसका पैसा लिया है उसे लौटाते हुए क्षमा भी माँगी चाहिए।

बच्चा बड़ा हुआ, सर्दी के दिन थे। गन्ना खाने की इच्छा हुई। माँ ने कहा बेटा अपने पास गन्ने हैं नहीं, पैसे भी नहीं हैं। जो वस्तु उपलब्ध नहीं उसे न पाने का सन्तोष करना चाहिए। पर बच्चे की समझ सुलझी न थी। चुपचाप घर से निकल गया। एक खेत से दो गन्ने तोड़े और चुपचाप खेत में ही गन्ने चूसने लगा। किसी तरह झाँ को पता चल गया। शारदाजी सीधे खेत पहुँचीं। बच्चा एक गन्ना चूस रहा था दूसरा पास रखा था। माँ उसे पकड़कर किसान के पास ले गई। एक गन्ना लौटाया, माफी माँगी और एक गन्ने की कीमत जितनी उसकी कुछ मजदूरी कर दी। किसान ने मना किया कि गन्ना कोई बड़ी चीज नहीं है। पर माँ ने कहा—भले ही न हो पर चरित्र तो बड़ी चीज है, उसे इतने सस्ते दामों पर कोई क्यों खरीदे ?

एक दिन गाँव के कुछ बदमाशों के चक्कर में आकर अतिबल भी एक चोरी में चले गये। इस चोरी में काफी पैसा हाथ लगा। अपना हिस्सा अतिबल ने लाकर चुपचाप घर में छिपा दिया। उसका पता उनकी माँ को लग गया।

माँ ने सोचा, जब तक मामला छोटा था अपनी अधिकार सीमा में था स्वयं दण्ड दिया अब अपराध के अनुरूप दण्ड भी मिलना चाहिए। उन्होंने स्वयं थाने जाकर चोरी की सूचना दी और अतिबल को जेल भिजवा दिया। उसमें १ वर्ष की सजा हुई।

इस बार अतिबल की आँखें खुल गईं। जेल से आकर उन्होंने नेकी, ईमानदारी और परिश्रम का जीवन जीकर माता की इच्छा पूर्ण की। माँ को न रहे कई वर्ष हो गये पर अभी उनकी आज्ञाओं का पालन परिवार में उसी तरह किया जाता है, जैसे नैक नागरिक कानूनों का पालन करते हैं।

बाल-निर्माण में अभिभावकों का योगदान

छात्रावस्था से निबटकर युवक को कार्यक्षेत्र में उतरना होता है। ऐसे कठिन क्षेत्र में जिसमें उपार्जन की प्रतिभा तथा सुसंस्कारिता की परीक्षा पग-पग पर होती है। उसकी पूर्व तैयारी न हो तो प्रतिस्पर्धा-प्रतियोगिता में पिछड़कर रहना और उपहास, तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता है। यह शिक्षा समय रहते न मिले तो फिर अँधेरे में भटकना और पग-पग पर ठोकरें खाना ही हाथ रह जाता है।

विद्यालयों में इन दोनों में से एक की भी पूर्व तैयारी कराने की कोई व्यवस्था नहीं है। पाठ्य-पुस्तकों में मरघट के भूतों का तो परिपूर्ण उल्लेख है। पर वर्तमान में प्रतिभा उगाने और भविष्य की अनेकानेक जिम्मेदारियाँ उठाने जैसा तौर-तरीका सिखाने की कोई व्यवस्था नहीं।

अन्ये के हाथ बटेर लगने की तरह किसी को ऊँची नौकरी लगने और ऊपरी आमदनी का जुगाड़ भिड़ने का सिलसिला चल पड़े तो समझना चाहिए कि पढ़ाई सार्थक हुई अन्यथा समय, श्रम, धन और साधन की बर्बादी, हानि का घाटा तो प्रत्यक्ष ही है। उसमें कहीं ऐसा कुछ उल्लेख नहीं है कि व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत-प्रतिभावान कैसे बनाया जा सकता है ? और नौकरी न मिलने पर श्रमिक स्तर के कामों में हेटी न समझते हुए निर्वाह कैसे किया जा सकता है ? सज्जनता, शालीनता, सुसंस्कारिता से छात्रों को सम्पन्न करने का अध्ययन-काल में कोई अवसर नहीं मिलता। न कोई इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव की गई है और न कोई ठोस प्रयास। सब कुछ पोला ही पोला चल रहा है। असंख्य छात्र उसी पोले में घुसे कुलबुलाते-बिलबिलाते रहते हैं। भविष्य की कोई राह उन्हें सूझती नहीं। ऐसी दशा में कुण्ठाग्रस्त मनःस्थिति उन्हें उद्दण्डता अपनाने के लिए प्रेरित करे तो आश्चर्य ही क्या है ?

शिक्षणों करना और बीते के लिए पछताना व्यर्थ है। होना यह चाहिए कि बालकों, किशोरों और युवकों के व्यक्तित्व निर्माण का कार्य अभिभावक अपने कर्त्यों पर उठाये, यदि व्यस्तता अधिक थी और इस दायित्व के निर्वाह का ज्ञान न था तो प्रजनन के लिए आतुर नहीं होना चाहिए था। जो काम अपने बलबूते का नहीं उसकी जिम्मेदारी ही क्यों उठाई जाय ? क्यों न बिना सन्तान के काम चलाया जाय, पर जब एक गलती हो ही चुकी है तो उलझन को सुलझाये बिना, जिम्मेदारी को निभाये बिना और कोई रास्ता नहीं है। यदि स्वयं को कोई आवश्यक बात नहीं आती तो दूसरे से जानकारी वकील, डाक्टरों की तरह अक्ल किराये पर लेनी चाहिए अन्यथा अनगढ़ सन्तानें जन्मदाताओं को ही सबसे अधिक त्रास देती हैं। यहाँ तक कि बहिन-भाइयों के अधिकार भी

छीनती-झपटती रहती है। कुसंस्कारियों का दाम्पत्य जीवन तक चैन से नहीं बीतता, फिर उनकी सन्तानें वह सारा बदला चुका लेती हैं। जो परिवार वालों के साथ बाप ने किया है। ओछे स्वभाव के व्यक्ति अपनी क्षुद्रता का फल हाथोंहाथ पाते हैं और भर्त्सना भरा जीवन जीते हैं।

इतने प्रकार के संकटों से समय रहते बचाव हो सकता है। यदि अभिभावक अपने जन्मदाता, पालनकर्ता ही न मानें वरन् शिक्षक की, मार्गदर्शक की महती आवश्यकता भी स्वयं ही वहन करें। माना कि उपार्जन कार्यो तथा अन्य व्यस्तताओं में समय घिरा रहता है, पर बालकों को जन्म देना भी तो एक भारी-भरकम ऋण है। जिसे चुकाने की उपेक्षा करने पर वह ब्याज समेत कुछ ही समय में इतना बोझिल हो जाता है जिसका भार-निर्वाह, उपार्जन की व्यस्तता से कम बोझिल नहीं होता।

कुछ गुण ऐसे हैं जिन्हें आरम्भ से ही बच्चों के स्वभाव में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। (१) श्रमशीलता (२) स्वच्छता (३) सुव्यवस्था (४) मितव्ययिता (५) नियमितता (६) शिष्टता (७) उदारता (८) सहकारिता आदि गुण ऐसे हैं जिनके चमत्कारी प्रतिफल समग्र सफलता के रूप में हाथोंहाथ उपलब्ध होते हैं। जिनमें यह गुण होंगे उनका दृष्टिकोण परिमार्जित रहेगा और सूझ-बूझ इस प्रकार काम करेगी कि जिससे गुत्थियाँ उलझने ही न पायें या उलझें तो उसके समाधान में देर न लगे।

रोटी कमाना किसी के लिए कठिन नहीं होना चाहिए। जब बिना बुद्धि और घटिया शरीर संरचना के सहारे पशु-पक्षी पेट भर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि बुद्धिमान समझा जाने वाला, पढ़ा-लिखा और सही हाथ-पैरों वाला बेकारी-बेरोजगारी आदि की शिकार्यत करे। अभावग्रस्तता मात्र हारमखोरी, शान-शेखी और आराम-तलबी का प्रतिफल है। इन दुर्गुणों को आरम्भ से ही निरस्त करते रहा जाय। घर के काम-काजों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहने के लिए अनुशासनबद्ध रखा जाय तो किसी भी काम को छोटा न मानने का, परिश्रम में गौरव अनुभव करने का स्वभाव बना रहेगा और परिश्रम की रोटी कमाने के लिए हजार रास्ते सामने खड़े दिखाई देंगे।

छोटों और बड़ों के साथ उपयुक्त शिष्टाचार बरतने, सज्जनता भरा व्यवहार करने और मधुर शिष्ट शब्दों में विनम्र वार्तालाप करने का अभ्यास कराया जाय तो प्रशंसकों-सहायकों की संख्या बढ़ेगी और आसन्न झंझट जो अनगढ़ स्वभाव के कारण उत्पन्न होते रहते हैं वे हैरान न किया करेंगे।

सच्चाई, ईमानदारी, भलमनसाहत आदि ऐसे गुण हैं, जिनके कारण अनुचित उपार्जन में तो बाधा पड़ती ही है और खर्चीला ठाट-बाट एवं विलासी संरंजाम जुटाने में भी

कठिनाई होती है तथा दूसरों की तुलना में अपने को घाटा रहा प्रतीत होता है किन्तु उनके निराकरण का हाथों-हाथ दूसरा उपाय समझ में आ जाता है। 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धान्त अपना लेने पर सादगी मितव्ययिता साक्षात् लक्ष्मी की तरह साथ हो जाती है और खर्च घटा लेने पर दुहरा सन्तोष होता है—एक आदर्शवादिता अपनाने का, दूसरा गुजारे में कमी न पड़ने का। यह आदत भी ऐसी है जिसे मास्टर लोग सिखा सकने में भी सफल नहीं होते। उन्हें तो भावनापूर्वक आत्मीयता के वातावरण में अभिभावक ही सिखा पाते हैं।

बुरी आदतें गली, कूचों की गंदगी की तरह हर नाली-नाटदान में अपनी सड़न और दुर्गन्ध उड़ाती, बीमारियाँ उगाते देखी जा सकती हैं, पर सत्प्रवृत्तियों का पुष्पोद्यान कुशल माली जैसी बुद्धिमत्ता अपनाये जाने पर निर्भर करता है। सन्तान के लिए, परिवार के लिए यदि उत्तराधिकार में धन-दौलत छोड़ सकने जैसा कुछ न बन पड़े तो हर्ज नहीं, पर उन सबको ऐसी आदतें देकर जाना चाहिए कि वे अपने परिष्कृत दृष्टिकोण के आधार पर अपना निज का जीवन सुखी बना सकें और जो भी सम्पर्क में आये उन्हें उठाने, बढ़ाने में सफल हो सकें।

सन्तान का अर्थ पुत्र ही नहीं, पुत्री भी है। पुत्री को उपरोक्त सदगुणों के अतिरिक्त सहिष्णुता, सेवा और मधुरता का अतिरिक्त अभ्यास कराना चाहिए ताकि उनके आधार पर पराये घर पर अधिकार जमा सकें और परायों को विनम्रता से मनोमुग्ध करके अपना बना सकें। सच तो यह है कि लड़कियों को लड़कों की उपेक्षा अधिक स्नेह, अधिक सहानुभूति और अधिक प्रशिक्षण मिलना चाहिए ताकि उनकी समर्थता इतनी बढ़ी-चढ़ी हो कि परदेश की तरह माने जाने वाले घर में से वे अपने लिए स्नेह एवं सद्भाव अर्जित कर सकें। स्वयं भी सुखी रह सकें और दूसरों को भी सुखी रख सकें तथा उस परिवार को सुख-शान्ति का भण्डार बना सकें, जिसमें कि उनका पदार्पण हो।

माँ के दिए संस्कार सफल हुए

मिदनापुर (बंगाल) के एक धनवान व्यापारी को अपने घर की सफाई करानी थी। लेकिन सब घर को एक साथ साफ नहीं कराना चाहता था। पूरे घर की एक साथ सफाई कराने से बड़ी अस्त-व्यस्तता आ जाती और फिर सामान की व्यवस्था ठीक करने में बड़ा समय खराब होता और परेशानी होती सो अलग। वह एक दिन में कमरा साफ कराना चाहता था। इसलिए उसने एक बारह-तेरह साल का मजदूर लड़का बुलाकर काम पर लगा लिया। कोई बड़ा मजदूर एक दिन में एक कमरा साफ करने को तैयार भी नहीं होता था और सेठ उसे घर के आन्तरिक भाग में ले भी नहीं जाना चाहता था।

लड़का 'अतुला' रोज आता और एक कमरा साफ करके चला जाता। अभी तक वह बाहर के कमरे ही साफ करता रहा था। जब बाहर के कमरे साफ हो गये तो अन्दर के कमरे साफ करने का क्रम आया। लड़का अन्दर के कमरे में गया और अपने काम में लग गया। कई दिन से काम कर रहा था। कोई शिकायत का अवसर दिया नहीं था। इसलिए उस पर अविश्वास का होना जरूरी नहीं था। घर के लोग अपने और धन्यों में लगे रहे। लड़का अन्दर कमरे में काम करता रहा। उसकी कोई रखवाली नहीं की जा रही थी।

अन्दर कमरे में एक बड़ी-सी मेज पर एक से एक सुन्दर चीजें रखी हुई थीं। सोने, चाँदी की और मोती, मृगों से जुड़ीं। एक-से-एक सुन्दर, एक-से-एक कीमती। लड़के ने अपने जीवन में इससे पहले इतनी सुन्दर, इतनी कीमती, इतनी ज्यादा और इतनी तरह की चीजें कभी नहीं देखी थीं। बेचारा उस चकाचौंध के आकर्षण से भौंचक्का हो गया।

वह काम तो कर रहा था। पर उसका मन काम में लग नहीं रहा था। मन उसका उन चीजों में रखा हुआ था। वह सब चीजों को खूब पास से ध्यानपूर्वक और उठा-उठाकर देखना चाहता था लेकिन काम का हर्ज सोचकर वैसा कर नहीं पा रहा था। वह कुछ देर और काम करता रहा लेकिन उसका बाल-हृदय अपनी उत्सुकता को सहन न कर सका और वह काम छोड़कर सामान की मेज के पास आकर खड़ा हो गया, हर चीज को बड़े गौर से देखता और समझने का प्रयत्न करता रहा।

बड़ी देर तक उस प्रदर्शनी को देखते रहने पर भी उसे तृप्ति न हुई। तब वह एक-एक चीज को हाथ में उठा-उठाकर देखने और प्रसन्न होने लगा। वह जितनी गौर से जो चीज देखता वह उसे उतनी ही अच्छी लगती और वह उसे बार-बार देखता रहा।

बच्चा ही तो था। नहीं समझ पा रहा था कि वह अपने को जिस असंयत वातावरण और विचारों में खींच लाया है, वे नैतिक स्वार्थ के लिए घातक होते हैं। पराई चीजों से आत्म-भाव जोड़ लेने से मन में लालच आ जाता है और लालच तो बुरी बला होती है। यह अवकाश पाते ही बड़ी जल्दी अंकुरित और पल्लवित होने लगता है।

बच्चा था। इस सूक्ष्म रहस्य को नहीं समझ पाया और आखिर लालच के जाल में फँस ही गया। उसने देखी तो सारी चीजें, अच्छी भी लगीं। किन्तु एक छोटी-सी सोने की घड़ी ने उसका मन मोह लिया और वह उसे बार-बार देखने और रखने लगा। कान में लगा कर बहुत बार और देर तक उसकी नहीं और मीठी आवाज भी सुनी। हाथ पर क्रम से रखकर और बाँधकर देखी। सजकर रह गई। हाथ खूबसूरत लगने लगा। हाथ लटकाया, हिलाया और कान के पास लाया।

सारी चीजों से हटकर उसका ध्यान घड़ी पर केन्द्रित हो गया और उसके मन में एक आवाज उठी—“यदि यह घड़ी मुझे मिल जाती”—वह आवाज क्या थी, खतरे की घण्टी थी। लेकिन बच्चा ही तो था। न समझ सका और न सावधान हो सका। घड़ी उसकी होने का उपाय क्या हो सकता था—‘चोरी’।

कमरे में बड़ी देर शून्यता रहने से घर की मालिकिन उधर यह देखने यों ही चली आई कि लड़का कर क्या रहा है ? दोपहर के खाने का वक्त हो गया है और वह जलपान करने भी नहीं आया। उसने लड़के की लीला देख ली और बड़ी देर से उसका और उसके हाथ की घड़ी का तमाशा देख रही थी। एक तरफ दरवाजे की ओट में छिपी हुई। क्या यह लड़का घड़ी चुरायेगा ? उसके सामने यह प्रश्न था और वह उसका अन्त देखना चाहती थी।

तो घड़ी अपनी होने का उपाय क्या हो सकता है ? ‘चोरी’—चोरी शब्द मन में गुँजते ही लड़के का सारा शरीर सिहर उठा और उसके पैर लड़खड़ा गये। उसे इस संकट-काल में उसकी माता की यह शिक्षा सहायक हो गई—‘बेटा चाहे भूखे-नंगे रहना लेकिन कभी किसी की कोई चीज न चुराना। चोरी करना बड़ा भारी पाप है। मनुष्य देखे या न देखे पर परमात्मा अवश्य देख लेता है। वह हाथ-पैरों की तो दूर मन की चोरी भी जान जाता है और उसके लिए बड़ी भारी सजा देता है। वैसे भी चोरी एक दिन पकड़ी ही जाती है और तब बड़ी बेइज्जती होती है और जेल भी जाना पड़ता है।’

बच्चा ही तो था, भावावेश को नहीं सँभाल पाया। उसे ऐसा लगा कि उस सूने कमरे में परमात्मा की आँखें उसे घूर-घूरकर देख रही हैं, उसने उसके मन की चोरी पकड़ ली है। वह रोने लगा और घड़ी मेज पर डाल कर यह कहता हुआ बाहर भागा—नहीं, नहीं मैंने चोरी नहीं की, मैं चोरी नहीं करूँगा। अम्मा कहती है चोरी करना बहुत बड़ा पाप है। परमात्मा उसका कड़ा दण्ड देता है, जेल काटनी पड़ती है। नहीं, नहीं मैं चोरी नहीं करूँगा। मैंने चोरी नहीं की।

मालिकिन बड़ी समझदार स्त्री थी। उसने समझ लिया कि लड़का किसी मनोभाव से घबड़ा गया है। उसने तुरन्त उसे पकड़ लिया और छाती से चिपटाकर कहने लगी—‘बेटा, बेटा कौन कहता है तूने चोरी की, तू तो बड़ा राजा बेटा है। घबड़ाता क्यों है ? मैंने तेरी सब बातें देख ली हैं। तू बड़ा ईमानदार लड़का है ? रो मत, आ मेरे साथ मैं खुद अपने हाथ से घड़ी तेरे हाथ पर बाँधकर तुझे दे दूँगी।’

लड़का फिर रोने और कहने लगा “नहीं, नहीं मैं उस कमरे में नहीं जाऊँगा और न घड़ी लूँगा। मुझे उन चीजों से बहुत डर लग रहा है। मैं अपनी अम्मा के पास जाऊँगा।”

मालिकिन जानती थी कि लड़के को इस समय दाढ़स की बहुत जरूरत है। इसलिए वह खुद लेकर उसकी माँ के पास गई और सारी कथा बतलाती हुई बोली—बहिन, तुम धन्य हो जो बच्चे में ऐसे संस्कार बोये। गरीब होकर भी तुम इतनी ईमानदार हो और चाहती हो कि बच्चा भी ईमानदार बने। तुम्हारा प्रयत्न सफल हुआ। तुम्हारा यह बच्चा बहुत ईमानदार है और सदा ईमानदार रहेगा। अब तुम ऐसा करो कि इसको स्कूल में भरती करा दो, सारा खर्च मैं दे दूँगी और यह जितना पढ़ेगा पढ़ाऊँगी।

लड़का स्कूल में भरती करा दिया गया और आगे चलकर वही अतुल बंगाल का बड़ा भारी राजनेता, विद्वान और सुप्रसिद्ध महापुरुष बना।

अभिभावक अपना कर्तव्य समझें और निबाहें

मानव-जीवन के अनेकानेक कर्तव्यों में सन्तान उत्पन्न करना और उसको यथायोग्य पालने का उत्तरदायित्व अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसे यों ही संयोग के आधार पर उठा लेना ठीक नहीं। जिसे इस महत्वपूर्ण विषय का ज्ञान न हो, उसे तब तक इस ओर से उदासीन रहना चाहिए जब तक कि उसका उचित ज्ञान अर्जन न कर लिया जाये। सन्तानों के सुयोग्य अथवा अयोग्य होने पर ही परिवार, समाज तथा संसार का उत्थान-पतन निर्भर करता है।

निःसन्देह यह गहरे खेद का विषय है कि लोग खाने-कमाने, पहनने-ओढ़ने और तरह-तरह के मनोरंजन की ओर जितना ध्यान देते हैं, उसका शतांश भी सन्तानों के समुचित लालन-पालन की ओर नहीं देते। जबकि सन्तान का निर्माण उक्त सामान्य बातों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। जिस कर्तव्य पर पारिवारिक शान्ति, समाज का उत्कर्ष और संसार का हित दूर तक निर्भर हो, उस विषय को यों ही प्रकृति के भरोसे उपेक्षित रखना ठीक नहीं। ऐसा नहीं कि यह भूल समाज के सामान्य अथवा अशिक्षित लोग ही करते हों, इस भूल के भागी वे लोग भी पाये जाते हैं, जो सभ्य, शिक्षित सभ्य तथा समाज के अच्छे लोग माने जाते हैं।

अन्य देशों के विषय में तो कुछ कहना नहीं, किन्तु भारतवर्ष के विषय में यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि यहाँ के लोग अधिकांशतः सन्तानोत्पत्ति से लेकर उसके पालन-पोषण तक प्रकृति तथा संयोग पर ही निर्भर रहते हैं। उनका सन्तान विषयक ज्ञान शून्य होता है। जो माता-पिता सन्तान-पालन की किसी प्रकार की शारीरिक, नैतिक शिक्षा प्राप्त किये बिना ही सन्तानोत्पत्ति का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व उठा लेते हैं, उनके इस साहस पर आश्चर्य नहीं खेद भी होता है। जिनको सन्तानोत्पत्ति

से पूर्व की तैयारी, उनके पालन-पोषण की समुचित विधि और उनका जीवन सार्थक तथा उपयोगी दिशा में उन्मुख कर सकने का ज्ञान नहीं होता, वे किस भरोसे और किस अधिकार से सन्तान-पर-सन्तान पैदा करते चले जाते हैं, यह बात कुछ समझ में नहीं आती।

इस सत्य से कौन इनकार कर सकता है कि सन्तान के उत्पन्न करने तथा पालन-पोषण के तरीके पर ही उनका मरना-जीना और उनका नैतिक उत्थान अथवा पतन अवलम्बित है। किन्तु वे लोग जो माता-पिता बन बैठे हैं या कुछ समय बाद बनने जा रहे हैं, इस विषय में जरा भी ज्ञान प्राप्त करने के उत्सुक नहीं होते और न उनको इस विषय में कोई शिक्षा देने की ही व्यवस्था है। भारत में ९५ प्रतिशत बच्चों की जन्म-प्रक्रिया तथा उनका निर्माण प्रकृति तथा समय के संयोग के अधीन रहता है। यही तो वह भयंकर अज्ञान है, जो भारतीय समाज में व्याप्त व्याधियों, अपराधों तथा भ्रष्टाचार का कारण बना हुआ है। समाज की सुव्यवस्था, उसकी शान्ति तथा उन्नति उसके नागरिकों पर निर्भर है और नागरिकों का चरित्र-निर्माण बाल्यकाल में हुए उनके पालन-पोषण की विधि पर निर्भर है, जिसका ठीक-ठीक निर्वह तब तक हो ही नहीं सकता जब तक कि माता-पिता इस सम्बन्ध का समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते।

आज के वैज्ञानिक एवं विकसित युग में भी नई पीढ़ी का भाग्य बुद्धिहीन प्रथाओं, परम्पराओं, सम्भोगों, प्रकृति अथवा मूर्ख दाइयों, अविवेकी बुद्धियों आदि के भरोसे छोड़े रखना सामाजिक विकास में बहुत भयंकर बाधा है और जब तक इस बाधा को हटाकर हितकारी विधि-विधानों को स्थानापन्न नहीं किया जायेगा, समाज की अभिनव रचना का स्वप्न धुंधला तथा निष्फल ही बना रहेगा।

सन्तानों का होना मात्र ही सौभाग्य का विषय नहीं है। सौभाग्य का विषय है, उनका प्रबुद्ध तथा सुयोग्य होना। यदि केवल सन्तानों की संख्या ही सौभाग्य का आधार होती है तो बहुसन्तानों वाले माता-पिता संसार में अधिक सुखी तथा सन्तुष्ट दिखाई देते किन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा विपरीत दिखाई देती है। किसी भी बहु-सन्तानक परिवार के निकट सम्पर्क में आकर इस सत्य को स्पष्ट एवं मूर्त रूप में देखा तथा अनुभव किया जा सकता है। कठिनता से कतिपय परिवार ही सुखी तथा सन्तुष्ट दिखाई पड़ेंगे, अन्यथा अधिकांश क्लेश, कलह, आवश्यकताओं तथा अभावों से ही पीड़ित दिखाई पड़ेंगे। सन्तानों के भरण-पोषण की आवश्यक व्यवस्था के अभाव तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा पालन एवं निर्माण की विधि के अज्ञान के कारण सन्तानें लोगों को अभिशाप बनी हुई हैं। सन्तानों की बहुतायत और तत्सम्बन्धी अज्ञान मिलकर इस सौभाग्य को ऐसे दुर्भाग्य में बदल देते हैं जिससे जीवन में निपट सकना असम्भव जैसी बात है।

कितना अच्छा हो कि आज के संक्रान्ति तथा दिन-दिन तेजी उसे आगे बढ़ते हुए समय में लोग सन्तानोत्पत्ति की तत्परता त्यागकर उनके पालन-पोषण तथा निर्माण कर सकने योग्य ज्ञान का सम्पादन करने में अधिकाधिक उत्साह दिखायें, जिससे कि भारतीय समाज की दुरवस्था तथा राष्ट्र की निर्बलता दूर हो सकने की आशा पर विश्वास किया जा सके।

भारतीय समाज की इस कुरीति पर जितना खेद किया जाय वह कम है, कि यहाँ पर सन्तान सम्बन्धी ज्ञान तो दूर उस योग्य आयु से पहले ही किशोर कुमारियों को दाम्पत्य सूत्र में बाँध दिया जाता है। वे अल्हड़ माता-पिता का उत्तरदायित्व तथा सन्तानोत्पत्ति का अर्थ जाने बिना ही इस ओर अग्रसर हो उठते हैं, जिसका परिणाम उन दोनों के स्वास्थ्य-ह्रास के साथ, रोगी, निर्बल तथा अयोग्य सन्तानों की वृद्धि के रूप में सामने आता है, जिसके कुपरिणाम न केवल वे ही भोगते हैं, अपितु सारे समाज तथा राष्ट्र को ही भोगने पड़ते हैं। सन्तान-निर्माण की व्यवस्था तथा ज्ञान अभाव ही तो इसका कारण है कि आज हजारों अबोध बच्चे अनाथ एवं अपराधियों जैसी दशा में आवारा फिर रहे हैं और उनकी दशा को कोई पूछने वाला नहीं। न जाने इस प्रकार कितने अनाथ तथा आवारा बच्चे गुण्डों के हाथ में फँसकर भिक्षा तथा अपराधों द्वारा उनकी आय के साधन बने रहे हैं। चरित्र, शिक्षा तथा स्वावलम्बन की योग्यता न होने से हजारों बच्चे माता-पिता अथवा अभिभावक के न रहने पर अनाथालयों में भरती हो रहे हैं और न जाने कितने ईसाई अथवा मुसलमान मिशनरियों के हाथ लगकर उनकी जनसंख्या बढ़ा रहे हैं। पेशेवर अपराधियों में ऐसे लोग ही ज्यादा पाये जाते हैं। बाल्यकाल में जिनका पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा समुचित रूप से न की जा सकी है। इस प्रकार के निकम्मे बच्चे जब तक छोटे रहते हैं, तब तक आवारागर्दी करते और भीख माँगते फिरते हैं। तदनन्तर सयाने हो जाने पर अपराधी बनकर या तो गुण्डागर्दी करते फिरते हैं अथवा चोर-डाकू बनकर समाज की शान्ति-व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होते हैं। कहना न होगा कि यदि इनके माता-पिता को सन्तानों को उत्पन्न करने तथा उनके पालन-पोषण का ज्ञान रहा होता और ये उसी प्रकाश में पाले गये होते तो इनमें से न जाने कितने योग्य, उपकारी, समाजसेवी सभ्य नागरिक तथा महापुरुष तक निकलते। महापुरुषत्व कोई जन्म से साथ लेकर नहीं आता, इसका बहुत कुछ विकास माता-पिता की योग्यता तथा उनके समुचित चरित्र-निर्माण पर निर्भर रहता है।

यदि समाज को समुन्नत बनाना है, राष्ट्र का उत्कर्ष वांछनीय है, तो उसकी वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों का समुचित निर्माण करने के लिए गृहस्थों को सन्तान नियमन तथा उनके निर्माण सम्बन्धी ज्ञान का अर्जन करना ही

होगा। इस ज्ञान के प्रचार के लिए सरकारी व्यवस्थाओं का तो लाभ उठाया ही जा सकता है। शिक्षा-क्रम में इस प्रकार का पाठ्यक्रम भी बढ़ाया जा सकता है। साथ ही व्यक्तिगत रूप से यह ज्ञान सत्परामर्शों तथा तत्सम्बन्धी उत्तम साहित्य द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। 'जहाँ चाह वहाँ रह' के सिद्धान्त के अनुसार माता-पिताओं में इसके लिए जिज्ञासा होनी चाहिए फिर साधन तो आप-से-आप जुटते चले जायें।

एक्टिंग कैसी रही ?

छोटे बच्चों द्वारा असाधारण कार्यों एवं प्रतिभा के प्रदर्शनों की अनेक घटनाएँ नई नहीं हैं। पौराणिककाल से वर्तमान समय तक हर क्षेत्र में ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल सकते हैं, जबकि बच्चों ने अपने कर्तव्य से बड़ों को आश्चर्य में डाल दिया। लव-कुश, दुष्यन्त-पुत्र भरत, ध्रुव, प्रह्लाद, अष्टावक्र, अभिमन्यु, शंकराचार्य के छोटी आयु के विभिन्न संस्मरण भुलाये नहीं जा सकते। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक घटनाक्रम में भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों का अल्पायु में त्याग, झुंझलाहट में बड़े भाई को मारने की सलाह देने पर गांधीजी द्वारा माता को उपदेश, विनोबा द्वारा माता-पिता के बीच के सैद्धान्तिक विवादों की मध्यस्तता, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा अपने पिता द्वारा आयोजित कवि गोष्ठियों में समस्याओं का समाधान आदि घटनाएँ हममें से बहुतों को ज्ञात हैं। इन सबको याद करके बहुधा लोग शंका किया करते हैं कि क्या आज के बच्चों में इस प्रकार की प्रतिभा का लोप हो गया है ?' किन्तु बात यह है कि वह बाल-प्रतिभा किसी अन्य दिशा में लगी है। इस कारण से उससे लाभ, प्रसन्नता और सन्तोष के स्थान पर हानि, कष्ट एवं शिकायतों का वातावरण ही बन रहा है। प्रस्तुत उदाहरण पर ध्यान देने से बात स्पष्ट हो सकती है।

समाचार ग्राम हरतौली का है। एक छह वर्षीय बालक एक दिन शाम को झूला झूलने से गिर पड़ा। कोई प्रत्यक्ष चोट नहीं दिखी तथा रात्रि को बालक सामान्य रूप से सो गया। घर के सब लोगों ने प्रसन्नता व्यक्त की तथा ईश्वर को धन्यवाद दिया। किन्तु प्रातः उनकी प्रसन्नता लुप्त हो गई। काफी दिन निकल आने पर जब बच्चे को उठाया गया तो न वह उठा और न बोला ही।

लोगों में घबराहट फैल गई। अपने-अपने ढंग से सबने प्रयास किया किन्तु बालक की स्थिति ज्यों की त्यों रही। श्वास सामान्य ढंग से चल रही थी, स्पर्श की संवेदना उसमें दिख रही थी किन्तु पूर्ण चेतना का अभाव था। उसे अस्पताल में ले जाया गया। डाक्टरों ने देखा बालक निश्चल एवं निश्चेष्ट पड़ा था। नाड़ी तथा हृदय की गति सामान्य थी। अन्य परीक्षणों से भी किसी बात

का अनुमान न हो सका। समस्या खड़ी हुई कि उपचार भी किया जावे तो क्या किया जावे ? पिछले दिन की घटना सुनकर डाक्टरों ने अनुमान लगाया कि गिरने से किसी मर्मस्थल पर अज्ञात आघात के कारण बालक की बोलने की शक्ति लुप्त हो गयी है।

सब लोग परेशान थे कि अचानक बच्चा उठकर बैठ गया। पिता को सम्बोधित करके सामान्य ढंग से बोला—“पिताजी, ऐक्टिंग कैसी रही ?” भौचक्के से खड़े व्यक्ति कुछ समझे, तब तक बालक ने अगला स्पष्टीकरण दिया “एक फिल्म में ओमप्रकाश ने ऐसी ही ऐक्टिंग की थी।” लोग हँस पड़े। अभिभावक तथा डाक्टर खीझ भरी मुस्कराहट के साथ अपने-अपने कार्यों में लग गये। कमाल का अभिनय किया था बालक ने।

छह वर्षीय बालक की ओर देखते हुए उसके साहस तथा स्वाभाविक अभिनय पर विचार करने से प्रत्यक्ष दिखता है कि उसमें प्रतिभा है। किन्तु इसका विकास किस दिशा में हो रहा है ? क्या हमारी बढ़ती हुई बाल समस्याओं के मूल में इसी प्रकार की प्रतिभा का दुरुपयोग नहीं है ?

बच्चों के बारे में हम बहुधा कह बैठते हैं—वह क्या समझे ? ऐसा कहकर हम अपने दोषों-दुर्व्यवहारों को नियन्त्रित न कर सकने वाली अपनी दुर्बलता की उपेक्षा भले ही कर जावें किन्तु वह उपेक्षा हमें महँगी पड़ती है। बच्चे वातावरण का प्रभाव ग्रहण करने में बहुत संवेदनशील होते हैं। जिस क्रिया एवं जिस भावना को वह महत्व मिलता देखते हैं, उसे ही ग्रहण करके विकसित करने लगते हैं। अस्तु, बच्चों की प्रतिभा का लाभ लेना है—तो उनके आस-पास संस्कारवान वातावरण उत्पन्न करना ही पड़ेगा अन्यथा वे जो सुनते-देखते हैं, उसी की नकल बनाते हुए भविष्य को अन्धकारमय बनाने वाली समस्याएँ उत्पन्न करते रहेंगे।

बच्चों का पालन-पोषण कैसे करें ?

बच्चों के शारीरिक और मानसिक जीवन का गठन बहुत कुछ अभिभावकों पर निर्भर करता है। पालन-पोषण से सम्बन्ध रखने वाली सामान्य-सी बातें भी बच्चों के जीवन में महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। वैसे प्रत्येक बच्चे के स्वभाव, संस्कार, मूल प्रवृत्तियों में अपनी कुछ न कुछ विशेषताएँ ठीक उसी तरह होती हैं जैसे सबके अलग-अलग चेहरे, अँगूठे की अलग-अलग छाप। फिर भी माँ-बाप द्वारा बच्चों का पालन-पोषण उनके विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अच्छी तरह खाद-पानी देकर, काट-छोट करके माली पौधों को अधिक उपयोगी और फलदायी बना सकता है। उपेक्षा, साज-सँभाल के अभाव में मूल्यवान पौधा भी सूख जायेगा या अविकसित, भौड़ा रह जायेगा जिससे मधुर फलों की भी कोई आशा नहीं की जा सकती। इसी तरह बच्चों का ठीक-ठीक

पालन-पोषण किया जाय, उनकी शिक्षा का समुचित ध्यान रखा जाय तो मनुष्य की शक्ति में पैदा होने वाला प्रत्येक बालक उत्कृष्ट और महान व्यक्ति बन सकता है। इसके विपरीत ठीक-ठीक पालन-पोषण न होने पर, बच्चों के निर्माण में ध्यान न देने से होनहार बालक भी अविकसित रह जाते हैं।

बाल्यकाल में जिन आदतों की नींव लग जाती है वे ही सारे जीवन भर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। बचपन में पड़े संस्कार, भावनाएँ जीवन का एक प्रमुख अंग बन जाते हैं। वस्तुतः बाल्यकाल सम्पूर्ण जीवन की नींव है। बच्चों की कोमल मनोभूमि पर पड़े हुए विभिन्न प्रभाव उसके मानस-पटल पर चित्रवत् अंकित हो जाते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी प्रभाव बच्चों पर पड़ता है वैसे ही वे बन जाते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि बच्चों पर अच्छा प्रभाव पड़े, उन्हें अच्छाइयों की प्रेरणा मिले। यह सब माँ-बाप के ऊपर ही निर्भर है। बच्चों का पालन-पोषण एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। इसे पूर्ण करने के लिए उन्हें काफी समझदारी, ज्ञान, विचारशीलता से काम लेना आवश्यक है।

कई माता-पिता बच्चों पर आवश्यकता से अधिक प्यार, स्नेह, लाड़ करते हैं। हालांकि बच्चों के लिए स्नेह, प्यार-दुलार की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उन्हें खिलाने-पिलाने की। अभिभावकों के लाड़-प्यार से बच्चों का मानसिक विकास होता है। उनके जीवन में सरसता पैदा होती है, उनका व्यक्तित्व पुष्ट बनता है। किन्तु अमर्यादित लाड़-प्यार बच्चों के जीवन में अनेकों बुराइयाँ पैदा कर देता है। जब अमर्यादित लाड़-प्यार से बच्चों को कोई काम नहीं करने दिया जाता, उनकी उचित-अनुचित माँगों को पूरा करने में कोई कसर नहीं रखी जाती, तब उनके तनिक-से रूठने, मचलने या दूसरे बच्चों की शिकायत पर परेशान हो जाना, माँ-बाप की ऐसी भूल है जिससे बच्चों में अनेकों बुराइयाँ, खराब आदतें पैदा हो जाती हैं। ऐसे बच्चे आत्म-निर्भर, स्वावलम्बी नहीं बन पाते। वे अपने प्रत्येक काम की पूर्ति दूसरों से चाहते हैं। परावलम्बन, आलस्य, आरामतलबी, फिजूलखर्ची, आवारागर्दी आदि बुराइयाँ माँ-बाप की उन सामान्य-सी भूलों से ही पैदा होती हैं जो बच्चों के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा में उन्होंने लाड़-प्यार वश कीं। यह एक आम बात है कि “लाड़ले बच्चे अक्सर बिगड़ जाते हैं” ऐसे बच्चों में जिन्दगी के कठिन दिनों में चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

प्रत्येक बालक में अपनी एक जन्मजात प्रतिभा होती है। एक विशेषता होती है। बच्चे की इस मूलभूत प्रतिभा, प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर उसी दिशा में उसे बढ़ाया जाय तो वह एक दिन असाधारण स्थिति प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत यदि बालक को उसकी मूल प्रवृत्ति, प्रतिभा के विपरीत चलाया जायेगा तो वह विशेष

सफलता, विकास की स्थिति प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा। वह बेचारा सामान्य-सी घिसी-पिटी जिन्दगी ही व्यतीत करेगा। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि माता-पिता बच्चे की मूल प्रवृत्ति, मूल प्रतिभा को जानें, पहचानें और उसी के अनुरूप उसे विकसित होने की दिशा, साधन, सुविधाएँ प्रदान करें। जो माँ-बाप अपने ही दृष्टिकोण से अपनी इच्छानुसार बच्चे का भविष्य देखना चाहते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। इंजीनियर का लड़का इंजीनियर बने, कलाकार का कलाकार और वकील का लड़का भी वकालत करे यह कोई नियम नहीं है। रुचि, प्रतिभा, मूल प्रवृत्ति से अभिभावक और बच्चे के कार्यक्रमों में असमानताएँ रहनी स्वाभाविक हीं हैं। अतः एकांगी निर्णय, एकांगी दृष्टिकोण से बच्चे के भावी जीवन की रूपरेखा न बनाई जाय। संगीत प्रतिभायुक्त बच्चों को क्लर्क, राजनीतिज्ञ बनाना, संवेदनशील, भावुक, कोमल हृदय बच्चों को डाक्टर बनाना; चिन्तनशील, दार्शनिक, विचारक बच्चों को तराजू तौलने की दुकान पर बैठाना अभिभावकों की बड़ी भारी भूल है। इससे बच्चों की मूलभूत प्रतिभा का विकास नहीं होता वे सामान्य-सा जीवन ही बिताते रहते हैं।

बच्चों को अपने बाल साथियों में न खेलने देना, दूसरे बच्चों से मिलने-जुलने से रोकना भी ठीक नहीं। परस्पर दूसरे बच्चों में मिलने-जुलने से ही बालकों का विकास होता है। उनमें मेल-जोल की वृत्तियाँ पैदा होती हैं। किन्तु कई अभिभावक संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण, बच्चों के बिगड़ जाने के भय से, आवारा बन जाने की शंका से बच्चों को दूसरे बच्चों से मिलने-जुलने नहीं देते। उन्हें बार-बार डाँटते-फटकारते हैं और रोकते हैं। इससे बच्चों में कई मानसिक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। ऐसे बच्चे आगे चलकर अन्यमनस्की, एकाकी, असामाजिक वृत्ति के बन जाते हैं। वे दूसरों से मिलने-जुलने में संकोच अनुभव करते हैं। संसार उन्हें कैद की तरह लगता है। उनकी कोमल भावनाएँ कुण्ठित हो जाती हैं। यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि बच्चों को ऐसे ही बालकों से मिलने-जुलने दिया जाय जो सभ्य घरों में जन्मे और श्रेष्ठ वातावरण में पले हों तथा सुसंस्कृत हों। कुसंस्कारी, बुरे, आवारा बालकों से तो बच्चों को बचाये रखना ही उचित है।

कई माँ-बाप बच्चों को यह सोचकर कि उनका बच्चा अधिक पढ़ेगा, अधिक परिश्रम करेगा और उन्नत बनेगा बार-बार टोकते हैं। बार-बार आदेशपूर्ण दबाव डालते रहते हैं। दूसरे लड़कों की तुलना करते हुए समझाते हैं “अमुक तो इतना होशियार है उसकी बराबरी यह क्या करेगा ?” इस तरह कई माँ-बाप अपने बच्चों को कहते-सुनते देखे जाते हैं। वे सोचते हैं इससे बच्चा अधिक मेहनत करेगा किन्तु परिणाम इसके विपरीत ही निकलता है। इससे बच्चों का आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता

है। उन्हें अपनी शक्ति, सामर्थ्य और सफलता में सन्देह होने लगता है। कई बच्चों में तो यह सन्देह इतना प्रबल हो जाता है कि वे असफलता को निश्चित मानकर प्रयत्न ही नहीं करते। जैसे-तैसे अधूरे मन से प्रयत्न भी करते हैं तो सफल नहीं होते। बच्चों को हीन, कमजोर बनाना, उनकी बार-बार आलोचना करना उन्हें वैसा ही बनाना है जैसा अभिभावकगण स्वयं नहीं चाहते। बच्चों को स्पर्धा की, प्रोत्साहन और प्रेरणा-भरी बातें कहना, उनके आत्मविश्वास के उत्साह को बढ़ाना ही उनके जीवन की सफलता, प्रौढ़ता, विकास का रहस्य है। इतना ही नहीं गलतियों, भूलों से होने वाली हीन प्रतिक्रिया को भी बच्चों के मानसपटल से दूर कर देना चाहिए। इससे महत्वपूर्ण कार्यों में निर्भीकता, निस्कोच हाथ डालने की क्षमता और जीवन पथ पर आगे बढ़ते रहने की मानसिक दृढ़ता प्राप्त होती है।

बच्चों को जन्म देना, उनका पालन-पोषण करना उनकी साज-सँभाल रखना माँ का उत्तरदायित्व है। किन्तु बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, उनका मानसिक विकास, स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण, उन्हें मनुष्य बनाने का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व पिता पर ही है। स्कूल-कॉलेजों में भी पुस्तकीय ज्ञान, अक्षर ज्ञान ही हो पाता है किन्तु जीवित के आन्तरिक एवं बाह्य समग्र ढाँचे का निर्माण पिता द्वारा ही पूर्ण होता है, यह एक निश्चित तथ्य है। इसके लिए बच्चों और पिता में नित्यप्रति का सम्पर्क रहना पिता द्वारा बच्चों के जीवन में गहरी दिलचस्पी का होना आवश्यक है। अक्सर आजकल के संघर्षमय, भाग-दौड़ के जीवन में इसकी भी कमी होती जा रही है। बच्चों से पिता का सम्पर्क बहुत कम हो पाता है या इसका सर्वथा अभाव ही रहता है। वकील, व्यापारी, डाक्टर, शिक्षक, राजनीतिज्ञ नेता सभी अपने कार्यक्रमों में इतने व्यस्त रहते हैं कि वे इसके लिए अपना कुछ समय भी नहीं दे पाते। अन्य सामान्य अशिक्षित लोगों को इसका पूरा ज्ञान ही नहीं होता। कई लोग बच्चों में घुलना-मिलना अच्छा नहीं समझते। कुछ भी हो किन्तु यह एक भारी भूल है।

पिता के साथ खेलने-कूदने की बच्चों में एक स्वाभाविक भूख होती है, जिसके तृप्त न होने पर बच्चों का मानसिक विकास नहीं होता और वे परित्यक्त की तरह निराशा, उदासीनता, अवसाद से ग्रस्त हो जाते हैं। मानसिक दृष्टि से ऐसे बच्चे जिन्हें पिता का सम्पर्क प्राप्त नहीं हुआ, अविकसित, फूहड़ व अयोग्य निकलते हैं।

बड़े आदमी, जो बच्चों के लिए कुछ भी समय नहीं लगाते, उनके बच्चे अधिक बिगड़ते देखे जाते हैं। अतः एक पिता होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन कुछ न कुछ समय बच्चों के लिए अवश्य निकालना चाहिए। समाज में भले ही कोई कुछ भी हो, बड़ी सम्पत्ति के मालिक, बड़े नेता, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, व्यापारी, वकील से लेकर सामान्य श्रेणी के व्यक्ति भी

अपने बच्चों के लिए पिता ही हैं और पिता के कर्तव्य उत्तरदायित्व को निबाहना भी उनके लिए उसी तरह अनिवार्य और आवश्यक है जिस तरह उनका पिता होने का अधिकार है।

निर्दयता का दुष्परिणाम भी नृशंस ही

घटना शेखपुरा (पाकिस्तान) की है। मुर्गी खाने की इच्छा हुई तो एक पाकिस्तानी सज्जन मुर्गी खरीद कर लाये। मकान की छत पर उन्होंने उसे काटना शुरू किया। उनके दो लड़के एक की उम्र सात वर्ष और दूसरे की चार वर्ष पास में बैठे-बैठे अपने पिता का कार्य देखने लगे।

मुर्गी काटना बच्चों के लिए एक खेल बन गया। कभी वह क्रूर हाथों से अपने को छुड़ाने का प्रयास करती, कभी अपने पंख फड़फड़ाती। बच्चे यह देख-देखकर हँस रहे थे। जब मुर्गी लहू-लुहान हो गई, तो वे उदास हो गये। उन्हें अवश्य ऐसा प्रतीत होने लगा कि पिता जी द्वारा अवश्य मुर्गी को यातना दी गई है। मुर्गी दम तोड़ चुकी थी।

पिता किसी कार्य से नीचे चला आया। छुरी वहीं पड़ी हुई थी। बच्चे जिस नाटक को अपने पिता द्वारा करते देख चुके थे उसी का अभ्यास उनकी अनुपस्थिति में करने लगे। बड़े लड़के ने छोटे को जमीन पर लिटा लिया। अपने हाथ में छुरी लेकर वह उसी तरह छोटे भाई को दबाकर बैठ गया। जैसे पिता जी मुर्गी को दबाये हुए थे।

गर्दन पर छुरी चलने लगी। जब उसकी गर्दन कटने लगी। खून निकलने लगा तो उस लड़के को असह्य पीड़ा हुई। उसने जोर से चीखना-चिल्लाना शुरू किया। नीचे माँ अपने चार माह के छोटे बच्चे को स्नान करा रही थी सामने परात में पानी भरा रखा था। जब उसके कान में चीखने-चिल्लाने की आवाज पड़ी, तो वह व्याकुल होकर अपने छोटे बच्चे को वहीं छोड़ ऊपर दौड़ी। देखा ४ वर्षीय बालक दम तोड़ चुका था। चारों ओर खून बह रहा है। अपनी माँ को आता देख बड़ा बालक धबका गया। माँ अवश्य उससे बुरा-भला कहेगी, डॉट-डपट करेगी। अतः वह बचने के लिए सहमकर छत से नीचे कूद पड़ा।

बेचारी माँ समझ नहीं पाई कि क्या करे वह छत से नीचे उतरने के लिए जैसे ही सीढ़ियों की ओर बढ़ी कि एक बार जोर से चीख सुनाई पड़ी। जब तक वह नीचे पहुँची वह ७ वर्षीय बालक भी अपनी लीला समाप्त कर चुका था। उसका सिर नीचे पत्थर से टकराया और सदैव के लिए माता-पिता से अलग हो गया।

माँ की स्थिति पागलों की सी हो गई थी। दो-दो चलते-फिरते, हँसते-खेलते बच्चों को दम तोड़ते देख चुकी थी। अब उसमें इतना साहस नहीं रहा था कि वह कुछ

कर सके। उसे चक्कर आ गया और वह भी वहीं लुढ़क गई। थोड़ी देर में होश आया, आँख खोली तो उसे ध्यान आया कि वह गोदी वाले बच्चे को स्नान कराते-कराते वहीं छोड़ आई है। जैसे-तैसे अपने को सँभाल कर वहाँ तक पहुँची कि वह अवाक् खड़ी देखती रही। दुर्भाग्य ने अभी भी उसका पीछा नहीं छोड़ा था।

जिस बच्चे को पानी में स्नान कराते छोड़ गई थी, वह इतना छोटा था कि स्वयं उठकर न तो बैठ ही सकता था और न अपने आप उस परात से बाहर निकल सकता था। जब पानी उसके नाक, कान और मुँह में भरने लगा। बेचारा रोया-चिल्लाया। हाथ-पैर चलाता रहा। पर वहाँ उसकी सहायता करने वाला कोई न था। पानी में गोते खाकर उसने भी इस परिवार से सदैव के लिए नाता तोड़ लिया था।

पन्द्रह मिनट तो तब हुए जब दुर्भाग्य ने माँ को हृदय के तीनों टुकड़ों से अलग कर दिया। अब रोने-चिल्लाने से क्या लाभ था ? पर दिल जो न मानता था। माता-पिता जैसा कार्य करते हैं, उसी को देखकर बच्चे करने का अभ्यास करते हैं। उन्हें अच्छाई-बुराई का ज्ञान कहाँ होता है ? यदि हम चाहते हैं कि बच्चों में सदृशवृत्तियों का विकास हो तो हमें अपने को सुधारना होगा।

एक हिंसक दुर्घटना भी कितने भयंकर दुष्परिणाम लेकर आती है।

नवनिर्माण में नारी का योगदान आवश्यक

विगत स्वतन्त्रता संग्राम को अभी अधिक दिन नहीं हुए। हमने अपनी आँखों से देखा कि भारतीय नारियों ने परिवार का मोह त्यागकर जेल की यातनाएँ सहनीं, पुलिस के निर्मम अत्याचारों को मूक होकर सहा और आवश्यकता पड़ने पर भारत माता हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। हमें अच्छी तरह स्मरण है कि लोक नायक गाँधीजी की एक आवाज पर महिलाएँ घर से निकलकर धरना, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, असहयोग आन्दोलन, नमक बनाने और शराब-बन्दी के अनेक कार्यक्रमों में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग देती थीं। जिन दिनों अधिकतर कार्यकर्ता जेल की सीखियों में बन्द थे, महिलाओं ने संघर्ष के सूत्र को अपने कोमल हाथों से सँभालकर विदेशी सरकार तथा भारतीय नेताओं को आश्चर्य में डाल दिया था।

स्वतन्त्रता के बाद महिलाओं ने विविध क्षेत्रों में आगे आकर अपने परिश्रम, लगन, दृढ़ इच्छाशक्ति और अटूट आत्मविश्वास के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वह अब किसी से पीछे नहीं है। यदि नर और नारी दोनों को समान सुविधाएँ दी जायें तो नारियाँ प्रगति की

दौड़ में आगे निकल सकती है। पर इतने से ही हम सन्तोष कर चुप नहीं बैठ सकते। अभी भी देश में दो वर्ग हैं—एक प्रगतिशील और दूसरा पिछड़े हुए लोगों का।

गाड़ी के एक पहिये को, शरीर के एक अंग को क्षत-विक्षत स्थिति में तो नहीं रखा जा सकता। देश की कोई योजना, युग-निर्माण का कोई कार्यक्रम आधी जनसंख्या को छोड़कर नहीं बनाया जा सकता और न सफलता ही प्राप्त की जा सकती है। किसी भी देश की प्रगति और सभ्यता का सही अनुमान उस देश की महिलाओं की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से लगाया जा सकता है।

अब बदली हुई परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि आन्तरिक मोर्चों पर नियुक्त नारी अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह ईमानदारी के साथ करे। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें पता चलेगा कि राष्ट्र-निर्माण में नारी का योगदान उसके रसोईघर से प्रारम्भ होता है। देश का बहुत बड़ा भाग खाद्य संकट से ग्रस्त है। ऐसे में अमीरी के झूठे प्रदर्शन को त्यागकर गरीबों के कहे जाने वाले खाद्यान्न—चना, बाजरा, ज्वार, मक्का आदि को काम में लाये। महँगी सब्जियों, फलों तथा पकवानों के स्थान पर गाजर, पालक, मूली, बथुआ, आलू, मूँगफली, केला, नीबू, अमरूद, पपीता जैसे मौसमी और सस्ते फलों तथा सब्जियों का उपयोग कर सकते हैं। यह वस्तुएँ स्वास्थ्यप्रद तो हैं ही साथ ही पैसों की बचत भी हो सकती है। महँगाई के समय में बढ़ते हुए भावों का रोना रोने से कोई लाभ नहीं हो सकता। हमें तो फिजूलखर्ची त्यागकर मितव्ययी बनने का आदर्श उपस्थित करना होगा। पुरुष धन कमाता है और उसको व्यय करने का उत्तरदायित्व तो गृहलक्ष्मी पर है। धन का सदुपयोग कर वह सीमित आय से ही परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति कर भविष्य के लिए बचत कर सकती है।

गाँव की स्त्रियाँ कृषि कार्यों में अपने पति को पूरा-पूरा सहयोग देती हैं। शहर की स्त्रियों को चाहिए कि अपने घरों के अन्दर की थोड़ी जगह का सब्जी उत्पादन में उपयोग करें। बड़े-बड़े शहरों में जगह का काफी अभाव रहता है फिर भी तुरैया, लौकी, सेम, जैसी बेलों में लगने वाली सब्जियाँ आसानी से उगाई जा सकती हैं। लकड़ी की पेटियों तथा गमलों में पौधे उगाने की व्यवस्था करनी चाहिए। छोटे कस्बों में तो मकानों के आँगन इतने बड़े होते हैं कि उनमें इतनी सब्जी उगाई जा सकती है कि बाजार से लेने की आवश्यकता ही न पड़े। घर के काम-काज से बचने वाला गन्दा पानी पौधों को हरा-भरा रख सकता है। कपड़े धोने, बर्तन माँजने के बाद का बचा पानी क्यारियों में डाल दिया करें अथवा एक ऐसी कच्ची नाली क्यारियों तक बना दी जाये तो अलग से पानी देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

धार्मिक, शारीरिक और राष्ट्रीय तीनों ही दृष्टियों से सप्ताह में एक दिन का उपवास उपयोगी है। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री लाल बहादुरशास्त्री ने देश संकट के समय साप्ताहिक उपवास का महत्त्व सबके सामने रखा था।

बच्चे राष्ट्र के भावी निर्माता होते हैं। उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास, अनुशासन और देश के प्रति समर्पण की भावना संस्कारवान माता के लालन-पालन से ही आती है। देश का भविष्य माताओं की गोद में बनता-बिगड़ता है, क्योंकि नई पीढ़ी उनसे (जन्म लेकर उनकी गोद में बढ़ती और पनपती है। यदि बालकों को साहसी चरित्रवान, ईमानदार, परिश्रमी तथा ईश्वर से डरने वाला बनाया जा सके तो समाज में व्याप्त अनीति और भ्रष्टाचार को समूल नष्ट किया जा सकता है। इसीलिए नेपोलियन अच्छी सन्तानों के लिए अच्छी माताओं के महत्त्व पर जोर देता था। उसका कहना था 'बच्चों के भविष्य का निर्माण माताओं पर निर्भर करता है।' भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहाँ की माताओं ने अपने बच्चों के पूर्ण विकास में ही रुचि नहीं ली वरन् उनमें मानवता के प्रति प्रेम, देशभक्ति और त्याग की भावनाओं को कूट-कूटकर भर दिया था। अतः नारी का यह प्रमुख दायित्व वह अपने बच्चों का पालन-पोषण, स्वस्थ ढंग से करे और उनमें ऐसे गुणों को विकसित करे कि वे स्वस्थ-सशक्त और सचेतन नागरिक बन सकें।

आज जबकि मध्यम और निम्न श्रेणी के परिवार आर्थिक जटिलताओं से गुजर रहे हैं तब सीमित परिवार की बात को भुलाया नहीं जा सकता। ५ अस्वस्थ, अविकसित और अशिक्षित बच्चों की अपेक्षा एक या दो स्वस्थ, प्रतिभासम्पन्न और सुसंस्कारित बच्चे अच्छे हैं। हमारे परिवार में बच्चों की संख्या उतनी ही होनी चाहिए जितने पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा तथा शारीरिक और मानसिक विकास के साधन जुटाये जा सकें। जनसंख्या की द्रुतगति से होने वाली वृद्धि से राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक अर्थशास्त्री और समाजसेवी सभी चिन्तित हैं। कितनी ही बार तो एक के बाद दूसरे बच्चों के जन्म से माता का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। उनका शरीर दुर्बल हो जाता है। वह बच्चों के पालन-पोषण तथा पारिवारिक कार्यों को सम्पन्न करने में अपने को अक्षम अनुभव करने लगती है। ऐसी स्थिति में सीमित परिवार की बात प्रत्येक नारी के सम्मुख विचारणीय है।

शिक्षित महिलाएँ परिवार निर्माण और समाज निर्माण के विविध कार्यक्रमों में प्रत्यक्ष रूप से अपना योगदान दे सकती हैं। उन्हें अपनी शक्ति, प्रभाव तथा समय का उपयोग अशिक्षितों को साक्षर बनाने, अज्ञानियों को ज्ञान की किरणें प्रदान करने, बेरोजगारों को स्वच्छलम्बन का पाठ पढ़ाने तथा सामाजिक कुरीतियों को नष्ट करने में करना चाहिए। शिक्षित नारियों को तो दोहरी भूमिका अदा करनी ही होगी। जो वृद्धाएँ यह कहती हैं कि 'हमारी

जिन्दगी कट गयी अब बूढ़े तोते क्या राम-राम पढ़ेंगे ? उनके बीच जाकर शिक्षा का महत्व बताना होगा। यह महिलाएँ मध्याह्न में दो घण्टे का एक विद्यालय चलाकर बच्चों के पालन-पोषण, स्वच्छता, सिलाई-बुनाई और अनेक कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण देकर उन्हें शिक्षित ही नहीं आत्म-निर्भर भी बना सकती हैं।

नशाबन्दी और माँसाहार के क्षेत्र में ही महिलाएँ महत्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। जहाँ मनुष्यों के सारे बौद्धिक प्रयास निष्फल हो जाते हैं, वहाँ नारी अपनी सहानुभूति, ममता और सहृदयता के द्वारा अपना कार्य पूर्ण कर लेती है। लाखों ऐसे परिवार हैं जिनमें माँस, मछली, अण्डे, धूम्रपान और मदिरा आदि वस्तुओं का खुलकर प्रयोग किया जाता है। वहाँ पत्नी का सुमधुर व्यवहार और सत्याग्रह की भावना पति को ऐसे दुर्व्यसनों से छुटकारा दिला सकती है। एक विचारक ने कहा भी है 'मद्य निषेध का कार्य बौद्धिक विकास का नहीं वरन् संवेदना और सहानुभूति कार्य है।'

आज छात्रों में बढ़ने वाली अनुशासनहीनता राष्ट्रीय सम्पत्ति की तोड़-फोड़, बड़ों के प्रति उददण्डतापूर्ण व्यवहार, पाश्चात्य सभ्यता के प्रति विशेष आकर्षण जैसी अनेक बातें हैं जो समझदार माताएँ पारिवारिक स्तर पर आसानी से दूर कर सकती हैं। वह अपने पुत्रों को सुविधाएँ, प्रेम और धन आदि सब कुछ प्रदान करती हैं। वह उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखकर विवेकशीलता के साथ मार्गदर्शन दे सकती हैं।

बच्चों को आत्महीनता के दोष से बचायें

कई बच्चे हर दृष्टि से सुयोग्य होते हुए भी आत्महीनता के शिकार हो जाते हैं और अपनी प्रतिभा से हाथ धो बैठते हैं। ऐसा अपने बच्चे के साथ तो नहीं हो रहा है, इसके सम्बन्ध में अभिभावकों और अध्यापकों को समुचित ध्यान रखना चाहिए।

मनोवैज्ञानिकों एवं मनःचिकित्सकों ने किए गये अपने विभिन्न सर्वेक्षणों और अध्ययनों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि अधिकांश स्थितियों में हीनता दोष के शिकार वही बच्चे होते हैं, जिन्हें बचपन में भरपूर लाड़-प्यार, स्नेह और आत्मीयता नहीं मिल पाती। उनका कहना है कि यदि श्रेष्ठता की दिशा में प्रोत्साहित किया जा सके तो उनका आत्मविश्वास जाग्रत होता है। प्रशंसा पाकर वे अपने से बड़ों का आदर करना सीखते हैं। बच्चों के प्रति बरती गई ईमानदारी उन्हें न्यायप्रिय बनाती है साथ ही अपनी अच्छी बातों को मान्यता मिलती देखकर गर्व का अनुभव करते और आगे वैसा ही क्रम बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। मित्रता और सहृदयता का व्यवहार उन्हें सर्वाधिक पसन्द होता है। इससे उनके

आस-पास के परिकर में स्नेह-सौजन्य का वातावरण विनिर्मित होता है। मनोवेत्ताओं के अनुसार—आगे चलकर जीवन संघर्ष से जूझने और उस पर विजय प्राप्त करने में बचपन में दिया गया उचित प्यार और प्रोत्साहन महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। तब वे बिना किसी मनःचिकित्सक के भी अपने सुदृढ़ आत्मविश्वास एवं पुरुषार्थ से प्रगति के मार्ग में आये अवरोधों से टक्कर लेने और उन्हें निरस्त करने में समर्थ होते हैं।

संसार में ऐसे कितने ही महापुरुष, विद्वान, कलाकार एवं वैज्ञानिक हुए हैं, जिन्होंने अपने संरक्षकों का, सहयोगियों का तनिक-सा प्यार भरा सहयोग पाकर बचपन की आत्महीनताजन्य ग्रन्थियों का उच्छेदन कर कमजोरियों पर विजय पायी और सफलता के सोपान पर आगे बढ़े। इस प्रकार के उदाहरणों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं।

नेपोलियन बोनापार्ट के बारे में विख्यात है कि वह कद में छोटा था और रूप में साँवला। बातचीत में भी वह गँवार, अनपढ़ों जैसा व्यवहार करता था। विश्लेषकों का मत है कि उक्त कारणों से बचपन में ही वह हीन भावनाओं का शिकार हो गया था। स्कूल के सभी बच्चे उसका उपहास किया करते थे। पढ़ाई के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही थी। जन्मदात्री माँ का ध्यान जब इस ओर आकृष्ट हुआ तो उसने उसके निवारण का उपाय किया और अध्ययन के लिए बराबर प्रोत्साहित करती रहीं। नेपोलियन अब चिढ़ाने वालों की उपेक्षा करके अपना पूरा ध्यान पढ़ने में लगाता और उन सबसे आगे निकल जाने का स्वप्न देखा करता। सभी जानते हैं कि दृढ़ लगन और अध्यवसाय के सहारे एक दिन उसने अपने सपनों को साकार कर दिखाया।

विल्मा रूडाल्फ ने रोम में हुए ओलम्पिक खेलों में स्वर्ण पदक प्राप्त किया था। बचपन में उसे सभी 'ब्लैक गैज़ल' काली हिन कहकर चिढ़ाते और ताना मारते थे कि वह जीवन में कुछ नहीं कर पायेगी, परन्तु जिसका उद्देश्य आगे बढ़ना ही हो भला कौन-सी विघ्न-बाधा है जो उसके प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध कर सके। विल्मा के साथ भी यही हुआ। अभिभावकों का सहयोग एवं स्वयं की संकल्पबद्धता ने उसे अन्ततः सफलता के शिखर पर पहुँचा दिया। ओलम्पिक-स्पर्द्धाओं में उसने कितने ही स्वर्णपदक जीते ?

आस्ट्रेलिया के चोटी के खिलाड़ी जान कोनार्ड को बचपन में पोलियो हो गया था। चिकित्सकों एवं प्रशिक्षकों ने उसे निराश नहीं होने दिया। उपचार के साथ-साथ खेलकूद में भाग लेने के लिए बराबर प्रोत्साहन मिलता रहा। आशावादी विचारधारा का संचार होने पर वह अपनी अपंगता से लगातार आठ वर्षों तक संघर्ष करता रहा और अन्ततः विजयी हुआ।

इसी प्रकार फ्रांस के एक स्कूल में कैरीलीन नामक लाल बालों वाली एक बालिका पढ़ती थी। साथ में पढ़ने वाले बच्चे 'गाजर' कहकर उसका मजाक उड़ाया करते थे। तब वह मात्र आठ वर्ष की थी। एक दिन खीजकर उसने अपने सारे बाल कटवा डाले, फिर भी सहपाठियों के व्यंग्य वाणों से उसे त्राण नहीं मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि कैरीलीन आत्महीनता का शिकार हो गयी। धीरे-धीरे स्मरण शक्ति भी कमजोर पड़ने लगी। उसकी बदलती मनःस्थिति की ओर जब अध्यापकों का ध्यान गया तो उन्होंने उस बालिका का परिचय उसी के रंग-रूप वाली एक अन्य लड़की से कराया। कुछ ही दिनों में दोनों घनिष्ठ मित्र बन गयीं और एक-दूसरे की पूरक बनकर अपने जीवन-क्रम को बदल डाला।

मनःचिकित्सकों का मत है कि चार वर्ष की उम्र तक बच्चों में आत्महीनता का दोष नहीं पनपता। इस उम्र में उनकी रुचि मात्र अपने साज-सँवार और स्वयं के खेल-खिलौनों पर होती है, किन्तु जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, बच्चे अच्छे-बुरे का विभेद करना सीख जाते हैं। उनमें स्वतः के प्रति, अपने एवं अन्यो के प्रति एक भावनात्मक लगाव विकसित होने लगता है। सन्तुलित मार्गदर्शन एवं प्यार न मिलने पर वह अपने को उपेक्षित महसूस करने लगते हैं और धीरे-धीरे आत्महीनता का शिकार बन जाते हैं। बच्चों के लिए यह वह घातक स्थिति है, जिसका दुष्परिणाम जीवन में उन्हें अविकसित एवं अनगढ़ता के रूप में भुगतना पड़ता है।

बालकों में चौरवृत्ति न आने दें

छोटा बालक सामाजिक व्यवहार से, औचित्य-अनौचित्य से अपरिचित होता है। उसमें संग्रह की भावना, वस्तुओं को अपना मानने और मनवाने की भावना प्रबल रहती है। यही कारण है कि वह अपने खिलौने, अपनी रुचि की अन्य छोटी-मोटी वस्तुएँ तो एकत्रित करता ही रहता है, साथ ही अपने बहिन-भाइयों और मित्र बालकों की वस्तुएँ भी अपने पास इकट्ठी कर लेता है। उसकी दृष्टि में कुछ पराया नहीं है। सभी की चीजें संग्रहीत करने की यह भावना आगे चलकर चोरी के रूप में विकसित हो सकती है। अतएव माता-पिता को स्नेहपूर्वक यह बात बालक को समझानी चाहिए कि अमुक वस्तु उसकी है, अमुक वस्तु उसके भाई-बहिन और मित्रों की। दूसरों की चीजें बिना उनसे पूछ कर लेना गलत है, चोरी है। बार-बार इस प्रकार के अभ्यास से बालक अपनी और दूसरे की वस्तु का अन्तर समझने और सही उपयोग करने की आदत पड़ती है।

बालक असुरक्षा की भावना के कारण भी चोरी करने लगता है। जिस परिवार में माता-पिता में प्रायः लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं, कई भाई-बहिन होने के कारण बालक पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता, माता-पिता दोनों

के जीविकोपार्जन में व्यस्त होने के कारण बच्चे को पूरा प्यार नहीं मिल पाता, उसमें बालक स्वयं को असुरक्षित अनुभव करता है, एकाकी और असहाय अनुभव करता है। इस स्थिति का प्रत्यावर्तन मार-काट, तोड़-फोड़ या चोरी आदि में होता है, जिससे कि उसे भावनात्मक तनाव से थोड़ी मुक्ति मिले। इसी प्रकार अतिसुरक्षा और अति, अनुचित प्रेम भी बालक को बिगाड़ देता है। ऐसे सिर चढ़े बालक हर वस्तु को अपना समझते हैं और दूसरों की वस्तुओं को चुपचाप उठा लेने में भी कोई हानि नहीं समझते। माता-पिता तथा अभिभावकों को इन दोनों ही स्थितियों से बचना चाहिए। बालक को समुचित स्नेह देना चाहिए, जिससे उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा न पड़े।

अधिकारधिक ईर्ष्या की भावना भी बालक को चोरी जैसे गलत कार्य करने को प्रेरित करती है। एक परिवार का उदाहरण है—माता-पिता छोटे लड़के को अधिक प्यार करते थे क्योंकि यह सुन्दर, विनीत और पढ़ने में बहुत तेज था। पिता जहाँ जाते छोटे लड़के की ही प्रशंसा किया करते। बड़े लड़के को सबके सामने मूर्ख कह देते। छोटे लड़के को बढ़िया खिलौने, मिठाई आदि दी जातीं। उसकी माँगे तुरन्त ही पूरी हो जाया करतीं। इस सबकी प्रतिक्रिया बड़े लड़के में ईर्ष्या के रूप में हुई। ईर्ष्याभाव से संचालित होकर उसने पहले छोटे भाई की किताबें और खिलौने चुराना, तोड़-फोड़ करना प्रारम्भ कर दिया। इससे भी जब उसे सन्तोष न हुआ तो उसने स्कूल में सहपाठियों की वस्तुएँ चुराना प्रारम्भ कर दिया। माता-पिता और अध्यापक बहुत दुःखी थे कि ऐसे कुलीन परिवार के बालक में यह आदत कहाँ से आ गयी ? मनोवैज्ञानिक जाँच कराने पर इस तथ्य का उद्घाटन हुआ कि बालक छोटे भाई के समान प्यार पाने की आकांक्षा से, माता-पिता का ध्यान विभाजित करने के लिए चोरी करता है। जब दोनों बालकों का समान रूप से ध्यान रखा गया, उन्होंने एकसमान खिलौने, वस्त्र, भोजन आदि दिये गये, समान रूप से उनकी प्रशंसा की गयी तब कहीं बड़े लड़के की चोरी की आदत छूटी।

बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर भी वे चोरी करने लगते हैं। जब बच्चा अपने साथ के दूसरे बच्चों को अच्छी चीजें खाते-पहिनते देखता है, तो उसके मन में भी उन्हें पाने की लालसा जग जाती है। कुछ बालक तो अपनी इन इच्छाओं का शमन कर लेते हैं; परन्तु कुछ का मन विद्रोह करने लगता है। वे माता-पिता पर खीजते हैं कि वे भी वैसी ही वस्तुएँ लाकर क्यों नहीं देते। इस खीज के और अधिक बढ़ने पर वे चोरी करने लगते हैं। माता-पिता द्वारा जब बालक पर बहुत नियन्त्रण लगाया जाता है और उसकी इच्छाएँ अपूर्ण रह जाती हैं, तब भी वह चोरी का साधन अपनाता है। एक स्त्री में खाने-पीने की चीजें चुरा-चुराकर खाने की गन्दी आदत पायी गयी। मनोविश्लेषण करने पर पता लगा कि

जब वह बच्ची ही थी तब माता-पिता उसके भाई को तो अच्छी चीजें खिलाते थे और लड़की होने के कारण उसे उससे वंचित रखते थे। बस उसने चुराकर चीजें खाना प्रारम्भ कर दिया और बड़े होने पर भी उसकी यह आदत निरन्तर बनी ही रही। इसी प्रकार एक उच्चवर्गीय परिवार का लड़का सौतेली माँ के अत्यधिक अत्याचारों, प्रतिबन्धों के कारण चोर बन गया। माँ अपनी तुच्छ मनोवृत्ति के कारण बच्चे को उन सभी सुख-साधनों से पृथक् रखती थी जो प्रायः परिवार के तथा मुहल्ले के अन्य बच्चों को प्राप्त थे। उसे साधारण से भोजन-वस्त्र दिये जाते, खूब कार्य कराया जाता और समय-असमय मार-पिट्टाई की जाती। पत्नी के आज्ञाकारी उसके पिता में न अभागे बालक के प्रति दया थी, न बाहर के कार्यों से अवकाश। फलतः बालक अपनी इच्छाएँ पूरी करने के लिए चोरी करना सीख गया। माँ की सोने की वस्तुएँ, पिता की जेब से पैसे चुराकर ले जाता। अपने साथ-साथ साथियों को भी चाट-मिठाई खिलाता, महँगे खिलौने दिलवाता, सिनेमा दिखाता। बदले में उसे साथियों का प्यार मिलता था। अतएव इस कार्य से उसे आत्मतुष्टि होती थी। माता-पिता को जब बालक की इस दुर्वृत्ति का पता लगा तो उन्होंने उसकी पढ़ाई छोड़ा दी, शारीरिक दण्ड और घोर तिरस्कार करना प्रारम्भ कर दिया। फलतः बालक बिगड़ता चला गया, माता-पिता की उपेक्षा करने के लिए और अधिक चोरी करता गया और आगे चलकर पक्का चोर बना।

माता-पिता को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनका बच्चा जिन साथियों के साथ रहता है, वे कहीं गन्दी आदत वाले तो नहीं हैं। बालक साथियों की बातें बहुत जल्दी सीखता है। यदि वे चोरी की आदत वाले होंगे तो दूसरे बच्चों को भी चोरी करना सिखा देंगे।

माता-पिता तथा शिक्षकों द्वारा नैतिक शिक्षा न दिये जाने से भी बच्चा चोरी करने की दुष्प्रवृत्ति अपनाता है। अनेक बार बच्चे सिर्फ शरारत करने के लिए, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए चोरी किया करते हैं। बच्चों को ऐसी कहानियाँ सुनानी चाहिए जिनसे उनके मन में यह संस्कार दृढ़ हो जाये कि चोरी करना गलत बात है, बुरा है। विविध उदाहरणों से यह बात उनके सम्मुख रखनी चाहिए कि चोर को समाज और भगवान के दण्ड का पात्र बनना पड़ता है। बचपन में बनायी गयी यह आस्थाएँ आजीवन बालक का मार्ग निर्देशन करती हैं। माता-पिता तथा अभिभावकों की बालकों की छोटी से छोटी गतिविधियों का ध्यान रखना चाहिए। यदि वह कोई अवांछनीय दुर्गुण अपनाता है तो प्रारम्भ से ही उसे रोका जाना चाहिए। उसके कारणों का पता लगाया जाना चाहिए। यदि वह किसी अभाव के कारण चोरी करता है तो उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए। बच्चे को समझाना चाहिए कि कौन-सी वस्तु

उसकी है और कौन-सी दूसरों की ? किस वस्तु के प्रयोग करने का उसे अधिकार है और किस वस्तु के लिए अन्यो से पूछना है। समझाने-बुझाने के बाद भी बालक यदि चोरी करता है तो उसकी इस आदत को कभी स्वीकृति नहीं मिलनी चाहिए। चोरी की वस्तु कभी भी बालक के पास नहीं रहने देनी चाहिए। न ही चीज वापस कराने के लिए उसे किसी प्रकार का पुरस्कार प्रदान करना चाहिए। बच्चे को चोरी के लिए दूसरों के सामने निर्दित भी नहीं करना चाहिए और न ही प्रारम्भ में कोई सजा देनी चाहिए। चोरी करने के बाद भी बच्चे में यह भावना नहीं उभरने देनी चाहिए कि माता-पिता ने उसे प्यार करना, उस पर विश्वास करना छोड़ दिया है अन्यथा वह कुण्ठित होने लगेगा। माता-पिता को बहुत ही सावधानी से बालकों की चोरी की आदत को छुड़ाना चाहिए। प्यार के साथ-साथ बच्चे की आवश्यकता को भी समझना चाहिए। बच्चे माता-पिता से उन सब वस्तुओं को पाने की लालसा नहीं रखते, जिन्हें वे दे नहीं सकते। परन्तु बालकों को जो कुछ दिया जा सकता है, उससे भी उन्हें वंचित करने की भूल नहीं करनी चाहिए।

बच्चे जन्म से अपराधी नहीं होते

बच्चों के निर्माण में माता-पिता या अभिभावकों की भूमिका एक कुशल माली की तरह होती है। उन्हें ही सारा ध्यान रखना होता है कि बालकों के समुचित विकास में उनका योगदान हो पा रहा है या नहीं। थोड़ी-सी भी असावधानी अनेकानेक समस्याओं को जन्म दे सकती है। बच्चों के अपरिपक्व स्थिति से परिपक्व होते समय यदि कोई त्रुटि रह जाती है तो शारीरिक, मानसिक रूप से वे अविकसित रह जाते हैं। अनगढ़ स्वभाव होने पर ऐसे बच्चे अपराध करने से लेकर अनेकानेक सामाजिक समस्याएँ खड़ी करते हैं, साथ ही अपना भविष्य भी बिगाड़ लेते हैं।

‘लैंग्वेज ऑफ द अण्डर वर्ल्ड’ नामक अपनी कृति में सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. डेविड डब्ल्यू. मॉर ने कहा है कि आज समाज में इस तरह के बच्चों की भरमार है। बाल-अपराध एक विश्वव्यापी समस्या बनती जा रही है। गाँवों से लेकर शहरों तक गरीब-अमीर सभी वर्गों के बच्चे अपराधी प्रवृत्तियों में सम्मिलित देखे जाते हैं। अनैतिक कार्यों में लिप्त होना, वर्जनाओं का उल्लंघन करना, मार-पीट करना आदि उनके लिए एक सामान्य-सी बात है। छूत की बीमारी की तरह यह रोग एक से दूसरे बच्चे को लगती जाती है और उनके नये-नये समूह संगठन बनते जाते हैं। ‘मीडिया’ द्वारा अपराधियों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने से यह रोग और भी अधिक बढ़ा है। समाज में बालक, किशोर और युवा वर्ग का झुकाव आपराधिक या अर्ध आपराधिक उप-संस्कृति की ओर बढ़ता ही जा रहा है। उन्होंने इसका प्रमुख कारण इस

वर्ग में वैयक्तिक दायित्व एवं आचरणशास्त्र की अनभिज्ञता को माना है और कहा है कि इन कमियों को दूर करके ही बच्चों एवं नवयुवकों के उज्ज्वल भविष्य को संवारा जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस संस्था—इंटरपोल ने अपने एक सर्वेक्षण में बताया है कि पिछले दिनों की अपेक्षा इस दशक में बाल-अपराध सम्पूर्ण विश्व में बढ़े हैं। ४६ देशों के जो आँकड़े उसने प्रस्तुत किये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि आर्थिक एवं तकनीकी दृष्टि से विकसित देशों में इस तरह के अपराधों की संख्या सबसे अधिक है। नार्वे, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, पश्चिम जर्मनी, इंग्लैण्ड, वेल्स तथा जापान शीर्षस्थ नम्बर पर हैं। चीन में आम अपराधों की अपेक्षा बच्चों द्वारा किये गये अपराध कहीं अधिक होते हैं।

भारत भी इस महामारी से अब अछूता नहीं रहा है। यहाँ बाल अपराध पहले कुछ बड़े शहरों तक सीमित था, परन्तु अब वह देशव्यापी हो गया है। 'नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल डिफेन्स' द्वारा प्रस्तुत आँकड़े बताते हैं कि सजा पाये लोगों में ५ में से एक २१ वर्ष से कम का होता है। महाराष्ट्र में ४ अपराधों में तथा मध्य प्रदेश में ५ अपराधों में एक का जिम्मेदार अल्प-वयस्क होता है। पूरे देश में यह दर १२ प्रतिशत से भी अधिक है। प्रतिवर्ष इसमें बढ़ोत्तरी होती जाती है। पुलिस के 'रिसर्च एण्ड डेवलपमेण्ट ब्यूरो' के अनुसार १८ वर्ष तक के दो लाख तथा १६ वर्ष के ३० हजार किशोर प्रतिवर्ष विभिन्न अपराधों में पकड़े जाते हैं। कम उम्र वाले बच्चों की संख्या में भी असामान्य रूप से अभिवृद्धि हुई है। वे जान-बूझकर इरादे के साथ तथा समझते हुए भी उस समाज की मर्यादाओं की उपेक्षा करते या तोड़ते हैं, जिससे कि उनका सम्बन्ध है।

विशेषज्ञों का मत है कि यह समस्या बच्चों के मानसिक संघर्ष का प्रतिफल है, जो मानसिक अथवा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है। अपराधी आचरण के द्वारा ही वह अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मनोवैज्ञानिक खोजों ने भी बच्चों के इस प्रकार के मानसिक असन्तुलन की पुष्टि की है। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के बालकों के उपचार के लिए बड़ी-बड़ी संस्थाएँ संचालित की जा रही हैं और उन्हें मनोवैज्ञानिक तरीके से प्रशिक्षित किया जा रहा है।

वस्तुतः अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बालक को दूसरों पर आश्रित रहना होता है। इन आवश्यकताओं की सन्तुलित पूर्ति पर ही उसका स्वस्थ एवं समग्र विकास निर्भर करता है। इन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) शारीरिक आवश्यकताएँ जैसे—भोजन, जल-नींद तथा अन्य शारीरिक सुविधाएँ, (२) आत्मा-सम्बन्धी जैसे—दूसरों से प्रशंसा,

राय, स्नेह, दुलार तथा अपनत्व पाने की इच्छा। (३) सामाजिक—जैसे दूसरों के कार्यों में हाथ बँटाने हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा। ये स्वाभाविक आवश्यकताएँ बच्चों के विभिन्न व्यवहार और कार्यों के लिए अभिप्रेरणाएँ हो जाती हैं, जिसकी क्रियाशीलता में बाधा आने पर वह तनावग्रस्त हो जाता है। यद्यपि उलझनों और परेशानियों का सामना तो सभी बालकों को कुछ न कुछ करना ही होता है, परन्तु जब इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है अथवा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती तो उसके व्यवहार अवांछित रूप लेने लगते हैं। वह अपराधी जीवन की ओर झुकने लगता है। जैसे भोजन न मिलने से शरीर कमजोर होने लगता है, उसी प्रकार बच्चे का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है। यदि उसकी इन आवश्यकताओं की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज में सुखी-समुन्नत बालकों की संख्या बढ़ जाये और दुःखी तथा अपराधी बालकों की संख्या घट जाये। यहाँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में अतिवाद बरतने पर अभिभावकों को इस तथ्य को भी याद रखना है कि यह प्रक्रिया बच्चों के व्यक्तित्व के संतुलन को उसी प्रकार बिगाड़ सकती है जैसे उनका दमन व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए घातक होता है।

बालकों के लिए अपराधी बनने का कोई एक ही कारण नहीं हो सकता। अतः किसी अपराधी बालक को पूर्णरूपेण समझने के लिए उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थितियाँ होती हैं। जन्मदाताओं का आचार-व्यवहार, पारिवारिक वातावरण, स्कूल, साथी, पड़ोसी, कार्यकाल तथा अवकाश, मनोरंजन के साधन एवं सामाजिक वातावरण आदि सभी बातों का बच्चों के व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर ही किसी बालक के अवांछित व्यवहार के सम्बन्ध में निर्णय कर लेना उचित नहीं होगा, क्योंकि भूतकाल में जो हो चुका है, उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी रूप से जमा रहता है। अतः यह स्मरण रखने योग्य है कि कोई भी बालक जन्मजात अपराधी नहीं होता। बालकों के अपराधी होने में परिस्थितियों से लेकर पारिवारिक, सामाजिक, ऐतिहासिक सभी कारण अपना-अपना योग देते हैं। स्पष्ट है कि अपराधी बालक एक सामाजिक समस्या है और समाज को दृष्टि में रखते हुए उसके सुधार के उपायों को हमें खोजना है।

'इम्मारल अमेरिका' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में प्रोफेसर जार्ज सी. एस. बेन्सन तथा टामस एस. एंजीमैन ने कहा है कि जिस अनुपात से इधर अपराधों में वृद्धि हुई है, उसका प्रमुख कारण बालकों में व्यवहारशास्त्र की शिक्षा का अभाव है। उनके अनुसार पहले स्कूलों में

मानवी नैतिक मूल्यों की शिक्षा को स्कूली पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किया जाता था, पर अब उसका कोई स्थान नहीं रह गया है। इसी तरह के विचार प्रकट करते हुए सैन बर्नार्डियो के प्रख्यात न्यायविद एफ. डगलस ने कहा है कि बच्चों को आदर्श मूल्यों की शिक्षा घर-परिवार से ही मिलनी चाहिए। पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो रहा है। उदारता, सहिष्णुता, दया, शिष्टता, उत्तरदायित्व, समय और प्रतिभा का सही सदुपयोग जैसे सद्गुणों की शिक्षा ही बच्चों को अपराधी बनने से रोक सकती है और सच्चे नागरिकों का निर्माण कर सकती है।

वस्तुतः अपराध प्रवृत्ति को रोकने का काम बालक के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। शिशु के गर्भ में आ जाने के बाद तो आचरण-व्यवहार की शुद्धता के साथ ही जन्मदात्री के शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना बहुत आवश्यक है। जन्म के बाद लालन-पालन इस प्रकार का हो कि बच्चा अच्छी आदतों को ही अपनाये। सुसंस्कारी, पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण ही सुसंस्कृत भावी नागरिकों का निर्माण कर सकता है।

बच्चे अपराधी क्यों बनते हैं ?

बच्चे अपराधी क्यों बनते हैं इसका कोई एक निश्चित कारण नहीं, वरन् उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातें हैं, जो बच्चों को अपराध की ओर प्रवृत्त करती हैं। बाल अपराधों के लिए समाज का वह सम्पूर्ण ढाँचा ही उत्तरदायी है, जिसमें बच्चों का व्यक्तित्व ढलता है। समाज की जैसी हवा बच्चे को लगती है, उसका वैसा ही प्रभाव उसके जीवन पर अंकित हो जाता है।

बच्चे का प्रथम सम्पर्क माता-पिता से होता है। उसमें अपराधी प्रवृत्ति का बीज बहुत कुछ उसके गर्भस्थ जीवन में ही जम जाता है, जब माता-पिता अनैतिक जीवन बिताते हैं। बाल-अपराध के प्रसिद्ध अन्वेषक हीली लिखते हैं कि 'कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि शराब अथवा किसी अन्य नशे में सम्मोह करने पर पैदा होने वाले बच्चों में पैदायशी अवगुण आ जाते हैं। जिस तरह शरीरगत दोष कोढ़, क्षय आदि बीमारियाँ वंश परम्परागत चलती हैं, उसी तरह बच्चों के मानसिक संस्थान की बनावट में भी वंशानुक्रम का बहुत कुछ हाथ होता है। हीली ने १००० बाल अपराधियों पर प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि ५६ प्रतिशत अपराधी वंश परम्परागत थे। उन्होंने आगे लिखा है—गर्भकाल में माँ का जैसा जीवन-क्रम, मनोभाव होता है उसकी सूक्ष्म छाप बच्चे पर अवश्य पड़ती है। यही कारण है कि गर्भकाल में जिन स्त्रियों में उत्तेजना, क्रोध के आवेश अधिक आते हैं, उनके बच्चों का स्वभाव भी उत्तेजक क्रोधी बन जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि

बहुत-से बच्चों के अपराधी जीवन के पीछे उनके माँ-बाप का चरित्र मुख्य होता है।

पैदा होने के बाद घर वालों के व्यवहार पर बच्चों का जीवन बहुत कुछ निर्भर करता है। कई बार वे अपने अभिभावक, माता-पिता, अध्यापक आदि के कठोर व्यवहार के कारण अपराधी बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में दूसरों को तंग करने में, परेशान करने में उन्हें प्रसन्नता होने लगती है। वे अपने से बड़ों की आज्ञा का उल्लंघन करके, उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करके उन्हें तंग करने में गर्व अनुभव करते हैं, जो आगे चलकर उनकी आदत में आ जाता है। ये ही बच्चे अपने छोटे भाई-बहिन या दूसरे बच्चों को मारने-पीटने में सन्तोष अनुभव करते हैं।

बच्चों को सख्ती से दबान पर था उनकी आलोचना करने पर वे बुराई के प्रति अधिक आग्रही बन जाते हैं। अभिभावकों के कटुवचन भी बच्चे में कितना स्थायी प्रभाव पैदा कर देते हैं इसका उदाहरण हीली ने दिया है। उन्होंने एक ११-१२ वर्ष के बहुत ही सचरित्र अच्छे लड़के का जिक्र किया है, जो अपने पिता के एक ही वाक्य से बिल्कुल बदल गया। शाम को पिता घर पर आया। उसका स्वभाव काफ़ी चिड़चिड़ा हो रहा था। उसने देखा बच्चा पढ़ने के समय आराम कर रहा है। पूछने पर दूसरे लड़के ने बताया—“उसकी तबियत खराब है—इसलिए आराम कर रहा है।” पिता ने गुस्से में कहा—“झूठ बोल रहा है।” बस इसी बात की प्रतिक्रिया बच्चे पर ऐसी हुई कि उस दिन से उसका जीवन ही बदल गया। उसने कहा—“मैं बहानेबाज हूँ, झूठा हूँ। अब ऐसे ही करूँगा।” वह अकर्मण्य, आलसी बन गया। सारे दिन ताश खेलने लगा। पढ़ना-लिखना सब छोड़ दिया।

हीली ने एक अन्य उदाहरण में बताया है कि पिता द्वारा पीटकर घर से बाहर निकाल दिए गये एक बच्चे ने आवारा जीवन बिताना शुरू किया। यह विचारणीय है कि उसे दूसरों को पीटने में, अपमानित करने में अधिक आनन्द आता था।

किसी भी तरह से दुर्बल माँ-बाप जो अपने बच्चों पर भली प्रकार नियन्त्रण नहीं कर पाते उनके बच्चे बिगड़ जाते हैं। अक्सर देखा जाता है कि गूँगे, बहरे, अन्धे, अपाहिज, निर्धन माँ-बाप की सन्तानें प्रायः बिगड़ जाती हैं, क्योंकि वे अपने बच्चों पर भली प्रकार नियन्त्रण और उनका संरक्षण नहीं कर पाते। जो माँ-बाप दिन भर अपने काम-धन्धे में ही उलझे रहते हैं, बच्चों के जीवन में कोई दिलचस्पी नहीं रखते, उनके बच्चे बहुधा पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं क्योंकि बच्चों में उछल-कूद की प्रवृत्ति होती है, जब उसे सही दिशा नहीं मिलती तो वह गलत दिशा में प्रवृत्त हो जाती है। ऐसे नेता, सार्वजनिक कार्यकर्ता जो अपने बच्चों के लिए समय नहीं दे पाते उनके बच्चे भी आवारा बन जाते हैं। आधुनिक युग की औद्योगिक सभ्यता

ने जहाँ बच्चों और अभिभावकों के परस्पर सम्पर्क को कम कर दिया है, वहाँ बाल अपराधों की संख्या में भी कम वृद्धि नहीं की है।

जिस परिवार के लोग एक स्थान छोड़कर दूसरा स्थान, एक घर छोड़कर दूसरा घर बदलते रहते हैं, उनके बच्चों पर बुरा प्रभाव पड़ता है, उनके जीवन में अस्थिरता आ जाती है। दूसरों के प्रति ममता, मित्रता एवं अपनेपन की भावना नष्ट, शिथिल हो जाती है। इससे उनमें एकाकीपन, स्वार्थपरता एवं उदासीनता की वृत्तियाँ उभर आती हैं।

बहुत-से बच्चे निराश होकर तब अपराधी बन जाते हैं जब उनकी अपनी सीमा से बढ़ी हुई महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं होतीं। प्यार के स्थान पर बच्चों को फटकारना, स्वयं बच्चों के जीवन में दिलचस्पी न लेकर उसे दूसरों पर छोड़ देना, अभिभावकों द्वारा उनके प्रति मनोरंजन, स्नेह का अभाव होना ऐसी कई बातें हैं, जिनसे वे अपराधी प्रवृत्तियों में लग जाते हैं। घर ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है और घर के सदस्यों का व्यवहार ही उसका पाठ्यक्रम है। परिवार में जैसी प्रेरणाएँ बच्चे को मिलती हैं वैसा ही वह बन जाता है। बच्चों को बुराई की ओर प्रवृत्त करने तथा अपराधी जीवन बिताने के लिए बुरे साथी और कई सामाजिक बुराइयाँ भी कम उत्तरदायी नहीं हैं। स्मरण रहे बच्चों को गड्डे में गिराने वाला, पतित करने वाला, अपराधी बनाने वाला, सर्वप्रथम बुरा साथ ही मुख्य होता है। यह साथ पहले घर में ही मिलता है। माता-पिता, रिश्तेदार, भाई-बहिन कोई भी हो सकते हैं, जो बच्चों को बुराई की ओर प्रवृत्त करते हैं। सबसे पहले बच्चों को बिगाड़ने के लिए घर में ही बुरा साथ मिलता है, उसके बाद फिर पड़ोस, स्कूल और घर से बाहर। स्मरण रहे कई बुरी आदतों, कामवासना सम्बन्धी बुराइयों का प्रारम्भ प्रायः बुरे साथ से ही होता है।

अभिभावकों को इतना तक ध्यान नहीं रहता कि उनके बच्चे किनके साथ उठते-बैठते हैं, किनके साथ खेलते हैं, कितना भी होनहार बालक क्यों न हो बुरे संग में पड़कर वह भी पतित हो जाता है। बच्चों का ग्रहणशील किन्तु विवेकहीन मस्तिष्क शीघ्र ही बुराइयों की ओर आकर्षित हो जाता है। बच्चों में बुराइयों की जड़ अधिकतर बुरे साथियों से ही जमती है।

बच्चों को बिगाड़ने में कई सामाजिक बुराइयों का भी काफी महत्व है। इनमें गन्दे सिनेमा, दूषित अश्लील साहित्य, गलत सामाजिक मान्यता, परम्पराएँ आदि मुख्य हैं।

सिनेमा का बच्चों की भावनाओं को दूषित कर उन्हें बुराइयों की ओर प्रवृत्त करने में बड़ा हाथ है। मद्रास के एक समाजशास्त्री रामास्वामी अय्यर ने बाल-अपराधियों की जाँच करके अपनी रिपोर्ट में लिखा है—“सिनेमा बाल-अपराध का एक बहुत बड़ा कारण है।” यहाँ तक

कि धार्मिक फिल्मों में भी अश्लीलता, अशिष्टता की बहुतायत होती है। तथाकथित सामाजिक चलचित्र तो और गये-बीते होते हैं। फिर इनसे बच्चों में अपराध प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इसीलिए उक्त समाजशास्त्री ने सुझाव दिया है कि बाल-अपराधों को मिटाने के लिए अन्य उपायों के साथ-साथ चल-चित्रों के प्रति काफी कड़ाई बरतनी चाहिए। ऐसी फिल्मों जिनमें क्रम, प्रेम, अश्लील, अर्द्धनग्न, भड़कीली वेष-भूषा, हाव-भाव, तड़क-भड़क की प्रधानता होती है, बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डालती हैं। बच्चे भी वैसा ही करने लगते हैं और इस अभ्यास में उन्हें अपराधी जीवन का मार्ग अपना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश फिल्मों का प्रभाव बच्चों में वासनामय जीवन का सूत्रपात कर देता है।

गन्दे उपन्यास, कहानियाँ, भद्दी तस्वीरें, बच्चों की अपराध प्रवृत्तियों को जगाते हैं, बुद्धि तथा चरित्र को भ्रष्ट करते हैं। वस्तुतः बच्चों को अपराध की नियमित शिक्षा गन्दे साहित्य से ही मिलती है। ब्रिटेन के अपराधशास्त्रियों ने कुछ दिनों पहले बाल-अपराध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया है—“सिनेमा में दिखाई जाने वाली हिंसात्मक, क्रूर, अश्लील घटनाएँ बच्चों को अपराधी बनाने के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी हैं।”

हमारे समाज का संकीर्ण दृष्टिकोण जिसके अनुसार कोई बच्चा तनिक-सी गलती कर बैठे तो फिर उसे बुरा मान लिया जाता है, उसके प्रति बुरी धारणा बना ली जाती है और बात-बात में उसे अपमानित किया जाता है, इससे भी बहुत-से बच्चे अपराधी जीवन की ओर प्रेरित हो जाते हैं। भूल करना मनुष्य का जन्मजात स्वभाव है। प्रारम्भ की गई गलतियों को भुलाकर बच्चों के प्रति सौम्य व्यवहार रखने पर वे सुधर सकते हैं।

बहुत-से बच्चे अपने आप में अपराधी नहीं होते वरन् एक अपराधी बच्चों के समुदाय की प्रेरणा अथवा दबाव से बुराइयाँ करते हैं। प्रत्येक स्थान पर ऐसे बच्चों का एक समूह अवश्य होता है, जो अन्य सीधे-सादे, सरल बच्चों को बहला-फुसलाकर या धमकाकर बुरे कर्मों के लिए प्रेरित करते हैं।

बहुत-सी शिक्षण संस्थाओं में अध्यापकों के गलत आचरण के कारण भी बच्चों में बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। जो अध्यापक बच्चों के समक्ष धूम्रपान करते हैं, ताश, चौपड़ आदि खेलते हैं, अपने मित्रों के साथ गपशप और अश्लील बात-चीत करते हैं, उनसे बच्चे क्या सीख सकते हैं ? इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने शिक्षकों की नकल करके बच्चे भी वैसा ही करने का प्रयत्न करने लगते हैं। बहुत-से अध्यापक बच्चे की किसी शारीरिक या मानसिक कमजोरी को महत्व देकर उन्हें तिरस्कृत करते हैं, अपशब्द कहते हैं या उनकी उपेक्षा करते हैं। परिणाम यह

होता है कि बालक के मन में एक तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह कई गलत कार्यों, बुराइयों में फूट निकलती है। बच्चा स्कूल में केवल अक्षरीय ज्ञान ही प्राप्त नहीं करता वरन् उस चरित्र और आदर्श को भी ग्रहण करता है, जो अध्यापकों और अपने सहपाठियों के जीवन से उसे मिलता है। यही कारण है कि बहुत-से बच्चे जो प्रारम्भ में बहुत ही भले होते हैं, स्कूल-कॉलेजों में जाने के बाद बिगड़ जाते हैं।

बालकों को अपराधी बनाने वाला—

अपराधी समाज

किसी भी बालक को अपराधी कहने से पूर्व यह अवश्य सोच लेना चाहिए कि उस अपराध का उत्तरदायी केवल बालक ही है या जिस समाज और वातावरण में वह पला है, वह भी इसका जिम्मेदार है।

कोई भी शिशु जन्मतः स्वभावतः अपराधी नहीं होता, चाहे वह मानव जगत् का हो अथवा पशु जगत् का। मानव शिशु और पशु शिशु परस्पर गहरे दोस्त हो सकते हैं लेकिन दो सजातीय बालक परस्पर अच्छे सम्बन्ध नहीं बना पाते। निर्दोष बालक को ऐसी विकृति के लिए उत्तरदायी ठहराना प्रौढ़ लोगों का, अभिभावकों का, अध्यापकों का सबसे बड़ा अपराध है।

बिगड़े हुए बच्चे या समस्यामूलक बच्चों का अध्ययन करते समय हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कोई भी शिशु एक विशिष्ट वातावरण में जन्म लेता है और उसे वातावरण की भाषा एवं व्यवहार का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उस समय वह एक कोरी कापी की तरह होता है। उसे यह भी ज्ञान नहीं कि जिसने उसे जन्म दिया है उसे क्या कहना चाहिए ? उसे जो कुछ सिखाया जाता है, उसे सीखता है और जो कुछ सीखता है वह वही होता है जिसे वह अपने चारों ओर होते देखता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त पर संगठित राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे वाले समाज में यह बात तो साफ तौर पर प्रकट होती है कि वह एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से जिस सम्बन्ध सूत्र से जुड़ा होता है, वह स्नेहिल या प्रिय कतई नहीं होता। इसके विपरीत यह सम्बन्ध दुःखदायी और अपमानजनक होता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच आर्थिक खाई इतनी गहरी है कि उसे कोरी भावुकता, दिखावटी प्रेम या सम्मान से नहीं भरा जा सकता।

आज की परिस्थिति में एक मजदूर अपने मालिक से प्रेम नहीं कर सकता, एक क्लर्क अपने 'बोस' की चापलूसी भर कर सकता है मगर सम्मान नहीं। वह हो भी कैसे सकता है ? सच्चे मानवीय व्यवहारों या सम्बन्धों का आदान-प्रदान तो दो समान स्तर के मनुष्यों में ही हो

सकता है। यदि दो मनुष्यों के सम्बन्धों का कारण आर्थिक नहीं तो वही सम्बन्ध मानवीय और सच्चा तो होना ही चाहिए।

इसी आर्थिक अन्तर को समाज की बस्तियाँ, स्कूल और सरकारी संस्थाएँ व्यक्त करती हैं। एक ही शहर की दो बस्तियों में कितना अन्तर होता है ? एक ही शहर के दो स्कूलों में कितना अन्तर होता है ? एक ही शहर की दो सरकारी संस्थाओं में कितना अन्तर होता है ? परिवार, समाज और सरकारी संस्थाओं का यह परस्पर संघर्ष और दूरियाँ अभिभावकों को जिस रूप में प्रभावित करती है। उसी प्रकार उनके शिशुओं को भी।

एक बालक यह सोचता है कि—मैं मजदूर का लड़का हूँ, दूसरा सोचता है कि मैं मालिक का लड़का हूँ दोनों एक-दूसरे से बातें करने में हिचकिचाते हैं, दोनों एक-दूसरे के लिए अजनबी हैं और एक-दूसरे से घृणा करने लगते हैं। संशय, घृणा और अजनबीपन की इस प्रवृत्ति को कोई नहीं रोक सकता, जब तक परिवार, समाज और राज्य की दूरियाँ नहीं मिट जातीं, शहर और गाँव का फर्क कम नहीं होता। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित ढाँचा तोड़कर, समाजवादी ढाँचा निर्मित नहीं कर लिया जाता, तब तक स्वस्थ शिशु को स्वस्थ मनुष्य के रूप में विकसित कर पाना असम्भव है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की वृद्धि करने के लिए रात-दिन दस गुना या सौ गुना मुनाफा कमाने के लिए होड़ लगी हुई है। छोटे-मझोले पूँजीपति इसमें एक ओर तो मालामाल हो उठते हैं, दूसरी ओर मजदूर 'भूख-भूख' चिल्लाते हैं। कोई हजार-हजार रुपये वेतन पाता है तो लाखों-करोड़ों लोग बेरोजगारी का शिकार होकर सड़क पर धूल फौंकते फिरते हैं। कहीं भी किसी तरह का सामंजस्य नहीं रह गया।

ऐसे समाज में शिशु के लिए जो वातावरण मिलता है, उसकी रूपरेखा कितनी भयावनी और अमानवीय होगी, इसकी कल्पना करना किसी भी अभिभावक के लिए कठिन नहीं होना चाहिए।

बिस्तर भिगो देना यानी शिशु का सोते में मूत्र-त्याग कर देना मनोविज्ञान की दृष्टि में एक मनोविकार का संकेत करती है। मनोविज्ञान में जिस तथ्य पर गम्भीरता से विचार किया जाना है, उस पर अभिभावक ध्यान ही नहीं देते, ऊपर से मारना-पीटना आम बात है। कटी पतंग के लिए बच्चों के झुण्ड के झुण्ड जिस तरह झपटते हैं उससे उनकी मनोवृत्ति का पता चलता है। उनमें सामूहिक प्रवृत्ति के बदले व्यक्तिवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ती है, जो किसी भी समाज के लिए भयंकर साबित हो सकती है।

परीक्षाओं में उपयोग की जाने वाली पद्धति, बालकों को परस्पर एक-दूसरे का प्रतियोगी बनाने में सहायक होती

है। इससे एक ओर स्पर्धा से बच्चे पढ़ते हैं तो दूसरी ओर प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणियाँ बन जाने से इन बालकों के जीवन के भविष्य को निर्धारित करना व्यवस्था के दोषों में एक और बड़ा दोष है।

इससे न केवल बालकों में ही परस्पर द्वन्द्व बढ़ता है, बल्कि छात्रों और अध्यापकों के बीच भी तनाव बढ़ता है। तीन घण्टों में ही विद्यार्थी को उत्तर-पुस्तिका पर अपनी योग्यता दिखानी पड़ती है, जिससे उसकी योग्यता का पूर्ण प्रकाशन नहीं हो पाता। परीक्षा के इन्हीं परिणामों पर जीवन की सफलता और असफलता को निर्भर कर देने से, छात्रों में संशय, घबराहट, नकल करने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है और कभी-कभी इसके इतने भयंकर परिणाम निकलते हैं कि अच्छे अंक न पाने पर या परीक्षा में असफल हो जाने पर उन्हें आत्म-हत्या ही करते देखा गया है।

उनके अन्दर यह भावना भर दी जाती है कि इस समाज में फेल हो जाना मृत्यु के बराबर है। अच्छी नौकरी नहीं मिलेगी, सम्मान प्राप्त नहीं होगा, अतः वे आत्मघात या रोकने वाले के आत्महत्या जैसे बुरे विचारों की ओर प्रेरित होते हैं।

किसी भी बालक को अपराधी कहने से पूर्व यह सोच लेना चाहिए कि वह किसी पवित्र समाज में पैदा नहीं हुआ है। उसके जन्म लेने के पहले ही वातावरण में अपराध के विभिन्न रूप उपस्थित रहे हैं। चोरी के अनेक रूप, व्यभिचार के अनेक रूप, बेईमानी, घूसखोरी और वेश्यावृत्ति के अनेक रूप समाज में पहले से ही मौजूद हैं। ये सब बालक के साथ जन्म से ही नहीं आते।

यदि समाज में से बाल अपराधों को मिटाना है तो इस ओर पहले उनके अभिभावकों को बढ़ाना चाहिए। जब तक वे स्वयं को नहीं सुधार पाते तब तक बालकों को सुधार पाना असम्भव है। बालक तो बड़ों का प्रतिबिम्ब होता है। जैसा बड़ों को करता देखता है, उसी की प्रतिछवि वह उनको दिखा देता है। इस पर भी अगर बालकों को अपराधी कहा जाता है, तो वह समाज को धिक्कारने भर की बात है।

बढ़ते हुए बाल अपराध

दिनों-दिन बढ़ते हुए बाल अपराध हमारे सामाजिक जीवन के लिए एक चुनौती है। छोटे-छोटे बच्चों में अपराधी प्रवृत्तियाँ संसार के सभी देशों में एक गम्भीर समस्या बन गई हैं। कुछ दिनों पहले समाचार-पत्रों में एक खबर प्रकाशित हुई थी जिसके अनुसार ब्रिटेन के क्लेक्टन नामक स्थान पर एक हजार से अधिक ब्रिटिश किशोरों ने हमला बोल दिया। उन्होंने कारें नष्ट कर दीं, लोगों को मारा-पीटा, दुकान और क्लबों में घुसकर सम्पत्ति को भारी नुकसान पहुँचाया, राह चलने वालों को धक्का देकर गिरा

दिया। नगर में जो छुट्टी मनाने आया उसके साथ उन्होंने दुर्व्यवहार किया। शराब, तम्बाकू आदि की चोरी की। दो दिन तक सारे नगर में उत्पात मचाये रखा। पुलिस के आने पर दिन निकलते-निकलते वे शहर से भाग गये।

यह समाचार तो बाल अपराधों का एक बड़ा हुआ रूप है। किन्तु बच्चों के जीवन में दैनिक व्यवहार की छोटी-छोटी बातों से ही अपराध की जड़ें जमती हैं। बहुत-से बच्चे घर से स्कूल का नाम करके जाते हैं किन्तु वहीं अनुपस्थिति लगती रहती है और ये अपने दूसरे साथियों के साथ खेलते रहते हैं, घूमते हैं। कई तो स्कूल में छुट्टी की अर्जी दे देते हैं। घर के सोचते हैं बच्चा पढ़ने गया है लेकिन वह खेल-कूद के लिए घर से जाता है यह वे बहुत समय तक नहीं जान पाते।

फीस के पैसों की चाट-पकौड़ी उड़ाई जाती है। बहुत-से बच्चे सिनेमा, खेल, तमाशे, पतंगबाजी आदि में पैसा उड़ा देते हैं। जब पैसे की और जरूरत पड़ती है तो मित्रों से पूरा कर लेते हैं फिर घर में चोरी करने लगते हैं। ये ही बच्चे आगे चलकर जेब काटते हैं। सार्वजनिक सम्पत्ति को हानि पहुँचाते हैं।

बहुत-से बच्चों में अपने साथी, भाई-बहिन आदि को मारने-पीटने की आदत पड़ जाती है। लेकिन यही प्रवृत्ति आगे नृसंश हत्या, मार-पीट, छुरा भोंकने, जैसी बुराइयों में बदल जाती है। एक लम्बे अभ्यास के बाद उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है कि दूसरों को मारने-पीटने, पीड़ित करने में उन्हें आनन्द आने लगता है। वे अकारण ही इस तरह की हरकतें करने लगते हैं। चौदह वर्षीय एक लड़के ने आठ वर्षीय एक लड़के को पेड़ से लटकाकर मार दिया। पूछने पर उसने बताया 'मेरे मन में ऐसी ही तरंग उठी थी।'

अमेरिका में सेक्रामेंटो नामक स्थान पर चौदह वर्ष के एक लड़के ने दस वर्षीय एक लड़की को हथौड़े की चोट से मार दिया, इसलिए कि "किसी को मार देने की उसकी इच्छा तीव्र हो उठी थी।" एक पन्द्रह वर्षीय किशोर ने एक लड़की को छुरा भोंककर मार डाला। लड़की जब तड़पते हुए प्राण त्याग रही थी तब लड़का बड़ा प्रसन्न हो रहा था। पूछने पर उसने बताया कि "बहुत दिनों से किसी के छुरा भोंक देने की मेरी इच्छा प्रबल हो रही थी।" इस तरह के अनेकों उदाहरण हमारे सामने आया करते हैं जिसमें लड़के-लड़कियाँ बिना मतलब ही अपने साथियों को, दूसरे बच्चों को मारते-पीटते हैं। उक्त नृसंश घटनाओं की शुरूआत प्रारम्भ में मामूली मार-पीट से ही होती है।

माता-पिता, अभिभावकगण, अध्यापक आदि की आज्ञा न मानना, उन्हें परेशान करना, दुर्वचन कहना, उन्हें दुःखी-पीड़ित देखने में प्रसन्नता का अनुभव करने की प्रवृत्तियाँ भी बच्चों में दिनों-दिन बढ़ती जा रही हैं। छोटे-छोटे बच्चों तक में ये प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

और ये ही आगे चलकर उनका अपमान करने, लड़ने-झगड़ने यहाँ तक कि हत्या तक कर देने में बदल जाती है।

समाज में फैले हुए यौन अपराध, बलात्कार, अपहरण आदि की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ बचपन से ही शुरू होती हैं। छोटे-छोटे बच्चों में भी कामुक प्रवृत्तियाँ सहज ही देखी जा सकती हैं। अभिभावकों को पता भी नहीं चलता है कि बच्चों में यौन भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं और उन्हें शान्त करने के लिए वे तरह-तरह के गलत मार्ग अपनाते हैं। बचपन से ही कामुक रोगों से पीड़ित हो जाने वाले बच्चों के दूषित जीवन की सहज ही कल्पना की जा सकती है। जब ये समाज में भयंकर यौन अपराधों को जन्म देते हैं।

इनके अतिरिक्त बाल-जीवन में बढ़ती जा रही हिंसा, क्रूरता, गुण्डागर्दी, नशेबाजी, आवागमन मानव-समाज के लिए एक गम्भीर समस्या है। बाल अपराध इस तरह बढ़ रहे हैं कि उनका अनुमान कर सकना मुश्किल है। विभिन्न देशों में बाल अपराधों के लिए सर्वेक्षण होता रहता है किन्तु कहीं की भी रिपोर्ट पूर्ण नहीं है। वस्तुतः बच्चों के जीवन में अधिक हाथ रखने वाले माँ-बाप अभिभावकगण ही जब इन्हें नहीं जान पाते तो बेचारी सरकार क्या जानेगी ? वह तो इने-गिने जो प्रकट हो चुके हैं, उन्हीं तथ्यों का पता लगा पाती है। फिर भी जो आँकड़े मिले हैं वे सनसनीखेज हैं। उत्तर प्रदेश में पिछले दिनों एक सर्वे के अनुसार कुल कैदी २४२९४३ थे, जिनमें बाल-अपराधियों की संख्या २३५९ थी। बम्बई प्रदेश में दण्डित अपराधी १३१७८ थे, जिनमें बाल-अपराधियों की संख्या ८४७ थी जबकि बम्बई, मद्रास तथा बहुत-से राज्यों में बाल-अपराधियों को जेल में नहीं रखा जाता। वैसे बम्बई में बाल-अपराधी अदालतों और संस्थाओं के सर्वे के अनुसार वहाँ कुल ६८१५ पुरुष बाल-अपराधी तथा २५१४ कन्या अपराधी थे। वर्तमान में यही संख्या बढ़कर क्रमशः ७७९० और २६९९ हो गई। इसी तरह विभिन्न प्रदेशों में भी कुछ न कुछ आँकड़े अवश्य होंगे लेकिन वे उपलब्ध नहीं हुए।

ये तो वे आँकड़े हैं जो पुलिस की निगाह में आये हैं, जिनकी संख्या नगण्य है किन्तु हमारे दैनिक जीवन में जरा सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो छोटे-छोटे बच्चों के आचार-विचार, रहन-सहन, बोलचाल, व्यवहार में तरह-तरह की बुराइयाँ घर करती जा रही हैं, जो हमारी भावी पीढ़ी की स्थिति को सूचित करती हैं।

बाल-अपराधों के विदेशी आँकड़े भी इस सम्बन्ध में आँखें खोल देने वाले हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में बाल-अपराध विशेषज्ञ मोंटगोमरी हाइड के अनुसार प्रति वर्ष १० लाख बाल-अपराधी होते हैं, जो वहाँ के कुल अपराधों की आधी संख्या है। एक रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटेन में इन दिनों १४ से १६ वर्ष के बच्चों में शराब

पीकर उन्मत्त हो जाने का अपराध ८ गुना बढ़ गया और १७ से २० वर्ष के युवक-युवतियों में चौगुना। इसी तरह हिंसात्मक बाल-अपराधों की संख्या दुगुनी-तिगुनी तक हो गई। इसी तरह अनैतिक-यौन अपराधों की संख्या भी बहुत बढ़ गई है।

एक रिपोर्ट के अनुसार सन् १९६५ में न्यूयार्क के ९०० स्कूलों में से सितम्बर-अक्टूबर माह में ५४४ लफंगे विद्यार्थियों को निकाला, जो इस तरह के उद्दण्ड छात्र-छात्राओं की संख्या का केवल एक प्रतिशत ही था।

इस तरह मानव समाज में बाल-अपराध एक बहुत बड़ी समस्या बन गये हैं। इससे हमारी समाज व्यवस्था ही सदोष नहीं बनती, उल्टे आने वाली योग्य और उत्तरदायी पीढ़ी का भी भविष्य अँधेरे में पड़ गया है। अपराधों की छूत बच्चों में बड़ी जल्दी लगती है। जाने-अनजाने एक को देखकर दूसरा बालक भी वैसा ही गलत आचरण करने लगता है। बच्चों की ग्रहणशील वृत्ति होती है। फिर आवश्यकता इस बात की है कि समाज के सभी हितचतकों को, अभिभावकों को इस बुराई की ओर ध्यान देना चाहिए। बच्चों को केवल खिलाने-पिलाने या शिक्षा दिलाने में ही अपना कर्तव्य पूरा न समझकर उन्हें अपराधी जीवन से बचाये रखना, बुराइयों में प्रवृत्त न होने देना भी आवश्यक है। बाल-अपराधों को रोकने में जितना घर वाले सफल हो सकते हैं, उतना और कोई नहीं।

बाल अपराध बढ़े तो राष्ट्र गिर जाएगा

राष्ट्र का भावी विकास और निर्माण आज के व्यक्तियों पर उतना अवलम्बित नहीं है जितना कल की पीढ़ी पर। विशाल स्तर पर चल रहे कार्यक्रमों का आधार स्तम्भ हमारे बालक हैं। जिनके लिए अनेक योजनाएँ बनाते हुए चले जा रहे हैं। जिस आधार स्तम्भ पर यह निर्माण कार्य चल रहा है वही विशृंखलित, अस्त-व्यस्त और कमजोर हुआ तो ऐसी हजार योजनाएँ बनें लाभ कुछ न होगा, राष्ट्र उठेगा और उठकर गिर जायेगा। निर्माण का भवन बनेगा और बनकर धराशायी हो जायेगा।

जंगलों के बीच बसे हुए गाँवों से लेकर शहर के विद्यार्थियों तक उद्दण्डता, उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता आज बिलकुल सामान्य हो गई है। उनके चरित्र की झाँकी लें तो छुटपन से ही अश्लीलताओं, वासनाओं, दुर्व्यसनों की दुर्गन्ध उड़ती दिखाई देगी। छोटे-छोटे बच्चों को बीड़ी पीते देखकर ऐसा लगता है कि सारा राष्ट्र बीड़ी पी रहा है। युवतियों के पीछे अश्लील शब्द उछालता है तो लगता है सम्पूर्ण राष्ट्र काम-वासना से उद्दीप्त हो रहा है। अपराधी बालकों ने आज सारे समाज को ही कलंकित करके रख दिया है।

न अभिभावकों के प्रति सम्मान और श्रद्धा और न समवयस्कों के साथ प्रेम और सहयोग। अध्यापक और बाजार में बैठे दुकानदार उनके लिए एकसमान हैं। कुछ शेष रहा है तो फैशन, शौकीनी, सिनेमा, ताश, चौपड़ और मटरगस्ती।

बाल-अपराध के आँकड़े उठाकर देखते हुए हाथ काँपते हैं, कलेजा मुँह को आता है। सन् १९५८ में यह संख्या १५ हजार थी जबकि इनसे कई गुने प्रकाश में नहीं आये हुए होंगे या जान-बूझकर छुपा दिये गये होंगे। सन् १९६१ में यह संख्या बढ़कर ३३ हजार तक पहुँची और विगत चार वर्षों में भी इसी क्रम से अपराध हुए होंगे तो अब यह संख्या ५४ हजार होनी चाहिए। इस दिशा में सरकारी और गैर-सरकारी तौर पर प्रयास भी किए गये किन्तु लाभ कुछ न निकला, समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती और उलझती ही गई।

परिपक्व व्यक्ति की मानसिक स्थिति का अनुमान करना आसान होता है। अतः उन्हें दण्ड से भी, शिक्षा से भी सुधारा जा सकता है। किन्तु बाल-अपराधों का सही कारण ज्ञात करना भी कठिन कार्य है। इसलिए यह समस्या अधिक दुरुह और गम्भीर हो रही है।

हम इस समस्या का अध्ययन प्रारम्भिक स्थिति से करते हैं और बालकों के अपराध का दोषी उनके माता-पिता तथा परिवार वालों को मानते हैं। यों तो समाज-प्रवेश के बाद बालक अपनी गतिविधियों का निर्माण दूसरों को देखकर भी करता है पर यह उसकी रुचि के अनुरूप होता है और अच्छी या बुरी, विकासशील या अधोगामी रुचि की उत्पत्ति का मूल-केन्द्र बालक के माता-पिता ही होते हैं। सच कहा जाय तो पिता-माता की महत्वाकांक्षाएँ ही बालक की रुचि बनकर उभरती हैं और इन्हीं से उसके चरित्र का विकास होता है। 'बर्ट' तथा 'टैपन' आदि प्रमुख पाश्चात्य बाल-अपराधशास्त्रियों ने भी इस बात की पुष्टि की है कि बालक के शारीरिक व मानसिक दोष वंशानुगत होते हैं, इन्हीं का आश्रय लेकर वह अपराधों की ओर प्रवृत्त होता है। वातावरण केवल साहस पैदा करता है। पास-पड़ोस, स्कूल, मित्र, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ सहयोग तो देती हैं किन्तु अपराधों का मूल कारण उनके परिवार वालों का रहन-सहन और उनकी आदतें ही होती हैं।

उदाहरण के तौर पर जिन घरों के लोग बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग या शराब पीते हैं। उनके बालक भी इनमें से कोई नशा करना सीख जाते हैं। जिन घरों में माँस पकाया जाता है, उन्हीं घरों के बच्चे माँस खाते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि माता-पिता शाकाहारी हों और बच्चे माँसाहारी हो जाएँ। अवगुण अधिकांशतः वंश-परम्परा से ही विकसित होते हैं।

परिवार की निर्धनता जैसी कमियाँ, बुरे लोगों का संग, अवांछित पड़ोस, नैतिकता को गिराने वाली सिनेमा

जैसी प्रवृत्तियाँ, स्कूल के अविवेकपूर्ण वातावरण आदि से भी बालक की मानसिक स्थिति का संगठन होता है किन्तु यदि माता-पिता पूर्व में बालकों में अधिक शक्तिशाली संस्कार भर सकें तो बाहरी परिस्थितियाँ उतना प्रभाव नहीं डाल सकती और बच्चा बुराइयों से अधिकांश बचा रह सकता है।

इस सम्बन्ध में कुछ उपयोगी सुझाव हैं, जिन्हें प्रयोग में लाया जा सकता है और उससे बालकों का चरित्रबल और मनोबल बढ़ाया जा सकता है।

जो लोग बालक की उपस्थिति में कैसा भी उचित-अनुचित कार्य किया जाना अनुचित नहीं समझते वे भूल करते हैं। उनकी यह आम धारणा होती है कि बालक अज्ञान होता है, कुछ जानता नहीं पर वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल विपरीत होती है। बालक सबसे चतुर विद्यार्थी, संवेदनशील एवं ग्रहणशील बुद्धि वाला होता है। वह माता-पिता की प्रत्येक हरकत को बड़े गौर से देखता है कि वे क्या कर रहे हैं और फिर स्वयं भी वैसी ही चेष्टाएँ दिखाता है। कभी-कभी वह प्रारम्भ में वैसी रुचि भले ही न प्रदर्शित करे तो भी उसके अन्तर्मन में वैसी ग्रन्थि बन जाती है, जो अवस्था के साथ विकसित होकर स्वभाव में परिवर्तित हो जाती है।

अपने घर से भेद-भाव की मंथरा को दूर रखें अन्यथा वह राम और भरत का संग्राम उठा देगी। एक बच्चे को अधिक प्यार दूसरे को कम। पढ़ने वाले बच्चे को अच्छे कपड़े और जो घर में रहता है उसे कम अच्छे कपड़े—आप इस बात से सावधान रहें। बच्चे आप से पूरा न्याय चाहते हैं। उन्हें समानता न देंगे तो उनकी विग्रह-बुद्धि बढ़ेगी और अपराधों की दिशा में अग्रसर करेगी।

अपने व्यवहार से बच्चे को सांवेगिक असुरक्षा का शिकार न बनाइये। आपके दुर्व्यवहार से, कटुता से, छल से तंग आकर कहीं ऐसा न हो कि वह विद्रोह खड़ा कर दे। अपना जीवन संकट में डाल ले और अपनी मनोवृत्तियों को दूषित बना लें। अनुचित व्यवहार की तरह अनुचित प्यार भी करना बालक के लिए हितकर नहीं होता क्योंकि ऐसा करने से वह अपने आपका विशेष महत्व समझने लगता है और जब आर्थिक जीवन में पहुँचने पर उसकी इस क्षेत्र में उपेक्षा की जाने लगती है तो वह विद्रोह कर देता है और समाज के प्रति उसके भी हृदय में उपेक्षा का भाव जाग्रत हो जाता है।

बच्चे के गुण, साहस और शौर्य की प्रशंसा में कृपण मत हूँजिये। इन कार्यों में प्रशंसा से उसको आन्तरिक प्रसन्नता होती है और यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह आत्मप्रशंसा के लिए बल प्रयोग के मार्ग का अवलम्बन ले सकता है।

बच्चे पर अविश्वास न कीजिए और उससे कुछ छुपाइये नहीं। अर्थ अनुशासन की उसे शिक्षा मिले यह तो ठीक है पर यदि उसकी पुस्तकों के लिए या फीस के लिए पैसे देने हों तो उसे टोकिये मत, न ही ऐसा विचार व्यक्त कीजिए कि वह इस पैसे का दुरुपयोग तो नहीं करेगा ? बच्चा यदि अपनी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण कभी ऐसी गलती कर भी दे तो सुधार का एक तरीका है कि आप उसे अधिक बड़ी जिम्मेदारी दीजिए। उत्तरदायित्व सँभालने में बालक प्रसन्न भी होते हैं और इससे उनमें कर्मठता भी आती है।

उनसे कुछ छिपाना इसलिए नहीं चाहिए क्योंकि इससे उनके हृदय में भी भेद-भावना उत्पन्न होगी और मानसिक कटुता बढ़ेगी। मन असंतुलित रहा तो उसके कार्य भी असंतुलित होंगे और उससे बालक का अहित ही होगा।

अपने घर का वातावरण और बालक के प्रति व्यवहार यदि आपने दुरुस्त कर लिया तो यह समझिये कि बालक को आपने ९० प्रतिशत अपराधी प्रवृत्ति से बचा लिया। आज बाल-अपराधों में अभिवृद्धि का कारण लोगों की पारिवारिक अव्यवस्था ही है। इसमें सुधार हो जाय तो बालकों के चरित्र का विकास कोई कठिन बात न रह जाये।

शेष १० प्रतिशत अपराधों का कारण समाज की बुराईयाँ होती हैं। बच्चे को बुरे लोगों की बैठक से बचाकर सिनेमा आदि के स्थान पर साहित्यिक या अन्य कोई रचनात्मक आदत डालकर सुधारा जा सकता है। यह कार्य कोई मुश्किल कार्य नहीं। थोड़ा-सा ध्यान रहे तो बाल-अपराध बढ़ें नहीं क्योंकि इनका कारण कोई और नहीं होता। अपने उत्तरदायित्व का समुचित पालन न करने से लोग स्वयं ही अपने बालकों को अपराधी बनाते हैं तो सुधार का श्रीगणेश भी अपने आप से ही किया जाना चाहिए।

बालकों में अपराध-वृत्ति और उसके कारण

बच्चे बहुधा बड़े प्यारे लगते हैं और प्रायः यह कहा जाता है कि वे बड़े ही अच्छे हैं और उनका जीवन बड़ा ही सुखी है, परन्तु सभी बच्चों के विषय में यह बात लागू नहीं होती। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो वातावरण में अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाते। ऐसे बच्चे प्रायः ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं, जिन्हें सामान्य नहीं कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनमें व्यक्तित्व सम्बन्धी कुछ कठिनाइयाँ आ गई हैं। ऐसे बच्चे संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ होते हैं। यों तो कठिनाइयाँ और समस्याएँ सभी व्यक्तियों के अनुभव की वस्तु होती हैं, चाहे वे बच्चे, प्रौढ़ या बूढ़

क्यों न हों ? परन्तु संवेगात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति अपनी समस्याओं का हल समाज द्वारा स्वीकृत साधनों के सहारे करना चाहता है। इसके विपरीत संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्ति अपने आवेशवश किसी समय कुछ भी कर सकता है।

पुराने जमाने में अपराधी बालक के असामान्य व्यवहार का कारण किसी भूत-प्रेत अथवा शैतान को समझा जाता था। ऐसे बालकों से लोग डरा करते थे और कभी-कभी उनकी पूजा भी किया करते थे। इसके विपरीत उन्हें कभी-कभी मार डालने की भी चेष्टा की जाती थी। परन्तु अपराधी बालकों के प्रति आजकल ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता। मनोवैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप अब उनके व्यवहार के कारण को समझने की उपयोगिता मान ली गई है। पाश्चात्य देशों में तो अपराधी-बालकों के उपचार के लिए बड़ी-बड़ी संस्थाएँ संचालित की जा रही हैं और उनसे अपराधी-बालकों का बड़ा ही उपकार होता है।

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना—अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बालक को दूसरों पर आश्रित रहना होता है, फलतः उसे दूसरों के अनुसार भी अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करनी होती है। इन आवश्यकताओं का तीन प्रकार का वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) शारीरिक—जैसे भोजन, जल, नींद तथा अन्य शारीरिक सुविधाएँ। (२) आत्मा-सम्बन्धी—जैसे दूसरों से प्रशंसा, राय तथा अपनत्व की भावना पाने की इच्छा। (३) सामाजिक—जैसे दूसरों के कार्यों में हाथ बँटाने हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा। ये स्वाभाविक आवश्यकताएँ बालकों के विभिन्न व्यवहार और कार्यों के लिए अभिप्रेरणाएँ हो जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओं की क्रियाशीलता में जब कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है तो बालक एक तनाव में आ जाता है। यदि यह तनाव गहरा हुआ और यदि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो उसके व्यवहार अवांछित रुख लेने लगते हैं। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व व्यवस्थापन इन आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति पर निर्भर करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में अभिभावकों को यह भी याद रखना है कि उनकी अत्यधिक पूर्ति भी व्यक्तित्व के सन्तुलन को उसी प्रकार बिगाड़ सकती है जैसे उनका अवदमन व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालक का स्वस्थ विकास उसकी आवश्यकताओं की सन्तुलित-पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो बालक के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास न होगा। उलझनों और परेशानियों का सामना तो सभी

बालकों को कुछ न कुछ करना ही होता है, परन्तु इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है तो बालक अपराधी होने की ओर झुक सकता है। जैसे भोजन के न मिलने से शरीर जर्जरित होने लगता है, उसी प्रकार बालक का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है। यदि उसकी इन आवश्यकताओं की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज में सुखी बालकों की संख्या बढ़ जाये और दुःखी तथा अपराधी बालकों की संख्या घट जाये। परन्तु बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती क्योंकि उनकी पूर्ति करने में प्रौढ़ों को थोड़ा आत्म-नियन्त्रण करना पड़ता है और वे इस आत्म-नियन्त्रण में सफल नहीं होते। इच्छाओं के दमन का कुपरिणाम विविध बालकों पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। कुछ बहुत ही साधारण बातों से अव्यवस्थित हो जाते हैं और कुछ पर बड़ी गहरी-गहरी बातों का भी विशेष प्रभाव पड़ता दिखाई नहीं देता परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी बालक उन आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं, जिनके लिए आज तक मनुष्य संघर्ष करता रहा है। अतः जो बालकों के प्रति उत्तरदायी है उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि बालक के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा वे दूसरों से अपने लिए चाहते हैं।

अपराधी बालकों के उत्पन्न करने वाले मनोवैज्ञानिक कारणों की चर्चा के बाद हमें नीचे कारणों पर दृष्टिपात करेंगे जो घर और बाह्य वातावरण तथा व्यक्तिगत बातों से सम्बन्ध रखते हैं।

अपराधी बालकों के होने का कोई एक ही कारण नहीं हो सकता। अतः किसी अपराधी बालक को पूर्णरूपेण समझने के लिए उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है। घर, स्कूल, साथी, पड़ोसी, कार्यकाल तथा अवकाश, समय आदि सभी बातों का बालकों के व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर ही किसी बालक के अपराधी होने के सम्बन्ध में निर्णय कर लेना ठीक नहीं होगा, क्योंकि भूतकाल में जो हो चुका है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी रूप से जमा रहता है। अतः याद रखना है कि जन्म से ही बालक अपराधी नहीं होता। उसके अपराधी होने का प्रधान कारण उसकी परिस्थितियाँ ही होती हैं। केवल बाह्य रूप के देखने से अपराधी बालक को पहचान लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि किसी सामान्य बालक और उसमें बाह्यतः कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। किसी अपराधी बालक को समझने तथा उसके उद्धार के लिए हमें उसके वंशानुक्रम, सामाजिक इतिहास तथा तात्कालिक उत्पादक परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। उसके अपराधी होने में ये सभी कारण अपना-अपना योग देते हैं। स्पष्ट है कि अपराधी बालक

एक सामाजिक समस्या है और समाज को दृष्टि में रखते हुए उसके सुधार के उपायों को हमें खोजना है।

अपराधी बनाने वाले घरेलू कारण—प्रायः यह सोचा जाता है कि गरीबी बालक को अपराधी बना देती है। बालक के अपराधी बनने में गरीबी का प्रभाव अवश्य पड़ता है; क्योंकि गरीबी के कारण उसकी बहुत-सी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह अनैतिक साधनों की ओर झुक सकता है। न्यायालय में जितने अपराधी बालक उपस्थित किये जाते हैं उनमें अधिकांश गरीब कुटुम्ब के होते हैं। परन्तु हमें यह भी याद रखना है कि धनी घर के अपराधी बालक न्यायालय में बहुत ही कम लाए जाते हैं, क्योंकि उनके अभिभावक स्वयं उस सम्बन्ध में आवश्यक उपचार करने की चेष्टा करते हैं।

माता-पिता की बेकारी के कारण बच्चे प्रायः भूखे रह जाते हैं और वे अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भीख माँगने, चोरी करने अथवा कुछ ऐसे कार्यों को करने की ओर झुक सकते हैं, जिनसे उनका नैतिक अधःपतन हो जाता है। बेकारी के कारण माता-पिता में बहुधा ऐसे झगड़े हो सकते हैं जिनसे घर का सारा वातावरण दूषित हो सकता है। ऐसी स्थिति के आ जाने पर लड़के घर को छोड़कर बाहर चले जाते हैं। बाहर जाकर वे घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने का कुछ प्रयत्न करने में अनैतिक साधनों का सहारा ले सकते हैं।

यदि माँ को घर में छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर बाहर नौकरी अथवा मजदूरी करने जाना होता है तो इसका प्रभाव नियन्त्रणहीन बालकों पर बुरा पड़ सकता है। माँ की अनुपस्थिति में लड़के मनमानी करने लगते हैं और ऐसी आदतें सीख सकते हैं, जो बाद में उन्हें अपराध करने की ओर अभिप्रेरित कर सकती हैं।

अपराधी बालकों के अध्ययन में देखा गया है कि पिता के कड़े नियन्त्रण में रहने वाले लड़के बहुधा अपराधी की कोटि में आ जाते हैं। पिता के कड़े नियन्त्रण से उनकी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होता है इस दमन के कुपरिणाम की ओर पिता का ध्यान नहीं जाता। दमन का प्रभाव कभी स्वास्थ्यकर नहीं होता। इससे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति चुपके-चुपके अनैतिक साधनों के सहारे करने की ओर झुक सकता है। पिता के अधिकारवाद का मन-ही-मन अथवा स्पष्टतः विरोध करते-करते उसमें सभी प्रकार के अधिकारियों के विरुद्ध हो जाने की प्रवृत्ति आ सकती है। इस प्रवृत्ति के कारण कोई अपराध कर बैठना उसके लिए सरल हो सकता है।

पति और पत्नी के आपसी झगड़े का बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन घरों में ऐसे झगड़े आये दिन हुआ करते हैं, उनके लड़के अपने को अरक्षित समझने

लगते हैं। इस अरक्षित भावना को दूर करने के लिए वे चोरी करना प्रारम्भ कर सकते हैं, क्योंकि चोरी से प्राप्त वस्तुओं से वे अपनी स्थिति मजबूत बनाना चाहते हैं। यदि माता-पिता के झगड़े के कारण उन्हें घर में शान्ति नहीं मिल सकती तो वे शान्ति तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहर चले जाना अच्छा समझ सकते हैं। इस प्रकार का बाहर जाना उनके नैतिक विकास में बाधक हो सकता है। 'बाल निर्देशन केन्द्रों' को यह अनुभव है कि व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं वाले बालकों में घरेलू वातावरण में सुधार कर देने से स्वतः बड़े सुधार आ जाते हैं।

घर में उपमाता तथा उपपिता की उपस्थिति का बालकों के विकास पर अवांछित प्रभाव पड़ सकता है। जब उपमाता अथवा उपपिता के कारण बालक पहले जैसा प्यार नहीं पाता तो उसमें संवेगात्मक तनाव आ जाता है और वह अपराध की ओर झुक सकता है।

जिन लड़कों को घर में यथोचित प्यार नहीं मिलता उनके मन में असामाजिक भावना-ग्रन्थियाँ घर करने लगती हैं। ये भावना-ग्रन्थियाँ साधारण से उद्दीपन के उपस्थित होने पर अवांछित व्यवहार की ओर व्यक्ति को अभिप्रेरित कर देती हैं। जिन लड़कियों को घर में प्यार नहीं मिलता वे काम-भावना सम्बन्धी अनैतिक व्यवहार की शिकार हुआ करती हैं। वे प्यार और सम्मान की भूखी हो जाती हैं और जो व्यक्ति उन्हें तात्कालिक प्यार और सम्मान देने को तैयार होता है उस पर वे सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाती हैं। साथ ही यही लड़कियाँ आगे चलकर तानाशाही विचार की होती हैं। घर में पति, बच्चों, ससुर, सास सब पर अपनी हुकूमत चलाने की प्रबल इच्छा रखती हैं।

अत्यधिक लाड़-प्यार का भी परिणाम बहुधा अवांछित ही होता है। बच्चों की प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है और जिसके प्रत्येक इशारे पर नाचने के लिए सभी हर समय तैयार रहते हैं, उनकी दशा वास्तव में आगे चलकर दयनीय हो जाती है। घर में तो उनकी किसी प्रकार निभ जाती है, परन्तु उनका बाहर निभना अत्यन्त कठिन होता जाता है; क्योंकि बाहर समाज में उन्हें घर जैसा प्यार नहीं मिलता। ऐसे बच्चे किशोर अवस्था में जो ही मन में आता है उसी के अनुसार आचरण दिखलाने लगते हैं। 'बाल निर्देशन केन्द्रों' द्वारा अन्वेषण से पता चला है कि ऐसे लड़के बहुधा चोरी के अपराधी पाए जाते हैं।

जिन घरों में शराबखोरी, अनैतिकता तथा निर्दयता का वातावरण बना रहता है उनके लड़के बहुधा विभिन्न प्रकार के अपराध करते पाए जाते हैं। यह इतनी स्पष्ट बात है कि इसके लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं। कुछ ऐसे गरीब, अनैतिक और निर्दयी माता-पिता होते हैं

जो अपने बच्चों को भीख माँगने अथवा चोरी करने के लिए विवश किया करते हैं।

कुछ अन्य कारण—प्रायः प्रत्येक शहर में कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं, जिनमें विशेषतः ऐसे गरीब लोग रहते हैं जिनकी रहन-सहन को नैतिक नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों के घरों के लड़के प्रायः अनैतिक कामों में लग जाते हैं; क्योंकि उनका वातावरण ही बड़ा अनैतिक होता है। मनोरंजन के लिए बुरे स्थान, जुआ खेलने का स्थान तथा वेश्यालय आदि उनके अनुभव के अंग होने लगते हैं; क्योंकि वातावरण में उपस्थित इन स्थानों का प्रभाव उनके चरित्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

अपराधी बालकों के अध्ययन से पता चला है कि एक बालक दूसरों को किसी अनैतिक कार्य में लगने के लिए उत्साहित करता है और अन्य अपराधी बालक अपना एक समूह बनाकर अनैतिक व्यवहार के भागी होते हैं। यह अनैतिक व्यवहार ऐसा होता है, जिसे कदाचित् कोई बालक अकेले करने का साहस न करता। ऐसे अनैतिक व्यवहार में रेलगाड़ी पर पत्थर फेंकना, बिना टिकट रेलयात्रा करना, वर्जित जलाशयों में तैरना, वर्जित स्थानों में ऊधम मचाना तथा कहीं आग लगा देना आदि हो सकते हैं।

इन सामूहिक अनैतिक व्यवहार से यह जान पड़ता है कि यदि इन बालकों को अपने अवकाश-काल को बिताने का समुचित और स्वास्थ्यकर साधन दिया जाता तो कदाचित् वे ऐसे कार्यों में न लगते। अतः समाज का यह कर्तव्य है कि वह बालक के अवकाश-काल के उपयोग के लिए उचित साधनों का आयोजन करें।

फैक्ट्री में काम करने वाले बालकों की भी दशा दयनीय होती है। फैक्ट्री में उन्हें मशीन की तरह काम करना होता है। उनकी सभी कोमल भावनाओं पर तुष्टारपात हो जाता है। फलतः वे फैक्ट्री में कार्य करने के बाद अनैतिक रूप में अपने अवकाश-काल को बिताने की ओर झुकते हैं। अपने मनोरंजन के लिए वे अवांछित स्थानों, सिनेमाघर, ताड़ीखाना, वेश्यालय, जुआघर को जाते हैं। इन स्थानों का उनकी नैतिकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

धुआँधार जहरीले प्रचार—बालकों को अनैतिकता की ओर प्रेरित करने में आज के जहरीले, गन्दे प्रचार साधनों का बहुत बड़ा हाथ है। कोई भी शहर ऐसा नहीं है जहाँ सैकड़ों प्रकार की बीड़ी, तम्बाकू के प्रचार वाहन, अश्लील गीत गाते हुए अपने माल का प्रचार करते हुए न मिलें। जनसाधारण का मन अपनी ओर लुभाने के लिए ये सब कुछ नैतिक-अनैतिक करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। प्रायः 'यह देखा जाता है कि अपने साथ नाचने वाले लौंडे रखते हैं, वे विचित्र ढंग से अपने को सजाये रहते हैं। विचित्र प्रकार के हाव-भाव दिखाकर, आँखें मटकाकर गन्दे और अश्लील, कामुकता उत्पादक

गीत गा-गाकर प्रचार करते हैं। इन्हें देखते ही मुहल्ले के बच्चे उस जगह एकत्रित हो जाते हैं। बच्चों का कोमल हृदय इनकी अश्लीलता को शीघ्र ग्रहण करता है। कुछ रंगे रंगारे पोस्टर भी पा जाते हैं। थोड़ी देर प्रचार करके मोटर तो आगे बढ़ जाती है मगर उनकी छाप इन बच्चों पर पड़ती है। वे इसी ढंग से उन्हीं गीतों को दोहराते हैं। परिणाम यह होता है कि उनके विचार तो दूषित हो ही जाते हैं साथ ही वे बचपन से ही नशीली वस्तुओं का सेवन प्रारम्भ कर देते हैं। समाज की नैतिकता पर इन अनियन्त्रित प्रचार साधनों ने बड़ा घातक प्रभाव डाला है। यदि समय रहते इन्हें रोका न गया तो अच्छाई की ओर ले जाने वाले सारे साधन इनके सामने निष्फल हो जायेंगे। इस ओर सबसे अधिक ध्यान देने का कार्य सरकार का है। जिस तरह अफीम के खुले व्यापार ने सारे चीन देश के निवासियों को अफीमची और काहिल बना दिया था, उसी प्रकार का खुला प्रचार भारतवासियों को बीड़ी-सिगरेट तम्बाकू का अभ्यासी बना देगा। आज नगर तो नगर ही हैं, गाँव के ८० प्रतिशत बच्चे दस वर्ष से पहले ही नशीली वस्तुओं का सेवन प्रारम्भ कर देते हैं।

इस प्रचार साधन में सिनेमा का हाथ सबसे अधिक है। एक नगर में जितने सिनेमा होते हैं, सबके नये चलचित्रों का रोज सजधज कर जुलूस निकलता है। आप देखेंगे इस जुलूस के साथ सबसे अधिक संख्या बच्चों की होती है। सिनेमा का प्रचारक आगे-आगे लाउडस्पीकर से खेल की प्रशंसा करता जाता है, परचे बाँटता है और बच्चे पीछे-पीछे दौड़ते जाते हैं। इनके जुलूसों को ये ही बच्चे सफल बनाते हैं। इनके कोमल हृदय सूक्ष्म रूप से बुराई को ग्रहण करते रहते हैं और अनैतिकता की ओर तेजी से कदम बढ़ाते जाते हैं।

व्यक्तिगत कारण—किसी शारीरिक दोष के कारण बालक का कोई अनैतिक व्यवहार दिखलाना अवश्यभावी नहीं। परन्तु शारीरिक दोष के कारण जो वह दूसरों का व्यंग्य सुना करता है, उससे उसमें असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ सकती है। उदाहरणार्थ, जो बालक सदैव बीमार रहा करता है, उसमें एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ सकती है और वह उन बालकों के प्रति विरोध भावना ला सकता है, जो प्रायः स्वस्थतर होते हैं। ऐसे बालक अन्य बालकों के समूह में अपने से कमजोर बालक को तंग कर सकते हैं अथवा दूसरों को चिढ़ाना आरम्भ कर सकते हैं, अतः उन्हें अपने व्यवस्थापन में बड़ी कठिनाई का सामना करना होता है। दोनों को अपनी उम्र वाले बालकों के साथ निभाना कठिन हो जाता है। मन्दगति से विकसित होने वाला बालक अपने को छोटा और तीव्र गति वाला अपने को बड़ा पाता है। ऐसी स्थिति में दोनों में एक प्रकार का ऐसा मानसिक असन्तोष उत्पन्न होता है, जिससे अनैतिक व्यवहार की ओर झुकना कठिन नहीं होता। तीव्र गति से

विकसित होने वाला बालक अपने से छोटे बालकों को विविध प्रकार से तंग कर सकता है और मन्दगति वाला अपनी आत्महीन भावना के प्रति प्रक्रियेस्वरूप अनैतिक व्यवहार दिखला सकता है। बहुत-से अन्वेषकों का कहना है कि दोष युक्त व्यवहार और मानसिक विकास की मन्दता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध की यहाँ व्याख्या करना हमारे क्षेत्र से बाहर की बात है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि मन्द बालक में अनैतिक प्रलोभनों से अपने को बचाने की सामान्य बालकों की अपेक्षा कम सामर्थ्य होती है। अतः समाज का यह कर्तव्य है कि ऐसे बालकों की रक्षा के लिए आवश्यक उपायों का आयोजन करें।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में बेकर फाउण्डेशन, बोस्टन, यू. एस. ए. ने कुछ सुझावों का प्रतिपादन किया है। इन सुझावों का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है—

१. बालक की रुचियों के साथ माता-पिता की सहानुभूति का भी अध्ययन करना चाहिए।
२. माता-पिता को अपने व्यवहार में अपराधी बालकों के प्रति कड़ा नहीं होना चाहिए।
३. बालक की शारीरिक और मानसिक लीलाओं को समझना चाहिए।
४. निर्दयतापूर्ण व्यवहार को बन्द करना चाहिए।
५. कोसना, तरह-तरह की बातें कहना, धिक्कारना बन्द करना चाहिए।
६. ऐसे बच्चों को हर अवसर पर कुछ रियायतें देना चाहिए।
७. माता-पिता को अपने उत्तरदायित्व को निभाना चाहिए।
८. बालक के अपराध को मामूली न समझना चाहिए।
९. कौटुम्बिक गलतफहमी को दूर करना चाहिए।
१०. काम सम्बन्धी भावनाओं के प्रति माता-पिता को मनोवैज्ञानिक और स्वस्थ विचार रखना तथा इस सम्बन्ध में बालक और बालिकाओं की जिज्ञासा को शान्त करना।
११. उचित घरेलू वातावरण उत्पन्न करना चाहिए।
१२. कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के अनैतिक व्यवहार को बन्द करना चाहिए।
१३. कुटुम्ब के उन सम्बन्धियों को निकाल देना चाहिए, जिनका बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

बालकों की अपराध प्रवृत्ति को रोकने के लिए किसी एक ऐसे उपाय की चर्चा नहीं की जा सकती, जो हर स्थिति में लागू हो, क्योंकि उनकी अपराध प्रवृत्ति के कई कारण होते हैं। इस सम्बन्ध में रुचि रखने वालों को सभी उपलब्ध साहित्य से परिचित होना चाहिए, जिससे इस सम्बन्ध वाली आधुनिक विचारधारा से वे अवगत रहें।

अपराध प्रवृत्ति को रोकने का कार्य बालक के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। शिशु के गर्भ में आ जाने के बाद माता को स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जन्म के बाद लालन-पालन इस प्रकार का हो कि शिशु अच्छी ही आदतों को अपनाए। इस सम्बन्ध में नर्सरी स्कूलों की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता।

बाल अपराध—कारण और निवारण

अपराधी प्रवृत्तियाँ हर आयुवर्ग के व्यक्ति के लिए आत्मघाती हैं। उसकी बढ़ोत्तरी न केवल कर्ता के व्यक्तित्व की प्रामाणिकता गिराती है, वरन् जनसहयोग से वंचित रखकर पिछड़ी परिस्थितियों में पड़े रहने के लिए विवश करती है। आतंक से सामाजिक व्यवस्था एवं प्रगति में भी बाधा पड़ती है इसलिए अपराधियों के लिए सामाजिक भर्त्सना और शासकीय प्रताड़ना का प्रचलन भी है।

व्यक्तिगत विकास व सामाजिक सन्तुलन के लिए जहाँ अन्यान्य प्रयास किये जाते हैं, वहाँ अपराधों की रोकथाम का भी महत्व समझा जाता है और इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ सोचा और किया भी जा सकता है। किन्तु देखते हैं कि इस सन्दर्भ में अपनाये गये उपाय-उपचार कारगर सिद्ध नहीं हो रहे हैं और रोकथाम के कानून तथा कर्मचारी अधिकारी बढ़ने पर भी स्थिति सुधरने के स्थान पर बिगड़ती ही जा रही है। हर वर्ष अपराधों की घटनाएँ घटती ही नहीं वरन् पिछले दिनों की अपेक्षा अधिक विकराल बनकर सामने आ खड़ी होती हैं।

इस प्रसंग में बढ़ते हुए बाल अपराधों को सबसे अधिक चिन्ता का विषय माना जाता है। कारण कि बड़ी आयु वालों में अपेक्षाकृत अधिक समझदारी तथा सावधानी रहने के कारण वे एक सीमा तक ही कुकृत्यों को अपनाते हैं और दबाव पड़ने पर उनके सुधरने-बदलने की भी सम्भावना रहती है। पर छोटी आयु के बालक यदि किसी ढाँचे में ढलने लगे तो उनका स्वभाव ही वैसा बदल जाता है। आयु बढ़ने के साथ-साथ आदत भी परिपक्व होती है। यह तथ्य बुरी आदतों के सम्बन्ध में और भी अधिक लागू होती है। भले का बुरा बनना तनिक से कुसंग में बन पड़ता है पर बुरे को भला बनाना अपेक्षाकृत कहीं अधिक कठिन पड़ता है। बालकों को छोटी आयु में ही यदि दुष्प्रवृत्तियों को अपनाने का अवसर मिलता रहे। सुधार के लिए कारगर प्रयास न हो तो समझना चाहिए कि उनका भावी व्यवसाय ही अपराध करते रहना जैसा बन गया। पीछे प्रताड़ना से भी सुधार की सम्भावना नहीं रहती। आदतें बदलना कितना कठिन होता है यह सभी जानते हैं। विशेषतया बुरी आदतों के सम्बन्ध में तो भी आशा कम ही रह जाती है।

बढ़ते हुए बाल-अपराध यह संकेत करते हैं कि भावी पीढ़ी का स्तर उज्ज्वल बनाने की आशा धूमिल होती जा रही है। ऐसा समुदाय बढ़ने की आशंका है जो स्वयं पतित स्तर में पड़ा रहे और अपने प्रभाव क्षेत्र में त्रास उत्पन्न करे। यह सम्भावना भयावह है। अनगढ़ व्यक्तियों का समाज फलता-फूलता नहीं, भले ही उसे कितने ही सुविधा-साधन उपलब्ध क्यों न हों ? प्रगति की बात सोचने वालों को इस तथ्य से भी बेखबर नहीं होना चाहिए कि उज्ज्वल भविष्य की संरचना में परिष्कृत

व्यक्तियों का बाहुल्य भी एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। यह समस्या बिना सुलझी पड़ी रहे और वैयक्तिक चरित्र का स्तर गिरता रहे तो समझना चाहिए कि ईश्वर ही रक्षक है।

बाल-अपराधों के कारण तो सामाजिक एवं आर्थिक भी हो सकते हैं। कुसंग और वातावरण को भी इस सन्दर्भ में उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। पर सबसे बड़ी बात है उस पारिवारिक वातावरण का अनैतिक होना जिसमें बच्चा पलता है और जन्म के दिन से ही चीखना आरम्भ करता है। विभिन्न विषयों की जानकारी होने न होने के सम्बन्ध में स्कूली प्रशिक्षण को भी सुविधा-असुविधा को भी कारण माना जा सकता है किन्तु जहाँ तक बालकों के चरित्र और स्वभाव का सम्बन्ध है उस पर तो निश्चित रूप से पारिवारिक वातावरण की ही सबसे गहरी छाप रहती है।

सुसंस्कृत परिवारों के बीच बालकों के व्यक्तित्व के विकास की बहुत कुछ सम्भावना रहती है। वे जो देखते हैं वही सीखते-समझते हैं और वैसा ही अनुकरण करने लगते हैं। जब उन्हें परिवार में ओछा दृष्टिकोण और अवांछनीय प्रचलन कार्यान्वित होता दिखता है तो वे उसी को सहज स्वभाव एवं उपयोगी मान बैठते हैं। बालक आमतौर से बड़ों की नकल करते हैं। यह नकल क्रियापरक ही नहीं। दृष्टिकोण, स्वभाव, चरित्र एवं व्यक्तित्व भी उसी प्रवाह में बहने लगता है। बालक कोरे कागज की तरह होते हैं, उन्हें क्या बनना है इसको जान या अनजान में अभिभावक ही बनाते हैं।

इन दिनों बच्चों का उत्पादन एक खिलवाड़ बन गया है। बाजार से मनोरंजन के लिए खिलौने खरीद लाने और नापसन्द होने पर उसे कूड़े-करकट में फेंक देना एक बात है और बच्चों को उत्पन्न करना दूसरी। उनसे घर की शोभा बढ़ती है, चहल-पहल रहती है और मन बहलता है। यह आशा भी रहती है कि बड़े होने पर वे सहायक सिद्ध होंगे, विकसित करने के बदले श्रेय-सम्मान मिलने जैसा गौरव प्रदान करेंगे। पर साथ ही यह भी एक तथ्य है कि यदि उनका व्यक्तित्व अवांछनीय स्तर का बन पड़ा तो वे स्वयं दुःखी रहने, सामाजिक विग्रह खड़ा करने के लिए सबसे अधिक कष्टकारक अभिभावकों के लिए ही बनेंगे क्योंकि उनकी चित्र-विचित्र आदतों और आवश्यकताओं की पूर्ति का सबसे अधिक दबाव उन्हीं पर पड़ता है।

बच्चे जिन्हें जनने ही हों वे इस बात की जिम्मेदारी समझें कि उन्हें केवल उनका भरण-पोषण ही नहीं वरन् स्वभाव और चरित्र के रूप में उपयोगी अनुदान भी प्रदान करना है। यह कार्य सर्वप्रथम अभिभावकों को इस सन्दर्भ में अपना उत्तरदायित्व समझने के रूप में करना चाहिए। उन्हें अपना निजी आवरण और परिवार का वातावरण ऐसा बनाना चाहिए जिसमें नई पीढ़ी को ढलने का

अवसर मिले। इस कर्तव्य से विमुख रहने पर वह सारा प्रयास एवं खर्च निरर्थक चला जाता है कि भरण-पोषण, शिक्षा, सुविधा आदि के निमित्त किया गया था। समझा जाना चाहिए कि नई पीढ़ी को सुसम्पन्न बनाना ही नहीं सुसंस्कृत बनाना भी अभिभावकों का ही कर्तव्य है और उन्हें इसके लिए न केवल अपने को वरन् उस समूचे परिवार को ही समय से पूर्व तैयार करना चाहिए जिसके बीच रहकर नवजात को पलना और ढलना है।

बढ़ते हुए बाल-अपराधों के सन्दर्भ में सबसे बड़ा कारण है उस परिवार का असंस्कृत होना जिसमें रहकर उनका पालन-पोषण हुआ है। सम्पन्न एवं शिक्षित होना एक बात है और सुसंस्कृत होना सर्वथा दूसरी। आवश्यक नहीं कि तथाकथित बड़े लोग सुसंस्कारी भी हों। बच्चे सुविधा-साधनों के सहारे सुसंस्कारी नहीं हो सकते, वरन् सच तो यह है कि ऐसे वातावरण में आलसी, अहंकारी, दुर्गुणी और दुर्व्यसनी बनने के आसार अधिक रहते हैं, यों दरिद्र परिवारों में भी दुष्प्रवृत्तियों की कमी नहीं रहती। यही है वह अवांछनीय वातावरण जिससे बच्चों का व्यक्तित्व और भविष्य बिगड़ता है।

बच्चों के प्रति दूरगामी उत्तरदायित्व समझने वाले समझदार लोगों को प्रजनन में तभी प्रवृत्त होना चाहिए जब वे दाम्पत्य जीवन में ऐसी शालीनता का समावेश कर लें जो नई पीढ़ी को सही ढाँचे में ढालकर सही स्तर का बना सके। देखा जाता है कि इन दिनों स्वेच्छाचार की बाढ़ है। अभिभावक निजी विलास में मस्त रहते हैं और जब बालक उनके शौक-मौज में अपनी उपस्थिति के कारण अड़चन उत्पन्न करते हैं, तब उन्हें दूर भगाने की कोशिश करते हैं। सम्पन्न लोगों के लिए इस सन्दर्भ में एक अच्छा बहाना तथाकथित उन पब्लिक स्कूलों में भर्ती कर देने का मिल जाता है, जिनमें अधिक खर्च वसूल करने के साथ-साथ व्यक्तित्व विकास की दावेदारी भी जुड़ी रहती है। बालकों को आरम्भिक दिनों में अपने अभिभावकों विशेषतया माता के स्नेह-सौजन्य की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है। उसका स्वभावतः परिवार के वातावरण में रहकर ही विकास करना चाहिए। अजनबी वातावरण में भले ही उसे कुछ भी खिलाया या कुछ भी सिखाया, कराया जाता है पर अभिभावकों विशेषतया माता जैसी आत्मीयता कहीं नहीं मिलती। इस अभाव के कारण बालक भीतर ही भीतर टूटने और बिगड़ने लगता है, भले ही वह तथाकथित शिष्टाचार अधिक सीखे पर पढ़ाई में अच्छे नम्बर लाए। भविष्य बातों से ही नहीं बनता। योग्यता से धन कमाया जा सकता है, चतुर बना जा सकता है पर व्यक्तित्व के उच्चस्तरीय विकास में न केवल उपयुक्त वातावरण को, वरन् ऐसे प्रगाढ़ स्नेह-सौजन्य की भी आवश्यकता पड़ती है जिसकी पूर्ति अभिभावकों के अतिरिक्त कदाचित ही कहीं अन्यत्र हो सके।

व्यक्तित्व के विकास की सर्वोत्तम पाठशाला परिवार की पृष्ठभूमि है। इसलिए जिन्हें बालहित का ध्यान हो उन्हें उस क्षेत्र में सुव्यवस्था एवं सुसंस्कारिता का अधिकाधिक अभिवर्धन करना चाहिए। बच्चों को दूर भगाने की बात सोचने की अपेक्षा उन्हें अपने संरक्षण में ऐसा वातावरण प्रदान करना चाहिए जिसमें रहकर वे अपराधों के कुचक्र में न फँसे, वरन् सुयोग्य नागरिक बनकर अपनी, समाज की तथा अभिभावकों की सुख-शान्ति बढ़ा सकने योग्य बन सकें। इस सन्दर्भ में बरती गई उपेक्षा ही फलतः बढ़ते हुए बाल-अपराधों का कारण मानी जा सकती है।

‘मैटर्नल केयर एण्ड मेण्टल हेल्थ’ में वाड्लवी ने यह प्रतिपादित किया कि बालक ५ वर्षों का होते-होते जो बनने को होता है, बन जाता है। ५ वर्ष वय पाने के पूर्व पारिवारिकता चरमरा जाने से नियन्त्रित ४६.७ और बालापराधी ५६.३ प्रतिशत, ९ वर्ष वय पूर्व २८.१ और ३१.० प्रतिशत, १० वर्ष पहुँचने के पहले कुमार्ग की ओर चल पड़े थे।

‘मदर चाइल्ड सेपरेशन एण्ड डेली-क्वेन्सी’ की लेखिका एस. नेडस ने ओस्लो चाइल्ड प्रोटेक्शन कौन्सिल की फाइलों से ४२ बालापराधी और उतने ही नियन्त्रित सम वय वाले बालकों को चुना। उन्हें यह तथ्य निरूपित करने को मिला कि मातृस्नेह के विलगाव के बालापराधियों में अनेक तरह की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपीं।

अन्तर्राष्ट्रीय बाल-मनोविज्ञान परिषद् लिस्वन के अधिष्ठाता आर. एन. स्पिट्ज ने उपेक्षित वातावरण में पले ऐसे बालकों के सम्बन्ध में शोध की जिन्हें सुविधा की कमी न थी पर वे तिरस्कृत, उपेक्षित स्तर का निर्वाह करते थे। फलतः वे खिन्न रहने लगे और उत्साहवर्धक वातावरण में पलने वाले गरीब बालकों की तुलना में कहीं अधिक पिछड़ गये। उनकी मृत्युदर भी अधिक रही। बीमार भी अधिक हुए और बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ गये। उनकी व्यवहारकुशलता भी अपेक्षाकृत कम थी। २१-२१ बालकों पर चार वर्ष की आयु तक की गई इस उभयपक्षीय शोध से परिणाम यह निकले कि उपेक्षित वर्ग बहुत घाटे में रहा।

उनमें से २० बिना किसी की सहायता से अपने कपड़े नहीं पहन सके। सफाई की सुरुचि १५ ने किसी प्रकार प्राप्त कर ली थी। ६ को अवरोधन शक्ति नहीं अर्जित हो सकी थी। ६ एक भी शब्द नहीं बोल पा रहे थे। ५ के पास दो शब्दों का कोष था। मात्र एक वाक्य बोल सका था।

डॉ. जे. बोल्बी ने अनेकों बाल-अपराधियों के ऊपर अध्ययन किया तथा पाया कि उनमें से अधिकांश बच्चे १ वर्ष से ५ वर्ष की आयु के बीच लगभग ६ महीना या उससे अधिक समय तक माता से अलग रहे। डा. एच. बैरे ने यह पाया है कि मानसिक उपचार करा

रहे अधिकांश रोगी बचपन में माता के प्यार से आंशिक काल हेतु त्याग, मृत्यु अथवा बीमारी के कारण वंचित रहे।

१९६० तक ब्रिटेन के चिकित्सालयों में बच्चों को माता से पृथक् रखा जाता था। उनकी यह धारणा थी कि बच्चों के स्वास्थ्य-सेवा कार्य में माता असमर्थ होंगी। परन्तु ऐसे बच्चों में बाद में चलकर व्यावहारिक परेशानी, झल्लाहट तथा दुःस्वप्न आदि बातें समाने आईं और इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि बालकों के विकास का स्तर बढ़ाने के लिए उन्हें अभिभावकों से विशेषतया माता से दूर नहीं किया जाना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अभिभावक बालकों की चारित्रिक विकास समस्या और उसके समाधान के सम्बन्ध में भी सुविज्ञ हों। स्मरण रहे भोजन, वस्त्र, फ़ीस, विनोद-विन्यास जैसी सुविधाओं से ही बालकों को सुयोग्य नागरिक नहीं बनाया जा सकता और यदि इतना न बन पड़े तो यही कहा जायेगा कि कुसंस्कारी पीढ़ी को जन्म देकर अपना ही नहीं, बालकों तथा पूरे समाज का अहित ही किया गया।

बच्चों का सुधार कैसे हो ?

बच्चों में पैदा होने वाली खराब आदतें, बुराइयों का कारण उनके पूर्वाग्रह, संस्कार, मूल प्रवृत्तियाँ तो हैं ही; किन्तु इस सम्बन्ध में माँ-बाप का गलत व्यवहार अदूरदर्शिता, अज्ञान भी एक बहुत बड़ा कारण है। बहुत-से माँ-बाप अपने बच्चों के मचलने ज़िद करने की शिकायत किया करते हैं और इससे वे बड़ी परेशानी भी महसूस करते हैं। इसके पीछे घर में अशान्ति, क्लेश, मारपीट, झल्लाहट आदि के प्रसंग आये दिन घटते रहते हैं। बच्चों को इस गुस्ताखी के लिए दोषारोपण, ताड़ना, तिरस्कार आदि का अवलम्बन किया जाता है। किन्तु विवेकपूर्वक देखा जाय तो बच्चों को ज़िदी और उद्विग्न बनाने में अभिभावकों का ही बहुत बड़ा हाथ होता है। बच्चे तो उस नवजात कोमल पौधे की तरह हैं, जिसे विधिवत् सींचकर, खाद देकर, काट-छाँटकर माली सुसंस्कृत रूप देता है। माली की भूल, अज्ञान अथवा लापरवाही से सुन्दर दीखने वाले उद्यान भी बीहड़ जंगलों में परिणत हो जाते हैं। अच्छे-भले दीखने वाले पौधे बेडौल और कुरूप लगते हैं।

अक्सर माँ-बाप प्रारम्भ में अधिक लाड़-प्यार अथवा उदारतावश, उचित-अनुचित का ध्यान रखे बिना ही बच्चों की विभिन्न माँगों को पूर्ण करने लगते हैं। इतना ही नहीं कई माँ-बाप तो गर्वपूर्वक कहते हैं “मैं नहीं चाहता मेरे बच्चे दुःखी रहें, किसी तरह का अभाव महसूस करें।” जब बच्चे इस अत्यधिक उदारता के वातावरण में पलने लगते हैं तो उनके मन और मस्तिष्क पर वैसा ही प्रभाव पड़ने लगता है। जिस स्तर पर माँ-बाप उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं, वही बच्चों का स्तर बन

जाता है किन्तु गृहस्थ जीवन में बढ़ती हुई जिम्मेदारियों, खर्चें, बदलती हुई परिस्थितियों अथवा आकर्षण कम होने पर बच्चों के साथ व्यवहार में भी परिवर्तन होने लगता है। पहले जितनी उदारता से बच्चों की आवश्यकता पूर्ति का ध्यान रखा जाता था वैसा बाद में नहीं रहता, किन्तु बच्चों का मानसिक स्तर पूर्व जैसा ही बना रहता है। जिस वातावरण में उनका पालन-पोषण पहले हुआ उसी की आगे भी अपेक्षा रखते हैं। पूर्व अभ्यासजन्य आदतों से प्रेरित होकर बच्चे वैसी ही माँग भी करने लगते हैं। उधर माँ-बाप से उनकी माँग की पूर्ति नहीं होती। इस पर बच्चे रोते हैं, मचलते हैं, रूठने लगते हैं, चिल्लाते हैं। मुँह फुलाकर एक कोने में दुबक जाते हैं तो माँ-बाप द्वारा ही झल्लाहट, ताड़ना, मारपीट आदि शुरू हो जाती है। सारे घर में कुहराम मच जाता है। बच्चों को दोष दिया जाता है, उनकी आदतों की आलोचना की जाती है।

विचार, विवेक से शून्य बालक कभी-कभी दूसरों की देखा-देखी भी कुछ अनावश्यक माँगें कर बैठते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चों का ध्यान, प्यार, दुलार और स्नेह से किसी दूसरे पहलू पर केन्द्रित कर देना चाहिए। उन्हें किसी खेल में लगा दिया जाय। समझदार बच्चों को समझा भी देना चाहिए। कई माँ-बाप जो ऐसी स्थिति में बच्चों को ताड़ना देते हैं, उनकी माँगों को ठुकराते हैं, उन्हें बुरा कहते हैं, वे वस्तुतः अपने बच्चों में मचलने, ज़िद करने की आदत डालते हैं। बच्चों के साथ ज़िद करना उल्टा उन्हें अधिक ज़िदी और हठी बनाना है। किसी भी बात पर बच्चों का विरोध करने पर उन्हें उत्तेजना मिलती है और वे अधिकाधिक ज़िदी बन जाते हैं। यही खराब आदतें आगे चलकर अनुशासनहीनता, उद्विग्नता, झगड़ालू प्रवृत्ति, अशिष्टता, असभ्यता को जन्म देती हैं।

बच्चों में सहज स्वतन्त्रता का भाव अधिक होता है। उनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालना, उनकी बातों का विरोध करना उनमें अधिक ज़िदी, झगड़ालू एवं मचलने की वृत्ति को भड़काना है। बच्चों के सुधार का कोई भी नियम स्वयं बच्चों की सहमति प्राप्त करके लागू करना अधिक प्रभावकारी होता है। बच्चों की खराब आदतों को ठीक करने के लिए जबरदस्ती और हठपूर्ण प्रयत्न करना उसी तरह की भूल है जैसे कुपथ्य का आचरण करके रोग को ठीक करना। बच्चे यदि अपने ही अहित की बात पर भी मचलते हैं तो उन्हें मचलने दिया जाय। ठोकर लगने पर वे स्वतः ही वैसा नहीं करेंगे।

चंचल, अधिक क्रियाशील बच्चों में फुर्ती तेजी, जीवट अधिक होता है। उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ औसत दर्जे के बच्चों से अधिक काम करता है। बुद्धि एवं प्रतिभा भी ऐसे बच्चों में तीव्र होती है। ऐसे बच्चे तनिक भी शान्त नहीं रहते। तोड़-फोड़, मारना-पीटना घर वालों को परेशान करना, अभिभावकों को खिजाना ये

इन क्रियाशक्ति बच्चों की साधारण-सी बातें हैं। यदि इन बच्चों का भली प्रकार निर्माण किया जा सके, इनकी क्रियाशील को रचनात्मक बनाया जा सके तो ये बच्चे जीवन में महान कार्यों का सम्पादन करते हैं अन्य बच्चों से अधिक सफल होते हैं।

चंचल और क्रियाशील बच्चों की यह विशेषता होती है कि वे हर बात में अपनी ही मर्जी को प्रमुख स्थान देते हैं। खाने-पीने, सोने, उठने-बैठने तक में भी ये बच्चे दूसरों की इच्छा पर आनाकानी करते हैं। ऐसे बच्चों से जोर-जबरदस्तीपूर्वक काम नहीं लेना चाहिए। चंचल बच्चों की अच्छी आदतों का सम्मान करते हुए उनसे धूल-मिलकर, उन्हें अपने से सहमत बनाकर फिर चाहे जैसा काम लिया जा सकता है। साथ ही उन्हें सन्तुष्ट बना इच्छानुसार मार्ग पर चलाया जा सकता है। बच्चों के साथ किए जाने वाले व्यवहार में चालाकी, भेद-भाव न रखा जाय। उसे ये तीव्र बुद्धि के बालक फौरन ही ताड़ लेते हैं और फिर अविश्वासी बन जाते हैं। फिर किसी सही बात को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और उसे मानने को तैयार नहीं होते। वस्तुतः रहस्यमय, चालाकी और भेदभावपूर्ण व्यवहार बच्चों के साथ कभी भी नहीं करना चाहिए।

बच्चों के निर्माण के स्थान पर प्रभाव भी बड़ा महत्वपूर्ण होता है। बच्चों के मानसिक स्तर पर स्थान का अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जो उनके व्यक्तित्व के निर्माण क्रम को भी प्रभावित करता है। जिन बच्चों का प्राकृतिक स्वभाव बहुत-से लोगों के बीच रहने का होता है, उन्हें एकाकी और सुनसान स्थान में रखना ठीक नहीं। इससे उनमें कई मानसिक उलझनें, भय, सन्देह, शंका, विक्षिप्तता आदि पैदा हो जायेगे। ऐसे बच्चों का मानसिक विकास और पुष्ट व्यक्तित्व का निर्माण सामूहिक रहन-सहन में भली प्रकार हो सकता है।

चंचल एवं क्रियाशील बच्चों के लिए सबसे आवश्यक बात है, उन्हें किसी न किसी रचनात्मक कार्य, खेल-कूद, भाग-दौड़ आदि में लगाये रखा जाय। जिन घरों में बच्चों को किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है वे बच्चे जीवन में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं और वे औसत दर्जे के बच्चों से अधिक सफल होते हैं और ठीक-ठीक शिक्षण, निर्माण न होने पर ऐसे बच्चे औसतन बच्चों से अधिक खराब, अपराधी और भयंकर भी बन जाते हैं।

बालकों को रचनात्मक ढंग से सुधारें

कई बच्चे माता-पिता के लिए समस्या बने रहते हैं। घर में शैतानियाँ करते रहते हैं और बाहर दूसरे बच्चों को तंग करते हुए परिवार में शिकायतों को न्यौता देते रहते हैं। ऐसे उद्दण्ड बच्चों को प्रायः दण्ड देकर सुधारने की कोशिश की जाती है। बच्चे दण्ड पाकर तो जरा

कुछ अपनी हरकतों को कम करते हैं, पर उनके भीतर जो प्रवृत्ति रहती है, वह दण्ड पाने से सुधरती नहीं, कुछ काल के लिए दब जरूर जाती है और बच्चा दण्ड के भय से अपनी हरकतों को छुपकर करने लगता है तथा यथा-साध्य अभिभावकों की निगाह से उन्हें छुपाने के लिए, झूठ बोलने, चालें चलने और उद्दण्डता करने के दुर्गुण और सीख लेता है।

बच्चों में सुधार करने के लिए उन्हें दण्ड देने की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक तरीके अपनाना अधिक अच्छा रहता है। ऐसा नहीं है कि उद्दण्डता करने के बाद बच्चा खुश होता हो या फलस्वरूप मिलने वाले दण्ड से उसे कोई प्रसन्नता प्राप्त होती हो। सही बात तो यह है कि अपनी बुरी आदतों के कारण बच्चा स्वयं ही परेशान रहता है। उनके कारण उसे जो प्रताड़ना मिलती है, उससे वह स्वयं अपने को अपमानित अनुभव करता है और दुःखी रहता है। वस्तुतः तो कई बच्चे इसलिए शैतानियाँ करना सीख जाते हैं कि बिलकुल छोटी उम्र में उसकी इन हरकतों को माँ-बाप मनोविनोद का साधन बना लेते हैं। बच्चा अपनी बड़ी बहिन की चोटी खींच रहा है या किसी हमजोली बच्चे को पीटकर भाग रहा है तो माँ-बाप उसे देखकर हँसने लगते हैं तथा समझने लगते हैं कि बच्चा होशियार हो रहा है। यह प्रशंसा और प्रसन्नता ही-उनमें इस तरह के दुर्गुणों को प्रोत्साहित करती है। अच्छा हो, आरम्भ से ही संभलकर चला जाय। फिर भी जिन बच्चों के लिए सुधार की आवश्यकता हो, उन्हें दण्ड देने तथा तिरस्कृत करने की अपेक्षा प्रेम और सहानुभूति से काम लिया जाय।

बड़ों की तरह बच्चों में भी अपनी प्रशंसा सुनने का चाव रहता है। वह चाहता है कि घर के लोग उसकी तारीफ करें, उसे दुलारें और पुचकारें। बचपन में मिले व्यवहार के कारण वह समझने और मानने लगता है कि इस तरह की हरकतों से ही बड़ों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया जा सकता है। पर उसकी शैतानियों के कारण घर के लोग उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं देते। वह महत्वहीन प्राणी समझा जाने लगता है। अपनी इसी कमी को ढकने के लिए, अपनी मौजूदगी का एहसास कराने के लिए वह शैतानियाँ करने लगता है।

यह एक तथ्य है कि बच्चा अनुकरण के द्वारा ही बड़ों से बहुत कुछ सीखता है। रोते हुए बच्चे को यदि माँ-बाप डाँट-डपट कर, थप्पड़ मारकर चुप करायें, उसे जबरदस्ती बाँह पकड़कर घसीटकर नहलायें या डरा-धमकाकर पढ़ने के लिए बिठायें अथवा अपना काम करने को बाध्य करें तो बच्चे भी यही सीख जाते हैं। वह भी अपने साथियों को मारना-पीटना सीख जायेगा अथवा उस व्यवहार की यह प्रतिक्रिया होगी कि इंगित कामों से वह नफरत करने लगेगा। वस्तुतः बच्चों की प्रकृति एक स्वच्छ स्फटिक की तरह होती है। उसमें किसी बुराई या गन्दगी की छाया

पढ़ने की अधिकांश जिम्मेदारी माँ-बाप पर है, क्योंकि वह माँ-बाप के सम्पर्क में ही अधिक रहता है।

अक्सर यह प्रश्न किया जाता है कि माँ-बाप बच्चों को अवज्ञाकारी तो नहीं बनाते या कहना मानने के लिए मना नहीं करते, फिर बच्चे अवज्ञाकारी क्यों हो जाते हैं ? यह ठीक है—माँ-बाप आज्ञाकारिता की जितनी अपेक्षा अपने बच्चे से करते हैं, उतनी अपेक्षा शायद ही किसी दूसरे गुण की करते हों, पर बच्चों के सम्बन्ध में जितनी शिकायत कहना न मानने की, की जाती है, उतनी शिकायत किन्हीं दूसरे दुर्गुणों की नहीं होती। प्रत्यक्ष रूप से तो कोई अपने बच्चों को अवज्ञा करना नहीं सिखाता, परन्तु उसे इसकी प्रेरणा हमारे व्यवहार से ही मिलती है।

यह एकदम सही है कि बच्चे वातावरण से ही सीखते और प्रभावित होते हैं। घर में यदि तनावपूर्ण वातावरण रहा तो बच्चा भी अब्बल उधमबाज बन जाता है। कभी-कभी दूसरे रूप में भी इसकी प्रतिक्रिया होती देखी गई है, जैसे घर में चलने वाली उथल-पुथल से इस कदर प्रभावित हो जाता है कि वह बदमिजाज तथा जिद्दी बन जाता है, उसमें बाल-सुलभ चपलता और स्फूर्ति भी लुप्त होने लगती है। फलस्वरूप आगे चलकर वह सुस्त और भौदू लगने लगता है। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा भी हो सकता है। इन परिस्थितियों में बच्चों को सुधारने के लिए पहले उन कारणों की ओर ध्यान देना चाहिए, जिनकी वजह से ये बुराइयाँ आई हैं।

कई बार बच्चों में चोरी करने की आदत भी पाई जाती है। ऐसा उन्हीं परिस्थितियों में होता है, जबकि बच्चों की माँग को बुरी तरह ठुकराया जाता है। ऐसे बच्चे दूसरे बच्चों को अच्छे खिलौनों से खेलते हुए देखते हैं या खाते-पीते देखते हैं तो उनका मन भी इसके लिए तरस जाता है। इधर वह घर में यह भी देखता है कि अन्य कार्यों में शान-शौकत के लिए या सजावट आदि के लिए तो खूब खर्च किया जाता है, पर उसकी माँगों को जरा भी महत्त्व नहीं दिया जाता। ये परिस्थितियाँ उसे विद्रोही बना देती हैं। या तो वह चोरी करना सीख जाता है अथवा ईर्ष्यावश अपने साथियों के खेल-खिलौनों पर आक्रमण, छीना-झपटी करने लगता है। इस दुर्गुण से बच्चों को बचाने के लिए उनकी पूर्ति योग्य माँगों को पूरा करना चाहिए। यदि घर की आर्थिक-स्थिति ऐसी न हो तो उसे उचित रीति से सन्तोष करना सिखाना चाहिए।

बच्चे घर में कभी-कभी नुकसान भी कर बैठते हैं। यदि वह जान-बूझकर नुकसान नहीं करते तो उन्हें सावधानी की शिक्षा दी जानी चाहिए। पर अक्सर माता-पिता अपने बच्चों को नुकसान के लिए डाँटते-डपटते देखे गये हैं और कोई नुकसान, असावधानीवश होने पर वे यह डर अनुभव करने लगते हैं कि अब उनकी खैर नहीं। कई बार हमें बच्चों के ऐसे कार्य भी नुकसान जैसे लगने लगते हैं, जिन्हें वह मनोरंजन की दृष्टि से करते हैं। जैसे छोटी बच्ची

को माँ की साड़ी लपेटकर दर्पण के सामने खड़ा रहना बहुत अच्छा लगता है। वह काँच के सामने खड़ी होकर माँ की कंधी से बाल सँभालने लगती है, लिपस्टिक, पाउडर और बिन्दी लगाने लगती है। लड़के अपने पिता या दादा की छड़ी, चश्मा लेकर उनकी नकल निकालते हुए भी देखे जा सकते हैं। अक्सर माँ-बाप अपने बच्चों की इन हरकतों को देखकर नाराजी प्रकट करने लगते हैं।

कई बच्चे अपने साथियों से पिछड़े या कम प्रतिभाशाली होते हैं। पढ़ने में वे अपने अन्य साथियों की बराबरी नहीं कर पाते या अन्य तरह से उनके साथ प्रतियोगिता नहीं कर पाते। अपने साथियों को अपने से अधिक योग्य पाकर एक तो वे वैसे ही हीनभावना का अनुभव करते हैं, इस पर घर से माँ-बाप की मिलने वाली प्रताड़ना उन्हें और हतोत्साहित करती है। उचित यह है कि उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया जाय और उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा दी जाय। यदि किसी बच्चे में कोई न्यूनता हो तो उसे यह आभास न होने देना चाहिए कि उसकी उपेक्षा हो रही है या उसे अपनी कमजोरी के कारण उपेक्षित किया जा रहा है। इस उपेक्षा-भर्त्सना के स्थान पर उसे अपनी कमजोरी को दूर करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए।

बच्चों को सुधारने और उनकी समस्या का हल करने के लिए उसका अध्ययन करें, उसके कारण का पता लगायें और आई कठिनाइयों तथा समस्याओं को सोच-समझकर हल करें, न कि तुरत-फुरत कोई रवैया अखियायार कर लिया जाय।

बच्चों की दण्ड व्यवस्था

यह ठीक है कि बच्चों को सुधारने और उन्हें शरारत से रोकने के लिए, कभी-कभी दण्ड की आवश्यकता होती है किन्तु वह दण्ड व्यवस्था सुधार अथवा शरारत से रोकने के ही लिए होनी चाहिए, न कि गुस्सा उतारने के लिए।

बहुधा देखा यह जाता है कि बच्चों को दण्ड देने में अभिभावकों का दृष्टिकोण सुधार का न होकर, उसे किसी शरारत के बदले में, उतनी ही पीड़ा पहुँचाना होता है, जितनी कि उन्हें, उसके किसी काम से पहुँची है। तभी तो जब तक उन्हें सन्तोष नहीं हो जाता, दण्ड का कार्यक्रम जारी रखते हैं।

प्रायः वे अपनी इस प्रतिशोध भावना से परिचित नहीं होते। यदि उन्हें दण्ड के कार्य से रोका जाये, तो वे यही कहेंगे कि “जब तक इसे यों ही पीटा नहीं जायेगा, यह ठीक नहीं होगा। बड़ा शरारती है।” पर यदि उनसे पूछा जाये कि आपकी इस कार्यवाही से इसमें किस प्रकार से सुधार का संचार होगा ? तो वे निश्चित रूप से इसकी विवेचना नहीं कर सकते।

जिन अभिभावकों को अपने दण्ड-विधान के उद्देश्य, उसके परिमाण और परिणाम का स्पष्ट ज्ञान न हो, उन्हें बच्चों को दण्ड देने में, शीघ्रता के बजाय, सोच-विचार करना अधिक आवश्यक है क्योंकि अविचारित दण्ड, प्रायः बच्चों को और बिगाड़ देता है। अतएव उसके स्वरूप, सीमा और प्रभाव को समझ लेना बहुत जरूरी है।

अनेक अभिभावकों का स्वभाव कतिपय मनोवैज्ञानिक कारणों और परिस्थितियों से ऐसा बन जाता है कि उन्हें बच्चों की हर बात शरारत मालूम होती है, जिसके लिए उसे दण्ड देने में वे यत्न की तरह परिचालित रहते हैं। इधर बच्चे की कोई बात नापसन्द लगी नहीं कि उधर उसे पीट डाला। उन्हें अपने इस स्वभाव के कारण यह विचार करने का अवसर या अवकाश ही नहीं रहता कि बच्चा खतावार है भी या नहीं ?

इस प्रकार बच्चों की किसी भी बात अथवा काम से, हर समय चिढ़े रहना एक व्यसन है, जो मानसिक न्यूनता से उत्पन्न होता है। वे अपने किसी न किसी मानसिक अभाव से क्षुब्ध रहते हैं, जो झूठ-सच्चा अवसर पाकर बच्चों पर दण्ड के रूप में प्रकट होता है।

अस्तु, सबसे पहले ऐसे अभिभावकों को अपना मानसिक उपचार, विवेक द्वारा, धैर्य धारण करके करना चाहिए। बच्चों के प्रति क्षमा भाव से, उनके अपराधों की वास्तविकता पर विचार करके प्रतिशोध भावना से रहित, अपराध के अनुरूप दण्ड देना निर्धारित करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दण्ड-विधान, व्यसन-तुष्टि के लिए नहीं, सुधार की दृष्टि से होना चाहिए।

जहाँ तक सम्भव हो, बच्चों को शारीरिक दण्ड न दिया जाये इससे, उनके बाह्य और आन्तरिक, दोनों प्रकार के स्वास्थ्यों पर कुप्रभाव पड़ता है। बच्चों के लिए मौखिक दण्ड ही सबसे उपयुक्त है।

यद्यपि, बहुत-से लोग मौखिक दण्ड के रूप में अपशब्दों का प्रयोग कर बैठते हैं किन्तु यह हर प्रकार से सभ्यता के विरुद्ध है, इससे बच्चों में गाली देने और गाली सुनने का स्वभाव उत्पन्न हो जाता है।

मौखिक दण्ड के अनेक स्वरूप हो सकते हैं—(१) जैसे जोर-जोर से डाँटना और बेतहाशा गुस्सा करना, यह आतंकवादी मार्ग है। इससे बच्चा भयभीत हो सकता है। उसे इस बात की लज्जा भी हो सकती है कि आस-पास लोग सुन रहे होंगे कि अमुक लड़के की फटकार हो रही है। लोग उसे बुरा समझेंगे। साथी हँसी उड़ावेंगे और नीची नजर से देखेंगे। हो सकता है इसका कुछ प्रभाव पड़े और अपनी शरारत कुछ कम करदे किन्तु इससे अधिक स्थायी फल की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि, कुछ समय में वह उसका आदी हो जायेगा और समझ लेगा कि आपकी बात-बात में चिल्लाने

की आदत हो गई है। साथ ही वह आपके रौद्र-रूप तक ही सहमकर सीमित रह जायेगा, न कुछ स्वयं सोच सकेगा और न आपका आशय समझ पायेगा। इसके अतिरिक्त अधिक चिल्लाने और क्रोध करने से, आपके नाड़ी-संस्थान पर जोर पड़ेगा जो स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं है।

(२) तीखे व्यंग्य-वाणों की वर्षा करना—जैसे तू जिन्दगीभर गधा रहेगा, तू क्या खाक पढ़े-लिखेगा, जरा सूरत तो देखना बड़ा भारी अफसर बनेगा, तुझे तो कोई दो कौड़ी को नहीं पूछेगा, भीख माँगेगा भीख, तुझ पर पैसा खर्च करना घरे पर फेंकना है, पत्नी से कहते हैं—“अजी सुनती है, आपके लाड़िले साहब के तो लक्षण मालूम हो गये, इनकी किताबें तो लीजिये रख, और घर में झाड़ू बुहारी कराया करिये।” आदि।

समझा तो यह जाता है कि बच्चा इससे शर्मिन्दा होकर सुधार की ओर अग्रसर होगा, किन्तु ऐसा बहुत कम है क्योंकि कभी-कभी इस प्रकार के व्यंग्यों में कुछ ऐसे असंगत व्यंग्य भी शामिल हो जाते हैं, जिनको सुनकर दूसरे भाई-बहिन हँस पड़ते हैं और तत्काल वातावरण की गम्भीरता समाप्त हो जाने से बच्चे पर प्रभाव पड़ने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और उल्टे आप ही कुछ उपहासास्पद हो जाते हैं।

फिर इस प्रकार के व्यंग्यों में भले हार्दिक न भी हो, कुछ न कुछ, असद् भावना की प्रतिध्वनि रहती है और असत्ता से सदाशयता का जन्म एक अस्वाभाविक-सी बात है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी इस शाप-सूचक व्यंग्यवादित से बच्चे को पितृत्व के प्रति सन्देह होने से अग्रद्ध हो जाती है, जिससे वह डीठ होने लगता है और परोक्ष रूप में आपके इन हितकारी वाक्यों को चुनौती समझकर यह सोचने का साहस कर बैठता है—न पढ़-लिख पायेंगे, न सही, भीख माँगना ही बड़ा होगा तो भीख माँग लेंगे।

(३) बच्चे की भर्त्सना ऐसे शब्दों और शैली में की जाये, जिससे उसके मन पर एक गहरा प्रभाव पड़े और उसे अपराध के प्रति ग्लानि और अपने पर लज्जा आये, जैसे—ठीक है ऐसा न करोगे तो खानदान का नाम कैसे ऊँचा होगा ? इन्हीं बातों से ही तो आपके पिता की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, जब आपकी हरकतों से लोग यह कहेंगे कि जैसा लड़का वैसे ही माँ-बाप होंगे—तब आपको बहुत अच्छा लगेगा। इन लक्षणों से तो आपको जीवन में उन्नति की आशा नहीं करनी चाहिए। मैं तो यही चाहता था कि आप होनहार बनें—खैर, आपकी मर्जी, जो चाहिए करिये” आदि। इस प्रकार के उपालम्भों से उसे अनुभव होगा कि उसके पिता उसके प्रति बड़े ऊँचे विचार रखते हैं किन्तु उसकी कुछ हरकतें उनके अनुरूप नहीं हैं और वह सोचेगा कि उसकी इन बातों से पारिवारिक गौरव को धक्का पहुँचता है, जबकि उसे,

इसकी वृद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार वह उन्नत भाव से ओत-प्रोत होकर, अपनी बुरी बातों को छोड़ देने का प्रयत्न करेगा। यदि आपके उपालम्भों में क्रोध के स्थान पर एक हृदयस्पर्शिणी पीड़ा का समन्वय हो, तब कोई प्रश्न ही नहीं, वह सीधे-सीधे उसके मर्म पर आघात करेंगे जिससे वह पुत्र के नाते पिता की पीड़ा अपने में अनुभव कर अपराध करना ही भूल जायेगा और साथ ही उसमें एक गहरे आन्तरिक स्नेह का आविर्भाव होगा।

इसके अतिरिक्त एक निःशब्द मौखिक दण्ड भी है जिसे 'मौन' की संज्ञा दी जा सकती है। अपराध करने पर उसे एक गहरी दृष्टि से देखकर मुँह फेर लीजिए, कहिए कुछ मत और चुपचाप 'मौन' धारण कर लीजिए। एक कठोर 'मौन'। अव्वल तो वह आपके उस प्रकार देखते ही सहम जायेगा। सारी शरारत भूलकर हक्क-बक्का हो जायेगा। नहीं तो आपका मौन उच्चार तो कर ही देगा। न उससे बोलिये और न उसकी किसी बात का उत्तर दीजिए। सामने पड़ने पर उससे इस ढंग से नजर बचाइये जैसे आप उसे देखना ही नहीं चाहते। इस प्रकार वह आपके मौन और उपेक्षा भाव से अपने अन्दर एक ऐसी उलझन अनुभव करेगा, जिसका हल वह आपकी प्रसन्नता के सिवाय और कोई सोच ही न सकेगा। आपका यह मौन और उपेक्षा भाव जितना गहरा होगा उतना ही शीघ्र वह विचलित हो उठेगा और उसकी क्षमा-प्रार्थना आँसुओं में बोलने लगेगी। बस ! ठीक उसी वक्त उसे क्षमा कीजिए और सान्त्वना देते हुए प्यार भरे शब्दों में समझाइए। इस प्रकार उसके अर्द्धचेतन पर सुधार के जो बीज बोये जायेंगे। वे न केवल सफलीभूत ही होंगे अपितु चिरंजीवी भी होंगे।

यद्यपि, प्रायः लोग नाराज होकर बच्चों से बोलना बन्द कर देते हैं किन्तु उस न बोलने की पृष्ठभूमि में क्रोधजन्य घृणा की प्रतिक्रिया रहती है और इस 'मौन' में निर्विकार सुधार भावना की कसक।

अब रही शारीरिक दण्ड की बात। इसके लिए पहले ही कहा जा चुका है कि बच्चों को शारीरिक दण्ड देना उपयुक्त नहीं है तथापि कुछ अभिभावकों का तमोगुणी स्वभाव और कुछ बच्चे की असत्यता दोनों मिलकर कभी-कभी इसका अवसर उपस्थित कर देते हैं।

अब यदि बच्चे को शारीरिक दण्ड देते ही बने तो उसमें कुछ बातों का ध्यान अवश्य ही रखा जाना चाहिए। जैसे जितना अपराध हो, दण्ड उतना ही दिया जाना चाहिए, अधिक नहीं, दण्ड को दण्ड तक ही सीमित रखना चाहिए, उसे अत्याचार के रूप में नहीं बदला जाना चाहिए। बच्चे की क्षमता और दण्ड की गुरुता का संतुलन बहुत आवश्यक है—इत्यादि।

कुछ अभिभावक बच्चे की सुकुमारता का विचार कर बैठते हैं, जिसके परिणामस्वरूप कभी-कभी उन्हें स्वयं ही उसका फल भोगना पड़ता है। कुछ अभिभावक बिना

अपराध समझे-बूझे पीटना शुरू कर देते हैं, जिससे निरपराध बच्चे को जो दोहरी पीड़ा होती है, वह तो होती ही है स्वयं उन्हें भी लज्जित होना पड़ता है और वे बहुधा आत्म-ग्लानि मिटाने के लिए निर्दोषता में भी दोष आरोपित करने लगते हैं। इधर बच्चा पिता की इस गलती से प्रोत्साहित होकर उस आक्रमण दण्ड के बदले में अपने को एक अपराध कर सकने की छूट का अधिकारी समझने लगता है।

कुछ अभिभावक तो बच्चे को ठहर-ठहर कर कई बार पीटते हैं और फिर भी यदि संतोष नहीं होता तो कभी उठक-बैठक कराते हैं, कभी मुर्गा बनाते हैं, तो कभी हाथ-पैर बाँधते हैं, कभी लटकाने लगते हैं। आशय यह है कि विविध त्रासदायक उपायों के साथ उनका यह कार्यक्रम चलता रहता है। यदि उनकी इस कार्यवाही और बकवास का मुखर चलचित्र लेकर, शान्त अवस्था में दिखाया जाये, तो शायद उन्हें अपने उस अत्याचार पर स्वयं ग्लानि और पश्चाताप हो।

बहुधा देखा जाता है कि शारीरिक दण्ड देने के अभ्यस्त अभिभावकों के पास न तो कोई मानदण्ड होता है और न संतुलन। जैसे रोशनाई गिरने पर उतना ही पीटना, जितना चोरी करने पर। इससे बच्चा अपराधों की अपेक्षाकृत न्यूनाधिकता के प्रति उदासीन हो जाता है। जब सारे अपराधों का दण्ड बराबर ही मिलना है तो बड़ा अपराध करने में वह क्यों हिचकेगा ?

कुछ अभिभावक देशकाल का विचार किये बिना ही पीटने लगते हैं। जैसे उसे खेलते देखकर मैदान में ही, झगड़ते देखकर सड़क पर ही, फेल हो जाने पर स्कूल ही में, पानी गिर जाने पर खाते वक्त और देर हो जाने पर स्कूल जाते समय आदि। इस प्रकार देशकाल का विचार न किये जाने से बच्चे निर्लज्ज एवं निरपेक्ष हो जाते हैं।

सुधार के लिए जहाँ बच्चों को दण्ड देना कुछ आवश्यक-सा हो सकता है, वहाँ उसका कोई नियम संतुलन, माप और स्तर होना भी आवश्यक है। दण्ड से पहले बच्चे को स्पष्ट पता होना चाहिए कि उसका क्या अपराध है ? जिसके लिए वह दण्ड का भागी हुआ। ओछे और भौड़े दण्ड देने से उनमें मानसिक-मलीनता आती है, जिससे वे असभ्य और अशिष्ट हो जाते हैं। दण्ड के रूप में उन पर अत्याचार करने से, उनके क्रूर और आततायी हो जाने का भय रहता है। हर अपराध पर समान दण्ड देने से उनकी दृष्टि में दण्ड की कोई महत्ता ही नहीं रहती।

शारीरिक दण्ड देने के फलस्वरूप अधिकतर बच्चे या तो दीन-हीन हो जाते हैं या विद्रोही और कभी-कभी अंग-भंग, चोट-चपेट अथवा अस्वास्थ्य के रूप में उसका परिणाम सामने आता है।

अतएव अधिक स्थूल और पीड़ाप्रद दण्ड देने के स्थान पर सूक्ष्म, मौखिक एवं मनोवैज्ञानिक दण्ड-व्यवस्था ही अधिक श्रेयस्कर है, जिससे सुधार की दिशा में बच्चों पर एक ही स्थायी प्रभाव पड़े और उनका शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक विकास भी अधुण्य रहे।

क्या दण्ड से बच्चे सुधरते हैं ?

बच्चों को सुधारने, उनमें से बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए अन्य बातों की तरह दण्ड देने की भी एक प्रणाली चली आ रही है। सामान्यतया भूलों, गलतियों पर, बच्चों की शैतानी पर अभिभावकगण उन्हें दण्ड देते हैं, पीटते हैं, उनकी आलोचना करते हैं। बच्चों ने कुछ गड़बड़ी की कि उन्हें ठोक-पीट दिया। अच्छे, समझदार, पढ़े-लिखे माँ-बाप भी इसी का सहारा लेते देखे जाते हैं। यद्यपि दण्ड की व्यवस्था सुधार के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयोग है, नीतिकार ने सुधार के साम, दाम, दण्ड, भेद चार उपायों में दण्ड को भी स्थान दिया है, आवश्यकता पड़ने पर दण्ड दिया भी जाना चाहिए, लेकिन उसका प्रयोग दवा की खुराक की तरह ही किया जाना चाहिए। बिना सोचे-समझे, अनावश्यक मात्रा में दी गई अच्छी दवा भी नुकसान पैदा कर देती है। इसी तरह दण्ड भी बिना सोचे-समझे, अनावश्यक रूप से दिए जाने पर अपने दुष्परिणाम पैदा करता है।

दण्ड सुधार के लिए अन्तिम और महत्वपूर्ण समर्थ माध्यम है, किन्तु इसका ठीक-ठीक प्रयोग न करने पर हानि की ही अधिक सम्भावना रहती है और कई दुष्परिणाम पैदा हो जाते हैं। अनावश्यक, अव्यावहारिक दण्ड से सुधार न होकर बच्चों के विकास, उन्नति, निर्माण में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। कई मानसिक विकृतियाँ-बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं।

दण्ड के भय से मनुष्य के सौन्दर्य-बोध की क्षमता, शक्ति नष्ट हो जाती है। बच्चों को बात-बात पर अपने अनन्य और निकटस्थ सूत्र माँ-बाप से सजा मिलने लगती है तो संसार और इसके अन्य तत्त्वों का आकर्षण कम होने लगता है। संसार और इसके पदार्थ बच्चे को अरुचिकर, भयानक, क्रूर लगने लगते हैं। बच्चों का मानसिक विकास नहीं होता, वे बड़ी उम्र पाकर भी बच्चों जैसे ही बने रहते हैं।

माँ-बाप के सुधारात्मक दण्ड प्रधान फौजी अनुशासन से बच्चे दण्ड से बचने अथवा भय के कारण झूठ, चालाकी का आसरा लेते हैं। जिन बातों अथवा कारणों से बच्चों को सजा मिलती है, उन्हें वे छिपाते हैं, झूठ बोल जाते हैं। इस तरह धीरे-धीरे बच्चों में झूठ बोलने, चालाकी, फरेवबाजी की आदतें पड़ जाती हैं, जो दिनोदिन परिपाक होकर जीवन का अंग बन जाती हैं। मानव जीवन और संसार में बहुत बड़े-बड़े दुष्परिणाम,

बुराइयाँ पैदा करने वाली इस झूठ, चालाकी, फरेवबाजी की शुरूआत इस रूप में बहुत कुछ घर से ही होती है।

सुधार के लिए अन्य बातों को छोड़कर केवल प्रारम्भ से ही दण्ड का आसरा लेने पर, बच्चों को बार-बार पीटने, सजा देने पर बच्चों के सुधार की सम्भावना बहुत कुछ नष्ट हो जाती है, क्योंकि बच्चा भी बार-बार पीटने से दण्ड का आदी हो जाता है। दण्ड एक समर्थ शक्तिशाली प्रयोग है, इसका अवलम्बन तो अन्य सभी बातों में असफल होने पर ही निश्चित मात्रा में करना चाहिए। जिन बच्चों को डण्डे मार-मारकर चलाया जाता है वे फिर डण्डे खाने के आदी हो जाते हैं। प्रारम्भ में एक-दो डण्डे खाकर जो तेज दौड़ते थे वे फिर बार-बार डण्डे पड़ने पर भी धीरे-धीरे चलते हैं। अपराध करने वाले कई व्यक्ति तरह-तरह से कई बार सजाएँ पाकर सजा के ही आदी हो जाते हैं। उन्हें कठोर सजा भी या अधिक दण्ड भी सामान्य-सी बात लगती है। बार-बार सजा पाकर भी वे अपनी अपराध प्रकृति का क्रम चालू रखते हैं। यही बात बच्चों पर भी लागू होती है। बच्चे भी बार-बार मिलने वाले दण्ड के आदी हो जाते हैं। उन पर दण्ड का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मानव मन की सामान्य स्थितियों में यह विशेषता है कि उसमें दण्ड देने वाले, प्रकट रूप में अहित करने वाले, आलोचना, अपमान करने वाले के प्रति विद्रोही प्रतिक्रिया पैदा हो जाती है। बच्चों के अन्तर्मन में भी दण्ड देने वालों के प्रति विद्रोही भावनाएँ उठती हैं। इस विद्रोही भावना के अत्यन्त प्रबल हो जाने पर कई बच्चे अपने अभिभावकों पर आवेशवश घातक आक्रमण कर बैठते हैं और कटुवचन कहते सुने जाते हैं। समर्थ हो जाने पर इस तरह के बच्चे अपने माँ-बाप, अभिभावकों की कोई परवाह भी नहीं करते। उनकी दुर्दशा, पीड़ा में भी ऐसे बच्चों का दिल नहीं पिघलता। बचपन के दण्ड और सजा की चोटें खा-खाकर बच्चों का हृदय कठोर, शुष्क, नीरस, भयानक बन जाता है। ऐसे बच्चे कटु शब्दों, व्यंग्य वाणियों से अपने माँ-बापों को व्यथा पहुँचाते हैं। अभिभावकगण अपने भाग्य और जमाने को दोष देकर रोते हैं किन्तु वे भूल जाते हैं कि इस क्रूरता और कठोरता की नींव बच्चों में उन्होंने स्वयं ही लगाई है। यह तो उसकी बाह्य प्रतिक्रिया मात्र है।

बच्चों का मानस बहुत ही कोमल, संवेदनशील होता है। जीवन में होने वाली तनिक-सी घटना उनके मानस पर चित्रवत् अंकित हो जाती है। छोटी-छोटी बातों से ही उनकी भावनाओं को ठेस लग जाती है। इस पर सजा-ताड़ना तो इस तरह प्रभाव डालती है जैसे पत्थर की चोट से काँच का बर्तन क्षत-विक्षत हो जाता है। दण्ड बच्चों की कोमल भावनाओं, हृदय, बाल सुलभ कल्पनाओं को कुचल देता है और उन्हें सदा के लिए अयोग्य, अपंग, अनुपजाऊ, निष्क्रिय बना देता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि बच्चों को कभी सजा, दण्ड देना ही नहीं चाहिए। नीतिशास्त्र के पण्डितों ने ताड़ना भी बच्चों के सुधार के लिए आवश्यक बताई है। किन्तु दण्ड देना एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य है। किस सीमा तक बच्चों को सजा दी जाय, कैसी सजा कब कैसे दी जाय; यह बातें जानना उसी तरह आवश्यक हैं जैसे किसी डाक्टर का यह जानना कि रोगी को कौन-सी दवा कब-कब कैसे कितनी दी जाय ? दण्ड के कारण उत्पन्न होने वाले उक्त दुष्परिणाम दण्ड नीति का दुरुपयोग करने पर ही मिलते हैं।

सुधार के लिए सर्वप्रथम यह देखा जाना आवश्यक है कि बिना दण्ड के अन्य बातों से सुधार की प्रेरणा दी जा सके तो उत्तम है। बच्चों को सुधारने में स्नेह-ममता का बहुत बड़ा स्थान है। एक बार महात्मा गाँधी से बचपन में कोई भारी भूल हो गई, इस पर उनके पिता ने उस भूल को स्वयं ठीक कर लिया। गाँधीजी को देखकर उनकी आँख में केवल आँसू आ गये। इसका ऐसा मूक प्रभाव पड़ा कि फिर गाँधीजी ने कभी वैसा काम नहीं किया जिससे उनके पिता को ठेस लगे—दुःख होवे।

जब बच्चों में अपराध प्रवृत्ति बहुत ही बल पकड़ ले और वह स्नेह सरलता से न सुधरे उल्टा बिगाड़क्रम ही चालू रहे तो फिर सजा का भी आश्रय लेना आवश्यक होता है। इस पर भी यह देखना आवश्यक है कि उसे शारीरिक सजा देना आवश्यक है या मानसिक। जहाँ तक बने प्रारम्भ में फटकार देने अथवा डरा-धमका देने से काम बन जाय तो ठीक है। इसके अतिरिक्त भूल को सुधारने के लिए उसे खेल या मनोरंजन का रूप देकर बच्चे से ही भूल-सुधार कराने का प्रयास करना चाहिए। उदाहरणार्थ, बच्चे सामान बिखेर देते हैं तो उन्हीं से उसे ठीक रखाया जाय। बच्चे कुछ तोड़-फोड़ देते हैं तो टूट-फूट से होने वाली हानि को बताते हुए बच्चे को समझाना चाहिए। किसी भी तरह की सजा का आधार रचनात्मक हो दमनात्मक नहीं। चार-पाँच साल के बच्चे को शारीरिक सजा भी दी जा सकती है, किन्तु ७-८ साल बाद तो बच्चों को इस तरह का दण्ड कभी भी नहीं देना चाहिए। इस समय बच्चे का मानसिक विकास काफी हो चुकता है और वह अपने मान-अपमान को समझने लगता है। विद्रोही भावनाएँ, विपरीत प्रतिक्रिया इसी समय पैदा होने लग जाती है।

बच्चों की अच्छाइयों की भी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिए। उत्साह बढ़ाने, अच्छे काम करने के लिए पुरस्कार देना बच्चों का विश्वास प्राप्त करना है। इस तरह बच्चों को सुधारात्मक निर्देश देकर उन्हें अच्छा बनाया जा सकता है। भूलों से होने वाली हानि समझाकर उनकी आदतों में आवश्यक सुधार किया जा सकता है। दण्ड-सजा तो अन्तिम उपाय है, जिसका आवश्यकतानुसार ही उपयोग किया जाना चाहिए।

समझाने से काम न चले तो ही प्रताड़ना की जाय

सुसंस्कृत मनुष्य अपने चारों ओर स्वर्गीय वातावरण का निर्माण करता है किन्तु जहाँ मनुष्य के भीतर दबे पशु-संस्कारों की विकृतियाँ उभरती हैं, वहाँ नरक की सृष्टि होते भी देर नहीं लगती। उस स्थिति में लोग सामान्य मानवीय, शील और मर्यादा का उल्लंघन करने तथा दूसरों के लिए कष्टकारक आचरण करने में भी झिझकते नहीं।

परिवार के गैर-कमाऊ लड़कों में यह मर्यादाहीनता जब उभरती है, तो वह एक नई समस्या बन जाती है। भाई-बहनों से गाली-गलौज, मार-पीट करना, हर अच्छी वस्तु अपने ही लिए चाहना, घर के कामों में हाथ न बँटाना उसकी आदत बनती जाती है। परिवार के प्रति वंश, वह स्वयं अपने प्रति भी कर्तव्यों का निर्वाह नहीं करता। पढ़ाई से दूर भागेगा। किताबें, कापियाँ, बस्ते सँभालकर नहीं रखेगा। कॉलेज जाने के बहाने दिनभर आवागामी, मटरगस्ती करेगा। चाट-पकौड़ी, सिनेमा, नाच-गाना, जलसा-जुलूस की हुड़दंगियों में ही रस लेगा। अपने लिए कीमती कपड़े चाहिए, भले घर के अन्य विद्यार्थी सदस्यों के लिए पुस्तकों के लिए भी पैसे न बचें या बूढ़े माँ-बाप के लिए दवा का भी इन्तजाम न हो पाये। घर में तंगी है तो मितव्ययता, थोड़े में गुजारा करने, मिल-जुलकर काम चलाने आदि के रूप में सहयोग देना तो दूर, अपने लिए ही अधिकाधिक पैसे की माँग कर आर्थिक परेशानी को और अधिक बढ़ाएगा।

पुस्तकालयों में जाकर पढ़ना जरूरी अंशों को लिखना, सहयोगियों से मदद लेकर काम चलाना ऐसे बिगड़े लड़कों को मूर्खतापूर्ण कार्य प्रतीत होते हैं। वे पिता की कोट की जेब में या माँ की पेट्टी में पड़े पैसे को चुराकर जीभ का चटोरपन मिटाने, यारों के साथ सिनेमा देख लेने को ही पुरुषार्थ मानते हैं। कभी छोटे भाई, छोटी बहिन के हाथ से वे पैसे छुड़ाकर भाग जायेंगे, जो वे सब्जी खरीदने के लिए बाजार जाते समय ले जा रहे थे, तो कभी घर से वे पैसे उड़ा देंगे, जो छोटे भाई-बहिन की फीस के लिए रखे थे। कभी माँ से जोर-जबर्दस्ती करेंगे, कभी भाभी से छीना-झपटी कर रुपये या कोई चीज झटक ले जाएँगे, उसे बेचकर मजा-मौज करेंगे। आदत बिगड़ती जाती है तो अपनी क्षुद्र आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए घर की महत्वपूर्ण वस्तुओं की चोरी करने में भी हिचक नहीं महसूस होती।

ताश-जुए, सट्टा-लाटरी की लत लग गई, तब तो अनर्थ का अन्त नहीं। जब पाण्डवों जैसे सच्चरित्र लोग जुए के चक्कर में राजपाट, धन-दौलत और धर्मपत्नी तक को दाँव में लगा-बैठे, तो इन लड़कों द्वारा घर की इज्जत दाँव पर लगा देने में क्या देर लगती है ?

शराब पीना, वेश्यागामिता, गुण्डाई यह सब उसी विकृति की परिणतियाँ हैं, जो बिगड़े लड़कों में कर्तव्य की अवहेलना और अपनी ही इच्छाओं की पूर्ति के आग्रह से प्रारम्भ होती हैं। अतः उस ओर शुरू से ही कड़ी नजर रखी जानी चाहिए।

प्रारम्भिक क्रम में ऐसे लड़कों को समझाना चाहिए। कुपथ पर चलने से होने वाली हानियों को विस्तार से समझाया जाय। घटनाओं, उद्धरणों, नीति, कथनों, ऐतिहासिक कथानकों एवं पौराणिक आख्यानों आदि का सहारा लेकर जो बुराई लड़के में उभर रही हो, उससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम बताये जाएँ। पास-पड़ोस, परिचय क्षेत्र में वैसी प्रवृत्ति के कारण जिन लोगों को व्यक्तिगत रूप से हानि उठानी पड़ी, उनका स्मरण कराया जाय। उनके परिवार को उस दुष्प्रवृत्ति से जिन संकटों, कलह, विग्रह, अपयश, कर्ज आदि का सामना करना पड़ा हो, वह भी विस्तार से बताया जाय। समाज में अन्ततः इस कुमार्गगामिता के कारण उन लोगों के प्रति क्या भाव बना, जो लोग साथ रहकर उन्हें उकसाते-बढ़ाते रहे, वे ही किस प्रकार मुँह फेर बैठे, यह सब बताकर उधर से विमुख किया जाय। साथ ही, अमुक-अमुक ने दुष्प्रवृत्ति छोड़ने का संकल्प कर लिया, तो छोड़ ही दी, फिर यह इस प्रकार प्रगति करता गया, अमुक-अमुक लाभ उसे मिले, यह भी गिनाया जाय।

समझाने का यह काम वे लोग न करें, जिनसे कि इस विपथगामिता के कारण उस लड़के की कहा-सुनी हो चुकी हो, खिंचाव हो या झंझट हो चुका हो। जिन लोगों के प्रति उसका मैत्री-भाव हो, वे ही समझाएँ।

समझाते समय भी चतुराई की जरूरत होती है। यदि लड़के को लगा कि यह उन लोगों के उकसाने या भेजने पर हमें समझा रहा है, जो परिवार में हमसे नाराज हैं या असहयोगी हैं, तो समझाने का अनुकूल परिणाम न हो पायेगा। समझाने वाला किन्हीं दूसरों का हिमायती है, हमारे आनन्द से ईर्ष्या रखने वालों का साथी है यदि आशंका हो तो समुचित प्रभाव नहीं हो सकेगा। अतः ऐसे सहज मैत्री-भाव से चर्चा की जाये, जिससे उसे लगे कि अनायास ही प्रसंग चल पड़ने पर हितैषिता की दृष्टि से बात कही जा रही है। पहले दौर में कुछ देर तक चर्चा के बाद बात को संक्षेप में ही कहा-समझाया जाय। अगली बार कुछ अन्य सम्बन्धित मुद्दों पर प्रकाश डाला जाय। इस प्रकार किरतों में समझाने का क्रम भी अच्छा होता है। हर बार समझाने के बाद कुछ दिनों तक यों ही प्रतीक्षा की जाय। सम्बन्धित व्यक्ति उस पर खुलकर विचार-मंथन कर सकें, इस हेतु उसे मुक्त छोड़ दिया जाये। तत्काल ही परिणाम की अपेक्षा न की जाने लगे। कई बार, कुछ देर से ही सही, किन्तु समुचित परिणाम सामने आता है।

यदि समझाने-बुझाने का अन्ततः कोई भी प्रभाव होता है न दिखाई पड़े, तो फिर पारिवारिक विचारगोष्ठी के समय परिजनों द्वारा सामूहिक रूप से कहा जाय कि तुम्हारा अमुक आचरण अनुचित है। इस आचरण से तुम्हारी स्वयं की भी हानि है, परिवार की भी। गोष्ठी में अनुचित आचरण की स्पष्ट भर्त्सना की जाय। किन्तु सम्बन्धित व्यक्ति का अपमान न किया जाय अन्यथा भावोद्वेग में हानिकर प्रतिक्रिया सम्भव है। घर से भाग जाने से लेकर उद्दण्डता पर उतर आने तक के कदम उठाये जा सकते हैं। अतः सामूहिक आलोचना-निन्दा व्यक्ति के गार्हित पक्ष की ही की जाय, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ही तिरस्कार न कर दिया जाये।

यदि ज़िद, अहं या कुसंग से उत्पन्न औद्धत्य इतना गहरा हो गया हो, कि अकेले में मैत्रीभाव से समझाने से लेकर सामूहिक भर्त्सना तक के उपाय विफल हो गये हैं, तब उस व्यक्ति से पारिवारिक असहयोग किया जाय। उसे परिवार से किसी भी प्रकार की मदद देना बन्द कर दिया जाय। इसमें किसी प्रकार का सहयोग किसी सदस्य द्वारा न किया जाये। माँ व अन्य अधिक स्नेह रखने वालों को बता दिया जाय कि यह उग्र कदम आवश्यक सुधार के लिए ही उठाया जा रहा है। यह जानकारी तो उन्हें रहेगी कि समझाने और डाँटने के प्रयास विफल हो जाने के बाद में ही यह कठोर उपाय अपनाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में उस उपाय योजना को विफल बनाने वाले छिद्रों का निर्माण पारिवारिक अनुशासन को ही भंग करने वाला सिद्ध होगा। अतः असहयोग पर तब तक दृढ़तापूर्वक अमल किया जाय, जब तक कि ऐसे लोग परिवार में अपनी भूल सबके समक्ष स्वीकार कर उसे सुधारने का संकल्प न कर लें। तभी पारिवारिक मर्यादा की रक्षा हो सकेगी।

बच्चों को प्रताड़ना नहीं, प्रेरणा की जरूरत है

कभी-कभी बच्चों को डाँट-फटकार भी आवश्यक हो सकती है और शायद कभी एकाध चपत लगाने का भी मौका आ जा जाए, किन्तु इस कभी-कभी को आए दिन की बात बनाना हर तरह से हानिकारक है। इससे लाभ की तो कोई भी सम्भावना है ही नहीं।

बच्चा मुख्यतः वातावरण से ही प्रेरणाएँ ग्रहण करता है। उसके लिए प्रत्येक व्यवहार एक संकेत है, एक प्रेरणा है। जब माँ-बाप बच्चे को प्रेरणा देने का मुख्य माध्यम प्रताड़ना को बना लेने हेतु तत्पर हो जाते हैं, तो इसके मनोवैज्ञानिक अर्थ क्या होते हैं ? यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए। बच्चे के भीतर इसकी एक साथ दो प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं और दोनों ही अनिष्टकारी हैं।

पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि बच्चा स्वयं भी प्रताड़ना को एक सशक्त माध्यम मानने लगता है। वह अपने साथियों को मारने में शान समझता है और मार-पीट को ही महत्वपूर्ण क्रिया समझता है। प्रकारान्तर से वह शरीर को तथा हिसक वृत्ति को अधिक प्रधानता देने लगता है। वह मानने लगता है कि शरीर को दबाने, शरीर पर जोर-जुल्म करने से ही दूसरों से मनचाहे काम कराए जा सकते हैं। विचारों-भावनाओं पर प्रभाव डालने की दूसरी विधियों की वह उपेक्षा करने लगता है।

दूसरी प्रतिक्रिया विद्रोह की होती है। यह भी स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है, क्योंकि प्रताड़ना बच्चे की इच्छा को कोई स्वाभाविक मोड़ तो दे नहीं पाती। जबकि मनोविज्ञान का बहुचर्चित सिद्धान्त है कि 'विल्स डामिनेट बॉडी' इच्छाएँ शरीर से अधिक प्रभावशाली होती हैं। अतः शरीर पर पड़ने वाले दबाव से इच्छाएँ नहीं दब सकती हैं, वरन् वे विद्रोह करती हैं।

इस पर अभिभावकों के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि तब क्या बच्चों की हर इच्छा को पूरी होने दें। आखिर हम उन्हें प्रताड़ना तभी तो देते हैं, जब अपनी किसी अनुचित इच्छा के अधीन वे कोई अवांछित हरकत कर बैठते हैं। यदि प्रताड़ना नहीं देंगे, तो उन अनुचित इच्छाओं पर नियन्त्रण कैसे लगाया जा सकेगा? वस्तुतः यदि इच्छाएँ ऐसी हैं, जिनसे बच्चे का अहित हो सकता है, तो उनको दूसरी समानान्तर अच्छी इच्छा के लिए मोड़ना चाहिए। बच्चे को मालूम नहीं है कि चाय पीना स्वास्थ्य के लिए अहितकर है, उसने अपने मित्र, पिता या किसी पड़ोसी को चाय पीते देखा है। उसकी भी इच्छा है कि चाय पी जाय, उसे दबाना चाहेंगे, तो सम्भव है वह बाजार में जाकर चाय पिये और उसके लिए घर में पैसे की चोरी करे। बेहतर है कि उसे एक चप चाय दे दी जाय, फिर उसको चाय की बुराई से परिचित कराकर प्रतिदिन मीठा दूध या कोई अन्य पौष्टिक पेय लेने को प्रेरित किया जाय। बच्चा यह बात मान लेगा और फिर दुबारा चाय के लिए हठ नहीं करेगा।

सुरुचि का विकास बालक को साहसी और स्वाभिमानी बनाने का महत्वपूर्ण साधन है। हमारी भूल यह है कि हम बच्चों को किसी भी काम के अयोग्य समझ लेते हैं। यदि उसमें थोड़ी-सी बुराईयाँ भी हों, तो भी उसे बिल्कुल अयोग्य न समझकर यह मानना चाहिए कि उन्हें गलत दिशा दी गई अथवा उसके पूर्वजन्म के संस्कार अच्छे नहीं रहे।

आगे बच्चों में यह दोष प्रबल न हो, इसके लिए उन्हें सुरुचि वाला बनाना चाहिए। पार्श्व देशों में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक विशेष पसन्द (हॉबी) होती है—किसी की खेलने की, किसी की बागवानी की, किसी की घुड़सवारी की, किसी की बर्दईगरी और किसी की अपनी ग्राइवेट प्रयोगशाला में बैठकर नये-नये प्रयोगों द्वारा

छोटी-छोटी सुविधा बढ़ाने वाली नई वस्तुओं के अनुसन्धान की। ऐसी रुचियाँ यदि हम अपने बालकों में पैदा कर सकें तो उन्हें अनेक बुराईयों से सहज ही बचा सकते हैं।

क्रियाशीलता आत्म-चेतना का गुण है। बच्चा चुप रह ही नहीं सकता, यदि उसे कोई निश्चित दिशा न दी जाये, तो यह आवश्यक है कि वह तोड़-फोड़, मार-धाड़, छीन-झपटी करे। यही आदतें धीरे-धीरे बुरे स्वभाव में बदल जाती हैं। यदि प्रारम्भ से ही बच्चे में कोई रचनात्मक रुचि पैदा कर दें तो बच्चा एक नया आत्मविश्वास लेकर आगे बढ़ सकता है।

डॉ. फ्रायड उद्घातीकरण (सब्लीमेशन) के पक्ष में थे। कोई लड़का मान लीजिए क्रोधी स्वभाव का है, बहुत बढ़-बढ़कर बातें करता है, अहंकारी है, जहाँ जाता है वहीं झगड़ा कर देता है। उसे यदि कोई अच्छी पुस्तक देकर या खेलने-कूदने की प्रेरणा देकर उस आदत को मोड़ना चाहे, तो सम्भव है कि वह किताब को भी फेंक दे और खेलने-कूदने वाले साथियों को भी मार-पीट बैठे। ऐसे बच्चों को उद्घातीकरण द्वारा उपयोगी बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उसे गुपिंग करना सिखाया जाये और उसे कोई स्काउटिंग एन. सी. सी. आदि किसी ग्रुप का नेता बनाकर उसे एक अच्छे सैन्य अधिकारी का उत्तरदायित्व निबाहने की प्रेरणा दी जाये। इसमें उसके खराब गुणों का उसी प्रकार उपयोग हो सकता है जैसे गन्दी खाद का उपज बढ़ाने में।

इस तरह बच्चों को जब भी कुछ समझाया, सिखाया या अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरित किया जा रहा हो तो यह ध्यान बना रहे कि उसे पूर्ण स्नेह और सहानुभूति पाने का विश्वास हो रहा है। बीच-बीच में उसकी जिज्ञासाओं को भी जगाया जाता रहे। घटनाओं, प्रसंगों या कथाओं के माध्यम से उसकी पुष्टि भी की जाती रहे। उसे दूसरों के आगे परिचित (इन्ट्रोड्यूस) भी कराया जाता रहे। बच्चे की गलत प्रशंसा भूलकर भी न की जाये, पर उसकी छोटी-सी विशेषता को भी बड़ा माना जाये, तो निश्चय ही एक दिन वह उस छोटी-सी अच्छाई को ही बहुत अधिक विकसित कर लेता है।

हर स्थिति में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि बच्चे की इच्छाशक्ति को भी महत्व दिया जाय और उसे दिशा देने की सतर्कता बरती जाय, तभी उसमें सत्त्ववृत्तियों का उभार सम्भव है। प्रताड़ना से तो बच्चों में विद्रोह-भावना ही पनपेगी, आवश्यकता उन्हें प्रेरणा देने की है।

बच्चों को प्रेम से सुधारिये

कई परिवारों में इस विचार के लोग होते हैं कि बच्चों को सुधारने, उनकी बुरी आदत छुड़ाने और उन्हें अच्छा बनाने का एकमात्र उपाय उन्हें समय-समय पर धमकाते रहना तथा शरारतों के लिए दण्डित करना है।

इस विचार से लोग अपने बच्चों को डराने, धमकाने, प्रताड़ना देने में अधिक विश्वास रखते हैं। लेकिन प्रताड़ना और दण्ड की प्रतिक्रिया बच्चों के लिए घातक और अनर्थकारक ही होती है। भयवश कदाचित् बच्चे अपने अभिभावकों के मनोनुकूल चलने और रहने भी लगे तो भी वे पीठ पीछे उदण्डता करने, बदमाशियाँ सीखने का रास्ता पा जाते हैं। बच्चा अपने माता-पिता के डर से दोहरी जिन्दगी जीने लगता है। सामने कुछ और पीछे से कुछ।

दण्ड और प्रताड़ना बच्चों को भयभीत बनाकर उन्हें कुण्ठित तो करते ही हैं, माता-पिता के प्रति भी उनमें अवमाननापूर्ण रवैया बढ़ने लगता है और वे अपने अभिभावकों को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखने के स्थान पर शत्रु और अवमानना की दृष्टि से देखने लगते हैं। कहा जाता है कि बच्चों की मनःस्थिति इस योग्य नहीं होती कि उन्हें हर ऊँच-नीच समझाया जा सके। इसलिए उन्हें सही मार्ग पर रखने के लिए केवल प्रेम ही काफी नहीं है, कुछ डरा-धमकाकर रखने की सतर्कता भी बरती जानी चाहिए। यह ठीक है कि अधिक शरारती बालकों के लिए यत्किञ्चित् दण्ड देना भी आवश्यक है। लेकिन यह भी स्मरणीय है कि बच्चों की शरारतें दण्डनीय तब बनती हैं जब उन पर आरम्भ से ही ध्यान न दिया जाय। छोटे बच्चों की हर उदण्डता को पहले तो लाड़-प्यार के वशीभूत होकर सहा जाता है। यहाँ तक कि प्रोत्साहित भी किया जाता है। अक्सर घर के बड़े-बूढ़ों के पास जब छोटे बच्चे किसी मार-पीट की शिकायत करते हैं तो हँसते-हँसते वे कह देते हैं कि वह मारता है तो तू भी मार। लेकिन यही निर्देश जब बच्चा कोई अच्छी बात समझकर अपने मन में बिठा लेता है और थोड़ा बड़ा होने पर मार-पीट करने लगता है तो वही आदत बड़े-बूढ़ों को भी खलने लगती है।

इसके विपरीत यदि आरम्भ से ध्यान रखा जाता तो स्थिति यहाँ तक नहीं पहुँच सकती। बड़ों की गलती से बच्चे सीखते हैं और जब वे जान-बूझकर गलती करने लगते हैं तो बड़े दण्ड भी उन्हें ही देने की फ़िक्र करते हैं। बच्चों के लालन-पालन में विवेक और उचित-अनुचित का पूर्व विचार तो आवश्यक है ही साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि उसकी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को कैसे नियन्त्रण में रखा जाय ? बच्चा जन्मजात ध्वंसात्मक प्रवृत्ति लेकर आता है। बच्चा ही क्यों जहाँ भी प्रतिभापरक सम्भावनाएँ होती हैं, वहाँ सृजन के साथ ध्वंस भी जुड़ा होता है। यही कारण है कि शरारती बच्चे सामान्य बच्चों से अधिक प्रतिभासम्पन्न होते हैं। उन्हें यदि समुचित दिशा दी जा सके, सृजन की ओर अभिमुख किया जा सके तो उनकी प्रतिभा को खुलकर बाहर आने का अवसर मिलता है।

स्मरणीय है कि दण्ड की प्रतिक्रिया कभी लाभदायक नहीं होती। स्वभावतः ही शरारती बच्चों को प्रेम से ही सुधारा जा सकता है न कि दण्ड और प्रताड़ना से अपने बच्चों से सभी कोई प्रेम करता है पर उसकी शरारतों से खीजकर उन्हें रोकने का कोई चारा न दिखाई देने से वे दण्ड का ही सहारा लेते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि प्रेम से श्रेष्ठ और कारगर उपाय नहीं है। दण्ड और प्रताड़ना ही नहीं, दूसरा भी उपाय उसका है।

प्रेमपूर्वक बच्चों को सही दिशा किस प्रकार दी जा सकती है ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। बच्चों के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति का रूप एक ही है उन्हें पुरस्कार देना। पुरस्कार फिर वही चूमकर दिया गया हो या थपथपाकर शाबासी देकर अथवा कोई खिलौना या मिठाई देकर। बच्चे इसी रूप में प्रेम का परिचय प्राप्त करते हैं और अनुभव भी। कुछ लोगों के लिए यह आश्चर्य का कारण हो सकता है कि जो बच्चे दण्ड से नहीं सुधर सकते वे प्रेम और पुरस्कार से सुधरते हैं। पुरस्कार प्रोत्साहित करने के लिए दिया जाता है तो क्या शरारत करने पर 'पुरस्कार' द्वारा उन्हें प्रोत्साहित किया जाये ?

वस्तुतः तो पुरस्कार प्रोत्साहन नहीं एक दिशा है। किसी खेल में अब्बल आने पर पुरस्कृत किया जाता है कि वह और अच्छा खेले और अच्छा पढ़े। प्रोत्साहन उसे दिशा मिलने से प्राप्त होता है न कि पुरस्कार से। अन्यथा तो पिछड़े और कमजोर बच्चों को पुरस्कृत कर भी उन्हें पढ़ने में आगे और खेलने में अच्छा बनाया जा सकता था। लेकिन ऐसा होता नहीं है। किसी क्षेत्र में कोई सफलता प्राप्त कर लेने के बाद ही बच्चों को पुरस्कार द्वारा यह अनुभव कराया जा सकता है कि उसे इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिए।

लेकिन एक डर यह भी रहता है कि बच्चे में पुरस्कार के प्रति ज्यादा लगाव उत्पन्न हो गया तो उसमें घूस जैसी आदत पड़ जायेगी। वह कहने लगेगा जब तक मुझे अमुक चीज नहीं दी जाती या अमुक ढंग से मेरे मनोनुकूल कार्य नहीं किया जाता, तब तक मैं न तो पढ़ूँगा और न ही आज्ञा मानूँगा। निश्चित रूप से इस स्तर का पुरस्कार घूस ही बन जाता है। अतः पुरस्कार में परिवार के सभी सदस्यों को शामिल करना चाहिए। कहा जा सकता है कि तुम यदि दो दिन तक अपने कपड़े साफ रखोगे तो हम लोग बाजार चलेगें या तुम आज का पाठ पूरा करोगे तो हम सब एक कहानी सुनेंगे।

इस प्रकार के पुरस्कारों से बच्चों को दिशा और उसमें आगे बढ़ने का प्रोत्साहन तो मिलता ही है, परिवार के अन्य सदस्यों की प्रसन्नता का ध्यान रखने की वृत्ति भी विकसित होती है। बच्चों में जहाँ यह वृत्ति होती है कि उसके कार्यों को सहायनापूर्ण दृष्टि से देखा जाय, वहीं यह वृत्ति भी कम नहीं होती कि घर के लोग उससे प्रसन्न हों, दूसरों को प्रसन्नता देकर आनन्दानुभूति प्राप्त

करना मनुष्य स्वभाव का एक गुण है। बच्चों में भी वह होता है। यदि उसे आरम्भ से ही विकसित किया जाय तो आगे चलकर मानवीय व्यक्तित्व की अन्य विशेषताओं से भी सम्पन्न बनाया जा सकता है।

अक्सर तो देखा जाता है कि अभिभावक दण्ड देना आवश्यक समझकर बच्चों को उतना दण्ड नहीं देते जितना कि अपनी खीझ उतारने के लिए। घर में कोई बात हो गई हो, पति से मन-मुटाव या कहा-सुनी हो गयी हो तो माताएँ सारा गुस्सा अपने बच्चों पर उतारती हैं। बात-बेबात पर उन्हें पीट देती हैं। इस प्रकार अकारण ही बच्चों को डाँटना-फटकारना, उन्हें भीरू और दबू बना देता है अथवा उन्हें भी अपने माता-पिता की नकल करना सिखा देता है। छोटी बालिकाएँ अपनी गुड़ियाओं को उसी प्रकार डाँटती हैं जैसे कि माँ उन्हें डाँटती हैं। घर में फटकार खाकर आये बालक स्कूल में अपने छोटे साथियों से मार-पीट करते हैं, उन्हें दबाते और धमकाते हैं। हमेशा फटकार खाते रहने वाले बालक भी उतने ही कर्कश और कठोर हो जाते हैं जितने कि अभिभावक उनके साथ।

कहने का अर्थ यही नहीं कि बच्चे को दण्ड देना ही नहीं चाहिए। दण्ड दिया जा सकता है पर वह मार-पीट या धमकी के रूप में ही हो, यह कोई जरूरी नहीं है। इस रूप में भी तो दण्ड हो सकता है कि कल हम तुम्हारे साथ नहीं खेलेंगे या तुम्हारे साथ घूमने नहीं जायेंगे। फिर बालक इतना सुनते ही अपनी भूल को सुधारने के लिए तत्काल तैयार हो जायेगा।

आरम्भ से ही प्रेम, पुरस्कार और विवेकपूर्ण दण्ड देने की बात का ध्यान रखा जाय तो बच्चों में वैसी आदत ही नहीं पड़ती। जिसका कि कोई समाधान न हो। माता-पिता अपने बच्चों से प्रेम करते हैं तो प्रेम व्यक्त भी करें। मन में प्रेम और बाहर से कर्कशता बरतने का क्या तो औचित्य और क्या तुक ?

बच्चे चाहते क्या हैं ?

‘पीस इन द होम लीग’ नामक एक संगठन बनाकर शिकागो में कुछ बच्चों ने निश्चय किया है कि वे अपने घरों में शान्ति का वातावरण बनाये रखने के लिए प्रयत्न और आवश्यकतानुसार सत्याग्रह करेंगे।

बच्चों के इस प्रकार के संगठन और उनके इस संकल्प को बाल-स्वभाव कहकर उपेक्षा की जा सकती है किन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि इस तरह के प्रयत्न के पीछे बच्चों की कौन-सी आन्तरिक पीड़ा उद्भासित हो रही है।

बात यह है कि इन दिनों यूरोप के अन्य भागों की तरह शिकागो भी चमक-दमक, रूप-सज्जा, वासना-विलासिता के जाल-जंजाल में फँसा हुआ है। जीवन में इस तरह ओछापन बढ़ जाता है, तो उससे पारिवारिक

बन्धन, दाम्पत्य प्रेम और परस्पर आत्मीयता के भाव नष्ट होने लगते हैं। स्वार्थ के साथ कलह, कपट, कुविचार और दुष्कर्मों का प्रवाह बढ़ जाता है। कहना न होगा कि इसका सबसे कटु-प्रभाव सौम्य एवं सुकोमल चित्त बालकों पर ही पड़ता है। वे अपने माता-पिता के प्रति ही नहीं समाज के प्रति भी उदासीन होने लगते हैं। यही वृत्ति धीरे-धीरे उद्दण्डता और अपराध में परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार के प्रयास का मूल संकल्प ऐसे ही कारणों से भोले-भाले बच्चों के मन में पैदा हुआ। इस लीग के प्रधान १४ वर्षीय बालक ‘हीदर ग्रे’ ने बताया कि हमारे माता-पिता आपस में झगड़ते हैं या अपने-अपने स्वार्थ को लेकर कलह और मनोमालिन्य उत्पन्न करते हैं तो घर में जो क्षोभ और दुराशा का वातावरण बनता है, उससे हमें घुटन अनुभव होती है। यदि एक का पक्ष लें तो दूसरे के कड़वे बनें, जबकि दोनों ही बाहें अपनी हैं। माँ से जुड़ें, तो पिता के स्नेह, प्रेम और आदर से वंचित, पिता से हृदय जोड़कर रखें, तो माँ के वात्सल्य, सौम्यता और दुलार को खोयें। हमारे लिए दोनों ही स्थितियाँ कष्टकारक हैं इसलिए अब बुराई के विरुद्ध सत्याग्रह करने का निश्चय किया है।

‘हीदर ग्रे’ जब अपने परिवार और बालकों की इस मनोदशा का वर्णन कर रहा था तो भावातिरेक से बार-बार उसके आँसू भर आते थे, गला रुँध जाता था। इससे पता चलता था, बच्चों के लिए प्रेम, स्नेह, शान्ति और सौम्यतापूर्ण व्यवहार का कितना अधिक महत्व है ? इन रस भरी भावनाओं का आकर्षण हो तो बच्चों को महान व्यक्तित्व बड़ी सुगमता से प्रदान किया जा सकता है।

पारिवारिक जीवन में दुराग्रहों, दुष्प्रवृत्तियों के बढ़ने की यह स्थिति कितनी चिन्ताजनक है और उस दिशा में अभिभावकों को कितनी जिम्मेदारी का पालन करना चाहिए इसका अनुमान इस समाचार से होगा। बच्चों ने निश्चय किया है कि झगड़ालू माता-पिताओं को वह दण्ड देंगे कि उनके बच्चे उनके प्रत्येक झगड़े के बाद एक सप्ताह तक बात नहीं करेंगे। यह दण्ड यद्यपि बालकों की आत्म-पवित्रता के अनुरूप ही है, पर इससे उन अभिभावकों पर कितना प्रभाव पड़ेगा, कहा नहीं जा सकता। यदि वे स्वयं स्थिति की गम्भीरता को नहीं अनुभव करते और अपनी मनोवृत्तियाँ बदलने के लिए स्वेच्छा से राजी नहीं होते।

यदि पति-पत्नी एक समझौता कर लें कि अपने बच्चों को पोषण, विकास और उन्हें सज्जन, उदार, सदगुणी बनाने के लिए वे परस्पर अत्यधिक प्रेम, सौजन्यता, उदारता और आत्मीयता का जीवन जियेंगे और भोगवासना आदि कलह बढ़ाने वाले और प्रेमस्खलित करने वाले कारणों को जन्म नहीं देंगे, तब तो बच्चों का यह सत्याग्रह भी सफल हो सकता है अन्यथा बालक तो

बालक ही है, इससे अधिक बेचारे और क्या कर सकते हैं ?

यह बात सुनने में तो जरूर कुछ अटपटी-सी लगेगी कि 'प्रेम और दुश्मनी' क्या अजीब बात है ? किन्तु यह नितान्त सत्य है कि कुछ अभिभावक प्रेम के नाम पर बच्चों से दुश्मनी करते हैं अर्थात् उनका प्रेम-प्रदर्शन कुछ इस प्रकार का होता है, जिससे कि उन्हें बड़ी हानि होती है।

कुछ अभिभावकों का स्वभाव होता है कि वे बच्चों के खाने-पीने का बड़ा ध्यान रखते हैं। ध्यान इस माने में नहीं कि उसने ठीक समय पर खाना खाया है या नहीं। वह कोई ऐसी चीजें तो नहीं खा-पी रहा है, जो उसके स्वास्थ्य के लिए अहितकर हो। ध्यान इस बात का रखते हैं कि क्या बात है कि बच्चे ने आज ठीक से नहीं खाया, क्या कुछ पसन्द नहीं आया ? न हो तो, कुछ अच्छी चीज बनवा दी जाये या बाजार से ही कुछ बढ़िया चीज ले दी जाये।

ऐसा करने से बच्चे चटोरे और तरह-तरह की चीजें खाने के आदी ही होते हैं। उनको स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य की चीजों का ज्ञान नहीं रहता। वे अपव्ययी और बाजारू हो जाते हैं, जिससे उन्हें घर की बनी सामान्य और साधारण चीजें अरुचिकर हो जाती हैं।

बहुत-से अभिभावक तो बच्चों को बार-बार खिलाते हैं। माँ खाती है तो अपने साथ-खिलाती है, पिता खाने बैठता है तो अपने साथ बिठा लेता है और अलग से तो उसे भोजन करना ही पड़ता है। यही नहीं कि माता-पिता अपने साथ केवल बिठा ही लेते हों। जब तक स्वयं खाते हैं, तब तक उसे भी खिलाने की कोशिश करते हैं और यदि वह नहीं खाता, तो उसे प्यार से, अनुरोध करके या पैसे देने का वायदा करके खाने को विवश करते हैं और इस प्रकार जब उसकी पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है तो तरह-तरह की दवाइयाँ खिलाकर भूख बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

बहुत-से अभिभावक बहुत-सी चीजें बच्चों को खिलाते-पिलाते रहते हैं। जैसे अभी चाय पिलाई गई तो कुछ देर बाद उसे दूध पिलाते हैं, फिर नाश्ते का नम्बर आता है। पुनः 'मैं तुम्हारे लिए केले लाया था खा लिये या नहीं ?' और 'जाओ, माँ से अपनी मिठाई का हिस्सा तो ले लो जाकर' यानी उनका वे खाने-पीने का कुछ ऐसा क्रम लगा देते हैं कि बच्चे को आष घण्टे का भी अवकाश बिना खाये नहीं मिलता।

बहुत-से माता-पिता विश्वास रखते हैं कि बच्चा जितनी बार और जितना अधिक भोजन करेगा, वह उतना ही तन्दुरुस्त और ताकतवर होगा। इसलिए वे उसे बार-बार प्रेरित करके दो-तीन बार से ज्यादा भोजन करने को विवश करते हैं।

कुछ अभिभावक दूध, दही, घी, मलाई, मक्खन आदि गरिष्ठ वस्तुओं का बहुत प्रयोग ही स्वास्थ्य का आधार मान लेते हैं और उन्हें खूब खिलाते हैं। वे उसकी औकात और उसकी पाचन-शक्ति का विचार बिलकुल नहीं रखते। उनकी इस प्रकार की भोजन सम्बन्धी चिन्ता और तत्परता बच्चे के स्वास्थ्य को ठिकाने लगा देती है किन्तु किया क्या जाये उन्हें बच्चे से प्रेम जो है।

बहुत-से अभिभावक बच्चों का बहुत ही कीमती वस्तु पहनाने में सन्तोष अनुभव करते हैं। उनका दृष्टिकोण उपयोगिता का नहीं, तड़क-भड़क, शान-शौकत और प्रदर्शन का रहता है। वे बच्चों को स्वयं बाजार ले जाते हैं और अच्छे-से-अच्छे कपड़े खुद उनसे पसन्द कराकर खरीदते हैं, फिर वे चाहे कितनी ही कीमती, कमजोर और अनुपयोगी क्यों न हों ? अभिभावकों को इस दुर्बलता से दुकानदार खूब लाभ उठाते हैं। वे बच्चों की पसन्द के कपड़ों का अच्छा-खासा मूल्य वसूल करते हैं कि जो कपड़ा बच्चा पसन्द कर लेगा, लेने से इनकार नहीं कर सकते। इधर इस छूट के कारण बच्चे वस्त्रों की उपयोगिता उनसे सम्बन्धित मितव्ययता और उनके मजबूत व टिकाऊ होने के विचार से वंचित रह जाते हैं और जीवनभर इसका महत्त्व नहीं जान पाते हैं। साथ ही वे आदत से फैशनेबल दिखावा पसन्द और तड़क-भड़क वाले बन जाते हैं। जो उनके लिए आगे चलकर अहितकर होता है। ऐसे वस्त्रों की सिलाई और धुलाई पर भी बहुत खर्च होता है।

बच्चों के पास बहुत-से फैशनेबल दिखाऊ और कीमती कपड़े होने से वे उनको बार-बार पहनने, बदलने और दिखाने में ही लगे रहकर अन्य कामों की ओर बहुत कम ध्यान दे पाते हैं। साथ ही कपड़ों की बहुतायत होने से, उनको ठीक से रखने और ठीक से उपयोग करने की ओर से लापरवाह हो जाते हैं। बहुत अच्छे कपड़े पहने होने के कारण कोई काम करते वक्त उनका ध्यान कपड़ों की ओर अधिक, काम की ओर कम रहता है, जिससे कोई काम वे सुचारुता से नहीं कर पाते फलतः किसी काम में दक्ष भी नहीं होने पाते।

इसके अतिरिक्त वे असाधारण कपड़ों वाले अन्य बच्चों से अपने को श्रेष्ठ और अमीर समझते हैं जिससे उनके स्वभाव में विषमता का भाव पैदा हो जाता है और वे अपने साथियों को भी हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। उनका अभिमान उनके व्यवहार में व्यक्त होने से दूसरे बच्चे उनसे ईर्ष्या और घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार से दोनों ओर से विषमता की खाई और चौड़ी हो जाती है। कुछ बच्चों पर इसकी प्रतिक्रिया हीन भाव में भी होती है, जिससे वे अपने भाग्य और अभिभावकों को मन ही मन कोसेने लगते हैं। इस प्रकार भावों में एकता का अभाव हो जाने से समाज में बहुत तरह के असन्तोष पैदा हो जाते हैं, जो सामाजिक दृष्टिकोण से बहुत

अहितकर हैं। किन्तु क्या किया जाये माता-पिता को अपने बच्चे से प्रेम जो बहुत है।

यदि वह बहुत कहने-सुनने पर भी नाशता स्कूल नहीं ले गया है तो किसी के हाथ भेजेंगे या खुद लेकर जायेंगे। उन्हें यह विश्वास किये बगैर धैर्य ही नहीं आता कि थोड़ी देर बाद स्कूल में उसे भूख जरूर लगेगी। यद्यपि भूख बहुत देर तक बच्चे के आस-पास से भी गुजरने की कोई सम्भावना नहीं होती तथापि प्रेमवश अभिभावकों को अपनी कल्पना में वह भूख से तड़पता नजर आता है। इस प्रकार का प्रेम स्वास्थ्य के पीछे लट्ट लिए घूमने के सिवाय और क्या उपकार कर सकता है ?

यदि स्कूल से आने में उसे किसी कारणवश पन्द्रह मिनट की भी देर हो गई तो बस दौड़े-दौड़े स्कूल पहुँचे और उसे अपनी हमराही में घर लेकर आये। बच्चे के लिए इस प्रकार की चिन्ता उसे बिल्कुल निकम्मा और अबोध बना देती है। साथ ही उसे एक ऐसा बन्धन हो जाता है कि वह दस-पन्द्रह मिनट को किसी खेल या मैच में ठहर भी नहीं सकता।

कुछ अभिभावक जरा सर्दी बढ़ जाने अथवा पानी बरस जाने से बच्चे को स्कूल जाने से रोक लेते हैं और यह कहकर घर में ओढ़-लपेटकर बैठ रहने का निर्देश कर देते हैं कि कहीं सर्दी लग जायेगी या जुकाम हो जायेगा। इस प्रकार के निरर्थक बचावों और हिफाजत से बच्चा बिल्कुल सुकुमार और असहिष्णु हो जाता है। जब तब सर्दी-गर्मी का बहाना करके पढ़ने से जी चुराने लगता है।

कुछ अभिभावकों का स्वभाव होता है कि बच्चे के छींकने या खाँसते ही उसकी नब्ब पर हाथ रखते हैं, जिससे बच्चे के मन में सदैव ही बीमारी की एक आशंका लगी रहती है, जो उसके स्वास्थ्य पर सबसे बुरा असर डालती है, पर क्या किया जाये उन्हें अपने बच्चे से प्यार जो बहुत है।

फिर यदि जब कभी वह खेलने-कूदने की इच्छा करता है तो उसे यह कहकर निरुत्साहित कर देते हैं कि बच्चों का खेलना ठीक नहीं, खेलने से चोट लग जाती है। इस प्रकार अभिभावकों द्वारा प्रेमवश उसके स्वास्थ्य के साथ किये गये अन्याय के निराकरण की जो थोड़ी-बहुत आशा की जा सकती थी, वह भी उसके खेलने-कूदने पर प्रतिबन्ध लग जाने से समाप्त हो गई। अतः इस प्रकार का सारा लाड़-दुलार मिलकर उसे अस्वस्थ कर ही देता है।

तब बड़ी चिन्ता से अच्छे-से-अच्छे डाक्टर के पास से दवा लायेंगे, किन्तु खिलाते या पिलाते वक्त बच्चे ने मुँह बिगाड़कर यह कह दिया कि "यह तो कड़वी है हम नहीं पियेंगे" कि बस एक-आध बार तो औपचारिक ढंग से उससे पीने को कह दिया, नहीं तो अच्छा न पियो कल मीठी दवा ला देंगे। दूसरी बार डाक्टर से

बार-बार अनुरोध करके ऐसी दवा लाने की कोशिश करेंगे जो बिल्कुल शरबत की तरह मीठी और स्वादिष्ट हो और रुचिपूर्वक पी ले।

पथ्य में यदि बच्चे को कुछ खाना-पीना मना कर दिया गया है तो जितना कष्ट बच्चे को नहीं होगा, उससे अधिक स्वयं उन्हें होगा। वे बच्चे के निराहार की कल्पना से त्रस्त हो उठेंगे और खाना न सही खाने की बातें करके ही अपना और उसका मन बहलायेंगे। क्या तुम्हें भूख तो नहीं लगी मुझे ? जरूर लगी होगी। कल डाक्टर साहब से जरूर खाने के लिए कहेंगे। आज और धीरज रखो कल फिर खूब अच्छी-अच्छी यह चीजें वह चीजें खाने को देंगे। बाजार से अमुक दुकान से अमुक चीज ला देंगे, गर्ज कि यहाँ तक खाने-पीने की बात करेंगे कि इच्छा न होते हुए भी उसकी भोजन-वृत्ति जाग जाती है और तब उनका लाइला झूठी-भूख अनुभव करके खाने के लिए ज़िद करने लगता है, जिसका फल यह होता है कि माता से बचा तो पिता और पिता से बचा तो माता, भोजन अवश्य करा ही देती है। निदान रोग की आयु एक दिन से बढ़कर एक सप्ताह हो जाती है। किन्तु लाभ न होने की शिकायत डाक्टर से करते हैं, बहुत कुछ पूछने पर भी जहाँ तक सम्भव होता है अपने प्यार की कारगुजारी डाक्टर से छिपाये रहते हैं।

कोई-कोई माता-पिता डाक्टर के बताये पथ्य में कुछ हल्का-सा हेर-फेर अपनी ओर से कर लेने में कोई हर्ज नहीं समझते। जैसे डाक्टर ने केवल परवल का पानी बतलाया है तो वे पानी को साधारण शोरबे का रूप देने को कोई अपथ्य नहीं मानते। यदि डाक्टर ने हल्की चाय बतलाई है तो वे बच्चे की कमजोरी दूर करने के विचार से दो चम्मच दूध बढ़ा देना जरूरी समझते हैं। इस प्रकार यदि रोगकाल में, बच्चे प्यार करने वाले अभिभावकों की क्रिया-कलाप का पूरा-पूरा ब्यौरा दिया जावे तो स्पष्ट पता चल जायेगा कि बच्चे के प्रति उनके प्यार का क्या अर्थ है ?

बहुत-से अभिभावक अपने बच्चों को बहुधा दूसरे बच्चों के साथ खेलने नहीं देते। उन्हें अपने बच्चों के सिवाय दुनिया के सब बच्चे लड़ाकू और झगड़ालू दिखाई देते हैं। अपने बच्चों को रोकने के लिए वे ऐसा भाव उनके मस्तिष्क पर थोप देते हैं, जिससे वह अन्य बच्चों को लड़ाकू और झगड़ालू समझकर उनसे डरने लगते हैं। जिसका फल यह होता है कि वे अकेले पड़ जाते हैं और कुछ दिनों में उन्हें एकाकीपन का विषाद घेरने लगता है, वे उदास रहने लगते हैं और उनका सारा मानसिक विकास रुक जाता है।

कुछ अभिभावक यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि स्कूल में अध्यापक उनके बच्चों के साथ सख्ती का व्यवहार तो नहीं करते हैं और यदि कोई बच्चा कभी उसका आभास दे देता है, तो वे मास्टर के पास

उलाहना देने पहुँच जाते हैं और उसके साथ अच्छा व्यवहार करने की सिफारिश उसी के मुँह पर ही करने लगते हैं। जिसका फल यह होता है कि अध्यापक ऐसे बच्चों की ओर से उदासीन हो जाते हैं वे जिससे पढ़ने-लिखने में बिलकुल शून्य हो जाते हैं।

सारांश यह है कि इस प्रकार लाड़िले बच्चों के अभिभावकगण, जितने भी उपाय हर प्रकार से बच्चे की जिन्दगी खराब होने के हो सकते हैं, प्यार की संज्ञा देकर, कर उठाने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखते। अब वह अपने भाग्य से कुछ बन जाय तो दूसरी बात है।

अब यदि इन बातों पर गहराई से विचार किया जाये तो इस प्रकार का प्यार बच्चे के साथ दुश्मनी करने के सिवाय और क्या कहा जायेगा ?

बच्चे घर छोड़कर क्यों भागते हैं ?

समाचार-पत्रों में विज्ञापन के कॉलम 'गुमशुदा की तलाश' से भरते जा रहे हैं। गुमशुदा व्यक्तियों में बहुत-से व्यक्ति तथा किशोरवय के बालकों को खोजने और पता देने वालों के लिए इनाम घोषित होता है। बड़ी उम्र के युवक और वयस्क किसी कारण से घर छोड़कर बाहर निकल सकते हैं, जिनमें प्रेम, रोजगार की तलाश, घर से मन-मुटाव या कोई भी आकर्षण जैसी बात हो सकती है। परन्तु अपरिपक्व बुद्धि और उम्र के किशोर बच्चे घर से क्यों भाग निकलते हैं ? इसका कारण समझने के लिए गहराई से विचार करना होगा। यद्यपि परिवार के हित में भी तथा स्वयं भागने वाले युवक और प्रौढ़ व्यक्ति के हित में घर छोड़ना लाभदायक नहीं होता। हानि उठाकर, भूखों मरते हुए, दर-दर की ठोकें खाकर भटकते रहना, मंजूर करने वाले युवक और किशोर किहीं ऐसी परिस्थितियों और घुटन के शिकार हो जाते हैं, जो परिवार में जन्म ही लेती हैं।

भागने और घर छोड़ने के विचार का बीज प्रायः बचपन में ही मनोभूमि में पड़ चुका होता है। जो समय पाकर अंकुरित होता है और परिवार तथा स्वजनों से विद्रोह करने के लिए बाध्य करता है। बचपन में मिला पारिवारिक वातावरण ही इस प्रकार की घुटन और विद्रोह का उत्तरदायी है।

परिवार के वातावरण निर्माण में माता-पिता और अन्य बड़े सदस्यों का मुख्य हाथ रहता है। यह वातावरण सदस्यों के परस्पर व्यवहार, आदेशात्मक दबाव, कटुता, उपेक्षा, तिरस्कार से बिगड़ता है और एक-दूसरे की इच्छा, आवश्यकता समझकर अपनाया गया सहयोगी दृष्टिकोण, मधुर व्यवहार, सम्मान तथा परस्पर हितकारी रवैये से सुधरता है। इन थोड़ी-सी बातों को समझ लिया जाये और अपने परिवार में अच्छा वातावरण बना लिया जाय तो

इस समस्या की जड़ ही समाप्त हो जायेगी। न तो घर की बेइज्जती होगी और न किसी बच्चे को दर-दर की ठोकें खाने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

घर के बड़े सदस्य यह समझते हैं कि परिवार के छोटे बच्चे या अन्य सदस्य केवल उम्र में छोटे होने के कारण हमारे दास हैं या आश्रित हैं। इसलिए हमें उनसे सेवा करने या काम लेने का पूर्ण अधिकार है। यह अधिकार की भावना ही उन्हें बच्चों के प्रति अनुचित व्यवहार की प्रेरणा देती है। वे न तो यह सोचते हैं कि बच्चा इस समय किस काम में लगा हुआ है और न ही उसकी सुविधा तथा इच्छा का ध्यान रखते हैं। बच्चों में स्वभावतः ही अपने से बड़ों की सेवा करने, उनके काम आने की हार्दिक इच्छा रहती है। परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि जब वे अपनी दृष्टि के किसी महत्वपूर्ण काम में लगे होते हैं या उस समय विग्राम करना चाहते हैं, ऐसे अवसर पर ऊपर से दी गई आज्ञा उन्हें व्यथित कर देती है। वे सोचने लगते हैं कि काश इस समय यह काम नहीं करना पड़ता।

चूँकि उनके मन में शुरू से ही यह बात होती है कि बड़ों की आज्ञा-पालन करनी ही चाहिए। संस्कारवान बालक ऐसी दशा में अपने मन की भावना को दबाकर भी बड़ों का काम कर देते हैं। परन्तु स्वच्छन्द स्वभाव के बच्चे तो ऐसे अवसर पर स्पष्ट रूप से अपनी इच्छा कह देते और असमर्थता जाहिर कर देते हैं।

बड़े सदस्यों पर इसकी बड़ी गहरी प्रतिक्रिया होती है। समझदार व्यक्ति तो जान लेते हैं कि बच्चा इस समय उनकी सेवा या आज्ञा मानने के मूड में नहीं है। लेकिन स्वयं को बड़ा होने का मान रखने वाले व्यक्ति का अहं इससे आहत होता है। वे समझने लगते हैं कि बच्चा अवज्ञा कर रहा है। दुर्गुण न बढ़ने देने की सतर्कता के स्थान पर अहं को पहुँचा आघात उन्हें उत्तेजित कर देता है और वे बच्चों के दण्डनायक बन जाते हैं।

बड़े सदस्यों का रोष और क्रोध स्वतन्त्र प्रकृति के बालकों में ही नहीं संस्कारवान बच्चों के हृदय में भी यह धारणा भर देता है कि उनका महत्त्व अन्य सदस्यों की अपेक्षा गौण है। घर के परिजनों से विद्रोह का बीज इसी अवसर पर पड़ता है, जो समय पाकर अंकुरित होकर अपना फल देगा ही। बड़े सदस्यों और माता-पिता को अपने बच्चों की सेवा का लाभ उठाने के लिए आरम्भ से ही यह सावधानी बरतनी चाहिए कि वह मन से भी तैयार है या नहीं, यदि वह किसी बाहरी कारण से या अन्दरूनी दबाव के कारण काम कर रहा है तो भी अपने किसी कार्य के लिए नहीं कहना चाहिए। ऐसी स्थिति में भी गलत प्रभाव होने की सम्भावना अधिक रहती है।

बच्चों से या उनके सामने भी किसी अन्य सदस्य के साथ किया गया कठोर आचरण उसे भगौड़ा बना देता

१.१४४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

है। बच्चों से किया गया कटु-व्यवहार उन्हें आतंकित करता है, ऐसे परिवार में बालक स्वाभाविक ही घुटन भरा वातावरण अनुभव करेगा और किसी न किसी प्रकार उससे बच निकलने का मार्ग ढूँढ़ता रहेगा। डॉट-फटकार करते रहने वाले अभिभावकों से बच्चे आरम्भ में केवल उन्हीं से रुख चुराते हैं, परन्तु धीरे-धीरे आतंक का वातावरण पूरे घर को ही डरावना बना देता है। मनुष्य स्वभाव से ही उन्मुक्त, प्रफुल्ल और आनन्दपूर्ण स्थितियों का अभ्यस्त है। स्वभाव की ये विशेषताएँ निस्सन्देह रूप से बच्चों में भी विद्यमान होंगी। इसलिए जिस घर में उसे आतंक और घुटन का अनुभव होता हो, वहाँ क्यों कर रहेगा ?

अक्सर बच्चों के अनुचित कार्यों को ही देखकर माता-पिता डॉट-फटकार शुरू कर देते हैं। यदि उन कार्यों का कारण ढूँढ़ा जाय और उसके आधार पर औचित्य-अनौचित्य का निर्णय लिया जाय तो अधिकांश गलत कामों में उनका कोई दोष नहीं मिलेगा। एक माँ अपनी बेटी की शिकायत कर रही थी। बेटी ने माँ की पेट्टी में रखे हुए अपने सिक्के जो दस-बारह रुपये के लगभग थे, धीरे-धीरे निकालते रहकर खर्च कर दिये। माँ ने सोचा—आज तो मेरी ज़िम्मेदारी में पड़ी हुई अपनी ही चीज इसने चुराई, कल से दूसरों की चोरी भी करने लगेगी। बात सही थी, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही थी जिसे देखकर बच्ची नहीं माँ ही दोषी ठहराई जानी चाहिए। हुआ यह कि माँ अपनी बेटी को पहले एक चवन्नी रोज दिया करती थी, कुछ पैसे तो वह खा जाती बाकी अपनी माँ के पास गुल्लक में रख देती। जब कुछ पैसे इकट्ठे हो गये तो माँ ने गुल्लक सहेजकर रख दी।

बेटी को तो जेब खर्च की आदत पड़ चुकी थी। स्कूल जाते समय वह अपनी माँ से पहले की ही तरह पैसे माँगती। परन्तु माँ यह कहकर मना करने लगी कि तेरे पास काफी पैसे इकट्ठे हो गये हैं। अब तुझे जेब खर्च की क्या जरूरत ?

हर प्रकार से आग्रह, अनुरोध कर देख लिया परन्तु माँ किसी भी प्रकार जेब खर्च देने के लिए तैयार नहीं हुई और डॉटने-डपटने लगी। बच्चों की अपने संगृहीत पैसे से बड़ा लगाव था, वह उन्हें खर्च नहीं करना चाहती थी परन्तु स्कूल में पड़ी आदत को कैसे तृप्त किया जाये ? उसने गुल्लक में से पैसे निकालना शुरू कर दिया। अब गलती किसकी कही जाय ? लड़की में चोरी की आदत पड़ती है इसके लिए कौन दोषी हुआ ? माँ या बेटी ? एक तो यह लत पड़ी ही ऊपर से अपने रवैये को नजरअन्दाज कर केवल लड़की को ही दोष दिये जाना और उसे डॉटना-फटकारना माँ के प्रति गलत धारणा को जन्म देगा ही।

ऐसे मौकों पर माँ, पिता से शिकायत करती है और पिता, माँ से, दोनों ही एक-दूसरे से सुनी हुई बातों को सुनकर इतने असंतुलित हो जाते हैं कि उन्हें बच्चों

से उनकी समस्या सुनने का ध्यान ही नहीं रहता। बच्चा तो अपनी दृष्टि में एकदम सही है, उसे माता-पिता ही गलत महसूस होते हैं। परिणाम यह होता है कि अपने प्रति किया गया अत्याचार वह सह नहीं पाता। एक बार, दो बार, बार-बार इसी प्रकार का व्यवहार उसमें विद्रोह का बारूद भरता रहता है और फिर दुबारा पहुँचा जरा-सा भी आघात एक ऐसा विस्फोट करता है जिसके कारण बच्चा हो या बड़ा घर से मुँह मोड़कर चलता बनता है।

बच्चों को घर से भागने के लिए मजबूर कर देने वाला एक और सशक्त कारण है कि उसके प्रति उपेक्षा पूर्ण व्यवहार। कई घरों में बच्चों के साथ बड़ी उदासीनता का व्यवहार किया जाता है। वे क्या कर रहे हैं ? इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं रहता। बच्चा किसी को पीट रहा है या कोई तोड़-फोड़ कर रहा है—इससे जैसे किसी को कोई सरोकार ही नहीं। ऐसा लगता है वे किसी और के बच्चे हैं। ऐसे परिवार में माता-पिता यह मानकर चलते हैं कि बच्चों को अपने ढंग से चलना चाहिए। कील चुभेगी तो उन्हें स्वयं पता चलेगा। रोकने-टोकने से उनका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होगा। प्रत्येक वस्तु के प्रति उनमें एक कौतूहल की भावना रहती है। अतः जब तक वे प्रत्येक वस्तु और विषय का स्वयं परख और अनुभव नहीं कर लेते तब तक चैन से नहीं बैठते।

यह दृष्टिकोण है तो सही, परन्तु इसके लिए उदासीनता की नीति अपनाना किसी भी तरह उनके लिए हितकारी नहीं है। कुछ भी करते रहने से और माता-पिता की ओर उपेक्षा होते देख वे यह समझने लगते हैं कि अभिभावक हमारे प्रति एकदम लापरवाह हैं और कौतूहल की भावना उन्हें घर से बाहर की दुनिया का भी स्वयं ही अनुभव करने के लिए उकसाती रहती है।

बच्चों में अपनी बुद्धि से उचित निर्णय लेने की क्षमता का विकास अच्छी तरह तभी हो सकता है, जब उनके बौद्धिक स्तर के अनुरूप उनसे विचार-विमर्श किया जाय। प्रत्येक वस्तु की समुचित जानकारी दी जाय, समाज की स्थिति का ज्ञान कराया जाय और प्रत्येक विषय में दोनों पक्षों में और विकल्पों से अवगत कराया जाय। इस प्रकार पालन-पोषण का कलात्मक ढंग अपनाकर बच्चों में एक गलत धारणा का जन्म रोक जा सकता है। बच्चों को यह बोध कराया जा सकता है कि उनके प्रति हम लापरवाह नहीं हुए हैं।

उपेक्षा और उदासीनता की नीति उन्हें यह सोचने के लिए बाध्य कर देती है कि माता-पिता को हमसे कोई दिलचस्पी नहीं है। ऐसे बच्चे घर से भागें भले ही नहीं, आगे चलकर वे भी माँ-बाप की उपेक्षा तो अवश्य ही करने लगते हैं। उपरोक्त वर्णित पालन-पोषण की अन्य विधियाँ भी बालकों का हृदय परिवार के प्रति क्रमशः वितृष्णा, अलगाव और विद्रोह से भरती रहती है। इन्हीं

परिस्थितियों में बच्चे या तो लड़कपन में ही घर से भाग निकलते हैं अथवा बड़े होने पर भागते हैं। यदि इन तथ्यों को ध्यान में रखकर आरम्भ से ही बच्चों के प्रति अपने व्यवहार में सावधानी रखी जाय, किस बात की गलत प्रतिक्रिया हो सकती है ? यह समझ-बूझकर आचरण किया जाय तो बच्चे भूखों मरकर भी बाहरी दुनिया का बड़े-से-बड़ा आकर्षण ठुकरा देंगे। वृक्ष को अपने जन्म स्थान से कितना लगाव होता है, उसकी जड़ें जितनी भी गहरी जायेंगी उतना ही वह झंझावातों और आँधियों में भी दृढ़ता के साथ खड़ा रहेगा ? बच्चों के प्रति हमारा आचरण जितना मधुर, प्रेममय और विवेकपूर्ण होगा परिवार उसके जन्म केन्द्र से उतना ही वह मजबूती के साथ बँधेगा। प्रलोभन और आकर्षण की आँधियाँ भी उसे विचलित नहीं कर सकेंगी।

बच्चों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व मानकर उनके साथ तदनुकूल व्यवहार करना, उन्हें कभी यह आभास नहीं होने देना कि वे छोटे होने के कारण उन्हें हमारी सेवा करनी ही चाहिए—बालकों के व्यक्तित्व को बहुमुखी विकास करने में सहायक सिद्ध होगा। स्वेच्छा से वे हमारे काम दौड़-दौड़कर करें तो कोई हर्ज नहीं है उन्हें स्वतन्त्रता देने का अर्थ यह भी नहीं है कि किसी प्रकार से उनमें बड़ों के प्रति निरादर की भावना बढ़ती रहे। सावधानी इतनी रखी जानी चाहिए कि वे किसी प्रकार अपने आप पर कोई अनुचित दबाव अनुभव न करें। ऊपर लिखित बातें बच्चों के हृदय में बढ़ने वाली अलगाव की भावना को रोकती हैं या यों कहिए कि ऐसे बीज ही नहीं पड़ने देती जिसमें बच्चा परिवार के प्रति वितृष्णा से भरने लगे।

बच्चे भविष्य की थाती हैं। उनका जीवन परिवार के साथ ही सुरक्षित रह सकता है। दूसरी जगह कदापि नहीं। अपने समाज की, देश की और विश्व की भावी कर्णधार पीढ़ी को सुरक्षित जीवन देकर माता-पिता इस संसार को अनुपम उपहार दे सकते हैं।

बच्चों का घर से मोह-भंग क्यों हो जाता है ?

आज का पारिवारिक वातावरण विचित्र है। हर किसी को अपनी आपाधापी पड़ी है। स्नेह और सहयोग का वातावरण घटता जा रहा है। फलतः प्यार के भूखे बालकों को अपनी आत्मिक आवश्यकता से वंचित रहना पड़ता है। वे घर में अपने को उपेक्षित, एककी और असहाय अनुभव करते हैं और घर से बाहर निकलकर कहीं अन्यत्र ऐसी जगह खोजते हैं, जहाँ उन्हें स्नेह-सहकार मिल सके। इसी खोज में वे अवांछनीय तत्वों के हाथ पड़ जाते हैं और घर से निकल भागने के लिए उनका मन मचलने लगता है।

पिता को आर्थिक समस्याएँ सुलझाने से फुरसत नहीं। माता को देखभाल, गृहस्थी का बोझ ही इतना है कि न समय बचता है और न स्नेह-दुलार देने की मनःस्थिति ही रह पाती है। फैशन और आरामतलबी का भूत उनकी मनोदशा को किसी दूसरे लोक में विचरण करने के लिए घसीटता है। अमीर घरों में बच्चों का भार नौकरों के कन्धों पर लदता है। गरीबों को पेट पालने के लिए इतना व्यस्त रहना पड़ता है कि बच्चों के विकास का भार भाग्य पर छोड़ने के अतिरिक्त और कुछ सम्भव नहीं मानते। जो हो इस स्थिति का प्रभाव बालकों के विकास पर बहुत ही बुरा पड़ता है।

आज पुरुष का कार्यक्षेत्र तो बाहर का बन गया है। वह घर में उसी प्रकार आता है जैसे एक मुसाफिर थका-हारा, भूखा-प्यासा आराम करने या पेट भरने किसी सराय में चला जाये। उसे बाहर की चिन्ताओं से ही छुट्टी नहीं मिलती। घर में भी रहकर हर प्रकार की चिन्ताओं से घिरा रहता है, जीवन उसके लिए ही बोझ है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि पुरुष घर में आँख मूद ले, केवल बाहर का ही काम देखे, उसे अपने घर-परिवार, औरत-बच्चों के प्रत्येक कार्य का ज्ञान होना चाहिए।

जहाँ माँ का प्यार बच्चों को उड़ण्ड बना देता है वहीं पिता की एक कठोर आवाज उसे भटकने से बचा लेती है। यदि माँ बच्चों को अच्छी तरह पालने के साथ-साथ अच्छा नागरिक भी बनाए तो इसी में माँ बनने की सार्थकता है। नारी पुरुष से अधिक व्यावहारिक व कुशल होती है। उसे ज्ञात होना चाहिए कि बच्चों का मानसिक निखार, बौद्धिक विकास किस तरह होना चाहिए ? बच्चों का सुन्दर भविष्य माँ के हाथ होता है।

पहले चाहे इन भागने वालों की संख्या नगण्य रही हो, लेकिन अब यह दिनोंदिन बढ़ती जा रही है और वास्तविकता यह है कि अब एक साधारण बात न होकर एक समस्या बन गई है। यदि समाज ने इस समस्या पर ध्यान न दिया तो यह और भी अधिक बढ़ती जायेगी लेकिन क्या यह सत्य है कि घर से जाने वाले सभी बच्चों को बलपूर्वक या फुसलाकर ले जाया जाता है। यदि इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये और कुछ मामलों पर ध्यान दिया जाये तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि अधिकांश लड़के स्वयं घर से भागकर जाते हैं और ये भगौड़े लड़के किसी एक विशेष वर्ग से सम्बन्धित न होकर धनी, निर्धन, शिक्षित, अशिक्षित सभी घरानों से सम्बन्धित होते हैं, लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लड़के घर से भागते क्यों हैं ? यह एक विचारणीय बात है। लड़कों के घर से भागने का एक प्रमुख कारण है पढ़ाई में रुचि न होना। बहुत-से बच्चे ऐसे हैं जो पढ़ना नहीं चाहते लेकिन उनके माता-पिता उन्हें पढ़ने के लिए बाध्य करते हैं। पढ़ाई में रुचि न

१.१४६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

होने के कारण पढ़ाई में कमजोर होना तो स्वाभाविक ही है इसका परिणाम यह होता है कि वह विद्यालय में अध्यापकों द्वारा काम न करने के कारण दण्डित किया जाता है। इन बातों से जब लड़का परेशान हो जाता है तो घर से भाग जाता है। दूसरा महत्वपूर्ण कारण है—घूमने की इच्छा होना। बहुत-से बच्चों की यह प्रबल इच्छा होती है कि वे अपनी छुट्टियों में कहीं बाहर घूमने जायें। घर पर माता-पिता का दुर्व्यवहार भी लड़कों के घर से भागने का एक कारण है।

कुछ अध्यापक भी अपने बच्चों के साथ दायित्व भूलकर अच्छा व्यवहार नहीं करते। जरा-सी गलती पर उन्हें समझाने के स्थान पर सजा दी जाती है। इससे बच्चा हतोत्साहित हो जाता है और अपने भविष्य के विषय में बिना कुछ सोचे-समझे घर से भागने का एकदम निर्णय कर लेता है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति उन्हीं लड़कों में पाई जाती है, जिनकी उम्र १८ से २० वर्ष की होती है। इस किशोर अवस्था में बालकों में एक विशेष जोश होता है और वे आवेश में आकर परिणामों को सोचे बिना जल्दी में निर्णय कर लेते हैं। अपना अच्छा-बुरा सोचने की शक्ति उनमें कम ही होती है।

घर से भागकर कितने ही लड़के अपना जीवन बर्बाद कर लेते हैं। अच्छे घरानों से सम्बद्ध लड़के जो घर पर रहकर कुछ बन सकते थे, घर से भाग जाने पर वे कम ही वापस लौटकर आते हैं। वे कहीं नौकरी करके अपना पेट भरने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लड़के कुसंगति का शिकार हो जाते हैं और उठाईगिरी, जेबकटी जैसे अपराधों से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, जिन्हें कोई काम-धन्धा नहीं मिलता और जो गलत मार्ग नहीं अपनाना चाहते वे निराश होकर साधु-सन्त बन जाते हैं और कुछ यहाँ-वहाँ माँगकर अपना पेट भरते हैं। चोरी और छोटा-मोटा काम करते हैं और इस प्रकार अपना जीवन अन्धकारमय बना लेते हैं। कुछ मामले तो बहुत-से निराशाजनक होते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि लड़कों की प्रवृत्ति को कैसे रोका जाये ? इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। समस्या का काफी समाधान माँ-बाप के हाथ में है। उन्हें अपने बच्चों की रुचि का ध्यान रखना चाहिए।

यदि बच्चे का ध्यान पढ़ाई में नहीं लगता तो उसे किसी काम में लगा देना चाहिए। ऐसा करने से अच्छा परिणाम होता है।

माँ-बाप को लड़कों की संगति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। समय-समय पर स्कूल जाकर उसकी रिपोर्ट प्राप्त करनी चाहिए और कोई दोषयुक्त रिपोर्ट मिलने पर

तुरन्त उस पर ध्यान देना चाहिए। किसी भी ऐब को शुरू में ही रोका जा सकता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है, वह यह कि घर से भागने के बाद यदि लड़का स्वयं घर लौट आता है तो उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ? बहुत-से माता-पिता समझदारी से कार्य नहीं करते हैं। वे प्रायः भागने वाले लड़कों को भागने के अपराध में बुरी तरह पीटते हैं।

उन्हें चाहिए कि प्यार से लड़के से भागने का कारण पूछें और फिर उस कारण को दूर करने का प्रयत्न करें। यदि ऐसा न करके बच्चे के साथ दुर्व्यवहार किया जायेगा, तो सम्भव है कि वह घर से भाग जाये और इस प्रकार घर से भागने की उसकी आदत बन जाये।

बच्चों का घर से पलायन—

एक घातक सामाजिक रोग

नगरों में बाल-अपराध की घटनाएँ दिनोंदिन तेजी से बढ़ती जा रही हैं। अधिकांश बाल-अपराध भगौड़े बच्चों द्वारा किये जाते हैं। जिन असामाजिक तत्त्वों के चंगुल में ये एक बार फँस जाते हैं, फिर जीवन भर उनके दशारों पर नाचने के लिए विवश होते हैं। चोरी, जेबकटी, स्मगलिंग से लेकर भीख माँगने जैसे अनैतिक कृत्यों में इन अबोध बच्चों का भरपूर उपयोग किया जाता है। बाल सुलभ मस्तिष्क में अपराध वृत्ति के कुसंस्कार जड़ जमाते चले जाते हैं और आगे चलकर ये बच्चे ही बड़े अपराधी बन जाते हैं। जो समाज के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकते थे, वे ही अभिशाप सिद्ध होते हैं।

बच्चों के घर छोड़कर निकल जाने की प्रवृत्ति इन दिनों प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसे देखते हुए यह प्रतीत होता है कि कहीं कोई भारी त्रुटि हो रही है, जिसके कारण बच्चे ऐसे कदम उठाने में भी नहीं झिझकते। इस समस्या के निदान के लिए बाह्य उपचारों की अपेक्षा समस्या के मूल में जाना होगा, जिसके कारण बच्चे अनिश्चित भविष्य की ओर बढ़ते हैं।

बालक का घर से विमुख हो जाना अभिभावकों के प्रति एक खुली चुनौती है। बच्चों में बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति का मूल कारण ढूँढ़ने पर पता चलता है कि वस्तुतः माता-पिता ही दोषी हैं। बच्चों के प्रति कर्तव्यों और दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह न करने से ही ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है। बच्चे का हृदय बड़ा ही संवेदनशील होता है, इसके मन पर भले-बुरे व्यवहार की अमिट छाप पड़ जाती है। परिजनों का स्नेहपूर्ण व्यवहार उसके भावी विकास में सहायक होता है। दुर्व्यवहार, कठोर आचरण एवं उपेक्षा से उसकी कोमल

भावनाओं को ठेस पहुँचती है। एक ही माता-पिता के दो बच्चों में योग्यता, रुचि, बुद्धि, प्रतिभा में भिन्नता होना स्वाभाविक है। अभिभावकों की इच्छा के प्रतिकूल होने पर उसे उपहास, अपमान, आक्षेप, तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता है। इस भावनात्मक आघात से मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और बच्चा मन ही मन क्षुब्ध होकर घर से चुपचाप निकल जाने का रास्ता अपनाता है।

बाल-मनोवैज्ञानिक एवं अपराध विशेषज्ञ डॉ. दस्तूर ने विभिन्न परीक्षणों के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि बच्चों के घर से भागने में सबसे प्रमुख कारण है—पारिवारिक परिवेश। इस अर्थ प्रधान युग में माँ-बाप के पास समय नहीं है कि वे बच्चों को सही ढंग से समझने का प्रयास कर सकें, उनकी इच्छा, रुचि का पता लगा सकें उन्हें समुचित स्नेह-प्यार दे सकें। वे बच्चों से खुलकर हँस-बोल नहीं सकते तथा स्वयं उनके सामने 'रिजर्व' रहने का मिथ्या-ढोंग करते हैं। ऐसी परिस्थिति में बच्चा एकाकीपन अनुभव करने लगता है। इस एकाकीपन, उपेक्षा भाव से बच्चा परिजनों से टूट जाता और उन्हें छोड़ देने में भी नहीं हिचकिचाता।

केवल उपेक्षा एवं अपमान से ही इस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता हो, ऐसी बात नहीं। अत्यधिक स्नेह के नाम पर बच्चे की हर उचित-अनुचित इच्छा पूरी करना भी अन्ततः हानिकारक ही सिद्ध होता है। बचपन की सुसम्पन्न परिस्थितियों के कारण बच्चे में विपन्न परिस्थितियों से लड़ने की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है। विलासिता एवं ऐशोआराम के अभ्यस्त होने के कारण जीवन में छोटी से छोटी कठिनाई आने पर उनसे तालमेल बिठा पाना प्रायः उनसे असम्भव हो जाता है। गरीबी के दिन आने पर उनकी इच्छाएँ पूर्ण होना असम्भव हो जाता है। उसकी पूर्ति के लिए वे घर से इस आशा के साथ बाहर निकलते हैं कि अधिक सम्पत्ति उपार्जित करेंगे। क्षमता एवं अनुभव के अभाव में सफलता प्राप्त करना तो दूर की बात है, भूखों मरने की भी नौबत आती है। ऐसे बच्चे शहरों में मारे-मारे घूमते हैं तथा बदमाशों के चंगुल में आने पर अनैतिक ध्व्ये करने के लिए मजबूर बन जाते हैं।

भौतिक उपलब्धियों का भी जीवन में अपना महत्त्व है परन्तु जो सम्पन्नता श्रम की वृत्ति को समाप्त कर दे वह मानव जीवन के लिए अहितकर है। आज अधिकांश सम्पन्न परिवारों में बच्चों को सुख-साधन अधिकाधिक देकर उनकी क्षमता एवं श्रम-शक्ति को कुण्ठित कर दिया जाता है। प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करने की उनमें क्षमता नहीं रहती। गरीबी के दिन आने पर ऐसे बच्चे कम में गुजारा करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं।

अर्थ-उपार्जन का कोई और उपाय न मिलने पर घर से भागकर बाहर कमाने का एक ही रास्ता उन्हें दिखाई देता है।

इस प्रवृत्ति से बच्चों को बचाने के लिए माता-पिता पर यह दायित्व आता है कि बच्चों को स्नेह-सद्भाव से तो वंचित न रखें, पर साथ ही उनकी गतिविधियों पर भी बराबर ध्यान रखें। उनमें बचपन से श्रमशीलता का अभ्यास डालें। यदि मोहवश उन्हें श्रम के अभ्यास से वंचित रखा गया तो यह आगे चलकर घातक ही सिद्ध होगा।

बच्चों में प्रारम्भ से ही शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए प्रयास करना चाहिए। भावी जीवन के लिए उसकी क्या उपयोगिता और महत्ता है, यह समझना चाहिए। स्कूली पढ़ाई के अतिरिक्त घर में भी नियमित पढ़ने का अभ्यास डालने और प्रोत्साहन देते रहने से बच्चे की रुचि को सहज ही इस दिशा में मोड़ा जा सकता है। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं, जो काफी प्रयत्न करने के बाद भी अध्ययन में रुचि नहीं लेते—ऐसे बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त उनकी रुचि के अनुसार किसी व्यापार अथवा उद्योग कार्य में लगाया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि जो बच्चे शिक्षा में पिछड़ जाते हैं, वे व्यापार अथवा उद्योग के क्षेत्र में सफल हो जाते हैं। रुचि न होने पर भी शिक्षा के लिए अत्यधिक दबाव देने और विद्यालय जाने के लिए बाध्य किए जाने पर, इनसे बचने के लिए घर से निकल जाने का रास्ता ही चुनते हैं।

गाँव के बच्चों में शहरी तड़क-भड़क का भी एक आकर्षण होता है। बुरे लड़कों के सम्पर्क में आकर बच्चे घर से निकल पड़ते हैं। सिनेमा, पार्क व दर्शनीय स्थलों पर प्रारम्भ में घूमना तो अच्छा लगता है, लेकिन शीघ्र ही जीवन की कठोर वास्तविकता से परिचित होने पर भूख मिटाने के लिए अपराधवृत्ति ही अपनाते हैं।

बच्चों में घूमने-फिरने की सहज ही इच्छा होती है। अतः माता-पिता को बच्चों की इस रुचि का ध्यान रखते हुए समय-समय पर स्वयं पर्यटन के लिए ले जाना चाहिए। इससे बच्चे की जिज्ञासा और उत्सुकता का समाधान तो होगा ही व्यक्तित्व-विकास और ज्ञान-सम्बर्धन में भी समुचित योगदान मिलेगा।

बच्चों का घर से भाग जाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने में सिनेमा का सर्वाधिक हाथ रहा है। नई पीढ़ी को दिग्भ्रान्त करने का प्रमुख दोषी सिनेमा ही है। जनमानस की पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने तथा निकृष्ट गतिविधियों को अपनाने के लिए सिनेमा ही निरन्तर बाध्य कर रहा है। समाज का अनिवार्य अंग बच्चा भला इससे कैसे अछूता

१.१४८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

रह सकता है ? सिनेमा वर्तमान समय में अपराधों की वृद्धि में किस प्रकार सहयोग दे रहा है ? इसका वर्णन मद्रास के चीफ मैट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट ने एक मुकदमे में कहा था—“सिनेमा इस युग का अभिशाप है। इसने मानवीय कुलों में रहने वाले असंख्य लड़के एवं लड़कियों के भविष्य को अन्धकार के गर्त में सदा के लिए डाल दिया है।”

शहरों की चकाचौंध एवं काल्पनिक प्रसंगों ने किशोरों को उनके स्वाभाविक जीवन से अलग कर दिया है। इसके माध्यम से किशोर एवं किशोरियाँ बिना अपनी प्रतिभा, क्षमता एवं परिस्थितियों पर विचार किये भावुकतावश स्वयं भी हीरो-होरोइन बनने के लिए परिवार और समाज के सारे नैतिक बन्धनों को तोड़कर निकल

जाते हैं और जब वास्तविकता के घरातल पर पैर रखते हैं तो निराशा ही हाथ लगती है। लोगों द्वारा व्यंग्य कसे जाने एवं शर्म के कारण तो वापस आ नहीं सकते। मजबूरीवश जीवन के बाकी दिन भीख माँगकर, जेबकटी, वेश्यावृत्ति, चोरी जैसे अनैतिक कार्यों में पूरे करते हैं।

बच्चे राष्ट्र की अमूल्य निधि होते हैं। परिवार एवं समाज की उनसे बड़ी अपेक्षाएँ होती हैं। घर से पलायन करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए माता-पिता से लेकर समाज के अग्रणी नेतृत्व करने वाले व्यक्ति एवं शिक्षाशास्त्री बच्चों की इच्छाओं-अपेक्षाओं एवं रुचि पर ध्यान दें, तदनुरूप साधन उपलब्ध करें, तभी इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोक जाना सम्भव है।



बालकों की शिक्षा ही नहीं, दीक्षा भी आवश्यक है

बच्चों को स्कूल ऐसे भेजें

स्कूल में भर्ती कराने के बाद बच्चों का एक नया संसार आरम्भ होता है। अब तक वे अपने माँ के शासन में रहने का अनुभव करते थे, स्कूल जाना आरम्भ करने के बाद किसी दूसरे व्यक्ति का, जो परिवार के बाहर का है, शासन अनुभव होता है। अब तक वे परिवार के या आस-पड़ोस के बच्चों के साथ रहते थे, स्कूल में प्रवेश करते ही उनके अनुभव में बाहर के बच्चों का अहसास होता है। हर तरह से बच्चों के लिए पहली बार स्कूल जाना अपने ढंग का नया अनुभव है। प्रौढ़ दृष्टि से देखने पर भले ही इस बात का कोई महत्व न लगे परन्तु बच्चों के लिए यह एक नयी, अति महत्वपूर्ण और चौंका देने वाली घटना है। उस समय की अनुभूतियाँ वयस्क होने तक बहुत कुछ विस्मृत हो जाती हैं पर फिर भी याद की जाय तो घबराहट, हैरानी और आश्चर्य की एक झलक तो मिल ही सकती है।

यही कारण है कि स्कूल में घुसते ही बच्चे हिचकिचाते लगते हैं। वहाँ उनका जी घुठ्ठे लगता है। स्कूल का वातावरण उन्हें एक कारागार की तरह लगता है, जहाँ से वे जल्दी से जल्दी बाहर निकल जाना चाहते हैं। अतः बच्चों को स्कूल भेजते समय काफी मनोवैज्ञानिक समझ-बूझ रखने की आवश्यकता है अन्यथा बच्चों के मन में स्कूल के प्रति एक स्थायी अरुचि घर कर जाती है और वे चाहकर भी कभी अच्छा विद्यार्थी नहीं बन सकते।

मनोवैज्ञानिक बातों का ध्यान रखते हुए भी बच्चों के मन से यद्यपि समूची हिचकिचाहट तो दूर नहीं की जा सकती। पर उनके मन में वह क्षमता अवश्य उत्पन्न की जा सकती है, जो नये वातावरण के अनुकूल बनने का आत्म-विश्वास दिला सके। बच्चा स्कूल में प्रारम्भिक दिनों में उस प्रकार प्रवेश करता है जैसे—बतख का बच्चा तालाब में उतर रहा हो, जाना पड़ रहा है—यह चिन्ता है और जाने का मन नहीं है क्योंकि आस-पास सब कुछ नया ही नया और अनदेखा-सा है।

अतः स्कूल भेजने से पूर्व बच्चों को ऐसा साथी ढूँढ़ने में मदद देनी चाहिए जो उसकी उम्र का हो और जिस कक्षा में भर्ती कराना है उसमें ही पढ़ता हो। जहाँ तक हो सके आस-पास के ही बच्चे तलाश करना चाहिए

ताकि बच्चा अपने आस-पास फैले नये वातावरण में किसी को तो अपना विश्वस्त साथी पा सके। नयेपन की हिचकिचाहट दूर करने के लिए कुछ पूर्वप्रशिक्षण भी किये जा सकते हैं। जैसे अपनी मौजूदगी में उसे किसी नये स्थान पर जाना, पास ही कहीं किसी काम से नयी जगह पर अकेले भेजना।

स्कूल में उसे कई बच्चों का साथ मिलता है, जिनकी संख्या काफी बड़ी होती है। बच्चा अवसर भीड़-भाड़ से भी घबराता है। अतः उसे पहले अपने समवयस्क बच्चे के साथ मेल-जोल बढ़ाने का अवसर देना चाहिए, ऐसा होने पर उसे स्कूली साथियों के साथ हिल-मिल जाने में काफी सहायता मिलेगी।

स्कूल में भर्ती करा देने के बाद ही अपनी सावधानियों से सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। बाद में भी अनवरत उसके स्कूली जीवन के प्रति स्वयं रुचि लेनी चाहिए और उसका उत्साह बढ़ाना चाहिए। आरम्भ में बच्चे स्कूल में भर्ती होने के बाद अनियमितता बरतने लगते हैं। चार-छह घण्टे एक स्थान पर बँधे रहना उन्हें रुचिकर नहीं लगता। अतः वे अपने दूसरे अन्य साथियों के साथ स्कूल से भाग आते हैं और कहीं पर खेलते रहते हैं। अतः इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा नियमित रूप से स्कूल जा रहा है अथवा नहीं, यदि नियमितता की यह आदत उस समय अच्छी तरह डाली जा सके तो आगे वे अपना जीवन सुव्यवस्थित रखने के अभ्यस्त हो सकते हैं।

स्कूल जाने में अनियमितता बरतने का कारण भी वहाँ के वातावरण का अजनबीपन है। अतः माता-पिता दोनों को मिलकर उसे वहाँ के अजनबी वातावरण के प्रति जिज्ञासु और श्रद्दालु बनाना चाहिए। इस दिशा में उनसे स्कूली कार्य-कलापों के सम्बन्ध में प्रश्न, वहाँ के अध्यापकों की बातें, साथियों और सहपाठियों की जानकारी आदि प्रश्न जानते रहना चाहिए। माता-पिता के लिए ये जानकारीयाँ भले ही व्यर्थ हों पर इनसे बच्चों में एक जिज्ञासा का भाव उत्पन्न होता है और वह स्कूल के प्रति और भी तीव्र लगन रखने लगता है।

पाठशाला जाते समय बच्चों को स्नेहपूर्वक विदा करना, प्रोत्साहन देना तथा लौटने पर प्रशंसात्मक बातें करना तुरन्त प्रभाव उत्पन्न करता है। पाठशाला से लौटने पर बच्चे थक-से जाते हैं। स्कूली टाइम में अनवरत श्रम करते रहने के कारण उनकी बाल सुलभ शक्तियाँ सहलाये जाने की अपेक्षा करती हैं। ऐसी परिस्थितियों में इस प्रकार की बातें उनके लिए टॉनिक का काम करती हैं। ऐसे वक्त पर तो भूलकर भी ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए जिससे बच्चों को कष्ट अनुभव हो। थक जाने पर प्रौढ़ व्यक्तियों को भी बहुत जल्दी क्रोध आता है और उस समय व्यक्ति की संवेदना काफी नम रहती है। फिर वे तो बच्चे ठहरे। अतः उन्हें ऐसी बातें कहकर व्यर्थ नाराज करना उत्साह तोड़ देना जैसा है। जैसे बच्चा स्कूल से लौटकर कहता—“भाँ हम आ गये।” झिड़ककर यह कहने की बजाय कि आ गये तो अच्छा किया। कौन-सा तीर मार लाये, यह कहा जाय कि राजा बेटा आ गया। कब आये यह तो तुमने पता नहीं चलने दिया। बच्चे की सुखद अनुभूतियों को कितना चेतन करता है ?

स्कूली जीवन आरम्भ करने के साथ बच्चों में स्वावलम्बन की आदत डालने का प्रयास भी उसी समय किया जा सकता है। रुचिपूर्वक समय मिलने पर उन्हें कपड़े पहनना, बालों में कंघी करना, जूते पहनना जैसी बातें सिखाना चाहिए। यह नहीं कि किसी काम में लगे रहने पर खुद ही तैयार हो जाओ कह दें, वरन् जब अपने पास भी समय हो तब उसे प्रोत्साहित करते हुए इन कार्यों का प्रशिक्षण दें। दैनिक कार्यों का प्रशिक्षण व्यस्तता या शीघ्रता के लिए नहीं संस्कार-स्वभाव के लिए देना चाहिए और इसके लिए शान्त वातावरण ही अधिक उपयुक्त है।

अपने नये जीवन में बच्चा नये समवयस्क लड़कों के सम्पर्क में आता है और अनेकों से प्रभावित होता है तथा अनेकों से घृणा करता है। जिन बच्चों से प्रभावित होता है, उनका साथ करने की भी चेष्टा करता है। ऐसे समय में पूरी सावधानी रखनी चाहिए और वह कैसे बच्चों के साथ रह रहा है तथा उनकी प्रवृत्ति और स्वभाव कैसा है ? इनका ध्यान रखना चाहिए। पाठशाला की संगति के सम्बन्ध में बच्चे के दूसरे साथियों, अध्यापकों और स्वयं बच्चों से जाना जा सकता है। उसके व्यवहार, रहन-सहन और आदतों में आये परिवर्तनों से भी इन बातों का पता चलाया जा सकता है। कहना नहीं होगा कुसंगति से बचाया जाना चाहिए तथा अच्छे बच्चों का साथ करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

बच्चे स्वभाव से चंचल और गैरगम्भीर होते हैं। परन्तु कक्षा में उन्हें एकग्रता और शान्ति से बैठना पड़ता है। शरारती बच्चों को भी पढ़ाई के समय अपने पर अंकुश रखना पड़ता है। यही कारण है कि बच्चे छुट्टी होने पर जब स्कूल से निकलते हैं तो जोर से शोर

करते हैं। एक प्रकार से उनके स्वभाव में आधी थकान का ही यहाँ निराकारण होता है। इस प्रवृत्ति को घर पर ही दिशा देना चाहिए और वे सन्ध्या समय थोड़े-बहुत खेलों से अपनी मानसिक थकान मिटा लें इसका प्रबन्ध करना चाहिए।

स्मरणीय है बच्चों पर अपनी आदतें, पसन्द और रुचियों को जमाने की अपेक्षा उनके स्वाभाविक विकास का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक बच्चा जन्मजात अपना अनूठा स्वभाव लेकर आता है। कुछ बातों का ही माता-पिता के स्वभाव से मेल होता है। अतः उसकी समस्याओं और आकांक्षाओं के प्रति समझदारी से ही काम लेना चाहिए। प्रतिभा जिन्हें जन्मजात मिलती है ऐसे बच्चे अपवाद ही होते हैं अन्यथा उनके विकास में अन्तर उचित देख-रेख की सतर्कता और उसके अभाव के कारण ही होता है। स्कूली जीवन में यदि उचित देख-रेख की जाय तो बच्चे स्वाभाविक ही अध्ययनशील और विद्वान बन सकते हैं।

बच्चों को स्कूल भेजकर ही निश्चिन्त न हो जायें

यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों की शिक्षा का एकमात्र माध्यम स्कूल नहीं है। बच्चा प्रत्येक क्षण सीखता है और संस्कार ग्रहण करता है। पाठशाला में एक बच्चा वर्ष भर में औसतन १० प्रतिशत से भी कम समय व्यतीत करता है। एक वर्ष में कुल सतासी सौ साठ घण्टे होते हैं, यानी लगभग पौने नौ हजार। इसमें से अधिकतम साढ़े आठ या नौ सौ घण्टे बच्चा वर्ष भर में पाठशाला में बिताता है। शेष आठ हजार से कुछ ही कम घण्टे वह घर-मुहल्ले में बिताता है। पाठशाला कोई जादूघर नहीं है कि वहाँ बच्चों पर संस्कारों का दबाव इतना सघन हो कि उससे दस गुना अधिक समय तक पड़ने वाले संस्कार उस प्रभाव दबाव के सामने फीके पड़ जायें। अतः स्पष्ट है कि बच्चों के संस्कार-निर्माण में स्वयं घर-परिवार तथा पास-पड़ोस के वातावरण एवं प्रशिक्षण का प्रभाव पाठशाला के प्रभाव से अधिक होता है। इसलिए बच्चे को स्कूल भेजकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए, अपितु संस्कार-निर्माण की अपनी जिम्मेदारी को उस समय भी बराबर स्मरण रखना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक बैजामिन ब्लूम का कथन है कि बच्चा चार वर्ष की आयु तक बौद्धिक दृष्टि से इतना विकसित हो जाता है कि वह प्रौढ़ व्यक्ति की तुलना में आधी बौद्धिक क्षमता का स्वामी हो जाता है। अगले चार वर्षों में यानी आठ वर्ष की आयु होने तक बच्चे की बुद्धि का तीस प्रतिशत विकास और हो जाता है और मात्र बीस प्रतिशत ही अगले वर्षों में होना शेष रहता है। इस

दृष्टि से भी बच्चों में सत्प्रवृत्तियाँ विकसित करने में प्रधान भूमिका पारिवारिक वातावरण की ही होती है।

यहाँ यह तथ्य भी विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए कि बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति ही प्रबल होती है। उनके प्रशिक्षण में उपदेशों का नहीं, प्रत्यक्ष आचरण-उदाहरण का ही प्रमुख हाथ होता है। बच्चों में असीमित शक्ति होती है। प्रतिक्षण उनके भीतर उत्साह उमड़ता रहता है। इसे सही दिशा में नियोजित करना ही उन्हें सुसंस्कारित करना है। किन्तु यह नियोजन अभिभावकों के स्वयं के व्यवहार द्वारा ही सम्भव है, कोरे उपदेशों द्वारा नहीं।

बच्चों को सुसंस्कृत बनाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है, घर का वातावरण सुखद, शान्त और उल्लासपूर्ण रखने की। बालकों की न्यूनतम आवश्यकताएँ यथासम्भव अवश्य पूरी की जानी चाहिए।

बच्चे की क्षमता और रुचि को, प्रवृत्तियों के झुकाव को समझकर उसे उस दिशा में विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। साथ ही उन्हें छोटे-छोटे कार्य करने के अवसर दिये जाने चाहिए, उन्हें ऐसे ही कार्य सौंपे जायें, जो वे सरलता से कर सकें। अपने कपड़े स्वयं पहनें, सुखायें, निकालें, निश्चित जगह पर रखें, ऐसे प्रयासों के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाये और सफल ढंग से करने पर उनकी प्रशंसा की जाए, ताकि उनमें आत्मविश्वास विकसित हो।

बच्चे स्वभाव से ही कर्मशील एवं परिश्रमशील होते हैं। आवश्यकता उनके सही दिशा-निर्देशन की होती है। छोटी-छोटी भूल के लिए उन्हें डाँटा-डपटा न जाए। बड़ी सजाएँ न दी जायें। साथ ही उन्हें निषेधात्मक निर्देश नहीं विधेयात्मक संकेत दिये जायें। 'यह न करो', 'वह न करो' ऐसा कहने की जगह 'ऐसा करो'—इस प्रकार से कहा जाय। उन्हें न तो अनुचित लाड़-दुलार दिया जाय, न ही बात-बात में डराया-धमकाया जाय।

सन्तुलन, सादगी और सुरुचि का अभ्यास बच्चे अपने माता-पिता से ही सीखते हैं। उन्हें न तो उच्छ्वंखल बनने दिया जाय, न दबू। न तो उनके शरीर की उपेक्षा ही की जाय न ही ऐसा बनाया जाय कि वे तनिक-सी सर्दी-गर्मी न सह सकें। साधारण सर्दियों में ही उन्हें कपड़ों से बहुत अधिक लाद देने और गर्मी में थोड़ा दिन चढ़ते ही बाहर न निकलने देने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार बिना भूल के भी बच्चे को आग्रहपूर्वक खिलाना-पिलाना अनुचित है। इससे वह चटोरा भी बनेगा, बीमार भी होगा।

बाल-मस्तिष्क की जिज्ञासाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उनके लिए विश्व की हर वस्तु नवीन, आकर्षक होती है। हर क्षण उनके भीतर प्रश्न उभरते हैं। उनके प्रश्नों के उत्तर सुगम-सुबोध शैली में अवश्य दिये जाने

चाहिए। उन्हें झिड़काना अथवा टरकाना नहीं चाहिए। बच्चे की जिज्ञासाओं का समाधान करने पर ही उनका बौद्धिक विकास सम्यक् रीति से हो सकता है।

बच्चों के व्यक्तित्व विकास की सम्पूर्ण जिम्मेदारी से आप स्वयं को मात्र इसीलिए मुक्त न मान बैठें कि आप अपने बच्चे को स्कूल भेजने लगे हैं। स्थिति तो इसके विपरीत ही है। अमरीकी शिशु-विशेषज्ञों के अध्ययन दल के नेता प्रोफेसर डार्कन ने यह बताया कि वे ही बच्चे स्कूल में भी सन्तोषजनक प्रगति करते हैं, जिनके माता-पिता घर में उन्हें पर्याप्त समय देते हैं। अपने में ही व्यस्त माता-पिता अपने बच्चे के पिछड़ेपन के लिए प्रधानतः उत्तरदायी हैं। अतः बच्चे को सुसंस्कारित करने का कर्तव्य माता-पिता विस्मृत न करें। बच्चों की सत्प्रवृत्तियों की नींव पक्की करने की प्रधान जिम्मेदारी उन्हीं की है।

पाठशाला भेजने के साथ यह भी ध्यान रखें

बच्चों को पाठशाला जाने से पूर्व पाठशाला के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना माता-पिता का अनिवार्य कर्तव्य है। बच्चा जब छोटा है तभी से बाच-चीत के दौरान पाठशाला के महत्त्व तथा उससे होने वाले लाभों की चर्चा बच्चों से करते रहने से उनकी पाठशाला जाने की उत्कण्ठा बढ़ जाती है और वे पाठशाला में भर्ती होने की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से करते हैं। जब उन्हें पाठशाला में भर्ती करने का समय आता है तो कभी घर वालों को तंग नहीं करते। पाठशाला प्रवेश के समय बच्चों पर जोर-जबर्दस्ती का अवसर नहीं आता। इस प्रकार बच्चे का मानसिक स्तर पाठशाला जाने को तैयार रहता है।

प्राइमरी पाठशाला में भर्ती होने के पूर्व बच्चों को बालमन्दिर भेजन से बच्चे पाठशाला के वातावरण से परिचय प्राप्त कर अगली कक्षा में बड़े उत्साह से जाते हैं। जिन बच्चों के मन में प्रारम्भ से पाठशाला के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाये तो उन्हें पाठशाला भेजना टेढ़ी खीर हो जाती है। अतः बालक के मन में पाठशाला के लिए ललक उत्पन्न करना आवश्यक है।

बच्चा जब घर के सीमित परिवार से बाहर जाता है तो उसका नये साधियों, शिक्षकों तथा अन्य लोगों से परिचय होता है। बच्चे पाठशाला के वातावरण में आनन्द अनुभव करते हैं, क्योंकि उनकी विकास करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को यहाँ बल मिलता है। बच्चे सभी प्रकार के भेदों से मुक्त होकर आपस में खेलते हैं। बच्चों की यह प्रवृत्ति बढ़े, इसका प्रयत्न माता-पिता को करना चाहिए।

२.४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बच्चों में नियमित पाठशाला जाने तथा पढ़ाई करने की आदत को विकसित करना चाहिए। माता-पिता को चाहिए कि वे रोज पाठशाला में हुई पढ़ाई की चर्चा बच्चों से करें। साथ ही नियमित रूप से घर पर भी बच्चा अपना पाठ पढ़े, इसका ध्यान माता-पिता रखें। कभी-कभी बच्चे के शिक्षक से मिलकर उसकी प्रगति की जानकारी करते रहना चाहिए। इस सावधानी के कारण बच्चे की पढ़ाई में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आवेगा।

बच्चों में स्वच्छता का गुण पैदा करना आवश्यक है। बच्चे साफ-सुथरे कपड़े पहनें, पाठशाला में अपने बालों को सँवारकर जावें, स्याही के दाग कपड़े पर न पड़ें इसका ध्यान रखें, पाठशाला के बाहर बिकने वाली गन्दी वस्तुएँ न खावें और पाठशाला से लौटने के बाद अपनी पुस्तकें निर्धारित स्थान पर रखें—इन बातों की जानकारी बच्चों को देते रहें। बचपन में पढ़ी आदत ही जीवन भर बनी रहती है।

बच्चे बचपन से कहानी सुनने, गाना गाने, तमाशा देखने आदि में रुचि लेते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति का उभार करने के लिए वातावरण का निर्माण करना चाहिए। बच्चों को शिक्षाप्रद कहानियाँ बताकर उनसे कहने को कहा जाय जिससे बालक की वाणी को स्पष्ट होने का अवसर प्राप्त होता है। उनको सिनेमा के गन्दे गीतों के स्थान पर राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत गीत, कोरस मार्चगान आदि का अभ्यास पाठशाला में करना चाहिए, जिससे उनकी कहानी, गीत आदि की भूख शान्त हो सके।

बच्चों में खेलों के प्रति स्वाभाविक झुकाव होता है। इस बात को ध्यान में रखकर बच्चों को खेल की अधिक से अधिक सुविधा पाठशाला में देनी चाहिए, जिससे पाठशाला बच्चों के आकर्षण का केन्द्र बनी रहे। पाठशाला में खेलों के माध्यम से बच्चों में सहयोग, सहनशीलता, साहस आदि गुणों का विकास करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार खेलकूद के सिवाय सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बच्चों को शामिल होने का अवसर देना चाहिए। बच्चों को वेश-भूषण-प्रतियोगिताएँ, सामूहिक नृत्य, सामूहिक गान आदि के मौके देते रहना चाहिए, जिससे पाठशाला में उनकी रुचि बनी रहे।

बच्चे का मन चंचल होता है। एकाग्रता के बिना कोई पाठ याद करना सम्भव नहीं। गिनती, पहाड़े, कविता, शब्दार्थ आदि को वे रटकर ही याद कर पाते हैं। बचपन में जो कविताएँ बच्चों द्वारा रटी जाती हैं वे ही उनके जीवन में अनेक वर्षों तक काम आती हैं, अतः बच्चों की याद करने की प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिए।

बच्चों में यह प्रवृत्ति बढ़ाना कठिन नहीं है। बच्चों में नई-नई बातें सीखने-जानने की सहज प्रवृत्ति होती है। बच्चों की आयु और मस्तिष्क के विकास का ध्यान रखते हुए उनके अनुरूप छोटी-छोटी प्रेरक कविताएँ तथा गीत,

उन्हें बड़ी अच्छी तरह याद कराये जा सकते हैं। उन्हें याद करने पर बच्चों की प्रशंसा की जाय, प्रोत्साहन दिया जाय तो वे इस दिशा में बहुत तीव्रता से आगे बढ़ते हैं। अन्तःक्षरी करना भी इस दिशा में बड़ा उपयोगी होता है, किन्तु ध्यान यह रखा जाय कि बच्चे निरर्थक और निरुपयोगी अथवा विकृत पद याद न करें। अन्तःक्षरी को मात्र खेल ही नहीं—अच्छा मानसिक व्यायाम माना जाय। संस्कृत के श्लोक भी बच्चे बड़ी जल्दी याद कर लेते हैं। अर्थ वे समझें या न समझें, अच्छे श्लोक याद करा देने से वे आयु बढ़ने के साथ-साथ उन्हें वे समझने भी लगते तथा उनसे प्रेरणा भी लेने लगते हैं।

पाठशाला के प्रति बच्चों का आकर्षण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक बच्चों के प्रति मधुर व्यवहार करें। यदि शिक्षक ने बच्चों को आते ही डराना, धमकाना आरम्भ कर दिया तो बच्चों को पाठशाला भेजना कठिन हो जाता है। अतः शिक्षक का व्यक्तित्व बच्चों के लिए प्रेरणादायक होना चाहिए। बच्चों के मन में शिक्षक के प्रति जो उच्च सम्मान है उसको बनाये रखने के लिए शिक्षक को आदर्श व्यवहार करना और उत्कृष्ट जीवन जीना चाहिए।

बच्चों में जिज्ञासा बहुत अधिक होती है। उन्हें हर प्रश्न का उचित उत्तर और हर शंका का उचित समाधान देना चाहिए। यदि शिक्षकों ने उनकी उत्सुकता के अनुकूल उत्तर नहीं दिया तो उनकी उत्कण्ठा मारी जाती है और वे डर के मारे आगे कुछ पूछने की हिम्मत नहीं करते। बड़े होने पर भी वे अपने दबू स्वभाव के कारण हानि उठाते हैं। इस हानि के लिए कुछ अंश तक शिक्षक भी जिम्मेदार होता है। अतः बच्चों की हर जिज्ञासा को पूरा करना चाहिए।

जिज्ञासा गहन चिन्तन की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। उसे कुण्ठित कर देने से चिन्तन की—गम्भीर विचार करने की प्रवृत्ति में गतिरोध आ जाता है। यह बात सही है कि बच्चों की जिज्ञासाएँ कभी-कभी बड़ी अटपटी होती हैं तथा उनका समाधान करना कभी समयसंगत होता है, कभी नहीं भी होता। कई बार वे ऐसे प्रश्न भी कर बैठते हैं कि उनका समाधान बिना सोचे-अध्ययन किए बड़े लोग भी नहीं कर सकते। ऐसे अवसरों पर बच्चों को उनके अटपटे प्रश्नों के लिए डौटने अथवा कठिन प्रश्नों के ऊटपटांग उत्तर देने की अपेक्षा, उन्हें समझदारी से टाल देना चाहिए। बाद में उनका उचित समाधान शान्तचित्त से निकाला जा सकता है।

बच्चे यदि कोई गलत कार्य करते हों तो उन्हें प्रारम्भ में ही रोक देना चाहिए। वे यदि किसी की वस्तु उठाकर लाते हैं तो उसे तुरन्त वापिस करने को कहना चाहिए। यदि इस प्रवृत्ति को प्रारम्भ में न रोका गया तो वह आगे बढ़ती जावेगी और कुछ दिनों के बाद बच्चों के स्वभाव में दृढ़ हो जावेगी, बच्चों की गन्दी आदतों

को माता-पिता एवं अध्यापक के द्वारा शुरू में ही रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए, ताकि ये विष अंकुर विष-वृक्षों का रूप धारण न कर सकें।

समग्र रूप से विचार किया जाय तो पाठशाला भेजने के पूर्व का कार्य बड़ा गम्भीर एवं जिम्मेदारी का है। यदि हमने इसमें असावधानी बरती तो वह हमारे बच्चों के लिए महँगी पड़ेगी। पाठशाला के प्रति उनके मन में आकर्षण कम न हो, इसका भरसक प्रयत्न करना चाहिए। यदि प्रारम्भ में ही बच्चों के मन में अरुचि उत्पन्न हो जाय, तो वह पढ़ाई का महत्वपूर्ण कार्य वहन नहीं कर पावेगा और उसका जीवन पढ़ाई के बिना असफल हो जावेगा। इसीलिए बच्चों को स्कूल में भर्ती भर करा देना पर्याप्त न समझकर उस सन्दर्भ में अन्य पक्षों पर भी विचार किया जाना चाहिए, अन्यथा उनके साथ सही अर्थों में न्याय नहीं हो सकेगा।

बच्चे घर की पाठशाला में

घर बच्चे की प्रारम्भिक पाठशाला है जहाँ वह जीवन के महत्वपूर्ण पाठ सीखता है। स्कूल, कॉलेज, विद्यालयों में तो बालक का बौद्धिक विकास ही होता है, एक निश्चित पाठ्यक्रम पूरा कर देना ही इनका ध्येय होता है जिसका जीवन में सीमित उपयोग है, लेकिन घर की पाठशाला में सीखी हुई बातें तो बालक के जीवन का अंग ही बन जाती हैं। वस्तुतः बालक के चरित्र, स्वभाव, उसके व्यक्तित्व की निर्णयशाला है घर, जबकि शिक्षालयों में एक स्तर तक बौद्धिक विकास ही हो पाता है।

जिस तरह अनुकूल जलवायु, मिट्टी एवं योग्य माली की देख-रेख में छोटा-सा पौधा बड़ा होकर फलने-फूलने लगता है, उसी तरह घर के उपयुक्त वातावरण में कुशल माँ-बाप के सान्निध्य में रहकर बालक का स्वभाव और उसका व्यक्तित्व, चरित्र उत्कृष्ट बनता है। लेकिन घर के गन्दे वातावरण, माँ-बाप का पापमय जीवन बच्चे को बुराइयों की ओर प्रेरित करता है। घर के वातावरण में घटने वाली सामान्य घटनाएँ, अभिभावकों के व्यवहार, रहन-सहन, आचरणों का बच्चे के मानस-पटल पर बड़ा स्थायी प्रभाव पड़ता है।

जिस घर का वातावरण बड़ा सौम्य, शान्त और मधुर होता है, जहाँ लोगों के परस्पर प्रेम, सेवामय जीवन सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध होंगे, वहाँ बालक के मानसिक विकास में बड़ा योग मिलता है। जहाँ बच्चे को उन्मुक्त होकर सहज जीवन बिताने दिया जाता है, जहाँ उसे सबका स्नेह मिलता है, जहाँ बालक निर्भय-जीवन बिताता है, ऐसा वातावरण बालक के व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास करने में बड़ा ही सहायक सिद्ध होता है।

लेकिन उस घर में जहाँ नित्य कलह, अशान्ति, परस्पर तनातनी, झगड़ा होता रहता है, जहाँ बालक को स्नेहशून्य सखाविहीन जीवन बिताना पड़ता है और कठोर व्यवहार का सामना करना पड़ता है, वहाँ उसका विकास होना तो दूर उल्टे मानसिक क्षमताएँ, बौद्धिक प्रतिभा, व्यक्तित्व सब कुण्ठित हो जाते हैं।

जो माँ-बाप या अभिभावकगण परस्पर “तू-तू”, “मैं-मैं” करते रहते हैं, जिनमें परस्पर आये दिन लड़ाई-झगड़े, मार-पीट होती रहती है, जो एक-दूसरे को मूर्ख एवं नीच सिद्ध करने के प्रयत्न करते रहते हैं, भेदे आक्षेप करते हैं, उनके इस व्यवहार का बालकों के कोमल मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चे का अपरिपक्व मस्तिष्क इस तरह के व्यवहार को समझ नहीं पाता। इससे उसके मन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप माँ-बाप अथवा घर के अन्य सदस्यों के प्रति उसके मन में आदरभाव कम हो जाता है। सम्मान की भावना घट जाने से बच्चों में अप्रद्वद्धा भी पैदा हो जाती है। प्रद्वद्धा के बिना विश्वास स्थिर नहीं रहता। अप्रद्वद्धालु और विश्वासरहित वे बच्चे माँ-बाप की अवहेलना करने लगते हैं, अनुशासनहीन बन जाते हैं। यह स्थिति परिवार तक ही सीमित नहीं रहती, वरन् सम्पूर्ण समाज की मर्यादाओं के प्रति ही ये बालक आगे चलकर आवारा और उच्छृंखल बन जाते हैं।

घर का कलह, परिवार के सदस्यों का परस्पर दुर्व्यवहार, बच्चों में अप्रद्वद्धा, अविश्वास, अनुशासनहीनता, उच्छृंखलता आदि बुराइयों को जन्म देता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पति-पत्नी के बीच होने वाली तकरार अथवा परिवार में होने वाला कलह सर्वथा दूर करने का प्रयास किया जाय। यदि कुछ इस तरह की बात हो भी जाय तो बच्चों के सामने उसे न आने दें। जिस तरह किसी मेहमान के सामने अपने घर की लड़ाई को छिपा लिया जाता है, उसी तरह बच्चों के समक्ष भी ऐसा ही करना चाहिए। अपने घर के कलह की बात तो दूर रिश्तेदार अथवा पड़ोसियों के झगड़े की बात को बच्चों तक नहीं आने देना चाहिए।

अभिभावकों को चाहिए कि बच्चों के समक्ष अपनी कोई चारित्रिक कमजोरी प्रकट न होने दें। बच्चा कितना ही अबोध क्यों न हो उसके समक्ष परस्पर प्रेम-प्रदर्शन, अश्लील हाव-भाव अथवा गलत आचरण कभी न किया जाय। बच्चे की मनोभूमि इतनी ग्रहणशील होती है कि जाने-अनजाने वह इनके सहज ही अपना लेता है। जहाँ तक बने दुर्व्यसनों को तिलांजलि दे देनी चाहिए, फिर भी कोई बुराई न छूटे तो इतना तो ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों के समक्ष उसे व्यक्त न होने दें। बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि कोई भी व्यसन एकत्रित में पूरा किया जाय बच्चों के समक्ष नहीं।

२.६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

बच्चों के समझदार और कुछ बड़े हो जाने पर उनके लिए सोने की व्यवस्था अलग कर देनी चाहिए। समझदार बच्चों को एक ही कमरे में लेकर न सोया जाय क्योंकि पति-पत्नी के गुह्य सम्बन्धों का बच्चे पर बुरा असर पड़ता है। इसके साथ-साथ बच्चों को नंगा नहीं रखना चाहिए। इससे असमय में ही बच्चों में यौन-भावनाएँ जाग्रत हो सकती हैं, जो उन्हें कई बुराइयों की ओर प्रवृत्त कर देती हैं।

अभिभावकों, माता-पिताओं को चाहिए कि बच्चों की विधिवत् दिनचर्या बनाकर उसके अनुसार उन्हें चलाने की व्यवस्था करें। बच्चों के खाने, पीने, सोने, पढ़ने, खेलने आदि का समय नियत कर देना चाहिए। लेकिन इसके साथ-ही अभिभावकों का स्वयं का जीवन भी व्यवस्थित, नियमित होना चाहिए। उनका आदर्श ही बच्चों को नियमित जीवन बिताने के लिए प्रेरणादायी होगा। बच्चे अपने नियमित कार्यक्रम में गफलत करें तो उसे टोककर नियमानुसार जीवन बिताने को कहना चाहिए। लेकिन सोने के समय पढ़ने अथवा खेलने के समय घर का काम करने की आज्ञा देने की भूल नहीं करनी चाहिए। बच्चे को उसकी नियम-व्यवस्था के अनुसार चलने देना चाहिए। यदि कोई आवश्यक काम ही आ पड़े तो बात दूसरी है अन्यथा बच्चों के कार्यक्रम में यथासम्भव व्यवधान पैदा नहीं करना चाहिए।

किसी तरह के भय, अश्विश्वास या गलत धारणा का आश्रय लेकर बच्चों को निर्देश नहीं देना चाहिए भले ही वह उनके हित में ही क्यों न हों। भूत, चुड़ैल, कीड़े, मकोड़े या हौवा आदि का भय बच्चों को नहीं दिखाना चाहिए। बचपन में जमी हुई भय की भावना जीवन भर नहीं निकल पाती है। बचपन के समय अवचेतन मन में समाया हुआ इस तरह का भय तगड़े-तदुरुस्त, मोटे-ताजे व्यक्तियों को भी अन्धे में, एकान्त में कोई छोटा-मोटा जानवर देख लेने पर परेशान करता है। स्वयं अभिभावकों को भी इस तरह के भय प्रदर्शन से बच्चों के समक्ष बचना चाहिए।

माता-पिता या अभिभावकों की भावनाओं का, उनके व्यवहार का भी बच्चों के जीवन पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। वस्तुतः घर की पाठशाला में अभिभावकों का जीवन ही बच्चों की प्रथम पुस्तक होती है। बच्चों के साथ ही नहीं माँ-बाप दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं इसका बाल मन पर भारी प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में एक घटना बड़ी महत्वपूर्ण है। एक धनिक व्यक्ति लेन-देन के मामले में एक गरीब व्यक्ति को बड़ी गालियाँ दे रहा था, उसने उसे नौकरों से पिटवाया और धक्के देकर बाहर निकाल दिया, उसका गिरवी रखा हुआ जेवर धनिक ने हड़प लिया। गरीब बेचारा रोता-चिल्लाता चला गया। यह सारी घटना पास ही खड़ा धनिक का पुत्र देख रहा था। बालक का कोमल हृदय यह सब सहन

नहीं कर सका और अपने पिता के प्रति उसके हृदय में कटुता और घृणा की भावना पैदा हो गई। वह विद्रोही बन गया। बाप का कहना-सुनना उसे बुरा लगता। ऐसे काम वह करता जिससे धनी पिता को क्लेश होता, पिता की परेशानी से उसे प्रसन्नता होती। अन्त में परिस्थिति यहाँ तक आ गई कि बड़ा होने पर उसने सारे धन पर कब्जा कर लिया और पिता को बीमारी में तड़पकर प्राण छोड़ने पड़े, लेकिन उसके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

उस बहू की कहावत प्रसिद्ध है कि जो अपने अन्धे श्वसुर को मिट्टी के पात्र में भोजन देती थी। एक दिन मिट्टी का पात्र फूट गया तो बहू बहुत झल्लाई, कई गालियाँ दीं। उसने लकड़ी का पात्र मँगवा दिया और चौके से बाहर भोजन दे दिया। उसका अबोध बालक यह सब देख रहा था। दूसरे दिन वही बालक एक लकड़ी के तख्ते को पत्थर से ठोक-पीट रहा था। माँ ने पूछा बेटा क्या कर रहा है ? बालक ने अपने बालमुलभ भाषा में कहा—“अम्मा मैं लकड़ी की थाली बना रहा हूँ। जब तू बुढ़ी हो जायेगी तो इसी में भोजन परसा करूँगा। वह खी हक्की-बक्की रह गई और उसी दिन से वृद्ध श्वसुर को अच्छे पात्रों में आदर सहित भोजन देने लगी।

माता-पिता द्वारा नौकर, पड़ोसी, सम्बन्धी, दुकानदार, जन-साधारण से किया जाने वाला व्यवहार बच्चे के कोमल मस्तिष्क पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। आवश्यकता इस बात की है कि हमें अपने सम्पूर्ण जीवनक्रम में, व्यवहार में पर्याप्त सुधार करना होगा। कोई ऐसा दुर्व्यवहार न बन पड़े जिससे बच्चे पर विपरीत असर पड़े, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा, यदि हमें अपने बच्चों के चरित्र, स्वभाव व्यक्तित्व को उत्तम बनाना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बच्चे पैदा होने पर माँ-बाप के ऊपर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ जाती है, वह है बच्चों को उत्कृष्ट व्यक्तित्व प्रदान करना, उनके स्वभाव और चरित्र को उत्तम बनाना और वह सब घर की पाठशाला में व्यावहारिक शिक्षा से ही सम्भव है।

बहुत-से माता-पिता अपने बच्चे को किसी बोर्डिंग हाउस या अपने से दूर किसी प्रसिद्ध स्कूल में भेजते हैं, इसलिए कि बच्चा घर पर भली प्रकार नहीं पढ़ता। समय पर स्कूल नहीं पहुँचता। अपनी पढ़ने की पुस्तकें तथा अन्य वस्तुएँ खो देता है। आवारा लड़कों में घूमता है। घर वालों की आज्ञा का पालन नहीं करता। कई लोग तो बच्चे के हित की दृष्टि से नहीं वरन् उससे पीछा छुड़ाने, उसकी आदतों से परेशान होकर अपना सिर-दर्द दूर करने की दृष्टि से बालक को अन्यत्र भेज देते हैं। कई अभिभावक अपने पास अधिक धन होने के कारण बच्चे को बहुत छोटी उम्र में ही अपने से दूर पढ़ने और योग्य बनने के लिए भेज देते हैं। कुछ भी कारण हों लेकिन बच्चों को कच्ची उम्र में जब तक वह

समझने-बूझने लायक नहीं हो पाता है अपनी छत्रछाया से दूर करना अभिभावकों की बड़ी भारी भूल है। किसी भी संस्था, स्कूल, विद्यालय, बोर्डिंग आदि में बच्चों के पढ़ने-लिखने, नियमित जीवन बिताने तथा सदाचार की बाह्य शिक्षा व्यवस्था भले ही हो किन्तु उन्हें उत्कृष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने, सफल जीवन बिताने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए माता-पिता अभिभावकगण जो कुछ कर सकते हैं, वह कहीं भी नहीं हो सकता। सचमुच अपने परिवार के सदस्यों से अधिक बच्चे के भविष्य की चिन्ता और उस दिशा में आवश्यक प्रयत्न अन्य कोई भी नहीं कर सकता। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि बच्चे को एक निश्चित आयु तक, जब तक उसका मस्तिष्क प्रौढ़ और परिपक्व न हो जाय, उसे घर की सीमा से बाहर नहीं भेजना चाहिए।

बच्चों के जीवन को उत्कृष्ट बनाने की जिम्मेदारी जिस तरह माता-पिता निभा सकते हैं, उससे अधिक दूसरा नहीं निभा सकता। इसके अतिरिक्त बाह्य वातावरण में बच्चे को भले ही कितनी ही अच्छी शिक्षा क्यों न मिले वह मौखिक होने से अस्थायी होती है। स्थायी और सच्ची शिक्षा तो बच्चा अभिभावकों के संरक्षण में, उनके व्यावहारिक जीवन से ही सीख पाता है। वैसे स्कूल, बोर्डिंग, शिक्षा संस्थाएँ उपयोगी होती हैं किन्तु बच्चों के जीवन निर्माण का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व इन पर नहीं छोड़ा जा सकता। वस्तुतः बच्चों के चरित्र-निर्माण में माता-पिता के स्नेह से युक्त शान्त सुखदायी घरेलू वातावरण का बहुत बड़ा महत्त्व है।

बच्चों की शिक्षा और छोटी-छोटी

बातें

बया नाम का एक पक्षी छोटे-छोटे तिनकों को चुनकर अपने घोंसले का निर्माण करता है। ये छोटे-छोटे तिनके यों किसी भी काम के नहीं होते, लोग इन्हें जरा भी महत्त्व नहीं देते, पर बया जब इन्हीं के द्वारा अपना सुन्दर घोंसला बना लेता है तो अच्छों-अच्छों को आश्चर्य होता है। मनुष्य का जीवन भी एक नीड़ के समान है, जिसमें छोटे-छोटे कामों का वही महत्त्व है, जो बया पक्षी के लिए घोंसले का निर्माण करते समय छोटे-छोटे तिनकों का है। बाल्यावस्था मनुष्य जीवन की एक आधारशिला है—यहीं से बच्चे के भविष्य का निर्माण शुरू होता है इसके लिए चाहिए कि छोटे बच्चों को छोटे-छोटे काम और छोटी-छोटी आदतों का परिष्कार भी इस प्रकार सिखाया जाय कि उसका व्यक्तित्व सुन्दर और सुघड़ बने।

प्रत्येक बालक में महान बनने की शक्ति और सम्भावना विद्यमान रहती है। यदि उन्हें विकसित किया जाय तो वही बालक एक आदर्श नागरिक बनकर समाज और संसार के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन भली-भाँति

कर सकता है तथा उसकी छोटी-छोटी बातों और आदतों को महत्त्वहीन समझकर उपेक्षित कर दिया जाय तो एक सुन्दर व्यक्तित्व की उपलब्धि से बच्चा वंचित रह जाता है। अतएव बालकों को बचपन से ही सावधानी, स्वच्छता, सच्चाई, प्रेम और आत्मीयता की शिक्षा देनी चाहिए। स्मरणीय है—बच्चों का निर्माण कोरे उपदेशों से नहीं होता। पहली आवश्यकता तो यह है कि स्वयं के माध्यम से बच्चों के सामने आदर्श प्रस्तुत किया जाय तथा दूसरी आवश्यकता यह है कि बच्चों के प्रत्येक क्रिया-कलाप और उनकी कार्य-पद्धति का ध्यान रखते हुए उन्हें समुचित मार्गदर्शन दिया जाय। यहाँ ऐसी ही कुछ बातों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनसे कि बच्चों को अपने छोटे-छोटे काम करने की सही दशा और छोटी-छोटी आदतों का परिष्कार करने की शिक्षा दी जा सके।

थोड़ा बड़ा होते ही बच्चे को स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया जाता है। स्कूल भेजते समय उसके लिए कापी-किताबें भी खरीदकर लानी पड़ती हैं और उसके सुपुर्द करनी पड़ती हैं। यह बच्चों पर छोड़ी गई एक छोटी-सी प्रारम्भिक जिम्मेदारी है। उन्हें अपनी जिम्मेदारी ठीक तरह से निभाना सिखाने के लिए यह ध्यान देना जरूरी है कि वे अपनी कापी-किताबों को किस तरह रखते हैं और कैसे उनका उपयोग करते हैं ? इस सम्बन्ध में कोई जानकारी न होने के कारण बच्चों के लिए कापी खरीदने के एक सप्ताह बाद ही देखा जाता है कि उनका कवर नुच गया, किताब पर चढ़ाया गया कागज फट गया आदि आदि। बच्चों को उनके उपयोग का कोई तरीका तो बताया नहीं जाता। अभिभावक सोच लेते हैं कि यह काम शिक्षकों का है और शिक्षक के सामने यह समस्या आती है कि वे ४०-५० बच्चों पर व्यक्तिगत रूप से कैसे ध्यान दें ?

दोष न बच्चों का है, न शिक्षकों का। इस बात से तत्काल कोई बड़ी हानि भी नहीं होती, पर बच्चों की प्रवृत्ति में एक लापरवाहीपन आने का डर खड़ा हो जाता है, जो इस समय तो नहीं, पर आगे चलकर अपने भयंकर परिणाम सामने लाता है। इसलिए अभिभावकों को चाहिए कि वे समय-समय पर अपने बच्चों की कापी-किताबें देख लिया करें और इस सम्बन्ध में समुचित मार्गदर्शन देते रहें। जिस समय नई किताबें और नई कापियाँ खरीदी जाएँ, उस समय माता-पिता बच्चों को यह प्रेरणा भी दें कि वे अपनी किताबों और कापियों को गन्दी होने से बचाने के लिए उन पर कवर चढ़ा लें। प्रत्येक शिक्षित परिवार में समाचार-पत्र तो आते ही हैं। न आते हों तो रद्दी में भी काफी बिकते हैं। उन्हें खरीद लाया जाय और एक बार बच्चे के सामने स्वयं चढ़ाकर बता दिया जाय।

स्कूल से जैसे ही छुट्टी हुई नहीं कि बच्चे घर को दौड़ते हैं। स्कूल में बिताये गये घण्टे उन्हें कैदखानों की

२.८ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

तब लगते हैं क्योंकि उनका उन्मुक्त मन तो खेल-कूद जैसे स्वतन्त्र कामों में ज्यादा लगता है। वे घर की ओर दौड़ते हैं तथा अपने स्कूल का बस्ता जिसमें पढ़ने-लिखने का सामान रहता है, इधर-उधर फेंक देते हैं। यह आदत भी व्यक्तित्व में एक त्रुटि पैदा कर देने की सम्भावना लिए रहती है। अतः बच्चे को अपना सामान सही ढंग से और ठीक जगह पर रखना सिखाना चाहिए।

कहा जा चुका है कि बच्चा अपने जीवन का पहला उद्योग तब आरम्भ करता है, जबकि वह स्कूल जाना शुरू करता है। इस पहले उद्योग में ही बच्चों ने कई कमजोरियाँ और कई त्रुटियाँ पाल लीं तो आगे के जीवन में भी उनके चलने रहने का भय रहता है। स्कूल के अध्यापक अक्सर कहते हैं कि बच्चे कभी पेन्सिल नहीं लाते तो कभी पेन्सिल की नोक ठीक से निकली हुई नहीं है। कभी कोई किताब भूल आया है तो कभी कोई कापी। कभी आर्ट के घण्टे में ड्राइंग-बक्स नदारद है तो कभी रेखागणित के घण्टे में कम्पास-बक्स में परकार ही नहीं है। यह अव्यवस्थित जीवन की ओर बढ़ने की घण्टी है। अतः अभिभावकों को चाहिए कि वे अपने बच्चों की पेन्सिल, फाउन्टेनपेन, किताब, कापी आदि की देखभाल कर लिया करें। हो सके तो स्कूल जाने से पूर्व उसे इन सब बातों की याद दिला दी जाय या उसके सामान को उसके सामने अपने हाथों से यदा-कदा बस्ते में रखा भी जाता रहे। इस बात का काफ़ी प्रभाव पड़ेगा और वे अन्य बातों में भी सुव्यवस्था का ध्यान रखना सीखेंगे।

सुव्यवस्था और सावधानी केवल स्कूली मामलों में ही बरतना न सिखाया जाय, वरन् कामों में भी इस बात का ध्यान रखने की प्रेरणा दी जाय। नहाने-धोने के बाद अपने कपड़ों को यथास्थान रखने और उतारने, साबुन उचित स्थान पर रखने, खाना खाने के बाद ठीक से हाथ-मुँह धोने और कुल्ला करने की आदतों का विकास करना चाहिए। स्कूली-जीवन को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। कभी-कभी बच्चे स्कूलों में अध्यापकों द्वारा फेंके गये चाक के टुकड़े उठा लेते हैं और उनसे रास्ते में पड़ने वाली दीवारों को चित्रित करते चलते हैं। स्कूलों में भी खाली समय बचता है तो वे पेन या पेन्सिल से अपनी कापी-किताबों को गोदते रहते हैं अथवा उन पर तरह-तरह की आकृतियाँ बना देते हैं, जिससे कापी-किताबें गन्दी हो जाती हैं। यदि माता-पिता अपने बच्चों की प्रत्येक गतिविधि पर सजगतापूर्वक ध्यान दें तो उनमें इस आदत को बढ़ने से रोका जा सकता है। उन्हें समझाया जाना चाहिए कि यह अच्छा नहीं है और बच्चे को यदि चित्रकला के प्रति अभिरुचि है तो इसके लिए अलग से अवसर देने तथा व्यवस्था करने की बात सोचनी चाहिए।

स्वभावतः बच्चों में डटकर मेहनत करने की या पूर्णतः आराम करने की प्रवृत्ति होती है। आराम करने की

प्रवृत्ति अध्ययन करते समय भी सिर उठाती है और बच्चे लेटकर पढ़ने लगते हैं। थोड़ी ही देर में उन्हें नींद आ जाती है, किताब हाथ से छूटकर मुँह पर गिर पड़ती है। यह अच्छी आदत नहीं कही जा सकती। बच्चों को जहाँ-तहाँ बैठकर पढ़ने-लिखने से भी प्रेमपूर्वक मना करना चाहिए। इससे उनका अध्ययन-क्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। कभी चारपाई पर बैठकर तो कभी फर्श पर बैठकर बक्से या स्टूल पर किताब रखकर पढ़ना अच्छी बात नहीं है। उचित तो यह है कि बच्चों को पढ़ने के लिए मेज-कुर्सी का प्रबन्ध कर दिया जाय। ऐसा न हो सके तो बच्चों को नियत स्थान पर बैठकर ही पढ़ने-लिखने की आदत डाली जाय। इससे बच्चों को वहाँ न ऊँधने की बात ध्यान में आयेगी और न आलस्य करने की, क्योंकि वे समझेंगे—यह तो पढ़ने-लिखने की जगह है, यहाँ पढ़ाई-लिखाई ही करनी चाहिए। दूसरी बातों के लिए दूसरा समय और दूसरी जगह है। पढ़ाई-लिखाई का समय जहाँ तक हो सके—सुबह का निर्धारित रहे तो बड़ा अच्छा रहता है, क्योंकि उस समय बच्चे ताजगी का अनुभव करते हैं और ऐसी मनोदशा में पढ़ी गई चीज देर तक स्थायी रहती है।

रात में पढ़ने वक्त बच्चों को पढ़ने के लिए तेज रोशनी का प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। तेज रोशनी में पढ़ने से उनकी आँखें कमजोर होती हैं। यही कारण है कि शहरों में रहने वाले बच्चों को जल्दी ही चश्मा लगाना पड़ता है। बच्चों को पढ़ने के लिए कम पावर का या हरे रंग का बल्ब टेबिल-लेम्प में लगवाकर प्रयोग करना चाहिए। देहातों में या जहाँ पर बिजली नहीं है, उन कस्बों में बच्चे लालटेन की रोशनी में पढ़ते हैं। उनके लिए एक लालटेन खरीदकर ला दी जाती है और उसे जलाने, उपयोग करने का सारा काम उन्हीं के जिम्मे छोड़ दिया जाता है। माता-पिता यह बताना प्रायः भूल जाते हैं कि लालटेन का उपयोग और रख-रखाव किस प्रकार किया जाय। लालटेन देते समय माता-पिता को इस बात का ध्यान भी रखना चाहिए कि बच्चा उसका उपयोग किस प्रकार करता है ? उसे ठीक से लालटेन जलाने, रखने, साफ करने और बुझाने की आदत सिखानी चाहिए। यदि ये काम माता-पिता ही कर दिया करें तो इससे बच्चे परावलम्बी हो जाते हैं और अन्य कामों में उनकी यह आदत बड़ी दुःखदायी बन जाती है।

गरीबी के कारण हो सकता है कि कुछ लोग अपने घर में बिजली का प्रबन्ध न कर सकें। पर इसका मतलब यह नहीं है कि बच्चों के लिए लालटेन भी सुलभ न हो। निर्धन परिवारों में प्रायः देखा जाता है कि बच्चे दिये (दीपक) की रोशनी में पढ़ते रहते हैं। दिये से निकलने वाला धुआँ बच्चों की आँखों में घुसता रहता है और उन्हें खराब करता रहता है। बच्चों के लिए दीपक छोड़कर, लालटेन की व्यवस्था करना न तो कोई ज्यादा

खर्चीली बात है और न इसके लिए अतिरिक्त धन ही खर्च करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार स्कूल में पढ़ते हुए बच्चों में डाली गई ये आदतें उनके जीवनभर काम आती हैं। साथ ही बच्चों को सफाई से रहना भी सिखाना चाहिए। उन्हें अपने पढ़ने-लिखने की चीजों को साफ-सुथरा रखने के साथ अध्ययन-कक्ष की नित्य सफाई करने, प्रयोजनीय वस्तुओं को स्वच्छ रखने और किताब-कापियों को ठीक से सजाकर रखने की प्रेरणा देनी चाहिए। इन संस्कारों से संस्कारित करने के साथ-साथ यह भी ध्यान रखें कि बच्चों को केवल अपना आज्ञाकारी बनाने की ही चेष्टा न की जाय। उन्हें अनुशासित और मर्यादित बनाने के लिए भी प्रयत्न किये जाएँ, पर इसका मतलब यह नहीं है कि बच्चों पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाय।

बच्चा अपनी अकल का भी उपयोग करता है। बदलते समय के साथ बच्चों की दुनिया भी बदल रही है। इसलिए ऐसा कम ही देखने में आता है कि बच्चों से जो कहा जाय, वे उसे बिना ननुनच किये मान लें। ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं। अतः बच्चों को परामर्श और मार्गदर्शन दिया जाय, आज्ञाएँ दें तो सुझाव के रूप में, अपने लिए किसी काम की कहे तो, पर सोच-समझकर। इस प्रकार बच्चों को बिना कोई दबाव महसूस किये अपनी अकल के सहारे बढ़ने योग्य बनाया जाय। नितान्त आज्ञाकारी बच्चे प्रतिभाशाली और क्षमता सम्पन्न होते हुए भी दूसरों के कहने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अपने दिमाग का कोई उपयोग न करने के कारण वे परावलम्बी से हो जाते हैं, बच्चों में अकल ही कितनी होती है, इस बजह से कहीं वह अपना ही नुकसान न कर लें, इस डर के कारण बच्चों को स्वतन्त्र बुद्धि का प्रयोग करने से रोका न जाय। गिर-गिरकर ही हर कोई चलना सीखा है। गिरने के डर से बच्चे को चलने न देना कौन बुद्धिमानी कहेगा ?

इस प्रकार माता-पिता को बच्चों के साथ प्रशासक नहीं, परामर्शदाता की भाँति अधिक व्यवहार करना चाहिए। यह न सोच लिया जाय कि बच्चों को स्वतन्त्र बुद्धि का उपयोग करने देने की बात कहकर उन्हें अवज्ञाकारी बनाया जाय। कहा इतना भर जा रहा है कि उसे आत्मानुशासित, मर्यादित और आत्म-निर्भर बनाने के लिए अपनी बुद्धि के प्रयोग का अवसर देकर उसके शिक्षण को समग्रता प्रदान की जाय। स्वामी विवेकानन्द की मान्यता है कि “शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित क्षमताओं के विकास का साधन है।” इस मान्यता को दृष्टिगत रखते हुए प्रयत्न करना चाहिए कि बच्चों की शिक्षा उसे जानकारीयों देने तक ही सीमित न रखी जाय, वरन् छोटी-छोटी बातों में सावधानी, सजगता और मनोयोग का उपयोग कर उसके व्यक्तित्व के विकास की भी चेष्टा की जाय।

बच्चे पढ़ने से जी क्यों चुराते हैं?

मनोविज्ञान के आधार पर बालकों को बौद्धिक दृष्टि से पाँच भागों में बाँटा गया है—(१) पहली श्रेणी में उत्कृष्ट बालक है, (२) कुछ बालक असाधारण कोटि के होते हैं, (३) साधारण प्रकार के बालक अधिक होते हैं, (४) कुछ साधारण से कम श्रेणी के बालक होते हैं, (५) कुछ बुद्धिहीन होते हैं।

अन्तिम दो प्रकार के बालक अर्थात् साधारण से कम और बुद्धिहीन बालक तो स्वाभाविक ही है कि अपने अध्ययन में रुचि नहीं रख पाते हैं। अध्ययन तो दूर इन श्रेणियों के बालक अपने दैनिक-जीवन के सामान्य कार्य, जैसे भोजन करना, कपड़े पहिनना आदि भी भली-भाँति नहीं कर पाते हैं। ठीक इसके विपरीत प्रथम तीन श्रेणियों के बालक अर्थात् उत्कृष्ट-असाधारण और साधारण अस्सी प्रतिशत हैं, जिनके कंधों पर ही राष्ट्र की भावी आशा होती है। समाज के उत्थान-पतन, प्रगति-अगति, जय-पराजय आदि के लिए इन श्रेणियों के बालक ही जिम्मेदार हैं। यदि इन तीन श्रेणियों के बालकों के मानसिक स्तर का समुचित उपयोग नहीं किया गया तो समझिए समाज और राष्ट्र का दिवाला पिट जावेगा। ऐसे उदाहरण वर्तमान युवा-जीवन की झलक में भी आँके जा सकते हैं। बालकों के मानसिक स्तर का सदुपयोग नहीं होना समाज के लिए महान घातक है।

यदि गहराई से देखा जावे तो आजकल इन तीनों श्रेणियों के बालक पढ़ाई-लिखाई से भागने लगते हैं। यह छूत के रोग-सा फैलता जा रहा है। उत्कृष्ट व असाधारण श्रेणी के बालक तो अपनी तीव्र बुद्धि के सहारे कम समय में अपना अध्ययन कार्य पूरा कर लेते हैं। परन्तु साधारण श्रेणी के बालक इस छूत के रोग से ग्रस्त हैं। इसके कारण उनका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हुआ जा रहा है। उनके लिए पढ़ना, विद्यालय में जाना, विद्यालय का गृह कार्य करना आदि बोझ हैं। वस्तुस्थिति का अन्दाज किया जावे तो अध्ययन की बात एक तरफ छोड़िए, विद्यालय में जाना और वहाँ अध्ययन करना उनको व्यर्थ-सा अनुभव होता है। परीक्षा का परिणाम जब हाथ लगता है, तब शिक्षक, परीक्षक, बोर्ड, यूनिवर्सिटी आदि को बदनाम करते हैं। यही नहीं वह असामाजिक व्यवहार भी करने लगते हैं। आखिर इसके पीछे क्या कारण निहित है ? आइये, हम विचार करें।

कुछ बालकों में शारीरिक कमियाँ-दोष जैसे—कम सुनना, कम बोलना, शरीर के किसी अवयव में दर्द बने रहना आदि पाये जाते हैं किन्तु इनकी ओर माता-पिता या अभिभावक सामान्यतया ध्यान नहीं देते हैं। इस प्रकार के छात्र अपने माता-पिता से जब शिकायत करते हैं तो अभिभावक समझते हैं कि बालक काम से मन चुराना चाह रहा है, काम न करने का बहाना कर रहा है अथवा

काम नहीं करना चाह रहा है। उनकी शारीरिक कमियों की ओर ध्यान देने की अपेक्षा ऐसा समझ लिया जाता है। इस प्रकार के छात्र विद्यालय में जाते रहते हैं, किन्तु संकोचवश अपनी बात और शारीरिक दोष अपने अध्यापक को या अपने मित्र को नहीं बता पाते हैं क्योंकि उनके मन में इन्हें प्रकट करने में हिचकिचाहट बनी रहती है। उधर शिक्षक को भी व्यस्तता के कारण ऐसे बालक के दोषों को देखने का अवसर नहीं मिल पाता है। यदि बालक अपनी भाषा में अपनी बात शिक्षक के सामने भी रख देता है तो वह सुनी-अनसुनी कर देता है। इस प्रकार माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक की लापरवाही के कारण बालक को अध्ययन में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इन्हीं दोषों के कारण बालक कक्षा में पढ़ाने को समझ नहीं पाता, सुन नहीं पाता और देख नहीं पाता। धीरे-धीरे इसका प्रभाव यह होता है कि बालक कक्षा में अन्य छात्रों की अपेक्षा पिछड़ने लगता है। कक्षा के काम का बोझ तो बढ़ता रहता है, दूसरी ओर बालक अपने शारीरिक दोषों पर मूक-दुःखी होने लगता है। इसके परिणामस्वरूप बालक को पढ़ाई से अरुचि होने लगती है। दिन पर दिन वह विद्यालय जाने में ऊब का अनुभव करने लगता है।

यह तो पहले ही कहा गया है कि बालकों का मानसिक-स्तर भिन्न-भिन्न होता है। इसके साथ उनकी रुझान भी एक-सी नहीं होती। इनसे माता-पिता अभिभावक और सामान्य शिक्षक परिचित नहीं रहते हैं। जबकि बालक की इन दो बातों से परिचित रहने पर ही निर्धारित करना सरल होता है कि बालक इन विषयों को ठीक तरह से पढ़ पावेगा ? किस विभाग में वह सफल रहेगा ? किन्तु होता यही है कि बालक को जबर्न ही ऐसे विषय दिलवा दिये जाते हैं, जिन्हें वह मानसिक स्तर और अपनी अरुचि के कारण पढ़ना नहीं चाहता। इसका परिणाम स्पष्ट है, वह विषय के प्रति घृणा करने लगेगा। एक ओर स्वयं का मानसिक स्तर और अरुचि तो दूसरी ओर अध्यापक की कठोरता, विषय का अधिकचरा ज्ञान, विद्यालय का वातावरण आदि उसे बाध्य कर देते हैं कि पढ़ाई से मुक्ति मिल जावे।

घरेलू वातावरण भी बालकों के अध्ययन को प्रभावित करते हैं। टूटा-फूटा घर हो, चारों ओर गन्दगी हो, घर में सारा सामान अव्यवस्थित हो आदि का प्रभाव बालक के मन को अध्ययन के प्रति उदासीन बना देता है। दूसरी ओर घरों में माता-पिता के बीच किच-किच हुआ करती है, जिसके कारण मानसिक तनाव बना रहता है। इस मानसिक तनाव से बालक वंचित नहीं रह सकता। वह घर के वातावरण से दुःखी हो जाता है, उसके प्रभाव से बालक का मन विद्यालय के अध्ययन में भी नहीं लगता है। जब वहाँ मन नहीं लग पाता है तो वह विद्यालय के समय में ही विद्यालय को छोड़कर अन्यत्र

मनोरंजन की तलाश करता है। इस प्रकार करते रहने से अध्ययन में पिछड़ जाना स्वाभाविक है। तब फिर वह अध्ययन से दिल चुराने लग जाता है।

घरों में माता-पिता बालकों को व्यर्थ के आदेश देते हैं। जैसे—‘यह करो’, ‘यह मत करो’ आदि। इसका प्रभाव भी बालक की पढ़ाई-लिखाई पर पड़ता है क्योंकि ये व्यर्थ के आदेश उसकी पढ़ाई-लिखाई की शृंखला को तोड़ देते हैं। देखा जावे तो बालक को प्यार और ताड़न दोनों समय-समय पर मिलना चाहिए। किन्तु कहीं-कहीं बालकों को अति प्यार और कठोरता मिलती है। इन ‘अति’ के कारण बालक का मन धीरे-धीरे कुण्ठित होने लगता है। बालक अपने अध्ययन में कैसा है ? विद्यालय में वह क्या करता है ? अपने विषय में वह कैसा कार्य कर रहा है ? आदि के सम्बन्ध में अभिभावक पूछताछ नहीं करते हैं या तो वे इसे अपना कर्तव्य नहीं समझते हैं, केवल शिक्षक और विद्यालय का उत्तरदायित्व समझते हैं या इस कार्य को घटिया समझते हैं क्योंकि उनके जीवन में तो बहुत बड़े-बड़े कार्यों का पुलाव बँधा रहता है। इस प्रकार का व्यवहार भी बालक को अपने अध्ययन में उदासीन बना देता है क्योंकि वह समझता है कि घर पर कोई पूछताछ तो करता ही नहीं है। घर के आस-पास यदि चीख-चिल्लाहट, गाली-गलौज आदि का वातावरण बना रहता है तो उससे भी बालक का मन अध्ययन से विमुख होने लगता है।

आजकल शहरों में राशन-पानी आदि के लिए लम्बी प्रतीक्षा करनी होती है। अभिभावकों को तो इतना अवकाश कहाँ है कि वे पंक्ति में लगकर प्रतीक्षा करें। यह बालक के उत्तराधिकार में आता है। इस कारण विद्यालय के कार्य समय पर नहीं होने से बालक पिछड़ने लगता है। धीरे-धीरे वह पढ़ाई से दूर भागने लगता है।

कहीं-कहीं संयुक्त-परिवार के कारण बच्चों की संख्या अधिक होती है क्योंकि इस संयुक्त-परिवार की मान्यता में नियोजन के विपरीत सन्तति बढ़ाते हैं। इस कारण अभिभावक बालकों की ओर ध्यान नहीं दे पाते हैं। उधर बालक अपने आपको असहाय और बेकार बोझ समझने लगते हैं।

कुछ बालक खेलों के प्रति रुझान अधिक रखते हैं। वे इन खेलों में समय के प्रारम्भ से ही लग जाते हैं। आधे सत्र तक संस्थाओं में खेल-कूद की प्रतियोगिताओं का आयोजन होता रहता है। इस समय तक यह खिलाड़ी बालक अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दे पाते हैं। कक्षा में वह पिछड़ जाते हैं। यदि छात्र मानसिक स्तर से साधारण श्रेणी का हुआ तो अध्ययन के अधूरे काम को पूरा नहीं कर पाता है। परिणामस्वरूप अध्ययन की ओर से वह दूर हटने लगता है। आगे जाकर, ऐसे बालक अध्ययन कर नहीं पाते हैं।

बाजार में परीक्षा पास करने सम्बन्धी संक्षिप्त नुस्खे मिल जाते हैं। परीक्षा के दिनों बालक उनका सहारा लेकर उत्तीर्ण होने तक का उद्देश्य पूरा कर लेते हैं। जब इतने कम परिश्रम में सफलता हाथ लगती है तो सत्र-भर विद्यालय में जाकर सिर खपाने में क्या तुक ? इस वृत्ति के कारण भी बालक अध्ययन की ओर से विमुख होते हैं।

आर्थिक परिस्थिति या अन्य परिस्थिति के कारण अभिभावक समय पर बालक को पाठ्य-पुस्तकें व अध्ययन सामग्री उपलब्ध नहीं करवा पाते हैं। इस कारण बालक विद्यालय में दिये गये गृह-कार्य आदि को समय पर पूरा नहीं कर पाता है। इसका परिणाम होता है कक्षा के कर्तव्यों में पिछड़ जाना। वही कार्य उसके लिए भारस्वरूप बनता चला जाता है। काम करके नहीं लाने के कारण कक्षा में ऐसे बालकों को अपमान का शिकार होना पड़ता है। इस अपमान से बचने के लिए वह कक्षा से भागना शुरू कर देता है। यही प्रक्रिया उन्हें एक दिन अध्ययन से विरत कर देती है।

मनोवैज्ञानिक आधार पर जैसे ही बालक किशोरावस्था में प्रवेश करता है, उसमें मानसिक-परिवर्तन होने लगता है, जिसे बालक तो नहीं समझ पाता है। किन्तु माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक की ओर से भी ऐसी समय में कोई निर्देश, मार्ग-दर्शन नहीं मिल पाने से वे दिवास्वप्न देखने लगते हैं। इन्हीं दिवास्वप्नों को साकार स्वरूप देने के लिए अध्ययन के स्थान पर इधर-उधर भटकने लगते हैं। इस प्रकार के बालक फिर अध्ययन में रुचि क्यों रखने लगे ?

केवल बालक को अध्ययन के प्रति जागरूक कर देने से काम पूरा नहीं हो पाता है। इसके लिए तो माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक को भी जागरूक रहना पड़ेगा। माता-पिता और अभिभावक व्यर्थ ही व्यस्तता का जामा पहिनकर इस उत्तरदायित्व से अपने आपको अलग मानते हैं। पर इस वृत्ति को छोड़कर बालकों की समस्या, कठिनाई आदि पर उनसे चर्चा करनी चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निकाला जाना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में एक और अभिभावक सम्बन्धी कठिनाई है। वे केवल बालक को विद्यालय में भेज देना एवं पाठ्य-सामग्री दिलवा देना ही अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। यद्यपि ग्रामीण माता-पिता अध्ययन सम्बन्धी-ज्ञान तो नहीं रखते हैं। लेकिन वे शिक्षकों से सम्पर्क रखते हुए अपने बालक की अध्ययन सम्बन्धी गतिविधि से परिचित रह सकते हैं। आजकल तो विद्यालयों द्वारा छात्रों को प्रगति-पत्रक दिये जाते हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक देखना या दूसरों से दिखवा लेना ग्रामीण माता-पिता अपना कर्तव्य समझें। दूसरी ओर ऐसे छात्रों के सम्बन्ध में शिक्षक भी माता-पिता और अभिभावकों से सम्पर्क बनाए रख सकता है।

बच्चों की पढ़ाई के लिए घर से प्रोत्साहन मिले

व्यक्तित्व का निर्बल होना व प्रभावहीन होना स्वयं के लिए व समाज के लिए घातक है; क्योंकि निर्बल व्यक्ति न स्वयं कुछ करने में समर्थ है और न समाज में कुछ करने की सामर्थ्य रखता है। निर्बल और प्रभावहीन व्यक्ति सदा कुटिल और स्वार्थी लोगों का शिकार होता है।

इस निर्बलता और प्रभावहीनता का क्या कारण हो सकता है ? यदि मनुष्य में अज्ञान है तो उसे समाज में निर्बल और प्रभावहीन बनकर रहना पड़ेगा। इस अज्ञान के पीछे अशिक्षा है। मनुष्य अशिक्षा के कारण संसार के क्रिया-कलापों से अपरिचित रहता है। ऐसा व्यक्ति न अपने आपको अभिव्यक्त कर पाता है और न दूसरे को समझ सकता है। वह महान पुरुषों के विचारों और अनुभवों का लाभ लेकर न अपना जीवन निर्माण कर सकता है और न दूसरों को उनका लाभ दे सकता है। कहना चाहिए, जीवन का सच्चा आनन्द लेना है तो मनुष्य को शिक्षित होना चाहिए।

ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत-से लोग शिक्षित तो हैं और उन्होंने ऊँची-ऊँची उपाधियाँ प्राप्त कर ली हैं लेकिन वह सामाजिक जीवन में कूद पड़ने की हिम्मत नहीं रख पाते हैं। साहस के अभाव में वह समाज से दूर-दूर रहते हुए, एकाकी जीवन व्यतीत करता है। इसका परिणाम होता है कि उसकी शिक्षा का लाभ न तो स्वयं को मिला और न समाज को उसका लाभ दे सका। संसार में क्या-क्या सामयिक परिवर्तन हो रहे हैं ? उनसे वह पूर्णतः अपरिचित रहता है, इस कारण वर्तमान में उसे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, इसका निर्णय नहीं ले पाता है। शिक्षित होते हुए मनुष्य अपने समीपवर्ती जीवन से अपरिचित बना रहे तो उसे शिक्षित कैसे कहें ? क्यों न अज्ञानी ही मानें ? यदि ज्ञान का विकास करते रहना है तो शिक्षित होने के साथ-साथ सांसारिक गतिविधियों से जूझते रहना चाहिए।

इस शिक्षा का शुभारम्भ बचपन से होता है। पाँच-छह वर्ष की आयु से बच्चा जब शिक्षा आरम्भ करता है, तब उसमें निजी समझ का अभाव रहता है। इसी कारण वह स्वयं प्रेरित होकर शिक्षण नहीं लेता है। यदि जबरन पढ़ने हेतु उसे बिठाया भी गया तो वह उसमें रुचि नहीं लेता है बल्कि वह इसके स्थान पर अपने सहज स्वभाववश खेल-खेलना पसन्द करता है क्योंकि पढ़ाई उसके लिए सर्वथा नई बात है। लेकिन धीरे-धीरे अध्यापक और अभिभावक के परिश्रम से बच्चा पढ़ाई की ओर आकर्षित होने लगता है। इस काल में दोनों सतर्कतापूर्वक बालक की पढ़ाई पर ध्यान रखते हैं,

तब कहीं बालक पढ़ाई की चाल पकड़ पाता है।

जैसे ही बालक पढ़ाई के सम्बन्ध में रुचि लेना प्रारम्भ कर देता है तो घरों में अभिभावक बालक की पढ़ाई के प्रति ध्यान देना बन्द कर देते हैं। वे इस ओर असावधान और उदासीन हो जाते हैं। इसका प्रभाव बच्चे की पढ़ाई की गति पर गिरता है। उसकी पढ़ाई की गति मन्द होने लगती है। सम्भव है, उसका ध्यान इधर-उधर भी भटक सकता है ताकि वह बालक आगे जाकर पढ़ाई में ही मन्द न होवे, अन्य उल्टे-सीधे मार्ग पर जाकर अपना जीवन बर्बाद कर सकता है। इधर स्कूलों में अध्यापक भी ऐसे बच्चे के प्रति उदासीन हो जाते हैं। यहाँ भी जब बालक ढील देखता है तो उसे इधर-उधर भटकने के अवसर मिलते हैं और उसकी पढ़ाई के स्तर में तो कमी आती ही है।

यदि बालक ने प्रारम्भिक अवस्था में पढ़ाई की चाल पकड़ भी ली है तो अभिभावक और अध्यापक बच्चे का तब तक पीछा नहीं छोड़ें कि बालक में स्वयं की समझ न आ जावे। हमेशा बालकों में पढ़ाई के प्रति अभिरुचि बनाए रखने के लिए उन्हें अपना समय देते रहना चाहिए, जिससे उनकी पढ़ाई की गति में अवरोध उत्पन्न न होने पावे।

जब तक बालक पढ़ाई में रँग न जावे तब तक अभिभावक घर पर प्रतिदिन घण्टा-आधा-घण्टा उनकी पढ़ाई-लिखाई के लिए दिया करें। उन्होंने स्कूल में क्या काम किया है तथा कौन-सा काम किया गया है ? उसकी मात्र जानकारी ही न लें, बल्कि सम्बन्धित समस्या का समाधान भी करें। कभी-कभी पढ़े हुए कुछ प्रश्न पूछकर यह मालूम करने का प्रयत्न करें कि बच्चे ने जो पढ़ा है, वह समझा है या नहीं तथा याद है या नहीं। उनकी गृह-कार्य की क़ापियाँ देखें। बालक ने शिक्षक से गृह-कार्य को जँचवाया या नहीं, इसके सम्बन्ध में जानकारी लेने के साथ-साथ क़ापियों में आई गलतियों की ओर से बालक का ध्यान आकर्षित करते रहना चाहिए। अच्छा हो गलतियों को सुधारने के लिए अभ्यास दे दें ताकि उन्हें दुहरा न पावे।

यदि यह प्रक्रिया नियमित रूप से चलायी जाय तो बालक सतर्क हो जाता है और विद्यालय के कार्य को बराबर करेगा। यही नहीं, वरन् पढ़ाई की ओर उसकी अभिरुचि बढ़ती जावेगी क्योंकि काम का निरीक्षण होते रहने से उस कार्य में कौशल भी आता है और उसे करते रहने के प्रति जाग्रत होता है।

जहाँ अभिभावक इतना नहीं कर पाते हैं तो उनके बालक अध्ययन में रुचि नहीं लेते हैं और एक बार पढ़ाई में पिछड़ जाने पर उनमें निराशा घर करने लगती है। यही निराशा उन्हें अध्ययन से हटाकर इधर-उधर भटकने के लिए बाध्य करती है। कितना महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है—अभिभावकों का बालकों के प्रति ?

विद्यालयों में कई बच्चे पढ़ते हैं। अध्यापक को एक ही दिन में कई बच्चों को पढ़ाना पड़ता है। ऐसी दशा में बच्चे की अध्ययन सम्बन्धी व्यक्तिगत कठिनाई को वह हल करने में असमर्थ ही होता है। यों भी शिक्षक का ध्यान इतना बिखरा होता है कि वह किसी विशेष बालक पर ध्यान नहीं दे पाता है। ऐसे बालकों की पकड़ यदि घर पर अभिभावक नहीं कर पावे तो समझिये कि बच्चा अध्ययन के नाम पर हाथ से निकल जाता है। स्कूल में अध्यापक की विशेष पकड़ नहीं और घर पर अभिभावक का ध्यान नहीं, फिर तो उस बालक के लिए समाज का विशाल क्षेत्र खुला रहता है, वह उस ओर अपने आपको उन्मुख कर लेता है।

जबकि अभिभावक को विद्यालय के अध्यापक पर ही निर्भर रहते हुए, स्वयं लापरवाह नहीं हो जाना है। अभिभावक, अध्यापक के अध्यापन के बाद भी घर पर बालक के अध्ययन के प्रति सतर्क रहे। कम से कम अभिभावक थोड़ा-थोड़ा समय भी निकालते रहे तो बालक अध्यापक के अलावा भी बहुत कुछ सीख सकता है और पढ़ सकता है।

परिवार में यह आवश्यक नहीं कि पिता ही बालक को पढ़ाने की ओर अभिरुचि रखें। परिवार का जो भी व्यक्ति पढ़ा-लिखा हो और बालक के अध्ययन का निरीक्षण कर सकता हो, वह उसे पूरा करें। फिर चाहे उसमें माँ हो सकती है अथवा परिवार का कोई भी वयस्क परिजन हो सकता है। पर इनमें से कोई भी योग्यता न रखता हो तो पिता को इस उत्तरदायित्व को वहन करना चाहिए। चाहे फिर पिता के पास कितना ही समय का अभाव क्यों न हो ?

सन्तान के शिक्षण के लिए उसे थोड़ा समय निकालना ही चाहिए। ऐसे भी परिवार होते हैं, जहाँ कोई भी इतना पढ़ा-लिखा न हो जो बालक का अध्यापन कर सके। ऐसी परिस्थिति में कम से कम पिता अथवा घर के अन्य परिजन को समय-समय पर बच्चे के विद्यालय जाते-आते रहना चाहिए तथा बच्चे के अध्यापकों से उसके अध्ययन सम्बन्धी जानकारी लेते रहना चाहिए। ऐसा करने से भी बच्चों में अध्ययन के प्रति रुचि बनी रहेगी क्योंकि वह समझेगा कि उस पर अध्यापक के अलावा घर के लोगों की भी निगाह है।

यदि बालक को शिक्षित बनाना चाहते हैं तो अभिभावकों की बालक की शिक्षा के प्रति जो उदासीनता है, उसे त्यागना होगा। बच्चा स्कूल की अपेक्षा घर पर अधिक समय व्यतीत करता है। इस समय यदि उसे कोई निर्देशक नहीं मिल पाया तो बालक भी अध्ययन के प्रति आधा मन रखेगा। अस्तु, अभिभावक इस उत्तरदायित्व का वहन ऐसा समझकर करें कि यह उसका महत्वपूर्ण कर्तव्य है, जिसे उन्हें पूरा करना ही है। यदि अभिभावक इस ओर आगे बढ़ गये तो बालक को शिक्षा के विकास में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी।

बच्चों का अवकाश काल इस तरह बीते

‘अवकाश’ का अर्थ बेकार पड़े रहना अथवा सोते रहना नहीं है और न उसका यह भी आशय है कि जिन्हें अवकाश मिला है, वे बेकार में इधर-उधर उठ-बैठकर और गप लड़ाकर समय नष्ट कर डालें। अवकाश का तात्पर्य है—निरन्तर किये जाने वाले काम को कुछ समय के लिए स्थगित करके कुछ ऐसा काम करना जिससे नवीनता आये, मन-मस्तिष्क में कुछ परिवर्तन आये, नया ज्ञान मिले और मनोरंजन हो।

पढ़ने वाले लड़कों को वर्ष में सब मिलाकर लगभग छह माह का अवकाश प्राप्त होता है। इस अवकाश में से यदि त्योहारों तथा साप्ताहिक छुट्टियाँ निकाल दी जायें जब भी यह अवकाश का समय चार-साढ़े-चार माह का तो बच ही जाता है। उसमें गर्मी की छुट्टी तो एक साथ ही लगभग दो माह की होती है। यह सारा अवकाश बच्चे या तो घर में पड़े-पड़े सोते हुए बिताते हैं अथवा नाते-रिश्तेदारी में विवाह-शादी करके। इस अवकाश का कोई समुचित उपयोग नहीं होता। यदि हो सके तो निश्चित है कि इस अवधि में बच्चे बहुत-सा नया ज्ञान और अर्थ तक उपार्जन कर सकते हैं।

नौकरी-पेशा अभिभावकों को छोड़कर लगभग अन्य सारे अभिभावकों में से किसी के खेती का काम होता है तो किसी के यहाँ कार-रोजगार और दुकानदारी होती है। ऐसे अभिभावकों को चाहिए कि वे अपने बच्चों को अवकाश के समय में उन कामों में लगाया करें। यह कभी न सोचें कि यह तो पढ़ने-लिखने वाले हैं, इनका मन-मस्तिष्क इसमें अभी नहीं लग सकता। खेल-कूद लेने दिया जाये। जब समय आयेगा, काम-काज सिर पर आ पड़ेगा तो आप कर लेंगे। अभिभावकों की यह विचारधारा बड़ी अवैज्ञानिक है। जिन बच्चों को शुरू से ही थोड़ा-थोड़ा काम में लगाया जाता रहता है, उनका उस काम में एक प्रकार से प्रशिक्षण होता चलता है। उन्हें उसकी बाहरी व भीतरी बातें पता चलती हैं। मस्तिष्क का उसकी बारीकियों तथा कठिनाइयों से परिचय होता है। उनकी रुचि बढ़ती जाती है और जब वे पढ़ाई पूरी करने के बाद वह काम अपने हाथों में लेते हैं तो वह उनके लिए बहुत नवीन या कठिन नहीं होता। आसानी से करते आ रहे के समान ही ग्रहण कर लें और करने लगें।

जिन अभिभावकों के खेती होती है, वे अवकाश के समय में उन्हें खेती के काम से परिचित करायें, सहायता लें। खेतों पर घुमाने ले जायें, उनकी पैदावार और कठिनाई के विषय में अवगत करायें। किन्तु खेतों में पैदावार अच्छी होती है और किन्तु नहीं, इसका कारण बतलायें ? हल किस प्रकार ठीक से जोता जाता है, बैल कौन-सी नस्ल के अच्छे होते हैं और उनको किस

प्रकार स्वस्थ रखकर अधिक से अधिक काम लिया जा सकता है ? यह सब व्यावहारिक अनुभव उन्हें करायें। ऐसा करने से उनका न केवल ज्ञान बढ़ेगा बल्कि खेती के काम में रुचि भी पैदा होगी, जिससे यह समस्या हल होने में सहायता मिलेगी कि बच्चे पढ़-लिखकर खेती करने के बजाय शहरों में छोटी-मोटी नौकरी कर लेना पसन्द कर लेते हैं। किसी काम की योग्यता उससे हाथ-पाँवों का परिचय और रहस्यों की जानकारी उसमें वह रुचि पैदा कर देती है। यदि बच्चे शुरू से ही हल, बैल, मिट्टी, खाद, खेत आदि से तन-मन से परिचित होते रहें तो वह उनके लिए नवीन काम न रह जाये। उनकी सारी झिझक निकल जाये और वे उसके लाभ तथा उपयोगिता से परिचित होने से सहर्ष वह धन्या अंगीकार कर लेंगे।

व्यापारी वर्ग भी अपने बच्चों में बच्चों को इसी प्रकार प्रशिक्षित कर सकते हैं। वे उन्हें अपने साथ बाजारों में ले जायें। क्रय-विक्रय की रीति से परिचित करायें। मालों की अच्छाई-बुराई पहचानने की योग्यता दें। अन्य व्यापारियों के शील, स्वभाव तथा आवश्यकताओं से परिचित करायें। बाजारों की आवश्यकता तथा ग्राहकों की माँग व रुचि से अवगत करें। व्यापार की तरक्की का क्या रहस्य है, उसमें पतन तथा घाटा जिन कारणों से आता है वे बताये जा सकते हैं और उनसे सावधान रहने की चेतावनी दी जा सकती है। इस प्रकार उनसे बाजारदारी और दुकानदारी कराकर उनको बहुत पहले से ही उस काम में रमाया जा सकता है, जिससे आगे चलकर उनका मन न लगने का प्रश्न ही न उठे। बच्चों के अवकाश का समय बेकार नहीं जाने देना चाहिए उसे किसी न किसी प्रकार उपयोग में लाना ही ठीक होगा।

वे अभिभावक जिनका अपना कुछ काम नहीं होता, बच्चों को आगे जिस काम में लगाना चाहते हैं उस काम के लिए किन्हीं दूसरे कारवारी के पास भेज सकते हैं। मानिए आप बच्चे को तकनीकी क्षेत्रों में पहुँचाना चाहते हैं किन्तु आप स्वयं किसी कार्यालय में नौकरी करते हैं। ऐसी दशा में आप बच्चे को किसी भी मित्र-परिचित अथवा सम्बन्धी के उस कारखाने में भेज सकते हैं, जिसमें मशीनरी अथवा अन्य तकनीकी काम होता हो। किसी कारखाने के मालिक मैनेजर को बच्चे से काम लेने के लिए कह सकते हैं। शायद ही ऐसा कोई अदूरदर्शी मैनेजर मालिक हो जो आपकी प्रार्थना अस्वीकार कर दे। आज देश को ज्यादा से ज्यादा तकनीकियों की जरूरत है। सरकार को ही नहीं व्यक्तिगत उद्योगपतियों तथा छोटे-छोटे कारखानेदारों को उनकी कमी रहती है। वे तो खुशी से चाहेंगे कि लोग अपने बच्चे तकनीकी लाइन में सीखने के लिए भेजें।

इसी प्रकार जो अपने बच्चों को व्यापारी बनाना चाहते हैं, वे उनको किसी भी फर्म अथवा दुकान में भेज

सकते हैं। यदि बच्चे निःस्वार्थ भाव से ईमानदारी के साथ काम तथा सेवा करेंगे तो कोई भी उन्हें रखने, सिखाने में आपत्ति न करेगा। बहुत-से परिवारों में उनके घरेलू उद्योग-धन्धे होते हैं। वे बच्चों को उसमें लगा सकते हैं। कताई वाले कताई और सिलाई करने वाले उनको सिलाई का प्रशिक्षण दे सकते हैं। रंगाई, मीनाकारी अथवा कढ़ाई, छपाई का काम करने वाले उन्हें अपने काम का अभ्यास कर सकते हैं। इस प्रकार एक नहीं सैकड़ों काम ऐसे हो सकते हैं अवकाश के दिनों में, जो बच्चों को सिखाये और उनसे कराये जा सकते हैं। अवकाश का समय जिस प्रकार से चाहें खराब करें, बच्चों को इसकी स्वतन्त्रता नहीं देनी चाहिए। उन दिनों उनका सामान्य नियम बन्धन भी टूट जाता है। पढ़ाई-लिखाई का काम एक तरह से स्थगित हो जाता है। इसलिए समय पर उठना, स्कूल के लिए तैयारी करना, समय पर पढ़ना और समय पर खेलने के सारे नियम शिथिल हो जाते हैं, जिससे उनमें आलस्य, अव्यवस्था तथा अनियमितता की दुर्बलता पैदा हो जाती है, जो स्कूल खुलने के बाद बहुत-सा समय लेकर दूर हो पाती है। इसलिए उनको अवकाश के दिनों में सोने, मटरगस्ती करने अथवा जहाँ-तहाँ निठल्ले उठने-बैठने की छूट कदापि नहीं दी जानी चाहिए। उन्हें किन्हीं उपयोगी काम में लगाया जाना चाहिए। यह उनके भविष्य के लिए ही हितकारी होगा। बेकार फिरते रहने से उनमें अन्य अनेक प्रकार के विकार व्यसन भी पैदा हो सकते हैं। इन सबकी सम्भावनाएँ बच्चों को काम में लगाये रहने से दूर हो जाती हैं।

प्रगतिशील विदेशों में छात्रों का अवकाश बेकार नहीं जाने दिया जाता है। उनमें संस्थाओं तथा सरकार के सहयोग से छात्रों के अवकाश शिविरों का आयोजन किया जाता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका को ले लीजिए—वहाँ ये शिविर बड़े व्यावहारिक ढंग से चलाये जाते हैं और प्रतिवर्ष इनमें अधिकाधिक छात्र आकृष्ट होते रहते हैं। उन अवकाश शिविरों में उन्हें सुन्दर आहार, उचित काम, खेलकूद और स्वस्थ मनोरंजन के अवसर दिये जाते हैं। मनोवैज्ञानिक निर्देश, प्राथमिक चिकित्सा, जन-सेवा, व्यायाम, खेल-कूद, तैराकी, भोजन बनाने आदि का प्रशिक्षण दिया जाता है। उन्हीं शिविरों में उन्हें नैतिकता, देशभक्ति तथा संसार की राजनीति पर प्रवचन तथा भाषण भी दिये जाते हैं और दिलाये भी जाते हैं। विद्यार्थियों में नई स्फूर्ति, नई रुचि तथा नई चेतना होती है। उनका मन पढ़ाई में पूरी तरह से लगता है और वे शिविरों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग भी अपनी योग्यता प्रदर्शित करने में किया करते हैं।

अमेरिका की तरह छात्रों के अवकाश शिविरों का प्रचलन रूस में भी है। रूस में इनका आयोजन शिक्षा बोर्ड की तरफ से होता है। यद्यपि अभिभावकों से कुछ अनुदान लिया जाकर जाता है; किन्तु इनका अधिकांश

व्यय शिक्षा बोर्ड ही किया करता है। प्रत्येक विद्यालय अपना समावकाश का शिविर स्वयं आयोजित करता है। किसी पूर्व निश्चित स्थान पर बच्चों के रहने का प्रबन्ध झोपड़ों, लकड़ी के मकानों अथवा पुराने ग्रामों के खाली पड़े निवासों में कर दिया जाता है। इन शिविरों में स्वास्थ्य, किन्नार तथा मनोरंजन के कार्यक्रमों के सिवाय विद्यार्थियों को नागरिकता की शिक्षा भी दी जाती है। इन शिविरों में बच्चों की टोलियाँ बँट जाती हैं, जो बारी-बारी से सबके लिए भोजन बनाती और खिलाने की व्यवस्था करती, इस प्रकार उनको न केवल पाक विद्या का अभ्यास होता है बल्कि प्रीति तथा सद्भोज का आनन्द मिलता है।

अवकाश के कार्यक्रमों से निवृत्त होकर विद्यार्थी स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी रुचि के मनोरंजन कर सकते हैं। इस समय कोई तो पेड़ों पर चढ़ने का अभ्यास करता है, कोई हरी-हरी घास पर बैठकर वार्तालाप करते हैं, कोई अपनी कूची और रंग लेकर प्रकृति का चित्रण किया करता है। कोई कविता लिखता तो कोई संगीत का आनन्द लेता है। इसके अतिरिक्त क्षेत्र की सफाई, शिविरों की व्यवस्था तथा दूर-दूर तक सैर-सपाटों का कार्यक्रम भी रहता है। द्वितीय महायुद्ध के समय रूस के छात्रों ने सत्र की छुट्टियाँ अपने अध्यापकों की देख-रेख में सामूहिक तथा सहकारी खेतों में काम करने में ही बिताई थी। १९४२ के अवकाश में पैंतालीस लाख छात्रों और आठ लाख अध्यापकों ने खेती में हाथ बँटाया था। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे बच्चों ने विभिन्न कार्यों के लिए फलों, कुकुरमुत्तों और औषधियों का भी संग्रह किया था। केवल बीस प्रदेशों के बच्चों ने स्थानीय अधिकारियों को लगभग तीन सौ चवालीस टन फुरवा धड़का कुकुरमुत्ता, ग्यारह सौ तिरपन टन बेरी और फल और ग्यारह सौ पचास टन औषधियों का संग्रह भेंट किया था। बच्चों की यह राष्ट्रीय सेवा किसी भी दृष्टिकोण से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कौन कह सकता है कि बच्चों की इस देशभक्ति के इस परिश्रम तथा इस पुरुषार्थ ने स्वाधीनता की रक्षा में कितना योगदान किया था ?

इन्हीं अवकाश शिविरों के अवसर पर, बच्चों को सहकारिता, सहयोग, राष्ट्रीयता तथा नागरिकता की शिक्षा व्यावहारिक रूप से दी जाती है। सरकारी खेती और सामूहिक फार्मिका का प्रशिक्षण दिया जाता है। इन भौतिक लाभों के अतिरिक्त इन शिविरों से छात्रों को भावनात्मक लाभ भी कम नहीं होता। इससे उनमें पारस्परिकता, प्रेम तथा सौहार्द की भावना बढ़ती है। वे सहकारिता तथा मिल-जुलकर काम करने के मूल्य को समझते हैं, उनमें भाई-चारे का भाव बढ़ता है। कितना अच्छा हो कि भारत में भी ऐसे छात्रों के अवकाश शिविर आयोजित किये जायें और उनको उपयोगी काम तथा महान चरित्र की शिक्षा दी जाय। सरकार तथा संस्थाओं से तो आशा

की ही जा सकती है, साथ ही अभिभावकों से भी यह आशा करना अनुचित नहीं कि वे अपने बच्चों को छुट्टियाँ आलस में न बिताने दें, उन्हें ऐसे उपयोगी कामों में लगाते रहें जिनका सुफल वे स्वयं पावें और उनका राष्ट्र भी। अध्यापक तथा अभिभावक मिलकर किसी न किसी प्रकार इस प्रकार के छोटे-मोटे छात्र शिविरों का आयोजन कर सकते हैं और देश व समाज के हित में उन्हें करने ही चाहिए। यदि भावना है तो सब कुछ हो सकना सम्भव है।

बच्चों में स्वाध्याय की सुरुचि विकसित करें

इच्छाएँ बिना पर्याप्त जानकारी, प्रखर सक्रियता और धैर्यपूर्ण अनवरत प्रयोग के कभी भी साकार नहीं होतीं। अपने बच्चों को प्रत्येक माता-पिता सुयोग्य, श्रेष्ठ, सुसंस्कारी नागरिक बनाना चाहते हैं, पर उस दिशा में विस्तार से सोचने, निरन्तर सजगतापूर्ण सक्रियता बरतने और साधनों का सतर्कतापूर्ण चुनाव करने की तत्परता कम ही लोग बरत पाते हैं। इस न्यूनता के रहते इच्छाओं के फलीभूत होने की कोई भी सम्भावना नहीं रहती।

बच्चों के व्यक्तित्व को विकसित बनाने के लिए उनको पर्याप्त पौष्टिक आहार, शारीरिक श्रम, व्यायाम, खेल-कूद की समुचित व्यवस्था और खिलौनों, क्रीड़ा उपकरणों की पूर्ति जितनी आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक है उनके मस्तिष्क के पोषण की पूर्ति। उनकी जिज्ञासा और कौतूहल की स्वाभाविक वृत्ति को श्रेष्ठ दिशा में नियोजित किए रहना आवश्यक है।

एक ओर जहाँ बच्चों की जिज्ञासा को दबाना अनुचित है, वहीं उसके प्रति उदासीनता भी हानिकर है। दिशा-निर्देश न होने और अच्छे साधनों के सुलभ न कराए जाने की स्थिति में, बच्चों की निरन्तर विद्यमान जिज्ञासा यदि विकृतियों की ओर मुड़ जाए, तो इसमें आश्चर्य नहीं। यदि बच्चा ऐसी पुस्तकें पढ़ने लगा, जो चिन्तन को विकृत, भावना को दूषित और मन को अधोगामी बनाती हैं, तो इसका परिणाम अवश्यम्भावी है।

कई अभिभावक बच्चों के बिगड़ जाने के डर से उन पर सदा यह दबाव डालते रहते हैं कि जब देखो तभी, पाठ्यपुस्तकों से चिपटे रहें और उसके अतिरिक्त किसी और पुस्तक को कभी हाथ न लगाएँ। यह स्थिति हर तरह से घाटे की सिद्ध होती है। बच्चे का मानसिक विकास जितना ही सिमटे-सिकुड़ेगा, आगे चलकर उसके बिगड़ने की सम्भावनाएँ उतनी ही बढ़ती जाएँगी। जो बच्चा अच्छे और गन्दे या बेकार साहित्य का अन्तर स्वयं अपने विवेक से पहचानना नहीं सीख पाता और स्तरीय तथा स्तरहीन पुस्तकों में अन्तर ही नहीं कर पाता, वह आगे चलकर किशोरावस्था में सस्ती उत्तेजना को

उभारने वाले साहित्य को साहित्य मान बैठता है। ऐसे ही बच्चे स्नातक और स्नातकोत्तर उपाधियाँ बटोर लेने के बाद भी सस्ते, अश्लील उपन्यासकारों को साहित्य सम्राट और निराला, प्रसाद के समकक्ष या कि उनसे भी बढ़कर मानते रहते हैं। बसों, रेलगाड़ियों में सफर करते समय सम्पन्न घर के और सुशिक्षित दीखने वाले लड़के और लड़कियों को ऐसे ही सस्ते, भद्दे, उत्तेजक उपन्यास पढ़ते बिना झिझक देखा जा सकता है। परिष्कृत रुचि वालों के मन में उनके प्रति वितृष्णा का भाव उमड़ता है, यह भी लगता है कि ये निर्लज्जता की हद तक ढीठ हैं, जो ऐसी गन्दी किताब खुलेआम पढ़ रहे हैं, संकोच-शर्म भी नहीं। पर वे बेचारे क्या करें ? वे तो उन्हें ही आधुनिक प्रगतिशील दृष्टिकोण से भरेपूरे साहित्य माने बैठे रहते हैं, इसीलिए उन्हें पढ़ते हैं, न कि किसी निर्लज्जता के प्रदर्शन के लिए। अच्छे साहित्य की जिन्हें प्रारम्भ में ही रुचि नहीं पैदा हो गई, वे बाद में उसे अजूबा जैसा मानते हैं और यह समझते हैं कि ये पुस्तकें हमारे लिए नहीं किन्हीं भिन्नवर्गी लोगों के लिए लिखी गई हैं जो या तो महान हैं या सनकी या दकियानूस, पिछड़े। इसलिए बच्चा बड़ा होकर ऐसी संकीर्ण निम्न मनःस्थिति को ही प्रगतिशीलता न मानता रहे, इस कारण उसमें बचपन से ही अच्छे साहित्य के प्रति रुचि जगानी जरूरी है।

अभिभावकों के दबाव से डरकर जो बच्चे पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त बाहर की किताबों में रुचि लेना बन्द कर देते हैं, उनसे कहीं बड़ी संख्या ऐसे बच्चों की होती है, जो चोरी-छिपे बाहरी किताबें पढ़ना शुरू कर देते हैं। इसी सिलसिले में ऐसे बच्चे दुराव-छिपाव की दुष्प्रवृत्ति तो सीखते ही हैं वे कुसंगति के जाल में भी फँस जाते हैं। उन्हें उसी संगति में सुख मिलने लगता है, जहाँ भूत-प्रेत, चोरी-बदमाशी या बहुत भौड़े सस्ते विनोद की या झूठे चमत्कारों की चर्चाएँ हों, कहानियाँ कही जाएँ। अतः पाठ्यक्रम से बाहर की सुरुचिपूर्ण श्रेष्ठ भावों से भरी पुस्तकों का बच्चों के लिए प्रबन्ध करना और उनमें उनके प्रति गहरी रुचि जाग्रत करना प्रत्येक समझदार माता-पिता का कर्तव्य है। स्कूली पढ़ाई में हर्ज न होने पाये यह सतर्कता भी आवश्यक है और स्वस्थ मनोरंजन तक प्रेरणा प्रदान करने वाली पुस्तकों में उनकी अभिरुचि जाग्रत हो, वह सजगता भी आवश्यक है।

अभिभावकों को स्वयं ही बच्चों में अच्छी पुस्तकों के प्रति रुचि जगानी चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि इस मामले में व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचारतन्त्र से प्रभावित होने से बचना चाहिए और स्व विवेक से ही चुनाव करना चाहिए। इसके लिए माता-पिता को स्वयं मेहनत करनी होगी। प्रमाद बरतने से काम नहीं चलेगा। तथाकथित बड़े घर के बच्चे जो पढ़ते हैं, उन्हें

ही लाकर दे देने की अनुकरणशीलता से भी अनिष्ट ही होगा क्योंकि सामान्यतः इन दिनों 'कॉमिक' पुस्तकों का फैशन चल पड़ा है। पहले तो कामिक्स मुख्यतः अँग्रेजी में ही छपते थे। पर अब हिन्दी में भी खूब छपने लगे हैं और सम्पन्न घरों के लड़कों को अँग्रेजी 'कामिक्स' पढ़ते देख उनसे प्रभावित अभिभावक अपने बच्चों के लिए हिन्दी में वैसी ही किताबें ला देते हैं। बच्चों में तो ऐसी पुस्तकों के प्रति स्वाभाविक चाव रहता है। ये पुस्तकें सचित्र तो रहती ही हैं। बच्चे उन्हें देखते ही लपककर ले लेते और उन्हीं में खो जाते हैं। किन्तु इन पुस्तकों में सदा चमत्कारों और असम्भव घटनाओं की भरमार होती है। इनमें वर्णित पात्रों में बौद्धिक उत्कर्ष, सूझ-बूझ, विवेक आदि का प्रायः अभाव ही पाया जाता है और प्रधानता चमत्कारों को या संयोगों को दी जाती है। जब भी इनका नायक किसी भारी विपत्ति में फँसता है, सहसा कोई चमत्कार होता है, कोई अतिमानव जिसका नाम प्रायः भूतनाथ, मृत्युञ्जय, फेटम आदि रखा जाता है, प्रकट होकर रक्षा करता है। यह रक्षा किस पुण्यकर्म के बदले में की गई, यह भी नहीं बताया जाता। माना वे अतिमानव कोई मनमौजी या पक्षपाती जीव हैं, जो या तो अकारण अथवा किसी अज्ञात रिश्ते के कारण नायक-नायिका की सदा रक्षा करते हैं। स्पष्ट है ऐसी कथाएँ बच्चे में कार्य-कारण-शृंखला के प्रति अनास्था उत्पन्न कर उसे भाग्यवादी, काल्पनिक और पुरुषार्थ-विमुख बनाती हैं। इससे बच्चों का पुरुषार्थ-पराक्रम में विश्वास घटता है और चामत्कारिक संयोगों के प्रति अन्ध-विश्वास बढ़ता है। अतः ऐसे 'कामिक्स' घर में नहीं लाने चाहिए।

इनके स्थान पर बच्चों को पवित्र, सुन्दर, सुरुचिपूर्ण कथाएँ जिनमें देवी-देवताओं की भी प्रतीकात्मक एवं विवेकपूर्ण ढंग से लिखी गई कथाएँ सम्मिलित हो सकती हैं, पढ़ाई जानी चाहिए। 'पंचतन्त्र' आज पूरे विश्व में अपनी अनुपम पुस्तक है, अपने बच्चों को भी पढ़ाई जानी चाहिए।

स्वस्थ एवं मार्गदर्शक बाल-साहित्य में बच्चों की रुचि प्रयासपूर्वक विकसित की जानी चाहिए। विभिन्न विषयों की सरल जानकारी देने वाली पुस्तकें भी सचित्र होने पर बच्चों को बहुत पसन्द आती हैं और उनके जिज्ञासु मन को तृप्त कर उनका मानसिक, बौद्धिक विकास करती हैं।

पुस्तकें पढ़ने की ही नहीं उन्हें सहेज-सँभालकर रखने की भी प्रवृत्ति बच्चों में विकसित करनी चाहिए। पढ़ने के बाद पुस्तकों को बेकार समझकर इधर-उधर बच्चे न फेंक दें, यह ध्यान रखा जाना चाहिए। साथ ही, माताओं को भी ऐसी पुरानी पुस्तकों का इस्तेमाल अँगूठी जलाने या टिफिन में बिछाने के लिए फाड़ डालने के लिए नहीं करना चाहिए। अपितु बच्चे अपनी पुस्तक सँभालकर रखना सीखें, इसमें उनकी मदद करनी चाहिए।

बच्चे को अच्छा नागरिक बनाना प्रत्येक माता-पिता का अनिवार्य कर्तव्य है और इस कर्तव्य के निर्वाह में उनकी सुरुचिपूर्ण स्वाध्याय की वृत्ति का विकास भी एक विशेष पक्ष है।

बालकों के लिए सत्साहित्य

जुटाया जाय

कम आयु के बच्चे ज्ञान, स्तर अनुभव और विकासक्रम के कारण बड़ों की तुलना में पिछड़ी स्थिति के होते हैं। उन्हें उपयुक्त-अनुपयुक्त का ज्ञान कम होता है। इसलिए यह कार्य भी लालन-पालन की व्यवस्था जुटाते हुए अभिभावकों को ही करना पड़ता है कि वे जहाँ आवश्यक सुविधा-सामग्री प्राप्त करें, वहाँ हानिकारक प्रसंगों से बचे भी रहें।

यह सतर्कता बहुत हद तक आहार के सम्बन्ध में बरती जाती है। उन्हें पोषक और हल्का आहार उपलब्ध कराया जाता है अन्यथा मनमर्जी पर छोड़ देने से वे भी कुछ खाने-खरीदने लगेंगे और उस उत्साह में नई मुसीबत खड़ी करेगे। जब बालक रेंगने, चलने लगते हैं तो कुछ भी पकड़ने-खाने लगते हैं। न रोक जाय तो वे आग भी पकड़ सकते हैं और चींटे, झींगुर, कील, काँटा भी निगल सकते हैं। अस्तु, अभिभावकों को उन्हें रेंगने, चलने की छूट देनी पड़ती है, वहाँ यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि कुछ अनुपयुक्त तो नहीं किया जा रहा है। यह रोकथाम ही सब कुछ नहीं होती वरन् उनकी हलचलों को सीमाबद्ध करने के लिए खिलौनों का पिटारा भी लाकर रखना होता है, ताकि वे उसमें उलझे रहें, प्रसन्न भी रहें और कुछ नया सीखने का प्रयत्न भी करें।

बच्चा जब स्कूल जाने लगे और एक-दो कक्षा पास कर ले तभी से उसमें एक नई भूख 'ज्ञान-पिपासा' की जगती है। उपलब्ध साधनों और परिस्थितियों से जो जाना जा सकता है, उससे अधिक जानने की उसकी सहज उत्कण्ठा रहती है। इसे पूरा करने के लिए पुस्तकों के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं, अब मुद्रण युग में बालकों की सामान्य आवश्यकताओं में ही भोजन, वस्त्र, खेल, मनोरंजन की तरह एक नया अध्याय स्कूली पुस्तकों में आगे चलकर अन्यान्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकें उपलब्ध करने का जुड़ गया है। आमतौर से बच्चे कुछ ऐसा पढ़ना चाहते हैं, जो ज्ञानवर्द्धक भी हो और मनोरंजन भी करे। अभिभावकों को अपने बालकों की इस आवश्यकता को भी अनुभव करना चाहिए और उसे जुटाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

बच्चों में जिज्ञासा की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है जिसके कारण ही अपने आस-पास खुले पड़े वातावरण से वह विभिन्न जानकारीयों एकत्रित करता है। ऐसे अवसर पर उनके मस्तिष्क के विकास तथा सामान्य ज्ञान में वृद्धि

के लिए सत्साहित्य का स्वाध्याय सबसे उत्तम माना जाता है।

वर्तमान युग के व्यस्त सामाजिक जीवन में अभिभावक व्यक्तिगत ढंग से बच्चों को शिक्षण देने के लिए समय नहीं निकाल पाते। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय ही एक ऐसा माध्यम है, जो उन्हें देश-विदेश की घटनाओं तथा ज्ञान-विज्ञान की जानकारीयों से अवगत कराता है। इस प्रकार जहाँ उसे ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-प्रसंगों से अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाने की प्रेरणाएँ मिलती हैं, वहीं संसार के प्रसिद्ध विचारकों के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विचारों को जानने का अवसर मिलता है। दिशाबद्ध साहित्य से अपरिचित बालक जहाँ अन्धविश्वासों एवं रूढ़ियों में ग्रस्त होते हैं, वहीं प्रगतिशील, आस्थापूर्ण साहित्य उन्हें जीवन की वास्तविकता तथा रीति-नीति से अवगत कराता है। ऐसा साहित्य वस्तुतः मस्तिष्क का भोजन है, जिसका अध्ययन उनके समुचित मानसिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है।

बच्चों के स्वाध्याय के लिए साहित्य का चयन भी करना आवश्यक है। विकृत भोजन की तरह ही विकृत साहित्य भी उद्देश्य पूरा नहीं कर पाता। उसके पढ़ने से उस जैसे दूषित विचार तथा विकृत भावनाएँ व घटनाएँ बच्चों के मस्तिष्क में घुमड़ती रहती हैं। जो उसके मानसिक विकास को कुण्ठित एवं दिशाहीन ही नहीं विकृत भी बना देती हैं।

इस दिशा में अभिभावकों को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। उन्हें घर में ऐसी पत्र-पत्रिकाएँ नहीं लानी चाहिए जिनके विचार बच्चे के कोमल मस्तिष्क पर अपना दूषित प्रभाव डालते हों। इनसे हर हालत में बचना चाहिए।

जहाँ अच्छी पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का अध्ययन बच्चों में श्रद्धा, आत्मीयता, सेवा, सद्भावना, प्रेम, उदारता, करुणा जैसे भाव जाग्रत करने तथा नैतिकता, सदाचार, सहिष्णुता को विकसित करने में सक्षम होता है वही गन्दा व अश्लील एवं उत्तेजक साहित्य बच्चों में सेक्स, हिंसा, क्रोध, घृणा तोड़-फोड़, हत्या जैसे अपराधजन्य कुसंस्करणों के बीज उत्पन्न करता है। अनुकूल परिस्थितियाँ तथा अवसर पाते ही यह बीज उगते एवं अपराधों की फसल के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इस बीच वे सूक्ष्म स्तर पर इसी प्रकार के साहित्य से पोषण प्राप्त करते रहते हैं। वर्तमान समाज में बढ़ते घृणित अपराधों को बहुत कुछ इस बाजारू अश्लील साहित्य की देन कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। उत्कृष्ट विचारों तथा जीवन को दिशा प्रदान करने वाला साहित्य ही बच्चों के मानसिक विकास की आवश्यकता पूरी कर सकता है।

बाजार से मिलने वाली अश्लील पत्र-पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर ही ऐसे चित्र होते हैं, जो बच्चों के कोमल

मस्तिष्क को उत्तेजित करते हैं। इस साहित्य की भाषा तथा कथानक, कविताएँ इतनी रसीली तथा उत्तेजक होती हैं कि बच्चों की सुकोमल भावनाएँ विकृत हो उठती हैं। यह निम्नस्तरीय साहित्य उन्हें अधिक सरल लगने लगता है, फिर वे ऐसे साहित्य को गन्दा समझते हुए भी उसे त्याग नहीं पाते। यहाँ तक कि अभिभावकों से चोरी छिपे भी पढ़ते रहते हैं। तब वे इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझते कि यह विकृत साहित्य ही उनकी असफलता, मस्तिष्क की कुण्ठा, विकृति तथा अपराधी जीवन का मूल कारण रहा है।

जिन बच्चों को यह बाजारू पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने की लत पड़ जाती है, वे पुनः ज्ञानवर्द्धक साहित्य के पढ़ने में रुचि नहीं दिखाते। यहाँ तक कि स्कूल की पढ़ाई में पिछड़ते तथा अपना भविष्य खराब कर लेते हैं। तम्बाकू के नशे की तरह यह रसपूर्ण साहित्य पढ़े बिना उन्हें चैन नहीं मिलता। सारा चिन्तन या तो पढ़े हुए विकृत विचारों, कुत्सित घटनाओं के चिन्तन-मनन में डूबा रहता है अथवा ऐसी ही नई पत्रिकाओं, उपन्यासों को खोजने-खरीदने, पढ़ने के तौर-तरीके निकालने में लगा रहता है। खरीदने के लिए पैसों की चोरी करने से लेकर झूठ बोलने तथा उसे छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलने जैसे दोष बच्चे के व्यक्तित्व में घुलने लगते हैं।

गन्दा साहित्य वह विष है जो बच्चे के व्यक्तित्व को अपंग, असहाय एवं निर्जीव बनाकर रख देता है। हर साहित्य निर्माता को इन तथ्यों को ध्यान में रखकर ही बाल साहित्य की रचना करनी चाहिए, जो उसके चरित्र निर्माण, आस्थाओं को सुदृढ़, गुणों के सम्वर्द्धन एवं व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के अनुरूप सामग्री प्रस्तुत करता हो। इसी प्रकार प्रत्येक अभिभावक को भी बच्चों के अध्ययन के लिए भी इसी स्तर की सामग्री से युक्त साहित्य ही घर में उपलब्ध करना चाहिए। अनेक संस्थाएँ ऐसा साहित्य छापती हैं। खोजने पर इतने विकृत वातावरण में भी बच्चों के लिए उच्चकोटि के बाल साहित्य की कमी नहीं है।

सामान्यतया अच्छे मनोरंजक समझे जाने वाले साहित्य में भी इस प्रकार की कई कमियाँ होती हैं जो प्रौढ़ व्यक्तियों को भले ही प्रभावित न करें परन्तु बच्चों के कोमल मस्तिष्क पर बड़ा विपरीत प्रभाव डालती हैं। भूत-प्रेत, अत्यन्त आश्चर्य तथा मिथ्या कल्पनापूर्ण कहानियाँ, कविताएँ भी बच्चों की चिन्तनशैली को वास्तविक ज्ञान से बहुत दूर खींच ले जाती हैं। इस साहित्य के मनोरंजक एवं सरस होने के कारण बच्चे बड़ी अभिरुचि के साथ पढ़ते हैं, परन्तु इस प्रकार व्यावहारिक जीवन के ज्ञानार्जन में उनकी रुचि नहीं रह जाती। इस दृष्टि से उनके पिछड़ जाने की पूरी सम्भावना ही रहती है। तब स्वाध्याय का वास्तविक उद्देश्य नहीं पूरा हो पाता।

भूत-प्रेत, परी, देवी-देवता, राक्षस-पिशाच जैसे डरावने कथा-प्रसंगों का भय एवं आतंकपूर्ण कहानियाँ भी बच्चों के मन-मस्तिष्क में भय का अंकुर उत्पन्न कर देती हैं। जाने-अनजाने वह विकसित होता रहता है, जो उसके व्यक्तित्व को उभरने नहीं देता।

छोटे बच्चों का सामान्य, अनुतेजक एवं पशु-पक्षियों, प्राकृतिक दृश्यों की जानकारी कराने वाली रंग-बिरंगी पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध करानी चाहिए। ऐसे साहित्य से जहाँ उनकी पढ़ने के प्रति रुचि जाग्रत होगी, वहीं अपने स्तर के अनुरूप जानकारीयों विकसित कर सकेंगे।

किशोरावस्था के बच्चे समझदार होते हैं उनके बौद्धिक स्तर के अनुरूप बोधगम्य साहित्य उपलब्ध कराना चाहिए। साहस, वीरता, धैर्य, जागरूकता, समाज व संस्कृति के प्रति निष्ठा को विकसित करने में सक्षम कहानियाँ, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों, चिन्तन एवं जिज्ञासा को प्रखर बनाने वाले विचारपूर्ण निबन्ध, देश-विदेश के जीवन के सचित्र वर्णन, विभिन्न स्थानों की संस्कृतियों, परम्पराओं के परिचय से सम्बन्धित साहित्य उनकी मानसिक परिपक्वता विकसित करता है। वर्तमान समाज की विकृतियों, दुष्प्रवृत्तियों एवं पतन में ले जाने वाली परम्पराओं व मूढ़-मान्यताओं के निराकरण हेतु विचारकों, दर्शनशास्त्रियों, समाजसेवियों के विचारों से परिपूर्ण साहित्य उन्हें वर्तमान समस्याओं के प्रति संवेदनशील बनाता है। बालकों को इसी कोटि का साहित्य चयन करने का प्रोत्साहन देना चाहिए।

बच्चों के लिए ऐसा साहित्य उपलब्ध कराया जाना चाहिए जो ज्ञान-विज्ञान की आश्चर्यजनक सफलताओं तथा उनके रहस्यों को समझने की बाल-जिज्ञासा का समाधान कर सके। वह इस स्तर की सामग्री देता हो, जो बच्चों के लिए स्वस्थ मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन का दायित्व पूरा करने के साथ-साथ उनकी कल्पना-शक्ति के विकास में सहायक हो।

यहाँ एक तथ्य और स्मरण रखने योग्य है कि घर में कई विद्यार्थी होने और सभी की अपनी-अपनी आयु तथा कक्षा के अनुरूप अतिरिक्त साहित्य पढ़ने की माँग रहती है। बाल-साहित्य की पुस्तकें भी छोटी, सचित्र तथा मोटे अक्षरों की होती हैं, जिसे वे जल्दी ही निपट लेते हैं। इस दृष्टि से उन सबके लिए एक ही दिन में कई-कई पुस्तकों की जरूरत पड़ सकती है। अभिभावकों में से अधिकांश की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वे उस मद में इतना खर्च कर सकें। इस कठिनाई का एक ही समाधान है कि हर गाँव-मुहल्ले में बाल-पुस्तकालय खुलें, उनमें देख-समझकर मात्र ऐसी ही पुस्तकें रखी जायें, जो मनोरंजन के अतिरिक्त इनके बौद्धिक, चारित्रिक, सामाजिक एवं सामान्य ज्ञान के अभिवर्द्धन में भी सहायक हों।

बच्चों के संस्कार निर्माण में

बाल साहित्य का योगदान

बच्चों के संस्कार-निर्माण में बाल-साहित्य की विशेष भूमिका है। यह देखा गया है कि एक ओर तो बाल-साहित्य में बहुत स्पष्टतौर पर समाज की प्रधान प्रवृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं, दूसरी ओर बच्चों की सामाजिक चेतना को दिशा देने का काम भी बालसाहित्य करता है।

इन दिनों विश्व में रचे जा रहे बाल-साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। अमरीकी बाल-साहित्य में ऐसे प्रयास हो रहे हैं, जिससे बच्चों में समानता की भावना को जाग्रत, प्रदीप्त किया जाय। अनेक बाल-मनोवैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्री और लेखक इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। इसके साथ ही, वहाँ इस तथ्य का भी पता लगाया जा रहा है कि बच्चों में किन भावनाओं की प्रबलता है, ताकि उनकी वर्तमान मनःस्थिति को समझकर राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप उन्हें ढालने के प्रयास किये जा सकें। उदाहरण के लिए, पिछले दिनों बाल-साहित्य लेखक श्री स्टीफेन एम. जोजेफ और इरविंग बीइंग ने न्यूयार्क की कुछ बस्तियों का दौरा कर वहाँ के बच्चों की भावनाएँ जानने की कोशिश की। बच्चों से कहा जाता कि वे एक कागज पर अपने मन की कोई भी बात लिखें। इससे कुछ बड़े ही चौकने वाले परिणाम सामने आये। सम्पन्न बस्तियों के बच्चों में जहाँ मौज-मस्ती की ही कल्पनाएँ उमड़ती-धुमड़ती पायी गयीं, वहीं गंदी बस्तियों के बच्चों में, उनके साथ बरते जाने वाले अनुचित व्यवहार, उपेक्षा तथा अपमान की अनुगूँज थी। वहाँ के गोरों द्वारा कालों पर जो अत्याचार किये जाते हैं, उसकी कचोट भी इन गंदी बस्तियों के काले बच्चों में थी। इसी प्रकार परिवार के भीतर जो लड़ाई-झगड़े होते हैं, उनके कारण बच्चों के मन में जो पीड़ा होती है, उसकी अभिव्यक्ति कई बार बच्चे अपने शिक्षकों को लिखे पत्रों में व्यक्त करते हैं।

रूस में साम्यवादी क्रान्ति के बाद से, बाल-साहित्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, साथ ही वहाँ इस दिशा में प्रयास किया जाता है कि बच्चों की कल्पनाशक्ति का उपयोग अपनी मातृभूमि को एक पूर्ण साम्यवादी देश बनाने का संकल्प उभारने के लिए किया जाय।

जर्मनी के बाल-साहित्य में वीरतापूर्ण संघर्ष की भावना की प्रधानता है। वहाँ बच्चों को जीवन-संग्राम में साहसपूर्वक भाग लेने और विजयी बनने की प्रेरणा दी जाती है। जबकि फ्रांस के बाल-साहित्य में भावनात्मक परिष्कार तथा कलात्मक कोमलता की प्रधानता होती है। इंग्लैण्ड के बाल-साहित्य में बच्चों को सामाजिक परम्पराओं, सामाजिक आचार-व्यवहार और जीवन-मूल्यों के प्रति जागरूक बनाने के प्रयास विशेष देखे जाते हैं।

प्रसिद्ध अंग्रेज बाल-साहित्यकार हैस एण्डरसन की वह कथा प्रसिद्ध है, जिसमें उन्हें चाटुकारों की भीड़ से घिरे राजाओं, सामन्तों की मूर्खता पर तथा अकड़ पर चोट की है तथा बच्चों के स्वभावतः सत्यभाषी और निश्छल होने पर प्रकाश डाला है। इस कहानी में राजा एक धूर्त के चक्के में आकर चमत्कारी कपड़ा बनवाता है और निर्वसन होकर दरबार में घूमता है। चाटुकार उस कथित दिव्य पोशाक की तारीफ ही करते रहते हैं, पर एक बच्चा, जो वहाँ रहता है, वह सबकी बात काटकर बल देकर कहता है कि, 'राजा तो नंगा है।'

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने भी बाल-साहित्य का महत्व भली-भाँति हृदयंगम किया था। पौराणिक कथाओं में आरुणि, श्रवणकुमार, भीष्म जैसे बालकों की आदर्शनिष्ठा का सुन्दर चित्रण है। इसी प्रकार एकलव्य जैसे निर्धन, किन्तु प्रतिभाशाली बालकों के साथ किस प्रकार अन्याय होता था, इसकी झलक भी उस साहित्य से मिलती है। पंचतन्त्र और हितोपदेश की कथाएँ इतने श्रेष्ठ स्तर का बाल-साहित्य हैं, कि वे आज भी न केवल भारत के, अपितु सम्पूर्ण संसार के अनेक देशों के बच्चों को संस्कारित करती हैं। दुनिया में उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन बाल-साहित्य मुख्यतः दो ही हैं—पंचतन्त्र की कहानियाँ और ईसप की कहानियाँ। अध्येताओं का निष्कर्ष यह है कि ईसप ने पंचतन्त्र से ही कथाएँ लीं और उन्हें थोड़े हेर-फेर के साथ अपने नाम से प्रचारित कीं। इस प्रकार पंचतन्त्र ही सर्वाधिक प्राचीन, सुव्यवस्थित बाल-साहित्य है और प्राचीन सभ्यताओं—मिस्र, यूनान एवं ईरान में भी इन्हीं कथाओं को स्वीकार किया गया था तथा आज की सभ्य दुनिया में भी इनका महत्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है।

वस्तुतः बच्चों के समाजीकरण के लिए, उनमें सामाजिकता की भावना उत्पन्न करने के लिए बाल-कथाओं एवं बाल-साहित्य सर्वोत्तम माध्यम हैं। अपने सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदर्शों के बीज बच्चों के भीतर अंकुरित, पल्लवित-पुष्पित करने में बाल-साहित्य ही समर्थ होता है। एक ओर जहाँ शाश्वत मानवीय जीवन-मूल्यों को बच्चों के संस्कार जगत में उतारना आवश्यक होता है, वहीं समकालीन, सामाजिक प्रवृत्तियों की भी जानकारी उन्हें देनी जरूरी होती है। पंचतन्त्र में भी पड़ोसी धर्म, मैत्री, सहयोग, एकता के लाभ, अनावश्यक वाद-विवाद से या अनावश्यक छेड़छाड़ से होने वाली हानियाँ आदि सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी जानकारीयें कथाओं के माध्यम से दी गई हैं। सामयिक सामाजिक चलन में समयानुसार परिवर्तन भी होते रहते हैं, इसलिए पंचतन्त्र, हितोपदेश जैसे बाल-साहित्य का लाभ उठाने के साथ ही सामयिक आवश्यकता के अनुरूप बाल-साहित्य की, जिनमें कविताएँ और विज्ञान कथाएँ भी सम्मिलित हैं सृजन आवश्यक है। क्योंकि उन्हीं के द्वारा राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुकूल संस्कार बच्चों में अंकित किये जा सकते हैं।

बच्चे क्या पढ़ें, क्या न पढ़ें ?

पाठशाला के सिद्धान्त बालक और प्रौढ़ वर्ग दोनों पर समान रूप से लागू नहीं होते, वरन् उनमें विभाजन रखा जाता है। बड़ों को औटया और उबाला हुआ दूध दे सकते हैं, पर बालक के लिए उसे और अधिक सुपाच्य बनाना आवश्यक होता है। इस कारण अभिभावक उनके दूध में पानी मिला देते हैं और एक ही उबाल के बाद उतार लेते हैं। रोटी और सब्जी में भी अन्तर रखा जाता है। उनको कोमल खाद्य-पदार्थ, कम मिर्च-मसालों वाली सब्जियाँ देते हैं। यह सावधानी इसलिए बरतनी पड़ती है क्योंकि उसके शरीर की प्रकृति, आवश्यकताएँ और क्षमताएँ प्रौढ़ों से भिन्न होती हैं, जहाँ इन बातों का ध्यान नहीं रखा जाता बच्चे जल्दी-जल्दी बीमार होते हैं, उनका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता।

बालकों के बौद्धिक विकास में उसमें कई गुना अधिक सूझ-बूझ, सावधानी और सतर्कता बरतनी पड़ती है। बच्चे को प्रौढ़ मस्तिष्क मानकर चाहे कुछ भी देखने-पढ़ने की भूल न केवल उस बच्चे के लिए अपितु परिवार और समाज सभी के लिए अहितकर हो सकती है। पिछले दिनों चौदह वर्ष, तेरह वर्ष के दो बालकों ने अलीगढ़ में एक वृद्धा की हत्या कर दी। पुलिस जाँच से ज्ञात हुआ कि इन बच्चों को यह प्रेरणा उन दिनों नगर में चल रही एक फिल्म से मिली। इसी तरह त्रिचिरापल्ली में एक ९ वर्ष के बालक ने एक बैंक के खजान्ची को लूट लिया यह किस्सा भी बड़ा दिलचस्प है। बालक एक दुकान से दो-तीन कप चाय लेकर बैंक में घुसा और कर्मचारियों को चाय बाँटता हुआ कैशियर बाक्स में घुस गया। लोगों ने समझा चाय मैनजर ने भिजवाई होगी, छोटे बच्चे पर सन्देह का कारण भी क्या हो सकता था ? खजान्ची महोदय उधर चाय की चुस्कियाँ लेने लगे उधर बच्चे ने सौ रुपयों की एक सौ नोटों की गड्डी चुरा ली और चुपचाप भाग आया। बहुत देर बाद पता चला तब बड़ी कठिनाई से बच्चे को पकड़ा जा सका। उसने बताया यह तरीका उसने एक जासूसी कहानी में पढ़ी थी।

बढ़ते हुए बाल अपराध इस बात के साक्ष्य हैं कि हम साक्षरता के विकास में तो जुटे हैं पर बच्चे के संस्कारों की ओर अपनी अभिरुचि या तो शून्य है या प्रगतिशीलता और आधुनिक सभ्यता के नाम पर जान-बूझकर हम उसे गलत दिशा में ले जा रहे हैं।

बच्चे का, जिस तरह शरीर विकासशील होता है उसी तरह मस्तिष्क भी, अतएव इस आयु में उसकी जिज्ञासाएँ जितनी तीक्ष्ण होती हैं, उतनी शेष किसी भी अवस्था में नहीं होतीं। स्पष्ट है कि यदि अभिभावक उसकी इन जिज्ञासाओं का समाधान या उन्हें रचनात्मक मोड़ नहीं दे सकते तो भी बच्चे इस तरह के साहित्य के प्रति तीव्र लगाव से बँध सकते हैं, जिनमें घुमाव और

मनोरंजन तो बेहद होता है, पर आज की परिस्थितियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। स्पष्टतः वह बालक की किन्हीं समस्याओं का समाधान न अब कर सकता है और न आगे चलकर। उदाहरण के लिए, राजा-रानियों की कहानियाँ जिनमें या तो शृंगार और विलास होगा या फिर मारकाट, लूट-पाट मचाने वाली तथाकथित बहादुरी होगी। यह साहित्य बच्चे में ऐसी ऊँची कल्पनाएँ पैदा करेगा जिसके धरती पर टिकने के लिए न तो पैर होंगे, न चन्द्रमा को पकड़ लेने जितने लम्बे हाथ। महल और राजकुमारियाँ फिर मिलें कहाँ से ? इस तरह की महत्वाकांक्षा से आज हर युवक ग्रस्त दीखता है, पर कितने लोग जानते हैं कि यह संस्कार उन्हें कथा, कहानियों के नाम पर इन्हीं राजा-रानियों, सामन्तों, सरदारों तथा बड़े साहूकारों ने दिये हैं, जिन्हें वह पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ता आया है।

बच्चे की बुद्धि कोमल होती है वे निबन्ध नहीं पढ़ सकते, पर किसी भी कथा, कहानी या गीत की संवेदना और प्रेरणा को ग्रहण करना उनके लिए आसान होता है। अतएव कहानियों का स्वरूप ऐसा हो, जो उन्हें व्यावहारिक जीवन में उपयोगी निष्कर्ष निकालने की क्षमता भी प्रदान करें और अपने आपको उस रूप में ढालने की हिम्मत भी पैदा करें।

उदाहरण के लिए, उन बालकों की कहानियाँ जो भाग्य को अपने परिश्रम, पुरुषार्थ के आधीन मानते हैं और अपने पैरों पर खड़े होना अपनी शान समझते हैं, उन बालकों के जो साहस, कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बालकों में आशा, विश्वास, परिश्रमशीलता उद्यम, स्वच्छता, देशभक्ति, चरित्रनिष्ठा के भाव जाग्रत करने वाली हल्की-फुल्की रचनाएँ, गीत, नाटक आदि अधिक उपयोगी होते हैं। चित्र, प्रेरणाप्रद वाक्य और कार्टून चित्रों में भी यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि उनका उद्देश्य मात्र बच्चों का मनोरंजन पूरा करना या जानकारी भर देना न हो अपितु उससे किसी न किसी निर्माण की प्रेरणा उभरती हो।

इस दृष्टि से चरित्र प्रधान पौराणिक कथाएँ और नीतिपरक कहानियों का भी अपना महत्व है। यह उल्लेखनीय बात है कि पंचतन्त्र के रचयिता श्री विष्णु शर्मा उन कहानियों के माध्यम से ही चार आवारा राजकुमारों में मनुष्योचित गुणों के विकास और सम्बर्द्धन में सफल हुए थे। आध्यात्मिकता, धार्मिकता और आस्तिकता को आज प्रौढ़ विज्ञान के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। अतएव इस तरह के संस्कारों को उपेक्षित न किया जाय। इनका चरित्र गठन और नैतिकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। समाज के लोग बदल सकते हैं, पर यह आवश्यकताएँ हर युग में एक-सी बनी रहती हैं। अतएव अतिरंजित और अकल्पित, अनगढ़ कहानियों को, इतिहास को तो छोड़ा जाये पर उपयोगी अंश की उपेक्षा

न की जाये। सामयिक परिस्थितियों में पौराणिक नीति कथाओं को संशोधित करने की शैली भी उपयुक्त हो सकती है।

जीवन-चरित्र और संस्मरण भी एक तरह की कहानियाँ ही होती हैं। यदि उनमें गुणों को उभारा और परिस्थितियों को बालक की स्थिति के अनुरूप अभिव्यक्त किया जा सके तो इस तरह का साहित्य उनके लिए कहीं अधिक सार्थक हो सकता है। साहित्यकार इसे दृष्टि में रखकर सृजन करें और अभिभावक तथा अध्यापक इसके अनुरूप बालकों को साहित्य उपलब्ध करायें तो बच्चों का मानसिक स्वास्थ्य न केवल सुधारा अपितु उसे सुडौल, सुरुचिपूर्ण और सार्थक बनाया जा सकता है।

बच्चों को क्यों और कैसी पुस्तकें पढ़ाएँ ?

अन्न को शरीर का आहार कहा गया है तो साहित्य को मस्तिष्क का। जिन व्यक्तियों ने भी उल्लेखनीय बौद्धिक क्षमताएँ अर्जित कीं और समाज को अपने विशिष्ट अनुदान दिये उन्होंने किसी न किसी रूप में साहित्य को ही अपनाया और उसी से अपनी प्रतिभा, क्षमता तथा सामर्थ्य को सींचा। जानकारीयाँ बढ़ाने, ज्ञानवृद्धि करने और बुद्धि को प्रखर बनाने के अतिरिक्त साहित्य का एक उद्देश्य व्यक्तित्व को परिमार्जित करना भी है। इस दृष्टि से उपरोक्त सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बच्चों के लिए भी साहित्य अनिवार्य रूप से उपयोगी और आवश्यक है। एक अर्थ में उनके उभरते हुए व्यक्तित्व के लिए तो बड़ों से भी ज्यादा इसकी आवश्यकता है। परन्तु खेद है कि बच्चों को इस ओर से निरुत्साहित ही किया जाता है।

अभिभावकों को चाहिए कि इस तरह पाठ्यक्रमेतर पुस्तकें पढ़ने से रोकने के स्थान पर उनका मार्गदर्शन करें तथा उन्हें सही पुस्तकों के चुनाव में मदद करें। अभिभावकों से कोई मदद न मिलने के कारण ही बच्चे ऊल-जलूल ढंग की अच्छी-बुरी पुस्तकें पढ़ डालते हैं और उनसे गलत-सलत प्रेरणाएँ लेते रहते हैं।

बच्चों को अच्छी पुस्तकों के चुनाव में किस प्रकार मदद की जाय इससे पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि बच्चों को कैसी पुस्तकें पढ़ना पसन्द है। बच्चों को स्वाभाविक रूप से कहानियों, कविताओं वाली रंग-बिरंगी पुस्तकें आकर्षित करती हैं। कहानी विद्या वैसे भी लोकप्रिय है और बड़े व्यक्तियों को गम्भीर विचार प्रधान साहित्य की अपेक्षा कहानियाँ अधिक रुचिकर लगती हैं। गम्भीर साहित्य जितना पढ़ा जाता है, उससे अधिक कथा साहित्य लोकप्रिय है, क्योंकि उनमें गम्भीर से गम्भीर और गूढ़ से गूढ़ बातों को घटनाक्रम के माध्यम से बड़ी सरलता के साथ प्रस्तुत कर दिया जाता है। प्रतिपादित विषय को

समझने के लिए उसमें न ज्यादा दिमाग लड़ाने की आवश्यकता रहती है और न ही मन को सब ओर से खींचकर वहीं केन्द्रित कर देने की।

यद्यपि गम्भीर साहित्य का अपना महत्व है, पर कहने का आशय यह है कि बड़े लोग भी उसे आसानी से न समझ पाने के कारण बहुत कम पढ़ते हैं तो बच्चों की तो बात ही और है। उनकी समझ का न इतना विकास होता है कि वह किसी प्रतिपादन को सैद्धान्तिक विवेचन के माध्यम से समझ सके और न ही उनके बाल-सुलभ चपल मस्तिष्क के लिए एकदम इस गरिष्ठ भाजन का पचा पाना सम्भव ही है।

बच्चों का स्वभाव एक तो कौतूहलप्रिय होता है। इससे घटनाओं के माध्यम से कोई तथ्य वे भली-भाँति समझ भी लेते हैं और दूसरे उनका चपल स्वभाव घटनाक्रम से बँधकर एकाग्रता की दिशा में भी अग्रसर होता रहता है। इन दोनों तथ्यों को कुछ उदाहरणों से भली-भाँति समझा जा सकता है। बच्चों को सैद्धान्तिक आधार पर श्रम का महत्व, उसके लाभ तथा जीवन में प्रगति के लिए उसकी आवश्यकता समझायी जाय तो वे सरलतापूर्वक शायद ही समझ सकें। इसके विपरीत उन्हें किसी एक व्यक्ति की कहानी सुनाई जाय जिसमें घटनाओं का तारतम्य बना हुआ हो और जिसमें पग-पग पर श्रम से मिलने वाली सफलताओं का चित्रांकन घटनाओं के माध्यम से ही प्रस्तुत किया गया हो, तो बच्चे श्रम की महत्ता को आसानी से समझ सकते हैं।

कहानी एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा मन्द से मन्द बुद्धि बालक को भी शिक्षित और संस्कारित किया जा सकता है। पंचतन्त्र के रचयिता विष्णु शर्मा को जिन राजकुमारों की शिक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। वे सबके सब नितान्त मन्दबुद्धि और मूढ़मति थे। विष्णु शर्मा ने कहानियाँ सुना-सुनाकर ही उन्हें राजनीति और व्यावहारिक जीवन में सफल होने लायक सभी गुण सिखा दिये। समझदार व्यक्तियों को भी कहानियाँ रुचिकर लगती हैं और नासमझ बच्चों को भी उनमें रस आता है। इसलिए बच्चों को कहानियों की ऐसी पुस्तकें चुन-चुनकर पढ़ने के लिए देना चाहिए, जिनसे उनका मनोरंजन तो हो ही उनमें सदगुणों के प्रति आस्था भी जागे तथा व्यावहारिक जीवन में सफल होने की दिशा भी प्राप्त हो।

बाल कथा साहित्य के रूप में आजकल जो कुछ भी बाजार में मिलता है। उसमें से अधिकांश तो बच्चों को भ्रामक दिशा ही देता है। साहित्य के क्षेत्र में घुस पड़ी ओछी व्यावहारिक मनोवृत्ति के कारण जिस स्तर का साहित्य प्रकाशित हो रहा है और बिक रहा है, वही अनर्थकारी विपर्यय बाल साहित्य पर भी लागू होता है बच्चों के लिए जितनी भी पुस्तकें देखने में आती हैं उनमें से अधिकांश जासूसी कहानियाँ, परियों की कथाएँ, जिन भूतों और राजा-महाराजाओं की सनकों पर आधारित

कहानियाँ तथा बच्चों को रोमांचित करने के लिए ऊल-जलूल प्लाटों पर आधारित उपन्यास, कहानियाँ होती हैं। इस तरह के साहित्य से बच्चे कोई भी दिशा या प्रेरणा ग्रहण करने के स्थान पर अन्धविश्वास तथा पलायनवादी मान्यताएँ ही ग्रहण करते हैं। इनसे बच्चों में अच्छे संस्कार विकसित होने के स्थान पर बुरे संस्कार ही अधिक पड़ते हैं।

प्रकाशकों का उद्देश्य मात्र अपनी पुस्तकें बेचना होता है। उन्हें इस बात से कोई सरोकार नहीं होता कि उन पुस्तकों का बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? प्रकाशकों के इस गैर-जिम्मेदार रवैये में सुधार की बात दूर की है। यदि अभिभावक स्वयं इस बात का ध्यान रखें कि बच्चों को स्तरीय पुस्तकें पढ़ने को मिलें तो उस तरह साहित्य के खतरों से बचा जा सकता है। जैसा कि कहा जा चुका है, सामान्यतः अभिभावक अपने बच्चों को अन्य पुस्तकें पढ़ने से ही रोक देते हैं। वैसी स्थिति में बच्चे चोरी-छुपे पढ़ने लगते हैं और प्रायः पाठ्य-पुस्तकों की भी उपेक्षा करने लगते हैं। यदि इस सम्बन्ध में बच्चों का मार्गदर्शन किया जाय तो उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन के प्रति जिम्मेदार बनाया जा सकता है और अच्छे साहित्य के माध्यम से उन्हें एक सुनिश्चित दिशा में अग्रसर भी किया जा सकता है बच्चों के लिए पुस्तकों का चुनाव करते समय अभिभावकों को यह दृष्टि बनाये रखनी चाहिए।

अच्छी पुस्तकों का अभाव तो बच्चों के लिए सार्थक और सोद्देश्य अध्ययन में बाधक है ही अभिभावकों की आर्थिक स्थिति भी बच्चों को पढ़ने से रोकने का कारण होती है। आज के आर्थिक विषमताओं के युग में प्रायः हर अभिभावक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अपने बच्चों के लिए पर्याप्त मात्रा में पुस्तकें खरीद सकें। जो खरीद सकते हैं उन्हें तो खरीदना ही चाहिए परन्तु जिनके लिए पर्याप्त मात्रा में पुस्तकें खरीदना सम्भव नहीं है, उन्हें सामूहिक रूप से व्यवस्था करनी चाहिए।

अमेरिका में इस तरह का एक प्रयोग सन् १९३७ में किया गया। कुछ अभिभावकों ने मिलकर थोड़े-थोड़े पैसे इकट्ठे किये और उनसे बच्चों के लिए अच्छी पुस्तकें खरीदकर एक पुस्तकालय की स्थापना की। इस पुस्तकालय के सदस्य अभिभावक नियमित रूप से पुस्तकालय के लिए थोड़ी-थोड़ी रकम निकालते रहते हैं और उसका लाभ सभी के बच्चों को मिल जाता है। यह पुस्तकालय विशुद्ध रूप से बच्चों के लिए ही खोला गया।

बच्चों के लिए अलग से पुस्तकालय खोलने के अतिरिक्त सार्वजनिक पुस्तकालयों में भी बाल-साहित्य रखा जा सकता है। ऐसे पुस्तकालयों में बच्चों के लिए एक कोना सुरक्षित कर दिया जाय, जहाँ उनके बैठने के लिए उनके उपयुक्त कुर्सी टेबल हो और वे वहाँ आराम से बैठकर पढ़ सकें। इस प्रकार व्यक्तिगत या सामूहिक जैसे

भी सम्भव हो बच्चों की इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रयास किये जाने चाहिए।

बच्चों के लिए यदि अच्छा साहित्य उपलब्ध कराया जाय और उनमें पढ़ने की आदत डाली जाय तो वैसी बहुत-सी उद्दण्डताएँ जिन्हें वह खाली समय का कोई उपयोग न सूझ पाने के कारण करता है—अपने आप कम होने लगती हैं। कहा जा चुका है कि बच्चों का स्वभाव कौतुकप्रिय होता है। नई-नई बातें देखने, नये काम करने और नई-नई बातों की जानकारी प्राप्त करने के लिए वह अपने ढंग से अपनी समझ-सामर्थ्य से प्रयास करते हैं। उनकी समझ तो विकसित होती नहीं, इसलिए वे प्रयास भी ऊटपटाँग हो जाते हैं और नाम उसे उद्दण्डता का मिल जाता है।

पढ़ने की आदत-स्वस्थ और दिशा देने वाले बाल-साहित्य में बच्चों की रुचि उत्पन्न करना, उनके लिए नई-नई बातों की जानकारी देने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व को भी संस्कारित करने में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उनके लिए कहानियों की पुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की सरल भाषा में जानकारी देने वाली सचित्र पुस्तकें उपलब्ध करायी जानी चाहिए। यह बात सही है कि बाल-साहित्य के नाम पर बाजारू साहित्य से ही दुकानें भरी पड़ी हैं। परन्तु अच्छी पुस्तकों का भी अभाव नहीं है। बाजार में जिस ब्राण्ड का चलन अधिक होता है, वह ब्राण्ड बाजार में छा जाता है और दूसरे अन्य ब्राण्ड छुप जाते हैं। वही बात प्रचलित साहित्य के बारे में भी लागू होती है। यदि इसकी उपेक्षा कर अच्छे बाल-साहित्य को अप्रगम्य जाय तो उसकी भी कमी नहीं रहेगी। आवश्यकता इतनी भर है कि बच्चों के लिए इसकी उपयोगिता अनुभव की जाय और इस आवश्यकता को पूरा करने के प्रयास किये जाएँ।

अपनी और बच्चों की मानसिक

भूख का भी ध्यान रखें

पिछले दिनों केन्द्रीय शिक्षा एवं समाज-कल्याण मन्त्रालय के तत्वावधान में इस बात का सर्वेक्षण किया गया कि भारत में प्राथमिक पाठशालाओं के बच्चे अपनी पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त और क्या तथा कितना पढ़ते हैं ? पता चला है कि प्रत्येक प्राथमिक छात्र साल भर में मुश्किल से एक किताब पाठ्यक्रम से बाहर की पढ़ता है, वह भी संयोगवश जो मिल गई, वही। जबकि विकसित देशों में बच्चों की स्पष्ट रुचियाँ विकसित की जाती हैं और प्राथमिक कक्षाओं का प्रत्येक बच्चा छह-सात पाठ्यक्रमेतर पुस्तकें प्रतिवर्ष पढ़ता है। वहाँ पाँच से ग्यारह वर्ष के आयु समूह के बच्चों के लिए अत्यन्त आकर्षक पुस्तकें तैयार की जाती हैं और बाल-साहित्य तैयार करने वालों के प्रशिक्षण की भी वहाँ उत्तम व्यवस्थाएँ रहती हैं।

भारत में बाल-साहित्य बहुत कम रचा जाता है, उसमें भी अच्छे स्तर का तो बहुत ही थोड़ा होता है। अधिकांश विदेशी साहित्य की भौड़ी और भद्दी नकल होती है।

स्वाध्याय की प्रवृत्ति जब बचपन से ही डाली जाती है, तभी वह स्वभाव का अंग बनती है। इसीलिए इस दिशा में प्रारम्भ से ही ध्यान दिया जाना जरूरी है।

जिस प्रकार पौष्टिक भोजन के अभाव में शरीर कृश हो जाता है, उसी प्रकार उत्तम पुस्तक रूपी पौष्टिक आहार न मिलने से मानसिक शक्तियों का विकास नहीं हो पाता।

पुस्तकें मनुष्य की न केवल मानसिक शक्तियों को विकसित करती हैं, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, दुःख-सुख में मित्र-सा साथी व मार्गदर्शक बनती हैं। पुस्तकों के सहारे ही व्यक्ति घर बैठे संसार में होने वाले क्रिया-कलापों की जानकारी प्राप्त कर सकता है। देश-विदेश की साहित्यिक कृतियों का रसास्वादन कर सकता है। सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से सद्गुणों का विकास होता है। इसीलिए स्वाध्याय की प्रवृत्ति का तथा पुस्तकों के सम्बन्ध में सुरुचि-सम्पन्नता का विकास बचपन से ही करने के प्रयत्न जरूरी हैं। साहित्य के द्वारा ही मनुष्य में वैचारिक क्षमता विकसित होती है। इसके लिए बच्चों तथा बड़ों सभी में, श्रेष्ठ साहित्य के प्रति आकर्षण तथा समाज में वैसे साहित्य की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि की उभयपक्षीय व्यवस्थाएँ विनिर्मित की जानी चाहिए। विचारों को उन्नत बनाने वाला साहित्य उपलब्ध रहे और उसके प्रति रुचि जाग्रत रहे, तो प्रगति की यात्रा सुनिश्चित है।

पतनकारी साहित्य से व्यक्ति और राष्ट्र की शक्ति नष्ट होती है। आज इस बात के प्रमाण चारों तरफ फैले दिखाई दे रहे हैं। विलासिता, कामुकता और अनाचार फैलाने वाले साहित्य की जो बाढ़ आई हुई है, उससे सामाजिक सामर्थ्यों का कितना विनाश हो रहा है यह किसी से छिपा नहीं है, लोगों का चरित्र इतनी तेजी से गिरता जा रहा है कि विचारवान लोगों के हृदय इस आशंका से काँपने लगे हैं कि कहीं सामाजिक विद्रोह की ज्वाला न भड़क उठे। आज का अश्लील साहित्य भी बहुत कुछ इसके लिए जिम्मेदार है। ऐसे साहित्य से जितना ही बच सके उतना ही अपना परम सौभाग्य समझना चाहिए।

सत्साहित्य से सद्विचार ग्रहण करते रहने की परम्परा चल पड़े तो मानसिक उत्थान होता रहेगा और दुर्गुणों से बचते रहेंगे। आज के युग में जबकि सन्तजनों और सहृदय पुरुषों का नितान्त अभाव है—प्रेरणप्रद विचार प्राप्त करने के लिए साहित्य का ही आश्रय लेना पड़ेगा किन्तु यह ध्यान बना रहे कि साहित्य वही उपयोगी हो सकता है जो हमें ऊँचा उठा सके। हमारे अन्तःकरण में प्रकाश उत्पन्न कर सके। जहाँ कोई अन्य साधन न हो वहाँ नियमित रूप से सद्ग्रन्थों, आत्मनिर्माण करने वाली

पुस्तकों का स्वाध्याय करते रहना चाहिए। इससे भी मन बुरे विचारों से बचा रहता है और सद्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

साहित्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए विद्वान सिसरो ने लिखा है—“साहित्य का अध्ययन युवकों का पालन-पोषण करता है, वृद्धों का मनोरंजन करता है, उन्नति का द्वार खोलता है, विपत्ति में धैर्य बँधाता है, घर में प्रमुदित रखना और बाहर विनीत रखना साहित्य का ही काम है।”

उस सारे वाङ्मय को ऐसे साहित्य की श्रेणी में ले लेते हैं जिससे अर्धबोध के साथ भावनाओं का परिष्कार भी होता हो और प्रत्येक तथ्य की समीक्षात्मक व्याख्या भी होती हो। केवल गूढ़ शब्दों को रट लेना मात्र पर्याप्त नहीं है। पढ़ना और उसे समझना, समझकर उसके सत्यासत्य पर विचार करना तथा जीवनशोधक व्यावहारिकता का अनुसरण करना—इतना कर सकें तो यह समझें कि साहित्य की आवश्यकता को हमने समझ लिया है। रामायण पढ़ने का लाभ तब है; जब हम भी राम, भरत या लक्ष्मण के सदृश बनने का प्रयत्न करें और रामायण का महत्त्व इसलिए है कि उससे आन्तरिक मलिनताओं पर द्रव्य उत्पन्न होता है और सदाचार की प्रेरणा मिलती है। इस तरह का तालमेल यदि बन सके तो विचार दृष्टि से शक्तिशाली बनने में कोई कठिनाई न रहेगी।

बुरे संयोग से बचने के लिए और अपनी महानता जगाने के लिए विचारवान बनना जरूरी है। इसके लिए दूसरे साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितना कि ज्ञान-साधना की जरूरत है। इस जरूरत को पूरा करना है तो साहित्य की शरण लेनी ही पड़ेगी। ऐसा साहित्य खोजना पड़ेगा जिससे ज्ञान-संवर्द्धन हो और आत्मा का परिष्कार हो। साहित्य शक्ति का उद्भेक है। साहित्य के द्वारा बच्चों की प्रतिभा जगाने का कार्य अविलम्ब शुरू कर देना चाहिए। हर घर में न सही, पर हर गाँव में पाठशाला की ही तरह अच्छे पुस्तकालय की भी व्यवस्था होनी चाहिए। बहुसंख्यक पुस्तकों वाले पुस्तकालय नहीं, थोड़ी चुनी हुई, अध्यात्म और सुव्यस्थित जीवन की प्रखर प्रेरणा देने वाली पुस्तकों से सम्पन्न पुस्तकालय इस समस्या को हल कर सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं।

नालन्दा और तक्षशिला के विशाल पुस्तकालय पुस्तकों की संख्या के लिए ही नहीं विख्यात थे, वरन् उनमें ऊर्ध्वगामी जीवन की दिशाएँ देने वाले साहित्य का बाहुल्य था। जो कहीं नहीं मिलता था, उसे दूँदने के लिए चीन, जापान, जर्मन और अमेरिका तक से यहाँ आते थे।

अब हमें ऐसे पुस्तकालयों की रचना गाँव-गाँव करनी पड़ेगी, जो आकार में भले ही छोटे हों पर गाँव वाले उसमें रखी हुई पुस्तकों में अपने व्यावहारिक, आध्यात्मिक और तात्त्विक जीवन के समाधान दूँदने आयें

और मानसिक उत्तेजना नहीं सुस्पष्ट कल्पना लेकर लौटें कि हमारा आहार इस तरह का होना चाहिए, हमारी वेष-भूषा, बोल-चाल, रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा, दिनचर्या और जीवनचर्या इस तरह होनी चाहिए, जिसमें आर्ष संस्कृति के अनुरूप तेजस्विता, शक्ति और वर्चस्व का विकास किया जा सके।

इन पुस्तकालयों में मनुष्य को आकांक्षाओं और जिज्ञासाओं को लौकिक व्यवस्था के साथ पारलौकिक लक्ष्य की ओर अग्रसर करने वाला साहित्य उपलब्ध कराया जा सके तो इस देश को धर्म और संस्कृति के पूर्व ढाँचे पर ढालना सम्भव हो जायेगा।

युग निर्माण योजना के अन्तर्गत ऐसे पुस्तकालयों की व्यवस्था-व्याख्या की गई है। उसके आधार पर गाँव-गाँव छोटे-छोटे पुस्तकालय स्थापित होने चाहिए, जो मनुष्यों के विचार, जीवन और क्रिया-कलापों को ऊँचा उठाने में सहायक हों। ऐसी पुस्तकें भी यहाँ भारी मात्रा में तैयार की गई हैं, क्री जा रही हैं। अन्यत्र भी यह प्रयत्न हो रहे हैं, उन सबको इकट्ठा कर गाँव-गाँव सच्चे देवालय के रूप में पुस्तकालय खुलें। तभी अपनी स्वयं की और भावी पीढ़ी की मानसिक क्षुधा तृप्त हो सकेगी और मानसिक पोषण के द्वारा व्यक्तित्व विकास होता रह सकेगा। विकसित व्यक्तित्व ही प्रगति में समर्थ होता है।

केवल पुस्तकीय-शिक्षा ही नहीं,

बच्चों को अनुभवीय ज्ञान भी दीजिए

बालक की पुस्तकीय-शिक्षा को ही सम्पूर्ण शिक्षा मान बैठते हैं। बच्चा स्कूल जाता है और घर पर थोड़ा-बहुत निर्देश के अनुसार पढ़ लेता है तो समझ लिया जाता है कि बालक की शिक्षा हो रही है किन्तु पुस्तकीय-शिक्षा का वृत्त बहुत छोटा होता है। इस शिक्षा से बालक का जो मानसिक एवं व्यावहारिक विकास होना चाहिए, वह नहीं हो पाता। वैसे पुस्तकीय-शिक्षा से मानसिक विकास तो हो जाता है, लेकिन उसमें व्यावहारिक उपयोग की कला उसे समझ में नहीं आती है। ऐसा लगता है—उसके पास पुस्तक का ज्ञान सब कुछ है, पर आस-पास के ज्ञान से वह अनभिज्ञ है। अस्तु, व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए, परिवारों में प्रयत्न किये जाने चाहिए।

वैसे व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए विद्यालय में अनेक गतिविधियाँ होती हैं। उन पाठ्येतर गतिविधियों के द्वारा बालक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता रहता है। खेल-कूद, सांस्कृतिक, साहित्य, पर्यटन, प्रकृति-निरीक्षण सम्बन्धी अनेक गतिविधियाँ बालकों में व्यावहारिक कौशल लाती हैं, पर स्कूल में जो बात पुस्तकीय-शिक्षा के लिए लागू होती है, वह व्यावहारिक ज्ञान के लिए भी लागू होगी। विद्यालय के अध्यापक छात्रों के प्रति व्यक्तिगत ध्यान नहीं दे पाते हैं। इस कारण अनेक झिझक वाले

२.२४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

छात्र इन गतिविधियों में भाग नहीं ले पाते। ऐसे बच्चे व्यावहारिक-धरातल पर शून्य बने रहते हैं, चाहे वे पुस्तकीय-ज्ञान में कितने ही कुशाल क्यों न हों ?

एक विद्यालय के अतिरिक्त एक और एजेन्सी है, जहाँ बालक को ज्ञान मिलता रहता है। वह एजेन्सी है—बालक का घर। परिवार के अभिभावक पर भी बालक के व्यावहारिक ज्ञान का उत्तरदायित्व रहता है, क्योंकि घर पर बालक पर व्यक्तिगत ध्यान देते हुए, व्यावहारिक ज्ञान दिया जाना सम्भव है। यह अनुकरणीय शिक्षा घर पर बच्चे की कम आयु से ही प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इस शिक्षा के लिए घर का कोई परिजन अपना समय निकाल सकता है, इसलिए सृष्टि की खुली पुस्तक सामने रहती है। केवल उसे पढ़ाने के लिए अभिभावकों के पास कुछ समय होना चाहिए।

अभिभावक अपने बच्चों को बाजार, सभा, मेलों, उत्सवों आदि के अवसर पर अपने साथ ले जावें। वहाँ जिन-जिन दृश्यों, वस्तुओं और बातों के बारे में बालक जिज्ञासा प्रकट करें, उनका समझाने के साथ ही समाधान भी किया जाना चाहिए। यदि कहीं बात बच्चे की निगाह की पकड़ में न आ पाई हो, पर आप समझते हैं कि इसका अनुभव देना बालक के लिए उपयोगी है, ऐसे ज्ञान को आप अपनी ओर से बच्चे को दे दीजिए। ऐसे अवसरों पर वस्तु के भाव तथा वस्तुओं के उपयोग के बारे में सामान्य ज्ञान दें। ऐसे समूह में परस्पर सामान्य व्यवहार कैसे किया जाता है, उसे भी बालकों को समझाते रहना चाहिए। जैसे भीड़ में बायीं ओर से चलना, प्रतीक्षा करते हुए आगे बढ़ना, व्यर्थ की धक्का-धूम न करना आदि का अनुभव दिया जा सकता है।

अभिभावक के पास शाम को घूमने का समय तो होता ही है। वह उसका उपयोग घूमने के साथ-साथ बच्चों को व्यावहारिक ज्ञान देने के लिए भी कर सकता है। बच्चों को साथ ले जाकर प्रकृति के दृश्यों, पक्षियों, वनस्पतियों, पशुओं आदि के बारे में बतलावें। इनके सामान्य उपयोग भी बतलाये जा सकते हैं। प्रकृति के खुले वातावरण में विस्तृत आकाश भी फैला रहता है। वहाँ के सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि के बारे में भी सामान्य परिचय दिया जाना चाहिए। इस प्रकार बालक कुछ बातें पुस्तक में पढ़ लेता है, उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार प्रकृति के प्रांगण में कर लेता है और उनके सम्बन्धी व्यावहारिक जानकारी भी प्राप्त कर लेता है। पुस्तकीय और व्यावहारिक ज्ञान का समन्वय हो जाने से बालक का ज्ञान बढ़ने के साथ-साथ बालक की परिपक्वता भी बढ़ती है।

एक बुद्धिमान अभिभावक ने अपने बच्चों के लिए एक व्यावहारिक विधि अपनाई। उन्होंने अपने बच्चों को अकेले में प्रकृति की खुली पुस्तक को पढ़ने भेजा, जो उनके लिए अपरिचित है। बच्चे घूमघाम कर जब लौटते हैं, तो उस अपरिचित स्थल के बारे में प्रश्न पूछा। बच्चे

कुछ जानकारी दे पाते, परन्तु जितनी जानकारी की अपेक्षा वे रखते हैं, उतनी नहीं मिल पाती है। अस्तु, वे पुनः निर्देश दे करके उसी मार्ग पर बच्चों को भेजते हैं। बच्चे निर्देशानुसार प्रकृति को पढ़कर लौटते हैं। इस बार वे जानकारी सम्बन्धी सन्तोषजनक उत्तर देते हैं। इस प्रकार केवल प्रकृति की ओर ही नहीं, कभी अपरिचित बाजार में, कभी अपरिचित मार्ग पर, कभी अपरिचित दर्शनीय स्थल पर भेजकर वे अपने बच्चों का व्यावहारिक ज्ञान बच्चों के प्रयत्न द्वारा ही बढ़ा सकते हैं। परिणाम हुआ बच्चों के व्यावहारिक ज्ञान का भण्डार बढ़ने लगा। जो उनके भावी जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इस प्रकार कुशल और बुद्धिमान अभिभावक अपने बच्चों को अनुभवीय ज्ञान देने के लिए विभिन्न प्रयोग करते रहें तो बच्चे के लिए घर एक व्यावहारिक पाठशाला माना गया है। जहाँ शिक्षण भी होता है और प्रयोग भी होते हैं। जहाँ बालकों को इस प्रकार का अनुभवीय ज्ञान मिलता रहता है, वहाँ के बालक बाद में जाकर कुशल और अनुभवी नागरिक बनते हैं। उनमें हर समस्या की गहराई में उतरकर समझने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वे उन समस्याओं का हल भी सावधानी से निकालने में समर्थ हो जाते हैं।

अनुभवीय शिक्षा बच्चों के जीवन में सफलता के द्वार खोल देती है। इससे बच्चों में हर क्षेत्र में सावधान रहने की आदत बन जाती है, जिज्ञासु वृत्ति के द्वारा हर वस्तु को अच्छी तरह देखने की वृत्ति बन जाती है तथा हर बात को समझने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, नदी, पर्वत, आकाश, प्रकृति के दृश्य आदि में मौन-शिक्षण का भण्डार भरा रहता है। इस मौन-शिक्षण तक ले जाने वाला अभिभावक हर क्षण बालक के लिए तत्पर रहें। जो बालक प्रकृति के विविध अंगों को व्यावहारिक दृष्टि से आत्मसात् कर लेता है तो विद्वत्ता के साथ-साथ यथार्थ ज्ञान का भी अनुभवी बन जाता है। इसके फलस्वरूप बालक के स्वभाव में प्रखरता आ जाती है, उसकी मनोशक्ति विकसित हो जाती है, उसकी आत्मा देदीप्यमान हो जाती है और हर सोपान पर सफलता उसके चरण चूमने लगती है। व्यावहारिक ज्ञान बालक के जीवन-रस को हितकारी बना देता है।

यह भी तो है कि शिक्षा का अर्थ मात्र पुस्तकीय-ज्ञान नहीं है या परीक्षा पास करके उपाधिकारी बन जाना नहीं है। यों पुस्तकीय-ज्ञान के लिए स्वाध्याय करना जीवन के लिए आवश्यक है। परीक्षा उत्तीर्ण भी करनी चाहिए, पर यही पर्याप्त नहीं है। यदि इस ज्ञान के साथ अनुभवीय-ज्ञान का योग हो जाता है तो ज्ञान के दोनों पक्ष—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समन्वित होकर जीवन को प्रशस्त बना देते हैं। जो बालक ब्रह्माण्डरूपी विश्वविद्यालय का अध्ययन सूक्ष्मदर्शिता के साथ नहीं कर पाता है, तो उसकी विद्यालयीन शिक्षा अधूरी-अधूरी ही रहेगी।

शिक्षा के साथ संस्कारों की अनिवार्य आवश्यकता

मनोवैज्ञानिक बेंजामिन ब्लूम के अनुसार एक प्रौढ़ व्यक्ति में जितनी बुद्धि होती है, उसका ५० प्रतिशत भाग चार वर्ष की उम्र तक और इसके बाद का ३० प्रतिशत भाग आठ वर्ष की उम्र तक विकसित हो जाता है। डा. फलेचा के अनुसार बच्चा जीवन के प्रारम्भिक ५ वर्षों में जो कुछ बन जाता है, अधिकांशतः वैसा ही बना रहता है।

इन मान्यताओं से यह निश्चित है कि भावी जीवन के लिए बालकों को प्रारम्भ से ही छोटी-छोटी बातों की शिक्षा व्यवहार-वर्तव्य के माध्यम से देनी चाहिए। उनके सूक्ष्म गुणों के विकास के लिए माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों को स्वयं के कार्यों में आदर्श प्रस्तुत करना अच्छा होता है। घर की स्वच्छता और सजावट से लेकर सुरुचिपूर्ण वातावरण बनाये रखने तक ध्यान देना शुरू करें। परस्पर आदर-सम्मान, स्नेह, प्यार और प्रसन्नता का व्यवहार करते रहें।

अनेक माता-पिता बच्चों को उनके प्रत्येक भले-बुरे कार्यों के लिए डाँटते रहते हैं। छोटी-सी भूल के लिए बड़ी-बड़ी सजाएँ देते हैं। ऐसा करना कदापि उचित नहीं होता। बच्चा बड़े भावुक होने के कारण उन पर इसका खराब प्रभाव पड़ता है। यदि बच्चे की बालसुलभ चपलता से कोई वस्तु टूट-फूट जाय तो भी डाँटने की अपेक्षा प्यार से समझाना अच्छा होता है। 'यह न करो', 'वह न करो' कहने की अपेक्षा 'ऐसा करो' कहना अधिक उचित है। बच्चे तो स्वभाव से ही प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। यह स्वयं जाँचकर देखना चाहता है कि वास्तविकता क्या है ? पाश्चात्य देशों में बच्चों को इसकी पूरी छूट दी जाती है। तब कोई कारण नहीं कि हम वैसा न कर सकें।

बच्चे स्वभाव से ही कर्मशील और परिश्रमी होते हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसे सही दिशा दी जाय। जो बच्चे शुरू से ही कर्मशील और परिश्रमी होते हैं, वह भविष्य में आने वाली कठिनाइयों को झेलने में समर्थ होते हैं। उन्हें प्रारम्भ से ही छोटे-मोटे कार्य सौंपते रहें और जिस कार्य में उनकी रुचि दिखे, उसे उधर ही प्रोत्साहित करें। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं, जो सही प्रोत्साहन पाकर महान बन गये। सही व्यवहार और अभिभावक से आदर्श प्रेरणा प्राप्त कर आज के बच्चे कल महान कलाकार, साहित्यकार, कवि, लेखक, नेता और महापुरुष तथा आदर्श नागरिक बन जाते हैं।

कुछ अभिभावक यह सोचते हैं कि बच्चे बिना दबाव और डाँट-फटकार के उर्दुखल और उदण्ड बन जाते हैं। अतः तनिक-सी बात पर बहुत क्रोध करते रहते

हैं। क्रोध मनुष्य को पागल बना देता है। वह अपने आप पर नियन्त्रण न कर पाने के कारण सही निर्णय भी नहीं ले पाता। सचमुच बच्चे को डाँटने से उसकी हानि तो होती है, परन्तु अपना क्रोध अपने को भी खाता है। परन्तु इसका अर्थ यह भी न समझें कि बच्चों को अत्यधिक लाड़-प्यार दिया जाय।

अनावश्यक लाड़ से बच्चे बिगड़ जाते हैं। किसी परिवार में अकेला बच्चा होने अथवा स्वभाववश ही अपने बच्चों को अत्यधिक प्यार देते हैं। उनके लिए बहुत अधिक मात्रा में भोजन, वस्त्र तथा खिलौनों का अम्बार लगा देते हैं। साधारण सर्दियों में इतने अधिक कपड़े लाद देते हैं कि उनका स्वतन्त्रतापूर्वक चल-फिर सकना भी कठिन हो जाता है। भूख न लगने पर भी भिन्न प्रकार की चीजें खिलाकर यह सोचते हैं कि उनका स्वास्थ्य अच्छा बनेगा। परिणामस्वरूप बालक चटोर और अस्वस्थ हो जाता है। आदत स्वभाव में परिवर्तित हो जाते हैं, तब बदली हुई परिस्थिति के कारण पहले जैसी व्यवस्था न होने पर बच्चे, झगड़ालू, जिद्दी तथा चिड़चिड़े हो जाते हैं। ऐसे बालक आगे चलकर समाज के समक्ष प्रश्नवाचक चिह्न के रूप में खड़े हो जाते हैं। अतएव उचित मौकों पर सजा देने से भी काम लेकर उनमें अच्छी आदतें डाला जाना उचित होगा।

अनेक बच्चे संकोची प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे लोग अपनी बहुमुखी उन्नति नहीं कर पाते। अभिभावकों को उनके प्रति सतत् प्रयत्नशील रहकर उनमें आत्मविश्वास, साहस, सहिष्णुता तथा विवेकशीलता जगानी चाहिए। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं, जो अपने आपको अन्य भाई-बहनों से कम बुद्धिमान, कम सुन्दर अथवा अयोग्य समझ बैठते हैं। उनके भीतर हीनभावना आ जाती है। ऐसे अवसर पर उन्हें अधिक स्नेह की आवश्यकता होती है।

ऐसे बच्चों के विकास के लिए उनमें आत्मविश्वास जगाने हेतु उन्हें छोटे-छोटे कार्य करने का अवसर देना चाहिए। यह ध्यान रहे कि उन्हें वही कार्य सौंपे जाएँ, जिन्हें वे आसानी से कर सकते हों। अपने कपड़े स्वयं पहिना, सुखाना, निकालना, एक निश्चित जगह पर सँभालकर रखना जैसे कामों में सफलता प्राप्त कर लेने पर उनकी प्रशंसा करने से आत्मविश्वास परिपक्व होता है। साहसी बच्चों की कहानियाँ सुनाकर साहस की भावना जगाई जा सकती है। दूसरे बच्चों की तुलना में उसे अपने आपको सुन्दर समझने के लिए यह बतायें कि शारीरिक सुन्दरता की अपेक्षा बुद्धि की सुन्दरता महान है। कुशाग्र बुद्धि न हो तो भी उनकी बुद्धि की क्षमता के अनुसार सवाल कराये जाकर सफलता का श्रेय दिया जाना उचित होता है। सभी बच्चे, सभी कार्य नहीं कर सकते यह जानकर उसे चित्रकारी, संगीत, मूर्तिकला जैसी शिक्षा देकर अग्रसर होने का अवसर दिया जाना चाहिए। उनकी प्रत्येक छोटी-छोटी सफलता के लिए बड़ाई देते रहने से धीरे-धीरे संकोची प्रवृत्ति दूर हो जायेगी। हीनभावना भी इस तरह आसानी से दूर की जा सकेगी।

२.२६ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

घर का वातावरण सुखद, शान्त और उल्लासपूर्ण रखने से बालक वही प्रभाव ग्रहण करेगा। बालकों की न्यूनतम आवश्यकताएँ यथासम्भव पूरी करें। इसके अभाव में बच्चे उदास, झगड़ालू और जिद्दी हो जाते हैं। बात-बात पर एक-दूसरे को उलाहना देना, रूठना, मनाना, अपशब्दों का प्रयोग करना बच्चे के हित में नहीं होता। अभिभावक इस प्रकार के दूषित वातावरण को घर से दूर रखें वरना भविष्य में बच्चे बिगड़ सकते हैं।

बच्चों के साथ धार्मिक स्थानों की यात्रा करना भी उनकी शिक्षा की दृष्टि से महत्त्व रखता है। सामाजिक कार्यों के लिए कुटुम्ब यात्रा में अथवा सार्वजनिक स्थानों में जाते समय यथासम्भव बच्चों को भी साथ ले जावें। इससे उनके बाल-मस्तिष्क में इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब स्कूलों, क्लबों अथवा अन्य स्थानों पर सांस्कृतिक कार्यक्रम किये जाते हैं। उनमें विभिन्न प्रान्तों और राष्ट्रों के जीवन की झाँकी, गानों, नाटकों, प्रहसनों अथवा चित्रों के माध्यम से किये जाते हैं। इन्हें देखकर बालक अच्छा प्रभाव ग्रहण करता है। ऐसे अवसरों पर बच्चों को अवश्य साथ ले जाना चाहिए।

बाल-मस्तिष्क अनेक प्रकार की शंकाओं से ग्रस्त होता है। संसार की प्रत्येक वस्तु उसके लिए नवीनता लिए होती है। यह सहज है कि उसके दिमाग में अनेक प्रश्न उभर आवें। इन प्रश्नों का उत्तर चाहते हुए अपने अभिभावकों के पास अथवा शिक्षकों के पास जाने पर अनेक बार झिड़क दिये अथवा टाल दिये जाते हैं। सही समाधान अथवा उत्तर न पाने के कारण उदास हो जाते हैं। कई बार शाला में भी ऐसे प्रश्न पूछ लिए जाते हैं, जिनका उत्तर या तो उन्हें बताया नहीं गया होता अथवा वे, नहीं जानते। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपने मतानुसार उचित उत्तर देकर उसकी शंका का समाधान करें। उससे उनका अवश्य ही बौद्धिक विकास होगा। शिक्षक कभी ऐसे प्रश्न न पूछ बैठें, जिनका उत्तर उन्हें बताया ही न गया हो।

अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षा विशेषज्ञ प्रो. डार्कन के सर्वे के अनुसार स्कूल में अच्छे चलने वाले बच्चे वही थे जिनके माता-पिता उन्हें समय देकर उनके कार्यों में सहायता देते थे और बुद्धि बच्चों की पृष्ठभूमि में थे 'व्यस्त' माता-पिता। बच्चे तो शाला जाने पर भी कुछ ही घण्टे वहाँ रहते हैं। शेष सारा समय उनका जीवन अपने माता-पिता और परिवार के बीच बीतता है। अतएव अधिक प्रभाव परिवार का ही पड़ता है।

इस तरह घूम-फिरकर वास्तविक जिम्मेदारी माता-पिता और कुटुम्ब पर आ जाती है। कच्ची नींव के मकान की भाँति गिरने से बचाने के लिए बच्चों की नींव पक्की करने के लिए हमें ही साहसपूर्वक कदम उठाना चाहिए।

बच्चों को शिक्षा ही नहीं,

दीक्षा भी दी जाय

संसार में निर्बल और प्रभावहीन रहकर जीने में कोई मजा नहीं है, जो निर्बल अथवा प्रभावहीन होता है उसे कोई पूछता नहीं, सभी उसे अपना शिकार बनाने की कोशिश किया करते हैं। जीवन में निर्बल होने का अर्थ है संसार के कुटिल तथा स्वार्थी लोगों का भोजन बन जाना।

निर्बलता और प्रभावहीनता का कारण है अज्ञान और अज्ञान का कारण है अशिक्षा और संसार की गतिविधि से दूर रहना। जो अशिक्षित है वह किसी से ठीक तरह बात कर सकने में असमर्थ रहता है और दूसरों की बात ही ठीक प्रकार से नहीं समझ सकता। अध्ययन द्वारा महापुरुषों के विचारों तथा अनुभवों का लाभ नहीं उठा सकता। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा बहुत आवश्यक है।

केवल शिक्षा ही ज्ञान की संवाहिका नहीं हो सकती। किसी ने एम. ए., बी. ए. तक शिक्षा तो प्राप्त कर ली किन्तु वह समाज से दूर-दूर से संसार की गतिविधियों से विरत, आत्मलीन जैसा रहता है, न लोगों के सम्पर्क में आता है और न विचारों का आदान-प्रदान ही करता है तो उसकी शिक्षा उसके क्या काम आ सकती है ? इस प्रकार एकाकी रहकर वह अपनी विद्या का लाभ न स्वयं उठा पाता है और न किसी दूसरे को दे पाता है। संसार में कहाँ क्या हो रहा है ? लोगों की विचारधारा किस ओर बह रही है ? वर्तमान परिस्थितियों में हमें क्या और कैसे करना चाहिए ? इसका ज्ञान प्राप्त किये बिना अपनी दिशा, कार्य-पद्धति और साधनों का निर्णय नहीं किया जा सकता। जिसे अपने आस-पास की गतिविधि तथा परिस्थिति की जानकारी नहीं वह शिक्षित होने पर भी अज्ञानी ही माना जायेगा। इसलिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षा पाना और संसार का अध्ययन करते रहना बहुत आवश्यक है।

शिक्षा का समारम्भ बचपन से होता है। पाँच-छह वर्ष की आयु में जबकि प्रायः शिक्षा प्रारम्भ की जाती है, बच्चों के पास अपनी स्वयं की समझ नहीं होती। वे अपना अच्छा-बुरा भी नहीं समझ पाते। साथ ही उनमें पढ़ने की स्वतः प्रेरणा नहीं होती। उस समय तो उन्हें खेलना और शरारत करना ही पसन्द होता है। पढ़ने के लिए जिस दिन ये बिठाले जाते हैं, उस दिन तक उनका एकमात्र काम खेलना ही होता है। पढ़ाई उनके लिए सर्वथा नवीन तथा स्वभाव अथवा अभ्यास के विरुद्ध होती है। तभी वे उस विषय में अभिभावकों तथा अध्यापकों को काफी दिनों तक परेशान करते रहते हैं। किन्तु जब धीरे-धीरे अन्य बच्चों के साथ अभ्यस्त हो जाते हैं; फिर अपने आप पाठशाला जाने लगते हैं। उनका अभ्यास उस

दिशा में ढल जाता है किन्तु इसके लिए अभिभावकों को काफी परिश्रम करना पड़ता है। उन्हें उस सम्बन्ध में बड़ा सावधान तथा सतर्क रहना होता है। बच्चे की गाड़ी जब चल निकलती है तो फिर वे असावधान अथवा उदासीन हो जाते हैं।

पढ़ाई के सम्बन्ध में बच्चों की गाड़ी चल निकलने के बाद अभिभावकों का तटस्थ हो जाना अथवा यह सोचकर असावधान हो जाना कि अब तो वह स्कूल जाने ही लगा है, अपने को परेशान होने की क्या जरूरत, अब बच्चा और अध्यापक आप निपटते रहेंगे, ठीक नहीं। अभिभावकों की इस उदासीनता से बच्चों की शैक्षणिक प्रगति मन्द हो जाती है। अभिभावकों को, जब तक बच्चे पूरी तरह आत्म-प्रबुद्ध न हो जायें उनकी पढ़ाई और उनकी प्रगति में पूरी-पूरी दिलचस्पी लेते रहना और प्रेरणा देते रहना चाहिए। इससे वे उत्तरोत्तर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं।

अभिभावकों को चाहिए कि वे नित्यप्रति सायंकाल घण्टा-आध घण्टा बच्चों की पढ़ाई-लिखाई देखने के लिए बैठें। इस समय वे उनसे स्कूल में क्या पढ़ाई चल रही है, कितना पाठ्यक्रम हो चुका है और कितना शेष है, इसका पता लगाया करें ? साथ ही उनसे पढ़े पाठों के विषय में प्रश्न करके यह पता लगाया करें कि बच्चे जो पाठ पढ़ चुके होते हैं वह याद भी करते हैं या नहीं ? उनकी कपियाँ देखा करें और पता लगाया करें कि वे अपना काम ठीक से कर रहे हैं या नहीं ? जो गलतियाँ ठीक की जाती हैं, उन्हें बार-बार लिखकर अभ्यास कर लेते हैं या यों ही छोड़ देते हैं।

इस देखा-भाली के अतिरिक्त अभिभावकों को चाहिए कि वे उस समय बच्चों से पढ़ाई के विषय में इस प्रकार बात-चीत किया करें, जिससे वे शिक्षा की गरिमा अनुभव करें और प्रेरणा पायें। इसी समय बच्चों को स्वयं भी कुछ न कुछ पढ़ाना चाहिए और कभी-कभी उनकी परीक्षा लेकर यह पता भी करना चाहिए कि वे किस गति से प्रगति कर रहे हैं ? इस प्रकार बच्चों की पढ़ाई में स्वयं भाग लेकर उनकी अभिरुचि बढ़ाते रहना चाहिए। जो अभिभावक बच्चों की पढ़ाई में स्वयं रुचि नहीं लेते, उनके बच्चे प्रायः पढ़ने-लिखने में कम ही रुचिवाक हो पाते हैं।

बच्चों की शिक्षा के लिए केवल मात्र अध्यापकों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए। अध्यापकों के लिए कोई एक ही विद्यार्थी तो नहीं होता। उन्हें तो पचासों विद्यार्थियों के साथ माथापच्ची करनी पड़ती है। पचास जगह बैठा हुआ उनका ध्यान तथा समय बच्चों को अधिक लाभ नहीं पहुँचा पाता। इसलिये अभिभावकों को बच्चों को स्वयं भी थोड़ा समय देर उस कमी को पूरा करते रहना चाहिए।

यह तो रही पुस्तकीय शिक्षा की बात। इसके अतिरिक्त एक शिक्षा और है, जिसे अनुभववीय अथवा

यथार्थ शिक्षा कहा जा सकता है। वह यह कि बच्चों को संसार का यथार्थ अथवा व्यावहारिक ज्ञान कराया जाये। इसके दो तरीके हैं। एक यह कि बच्चों को अपना साथ बाजार, सभा, सोसाइटियों तथा मेलों, उत्सवों में ले जाना चाहिए। ऐसे अवसरों पर अभिभावक बाजार की चीजों, उनके भावों तथा उपयोग के विषय में बतलावें और दिखलावें कि लोग एक-दूसरे से किस प्रकार बर्तते तथा व्यवहार करते हैं ? यह भी उन्हें बतलाना तथा समझाना चाहिए। व्यावहारिक ज्ञान के लिए बच्चे बड़े ही उत्सुक तथा जिज्ञासु होते हैं। अभिभावकों को अपने प्रयत्न से उनको उनके इस गुण का लाभ पहुँचाना ही चाहिए।

साथ ही अभिभावकों को चाहिए कि नित्य-प्रति प्रातः-सायं बच्चों को बस्ती से दूर, कुछ देर के लिए घुमाने ले जायें। ऐसे अवसर पर उन्हें प्राकृतिक दृश्यों, पक्षियों, सामान्य वनस्पतियों तथा यदि कोई मिल सकें तो पशुओं के बावत बतलायें। साथ ही सूर्य, चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रों तथा एकान्त शून्य आदि के आधार पर आध्यात्मिक जिज्ञासा भी जगाते चलना चाहिए। इस प्रकार बच्चों में पुस्तकीय ज्ञान के साथ व्यावहारिक जगत् और अध्यात्म ज्ञान का क्रम बढ़ता चलेगा।

यदि बच्चों में जीवन के हर क्षेत्र में सावधान तथा जिज्ञासु बन और उत्सुक आँख लेकर हर चीज को ठीक से देखते और समझते चलने की आदत का विकास कर दिया जाये तो समझो उनके लिए ज्ञान के साथ सफलता का द्वार ही खोल दिया। पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, नदी, पर्वत, आकाश तथा प्रकृति के सुन्दर दृश्य अपनी मुखरता एवं मौनता से महानतम शिक्षा का भण्डार भरे रहते हैं, जो उस शिक्षा का लाभ उठाने की पात्रता प्राप्त कर लेता है वह विद्वान होने के साथ-साथ यथार्थ ज्ञान से परिपूर्ण अनुभवी मनुष्य बन जाता है। उसका प्रभाव बढ़ जाता है उसकी मनोशक्ति का विकास हो जाता, उसकी आत्मा प्रकाशित हो उठती और वह सफलता के सोपानों पर कदम रखता हुआ दिन-दिन आगे बढ़ता जाता है।

हारवर्ड विश्वविद्यालय के महान जीवशास्त्री प्रोफेसर श्री एगाजिस के पास, जब कोई नया छात्र आता तब वे उसे एक मछली देते और कहा करते थे कि आधे या एक घण्टे तक इसे अच्छी तरह देखो। जब छात्र मछली देखकर वापस आता तो वे उससे उसके विषय में पूछते और कहते कि तुमने अभी मछली को ऊपरी तथा सरसरी नजर से देखा है। इसे गहरी नजर से गहराई तक देखकर आओ। ऐसा वे अनेक बार करते थे और जब छात्र में किसी चीज को गहराई के साथ देखने और समझने की बुद्धि का विकास हो जाता था, तब उसकी शिक्षा प्रारम्भ करते थे। ऐसा करने से उनके सभी छात्र न केवल परीक्षा में ही अच्छे अंकों से पास होते थे बल्कि शिक्षा के बाद एक सफल नागरिक सिद्ध होते थे।

अभिभावकों को चाहिए कि उनके बच्चे जब तक शिक्षा के क्षेत्र में अपनी बुद्धि तथा पैरों के बल खड़े होने लायक न हो जायें उनकी शिक्षा तथा सांसारिक दीक्षा में पूरी-पूरी रुचि लेते रहें। उन्हें अपना अनुभव देते और उनका अनुभव बढ़ाते रहें। जो अभिभावक ऐसा स्वयं न करके बच्चों को पुस्तकों, शिक्षालयों तथा अध्यापकों पर छोड़ देते हैं, वे उनको शिक्षा के बाद भी कच्चा रह जाने देने की भूल करते हैं। अभिभावक होना जितना सुख नहीं उतना उत्तरदायित्व है। जब अभिभावक बने हैं अथवा बनने की तैयार कर रहे हैं तो इस उत्तरदायित्व के प्रति सदा सजग, सावधान तथा सक्रिय रहना ही होगा।

निश्चय ही वे अभिभावक खेद किये जाने के पात्र हैं जो बच्चों के प्रति अपना यह उत्तरदायित्व निर्वाह नहीं करते, बल्कि इसके विपरीत आचरण किया करते हैं। बच्चे की पढ़ाई-लिखाई में रुचि लेना तो दूर उल्टे उनका हर्ज ही किया करते हैं। जिस समय बच्चे स्कूल से और अभिभावक काम से आकर इकट्ठे होते हैं, उनके आदेशों तथा अनुपालन का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है और बच्चों का सारा पढ़ाई-लिखाई का समय उनका काम करते ही व्यतीत हो जाता है। अभिभावक महोदय एक कुर्सी अथवा चारपाई पर बैठ गये और लगे पानी, पान तथा खान-पान यथा-स्थान और कहीं यदि वे बैठक में दोस्तों के साथ शतरंज, ताश या चासर जमाये बैठे हैं तब तो बच्चे न केवल बाप ही बल्कि मुँह बोले चाचा, ताऊ के भी अरदली बन जाते हैं। क्षण-क्षण पर उनकी आवाज पड़ती रहती है। पानी लाना, पान ले आ भाई, देखो चाय बन गई, दौड़कर बर्फ तो ले आ जा, अपने, ताऊ को सिगरेट तो ला दो। अम्मा से कहो कि क्या चाय बिना नाश्ते की चलेगी ? जिस सामान की कमी हो दौड़कर बाजार से ले आओ, जरा घर तक तो चले जाओ, बेटा अपनी चाची से कह आओ कि चाय भाईसाहब के यहाँ पी ली है मेरे लिए न बनाएँ और देखो दूध न हो तो चाची को ला देना आदि एक का नहीं अनेकों का काम करते-करते बेचारे बच्चे चूर हो जाते हैं। खाते-पीते तक नींद धर दबाती है फिर कहीं की पुस्तकें और कहीं की पढ़ाई ? सायंकाल तो ऐसा रहता ही है, इस प्रकार के न जाने कितने निरर्थक काम उनके लिए सबेरे भी लगे रहते हैं। इसके अतिरिक्त माता क्या उन्हें कुछ कम घर-गृहस्थी के कामों में लगाये रहती है ? यह अभिभावकत्व नहीं है। यह अन्याय है।

बालकों की शिक्षा में चरित्र-निर्माण का स्थान

हमारे जीवन में शिक्षा का स्थान बहुत ऊँचा है। प्राचीनकाल के विद्वान भी कह गये हैं कि “विद्याविहीन मनुष्य बिना सींग-पूँछ का पशु ही है।” वास्तव में मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का उचित विकास शिक्षा द्वारा ही

होता है और तभी वह संसार में कोई महत्वपूर्ण कार्य करने लायक बन पाता है।

इस सम्बन्ध में हमें एक बात बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि केवल किताबी पढ़ाई को ही शिक्षा नहीं समझना चाहिए। उससे भी पहली शिक्षा चरित्र गठन और आरोग्य की होनी आवश्यक है। यदि दोनों शिक्षाएँ पूरी हो जाएँ और किताबी शिक्षा में कुछ कमी भी रह जाय तो मनुष्य संसार में सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है। पर चाहे हम १५ ही वर्ष की आयु में बी. ए. पास कर लें तो भी यदि हम अपने चरित्र और स्वास्थ्य को नहीं सँभाल सके हैं तो वह सब पढ़ाई बेकार ही समझनी चाहिए। एक विद्वान के कथनानुसार—‘पहले प्रकार की विद्या सोने में सुगन्ध का कार्य करती है, समाज में एक चमकते हुए रत्न को उत्पन्न करती है, जबकि दूसरे प्रकार की शिक्षा एक बड़े भयंकर रोग से कम दुःखदाई नहीं होती। बन्दर के हाथ में तलवार देने से जो फल होता है, कोरी पुस्तकीय शिक्षा से भी वैसे ही फल की आशा रखनी चाहिए।

जो लोग यह समझते हैं कि छोटी आयु से ही स्कूल में पढ़ाई आरम्भ कर देना और थोड़े ही समय में ऊँची डिग्री हासिल कर लेना बड़ी प्रशंसनीय बात है वे बड़ी गलती पर हैं। जो शिक्षा, स्वास्थ्य को चौपट करके और सदाचार के सिद्धान्तों की उपेक्षा करके प्राप्त की जायेगी वह बहुमूल्य नहीं, वरन् धूल के समान है। उससे कल्याण होने की बजाय अपना, परिवार वालों का और आस-पास वालों का भी कुछ-न-कुछ अहित ही होगा। बालक की असली शिक्षा स्कूल में नहीं होती, वरन् वह होती है जो जन्मकाल से ही पाँच-सात वर्ष की उम्र तक घर में ही प्राप्त की जाती है। उसी अवधि में उसका उचित शारीरिक विकास होता है, मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है और उसमें नैतिकता तथा शिष्टाचार के गुणों का विकास होता है। इन सब बातों में सन्तोषजनक प्रगति कर लेने के पश्चात् पुस्तकों द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, वह कारगर होती है, उत्तम फल उत्पन्न करती है।

बच्चे को स्कूल में दाखिल कराते समय उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। जरा देर हो जाने से कुछ हानि नहीं होती पर कमजोर शरीर के बालक पर पढ़ाई का जबर्दस्त भार लाद देने से बहुत बुरा परिणाम होता है और वह जन्मभर के लिए अशक्ति और रोगी बन जाता है। अँग्रेजी के एक बहुत प्रसिद्ध लेखक जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए लिखा कि बचपन में अत्यन्त तीव्र बुद्धि होने के कारण, उससे लाभ उठाने के लिए उसके पिता ने शारीरिक और मानसिक शक्ति का विचार किये बिना उसे इतना पढ़ा डाला कि बड़े-बड़े विद्वान उसके विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान को देखकर चकित रह जाते थे। पर अब

जब मैं अपने बचपन की याद करता हूँ तो मेरा हृदय क्रोध और क्षोभ से भर जाता है। मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि उस परिस्थिति में रहकर मैं पागल क्यों नहीं हो गया, क्योंकि मेरे पिताजी का ढंग ऐसा ही था।

फिर इस बात का भी-ध्यान रखना आवश्यक है कि सब लड़कों को एक-सी शिक्षा देना हर्गिज लाभदायक नहीं हो सकता। खासकर शहर और गाँव के लड़कों को एक समान शिक्षा कभी उपयोगी सिद्ध नहीं होगी। शहरों के लोग प्रायः अपने लड़कों को कोई बड़ी या छोटी नौकरी प्राप्त करने का उद्देश्य रखते हैं। वहाँ के शेष लोग अपने लड़कों को थोड़ा पढ़ना और हिसाब आदि सिखाकर व्यापार में लगाने का विचार रखते हैं। पर गाँव के लड़कों को इनमें से कोई शिक्षा लाभदायक नहीं हो सकती। अगर उसे ऐसी शिक्षा दी जायेगी तो उसका परिणाम यही निकलेगा कि वह अपने बाप के धन्य में सहायता देने के अयोग्य हो जायेगा और अन्य किसी दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति न कर सकेगा। कितने ही अन्य देशों में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है, कि ग्रामीण बालक पढ़-लिखकर भी अपने पैतृक पेशे से उदासीन न हो जाएँ। अमरीका के ग्रामीण स्कूलों में जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं, उनमें सब पाठ ग्रामीण जीवन के उपयुक्त होते हैं। उनमें यदि गणित पढ़ाया जाता है तो उसके प्रश्न भी ऐसे रखे जाते हैं जो ग्राम की अर्थव्यवस्था के अनुकूल हों। उन पुस्तकों में कृषि सम्बन्धी विभिन्न कार्यों, फसलों में सुधार, फलों की खेती आदि के सम्बन्ध में उपयोगी वैज्ञानिक ज्ञान सरल भाषा में दिया जाता है।

शहरों के स्कूलों में भी बालकों की रुचि वैभिन्य का ख्याल नहीं रखा जाता और सबको एक लाठी से हाँका जाता है। उनमें से कोई क्लर्क बनता है तो कोई शिक्षक, कोई कलाकार होता है तो कोई कारीगरी के क्षेत्र में प्रवेश करता है। पर इन सबको प्रायः स्कूल और कॉलेजों तक एक-सी शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार उनकी कितनी शक्ति और समय बर्बाद जाता है और उसका समस्त राष्ट्र की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ता है, यदि इसका कभी हिसाब लगाया जाय तो तों मालूम होगा कि हम स्वयं अपनी उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटका रहे हैं और इतने अधिक मानव श्रम तथा मानसिक शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं कि जिसके द्वारा हमारा बहुत हित-साधन हो सकता है।

इस प्रकार हमारे यहाँ की शिक्षा बिना किसी उचित योजना और व्यवस्था के अस्त-व्यस्त ढंग से चल रही है। अधिकांश माँ-बाप बचपन में सिवाय बच्चों को लाड़-प्यार में रखने के उनकी आदतों और चरित्र के निर्माण के विषय में न तो कुछ जानते हैं और न कुछ प्रयत्न करते हैं। यदि कोई थोड़ा-बहुत जान भी लेता है तो उसके

पास इतना समय नहीं होता कि वह इस सम्बन्ध में सदैव ध्यान दे सके। इसके बाद पाँच-छह वर्ष की आयु में जब बच्चों को पढ़ने के लिए स्कूल में भेजा जाता है तो वहाँ अध्यापक भी उसकी घर की आदतों और स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर ध्यान दिये बिना एक ही ढर्रे पर चलाने लगते हैं। इतना ही नहीं अधिकांश शिक्षक तो अब भी ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं, जो बच्चों को धैर्यपूर्वक नये वातावरण के अनुकूल बनाने की अपेक्षा धमकाने, डाँटने-डपटने और छड़ी का भय दिखाने से ही काम लेते हैं। पुराने ख्याल के शिक्षकों में तो यह विचार घुसा ही हुआ है कि पढ़ाई पीटने और भय दिखाने से ही होती है। इस प्रकार बच्चों का रक्षक उनका भाग्य ही होता है और वे संयोगवश जो कुछ बन जाते हैं, उसी से उनको संतोष करना पड़ता है।

सभी विचारशील व्यक्ति यह कहते हैं कि बच्चों पर ही देश और जाति का भविष्य निर्भर है और उनकी शिक्षा की ठीक-ठीक व्यवस्था होने से ही हम एक सुखी और समृद्ध राष्ट्र बना सकते हैं। पर व्यवहार में इस पर अमल करने की कोई चेष्टा देखने में नहीं आती। जैसा हमने आरम्भ में ही कहा है कि सब प्रकार की शिक्षा की नींव मनुष्य का चरित्र और शारीरिक तथा मानसिक शक्ति का उचित विकास है। इसलिए जो माता-पिता तीन-चार वर्ष की आयु में बच्चे को कुछ समझदार देखकर उसे वर्णमाला और पहाड़े सिखाकर प्रसन्न होते हैं वे वास्तव में बड़ी गलती करते हैं। हमने ऐसे सैकड़ों बालक देखे हैं, जो बाल्यावस्था में बड़े चपल और बुद्धिमान प्रतीत होते थे, पर दस-बारह वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते बिल्कुल निकम्मे, आवार और पढ़ने के बजाय तरह-तरह के दुर्गुणों में ग्रस्त बन जाते हैं। इसलिए घर और स्कूल में भी सबसे पहले बच्चों के चरित्र और स्वभाव के निर्माण पर ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि ये बातें ठीक हो गईं तो वह फिर अपनी योग्यता के अनुसार कोई भी शिक्षा प्राप्त कर सकता है और उसी से उसका भावी जीवन सुखी बन सकेगा।

गुरुजनों का सम्मान

आज विद्यालयों में फैली अनुशासनहीनता का सबसे बड़ा कारण यही है कि शिक्षक एवं शिष्यों में जिस प्रकार का पवित्र सम्बन्ध होना चाहिए, वह नहीं है। शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार की हो गई है कि अपने मूल रूप में वह धन कमाना और व्यवसाय जैसी बन गई है। शिक्षक धन कमाने के दृष्टिकोण से शिक्षक बनता है, उसमें बच्चे के प्रति उच्च भाव उत्पन्न नहीं हो पाते। वह विद्यार्थी को पुत्रवत् नहीं देखता है।

इसी प्रकार विद्यार्थियों में शिक्षकों के प्रति जो अटूट श्रद्धा और आदर-भाव रहना चाहिए, वह अब नहीं है। विद्यार्थी, शिक्षक को नौकर समझता है, वह बचपन

२.३० हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

से ही केवल इतना सीखता है कि चूँकि इस विद्यालय में हमें रहकर पढ़ना है, अध्यापक एवं प्रधानाध्यापक के ही अधिकार में पास-फेल करना होता है। यदि हम इनसे अकड़कर चलेंगे तो सम्भव है, हमें परीक्षा में अनुत्तीर्ण कर दें या हमारा चाल-चलन खराब लिख दें। इस प्रकार श्रद्धा-भाव से नहीं, वरन् गर्ज-वश वह शिक्षकों के प्रति सम्मान रखने का प्रदर्शन करता है। कुछ विभागीय नियमों और कानूनों में जकड़े होने के कारण दोनों पक्ष एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, कोई विद्यालय सरकार से मान्यता-प्राप्त है, तो वहाँ जो शिक्षक हैं, वे तो नौकरी पर हैं ही और बच्चे वहाँ पढ़ने जायेंगे ही। लेकिन दोनों पक्ष के दिलों में एक-दूसरे के प्रति जो भाव होने चाहिए, वह नहीं है। जहाँ सच्चाई नहीं होती, वहाँ अधिक दिन तक प्रेम-सम्बन्ध नहीं रहते। झूठी और ऊपरी श्रद्धा, सत्य के आवरण से ढकी नहीं जा सकती। यही कारण है कि विद्यालयों में थोड़ी-थोड़ी बातों को लेकर आन्दोलन, हड़ताल और प्रदर्शन हो जाने के उदाहरण देखने को मिलते हैं। कहीं किसी बदमाश लड़के का स्कूल से नाम काट दिया गया, तो फिर स्कूल के सब लड़कों की सभा उसने की। कुछ लड़कों ने जोशीले भाषण दिये और दूसरे दिन विद्यालय में पूर्ण हड़ताल हो गई। कहीं बच्चों को यूनियन बनाने की अनुमति नहीं मिली, तो उन्होंने अपना आन्दोलन छेड़ दिया। शीशे, खिड़की तोड़ने, उड़ड़ता करने, शिक्षकों से लड़ जाने की घटनाएँ तो नित्य-प्रति की होती जा रही हैं। कक्षा में जब शिक्षक पढ़ाने जाता है, तो उसके लिए शान्ति-व्यवस्था बनाए रखना एक बड़ी समस्या होती है। पीछे जब वह श्यामपट पर कुछ लिखते हैं, तो पीछे से लड़के विचित्र ढंग से हाथों और मुँह से संकेत करके शिक्षक का उपहास करते हैं। कक्षा के बाहर बाज़ार में, ट्रेन में, चौराहों पर तो खुले रूप में शिक्षकों की आलोचना करना, उनका उपहास करना, खिल्ली उड़ाना और बुरे शब्दों से सम्बोधन करना बच्चों के लिए उतना ही सरल और स्वाभाविक हो गया है, जितना राजनैतिक नेताओं का। इन सब बातों को न तो विद्यार्थी बुरा कार्य समझते हैं और न जनता ही शिक्षकों की निन्दा को बुरा मानती है। सत्य तो यह है कि बच्चों द्वारा अपने विद्यालय के शिक्षकों की निन्दा सुनकर अभिभावक और प्रसन्न होते हैं। उन्हें आलोचना में मजा मिलता है। वे बच्चों को खोद-खोदकर हर शिक्षक के प्रति कुछ-न-कुछ नयी जानकारी देने के लिए उकसाते हैं।

इन सब बातों का प्रत्यक्ष प्रभाव भी हमारी आँखों से ओझल नहीं है। दिन-प्रति-दिन शिक्षा के गिरते हुए स्तर को देखकर आप इसके प्रभाव को समझ सकते हैं। विद्यार्थियों के पास आप नवीनतम ढंग के पेंट, बुशर्ट, कमीज, टाई, जूते, कलम व रूमाल आदि तो देखेंगे। यह भी देखेंगे कि वे अपने को खूब सज-धजकर स्कूल आते हैं। जितनी ही आगे की कक्षाओं में वे बढ़ते जायेंगे, उनके पहनावे, उद्गावे और जीवन स्तर में तो

आपको बड़ी स्पष्ट प्रगति दीख पड़ेगी। उनकी वेष-भूषा को देखकर आप यह अनुमान भले ही लगा सकते हैं कि यह लड़का किसी ऊँची कक्षा में पढ़ रहा है, बड़ा योग्य होगा।

अपनी बातचीत और कपड़ों से वह आपके ऊपर रौब गालिब करने में सफल हो जायेंगे, फिर आपका साहस ही नहीं पड़ेगा कि उससे उसकी योग्यता के विषय में कुछ पूछें। लेकिन कभी आप साहस करके किसी ऐसे चमकीले, भड़कते हुए विद्यार्थी की योग्यता को भी टटोलिए। वह जिस कक्षा में पढ़ रहा है, उसी के विषय में दो-चार प्रश्न कीजिए और दो-चार प्रश्न बच्चे के साधारण ज्ञान के बारे में कीजिए, एक कागज देकर हिन्दी अथवा अँग्रेजी में कोई एक प्रार्थना-पत्र लिखने को कहिए, तब आप देखिए कि वह कितने पानी में है ? वास्तव में बच्चे की योग्यता की जाँच कर आपको निराशा उठानी पड़ेगी और सहसा कहना पड़ेगा कि आजकल पढ़ाई का स्तर बहुत गिर रहा है।

गुरु-भक्ति की उपयोगिता—इस परिस्थिति का एक ही कारण है—अश्रद्धा। विद्यार्थी में ज्ञान प्राप्त करने के लिए जितनी मात्रा में अपने शिक्षकों और पुस्तकों के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए, वह नहीं है और किसी भी काम में समुचित सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अटूट रूप से श्रद्धावान होना चाहिए। कार्यालय के बाबुओं, माल विभाग के कर्मचारियों या सरकारी कर्मचारियों के प्रति स्वायत्तपूर्ण सम्मान प्रदर्शन की जो बात होती है, गुरु के प्रति श्रद्धा-भावना से वह भिन्न है। उसी ढंग का सम्मान रखने बालक समुचित ज्ञान प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता।

हमारे प्राचीन भारतवर्ष में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली लागू थी। उस समय ५ वर्ष से २५ वर्ष तक का जीवन गुरु के सान्निध्य में रहकर विद्याध्ययन करने में बिताया पड़ता था। यद्यपि आज जैसी शिक्षा-प्रणालियाँ उस समय कहीं भी चालू नहीं थीं। न तो बालकों को समझाने में सहायता देने हेतु बाल-मनोविज्ञान का ही इतना अधिक महत्व था और न शिक्षण सामग्री पर भी कोई विशेष बल दिया जाता था। जिस प्रकार प्रशिक्षण देकर शिक्षक बनाने की बात अब चल रही है, जिस पर सरकार के करोड़ों रुपये व्यय होते हैं, ऐसी कोई बात उस समय नहीं थी। गुरु सीधे-सारे ढंग से शिष्यों को अपने सामने बिठाकर उन्हें ज्ञान देता जाता था और शिष्य उसे ग्रहण करके कण्ठस्थ करता था। यही एक प्रणाली लागू थी। फिर भी उस समय के विद्यार्थियों की योग्यता का स्तर आज के विद्यार्थियों की तुलना में बहुत ऊँचा था। इसका एक कारण यह ही था कि विद्या देने वाले गुरुजनों के प्रति श्रद्धा-भाव उस समय बहुत था। इसी कारण उनके मुँह से निकले हुए प्रत्येक वाक्य की कीमत होती थी। जो कुछ गुरु कहता था, वह शिष्य के लिए वेद वाक्य

के समान सम्माननीय होता था। शिष्य के हृदय में गुरु का स्थान सर्वोपरि होता था। प्राचीन शास्त्रों में गुरु की बड़ी महिमा गई है। माता-पिता और गुरु इन तीन के ऋण से शिष्य का कभी उद्धार नहीं हो सकता था। माता-पिता रज और वीर्य से यदि बालक को जन्म देने वाले माने गये हैं, तो गुरु, उसे ज्ञान देकर मनुष्य बनाने वाली हस्ती मानी गई है। गुरु को मृत्युलोक का देवता, ईश्वर का प्रतिनिधि और मोक्ष दिलाने वाला माना गया है।

अपने प्राणों को संकट में डालकर मृत्यु से खेलने का साहस करने वाले अनेक शिष्यों के उदाहरण शास्त्रों में भरे पड़े हैं। आरुणी नाम के विद्यार्थी अपने गुरु की आज्ञा मानकर मेंड़ बाँधने गया था। वर्षा का पानी तेज धार से बह रहा था। जल की तेज धार को मिट्टी से रोकने में सफल न होने पर गुरु-भक्त आरुणी ने स्वयं को लिटा देना ही उत्तम समझा। क्योंकि गुरु की आज्ञा लाँघने की कोई बात उस समय के शिष्य के मस्तिष्क में आती ही नहीं थी। जाबालि नामक बालक की कठोर परीक्षा गुरु ने ली। उसका खाना-पीना यहाँ तक गौ का दूध छूना तक भी गुरु ने मना कर दिया और उससे बराबर गौ चराने की सेवा लेते रहे। भूख से व्याकुल होकर उसने आक के पत्ते खा लिए, जिससे उसके आँखों की ज्योति नष्ट हो गई। अन्त में उसकी भक्ति की विजय हुई। परीक्षा के बाद गुरु की कृपा से नेत्र भी मिले और सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता भी बना।

आज यदि इस तरह गौ चराते हुए किसी बालक से दूध न पीने की बात कही जाये, तो पीना तो दूर वह बेच भी डाले।

राम-कृष्ण आदि की अपने गुरुओं के प्रति भक्ति सर्वविदित है। वशिष्ठ के सामने राम कभी नेत्र नहीं उठा सकते थे। यद्यपि वे चक्रवर्ती सम्राट और भगवान के अवतार भी थे।

जिस समय भगवान श्रीराम लंका पर विजय करके अयोध्या लौटे हैं तो अवधवासियों से प्रथम मिलन के अवसर पर गुरु के चरणों में जिस उत्सुकता एवं विनम्रता से उन्होंने प्रणाम किया है वह कितना बेजोड़ है ?

धाड़ धरे गुरु चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥

छोटे भाई लक्ष्मणजी सहित दौड़कर गुरुजी के चरण कमल पकड़ लिए। 'दौड़कर' शब्द यहाँ क्या प्रकट करता है ? क्या साधारण श्रद्धा वाला व्यक्ति ऐसा कर सकता है ? कृष्ण तो अपने गुरु के लिए लकड़ियाँ काटने जाया करते थे। मार्ग के लिए सुदामा को तो कच्चे चने भी गुरु ने दिये थे, परन्तु कृष्णजी को वह भी नहीं मिले थे। वर्षा में बेचारे पेड़ के नीचे बैठे दाँत कटकटा रहे थे। गुरु के कुल कार्य शिष्य को करने होते थे।

गुरु की आज्ञा के विपरीत आचरण करने की कल्पना का भी उस समय के शिष्य में आना एक प्रकार से अकल्पनीय था। इसी को हम अनुशासन कह सकते थे। यही कारण है कि उस समय के विद्यार्थी विद्याध्ययन के बाद पूर्ण विद्वान होकर निकलते थे।

विचारणीय प्रश्न यह है कि उस समय के शिष्य क्यों अपने गुरुओं का इतना आदर करते थे ? दो ही उत्तर हो सकते हैं या तो वे अन्धविश्वासी और मूर्ख थे जो आँख मूँदकर पुरानी परम्पराओं को मानते थे या फिर गुरु की श्रद्धा से उन्हें लाभ था। हर विचारवान व्यक्ति यह स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि अटूट श्रद्धा एवं विश्वास के आधार पर ही सफलता मिल सकती है। आज के वैज्ञानिक युग में भी वह बात शत-प्रतिशत सही है।

गुरुजनों के प्रति आज के विद्यार्थी में उसी श्रद्धा की कमी हो गई है। शिक्षा के स्तर के गिरने तथा अनुशासनहीनता के यही कारण हैं। इसलिए शिक्षा-स्तर को उठाने के प्रयास में हमें विद्यार्थियों में अपने अध्यापकों के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न करने पड़ेंगे।

यही दशा पुस्तकों के प्रति हुई। आज से १०, २० वर्ष पूर्व ही विद्यार्थियों में अपनी पुस्तकों के प्रति जो आदरभाव था, वह अब नहीं है। यदि किसी बच्चे की किताब भूल से पैर के नीचे पड़ जाती थी अथवा जमीन पर गिर जाती थी, तो वह उसे उठाकर दस बार उस पुस्तक को सिर से लगाता था, उसे चूमता था। विद्या माता का निरादर करने से विद्या नष्ट हो जाती है। यह मान्यता सभी की थी। परन्तु धीरे-धीरे यह श्रद्धा भी लोप होती जा रही है। फिर न तो गुरु के प्रति आदरभाव रह गये और न पुस्तकों के प्रति तो क्या सहज में ही विद्या आ जायेगी ? हजार उपाय किये जायें, अगणित मनोवैज्ञानिक, शिक्षा-पद्धतियों का आविष्कार क्यों न हो जाये, लेकिन जब तक विद्यार्थियों में अध्यापकों एवं पुस्तकों के प्रति, समुचित रूप से आदरभाव पैदा करने के ठोस उपाय नहीं किये जायेंगे, किसी भी प्रणाली द्वारा शिक्षा के गिरते हुए स्तर को उठाने में सफलता मिलने में सन्देह है।

श्रद्धा भाव कैसे बढ़ाया जाय—जमाने की बदली हुई परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाकर हमें चलना चाहिए। प्राचीनकाल जैसे निर्लोभी, सदाचारी तथा तपस्वी गुरु नहीं हैं, फिर विद्यार्थियों में उस प्रकार की श्रद्धा होना कैसे शक्य हो ? लेकिन फिर भी हम बहुत कुछ कर सकते हैं। इस क्षेत्र में अभिभावकों के सहयोग की सबसे अधिक आवश्यकता है। यदि वे सतर्क हो जावें, तो अध्यापकों को भी ठीक मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलेगी। इस दृष्टि से कुछ व्यावहारिक बातें नीचे लिखी जा रही हैं—

(१) आप अभिभावक के रूप में अपने बच्चों में अध्यापक समुदाय के प्रति सम्मान भाव पैदा कीजिए। जब वह स्कूल जाने लगे और विकसित अवस्था में हो, तो आप उसे सदैव समझाते रहें कि शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसे अपने सब अध्यापकों के प्रति श्रद्धाभाव रखना आवश्यक है। यदि वह स्कूल में किसी शिक्षक के प्रति अशिष्ट व्यवहार करेगा तो उसकी हानि होगी। उचित सम्मान-शिष्टता की प्रेरणा आप बच्चे को देते रहें। यदि कभी बुरी सोसायटी में फँसकर आपका बच्चा विद्यालय में कोई अशिष्ट कार्य कर बैठे, तो उसकी सूचना पाते ही आप उसे सख्त शब्द कहें, सजा भी दें और स्वयं अपने साथ उसे स्कूल ले जाकर प्रधानाचार्य एवं सम्बन्धित अध्यापकों से क्षमा-याचना करें।

(२) हड़ताल, आन्दोलन या इस प्रकार की सामूहिक विघटनकारी कार्यवाहियाँ बच्चे स्कूलों एवं कॉलेजों में करते रहते हैं। इससे उनका स्कूल से निष्कासन भी हो जाता है या उनका नाम काली सूची में लिख लिया जाता है। आजकल बच्चे राजनैतिक दलों के बहकावे में आकर इस प्रकार की अनियमित कार्यवाहियाँ कर बैठते हैं क्योंकि राजनैतिक दल को स्वार्थ साधन का अवसर मिलता है और अल्पायु बच्चे शीघ्र बहकावे में आ जाते हैं। बच्चों में दलबन्दी, उच्छृंखलता आदि से एक विष फैलता है। उनका ध्यान पढ़ाई की ओर से हटकर अन्यत्र चला जाता है। यह सब बच्चों के लिए हानिप्रद है। इसका प्रभाव बच्चों के भावी जीवन पर पड़ता है। अतः आप इस दिशा में पूर्ण सतर्क रहें। अपने बच्चे को किसी भी दलबन्दी में शामिल होने की अनुमति न दें। यदि वह आपकी जानकारी में किसी सामूहिक विघटनवादी प्रक्रिया में हिस्सा लेता है अथवा रुचि दिखाता है, तो आप उसे इन सबकी हानियों से उसको अवगत करा दें।

(३) परीक्षा पास करने के प्रमाण-पत्र के साथ बच्चे के स्कूल जीवन के रहन-सहन, व्यवहार एवं चरित्र के सम्बन्ध में विद्यालय का प्रधानाचार्य 'चरित्र प्रमाण-पत्र' देता है। इस प्रमाण-पत्र की बड़ी मान्यता होती है। यदि प्रधानाचार्य किसी विद्यार्थी के चरित्र को सन्देहास्पद अथवा असन्तोषजनक लिख दें, तो उस विद्यार्थी का नाम किसी विद्यालय में नहीं लिखा जा सकता है और न नौकरी के किसी चुनाव में ही वह चुना जायेगा, भले ही अच्छे अंकों से क्यों न परीक्षा पास की हो ? बच्चे के भावी जीवन के लिए 'चरित्र प्रमाण-पत्र' बड़े महत्व का होता है। चूँकि साधारणतया प्रधानाध्यापक अच्छे चरित्र का प्रमाण-पत्र दे देते हैं, इसीलिए अभिभावकों एवं बच्चों को इसका महत्व कम प्रतीत होता है। अभिभावकों को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उनके बच्चे को अच्छा प्रमाण-पत्र मिले। इसके लिए उन्हें कभी-कभी विद्यालय जाकर प्रधानाचार्य एवं सम्बन्धित अध्यापकों से मिलते

रहना चाहिए और जहाँ एक ओर से बच्चे की पढ़ाई की जानकारी करें, तो चरित्र एवं व्यवहार के सम्बन्ध में भी पूछताछ अवश्य करें। बच्चे के सामने ही उन्हें अध्यापकों से पूछना चाहिए कि क्या वे बच्चे के व्यवहार से सन्तुष्ट हैं ? इससे बच्चे में भय भी पैदा होगा कि यदि कहीं मैंने किसी मास्टर साहब के प्रति कोई अशिष्ट व्यवहार किया, तो इसकी सूचना तो पिताजी को मिलेगी ही, फिर मैं दण्ड से नहीं बच सकता।

(४) सबसे बड़ा उपाय यह है कि आप स्वयं शिक्षक समुदाय के प्रति आदर भाव रखें। अपने घर में अथवा सार्वजनिक रूप से अध्यापक समुदाय की आलोचना न करें। ऐसी बात आप कभी अपने मुँह से न निकालें, जिससे शिक्षकों की प्रतिष्ठा पर आँच आती हो। यह सम्भव है कि कभी आप किसी अध्यापक विशेष के व्यवहार से सन्तुष्ट न हों अथवा उसने आपके बच्चे के साथ किसी प्रकार की ज्यादाती की हो, ऐसी स्थिति में आपका कर्तव्य हो जाता है कि आप प्रथम तो उसी अध्यापक से मिलकर अपने भ्रम को दूर कर लें, यदि उससे भी आपकी शंका बनी रहे, तो आप अपनी शिकायत मुख्याध्यापक अथवा उच्चाधिकारी तक पहुँचा सकते हैं। लेकिन इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लेना है कि एक अध्यापक की भूल का दोष सम्पूर्ण अध्यापक समुदाय पर नहीं मढ़ा जा सकता। सारे अध्यापकों की खुली निन्दा, उपहास आपको नहीं करना चाहिए, विशेषतया बच्चे के सामने तो उस अध्यापक के बारे में कोई भी अपमानसूचक शब्द नहीं कहना चाहिए। इससे बच्चे के हृदय से अध्यापकों के प्रति सम्मान-भाव उठ जायेगा। एक से बिगड़ी बात सबके लिए लागू नहीं होती है।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने पैसे अथवा पद के मान, अभिमान में मदास्थ होकर बच्चों की छोटी शिकायतों पर विश्वास करके अध्यापकों के प्रति अपशब्द लिखने लगते हैं या उनकी शिकायतें करने लगते हैं। उन्हें चाहिए कि विवेकसंगत मार्ग को अपनायें। यदि कोई बात ऐसी उठे, तो उसे ठीक प्रकार से समझ लें। उदाहरण के लिए यदि आपका छोटा बच्चा रोता हुआ आपके पास पहुँचा और शिकायत की कि मास्टर साहब ने हमें मारा है, तो आप तब में आकर स्कूल पहुँचे और बिना सही बात का पता लगाये मास्टर साहब से झगड़ा करने अथवा उन्हें डाँटने-डपटने को तैयार हो गये। यह एक गलत तरीका है। इससे अध्यापक का सम्मान घटता है। आपकी विवेकहीनता मालूम होती है और इन दोनों का कुप्रभाव आपके बच्चे पर पड़ता है।

आज के युग में अध्यापक समुदाय सबसे दीन-हीन, गरीब और कमजोर समझा जाता है। इसी कारण योग्य वर्ग इसकी ओर शीघ्र आकर्षित नहीं होता। किसी पढ़े-लिखे को जब तक दूसरे विभाग में नौकरी मिलने की लेशमात्र भी

आशा रहती है, वह शिक्षण व्यवसाय की ओर आकर्षित नहीं होता। जब वह चारों ओर से निराश हो जाता है, तो विवश होकर अन्त में अध्यापक बनने की चेष्टा करता है और बनने के बाद भी यदि उसका चुनाव किसी सरकारी नौकरी में हो गया, तो चाहे कम वेतन ही हो, वह त्याग-पत्र देकर वहीं चले जाना पसन्द करेगा।

इसका पूरा दोष हमारी समाज व्यवस्था का है। जनसाधारण में इसी हेतु अध्यापकों की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। बच्चों से यह स्थिति छिपी नहीं रहती, तो फिर जब समाज में उनका हल्कापन है तो बच्चे कैसे उनके प्रति उच्च आदर भाव बना सकते हैं ? अतएव इस दयनीय स्थिति को बदलने और इसमें आवश्यक सुधार लाने के लिए अभिभावकों को प्रयत्नशील होना चाहिए। नेता, अधिकारी, कर्मचारी एवं जिम्मेदार व्यक्ति सब ही तो अपने बच्चों के अभिभावक हैं। उन सबको मिलकर अध्यापकों के उचित अधिकार एवं पद को दिलाना चाहिए। इससे शिक्षा का स्तर उठेगा। तभी बच्चों में आदर-भाव पैदा होगा।

भावी पीढ़ी को अनुशासित, विनम्र एवं श्रद्धा-भाव से ओत-प्रोत होना चाहिए। इसकी नींव घर के साथ-साथ विद्यालय में रखी जाती है। यदि आप उसे इस आयु में अपने अध्यापकों के प्रति श्रद्धावान बनायेंगे तो आगे चलकर वह आप और घर के सभी बड़े-बूढ़ों के प्रति विनम्र और शिष्ट रहेगा, जिससे आपको अपनी सन्तान से जीवन भर सुख मिलेगा।

बालकों की शिक्षा और संस्कृति

अंग्रेजी शासन की जिन दिनों स्थापना हुई थी, उन दिनों उन्हें अपना तन्त्र चलाने के लिए अंग्रेजी पढ़ने की आवश्यकता थी। स्कूल कम थे। जो लड़के पास होकर निकलते थे, उन्हें तत्काल नौकरी मिल जाती थी। मन्दी के जमाने में नौकरी वाला नफे में रहता था। रुतवा बढ़ता था, सो अलग। उस समय की और आज की परिस्थितियों में जमीन-आस्मान जैसा अन्तर है पर हमारे सोचने के तरीके में अभी भी अन्तर नहीं आया है।

हर साल ग्रेजुएट लड़के लाखों की संख्या में निकलते हैं, उन्हें नौकरी कहाँ मिले? कौन नौकर रखे ? फिर महंगाई का जो दौर है, उससे आधा-तिहाई वेतन तो मकान किराये में निकल जाता है। शेष में सफेदपोशों के बीच सफेदपोशों का तौर-तरीका अपनाकर गुजारा करना कठिन पड़ता है। फिर घर वाले भी यह आशा करते हैं कि ग्रेजुएट बनने में जो पूँजी लगी है, वह ब्याज समेत बीस-तीस हजार से कम नहीं लगी होती उसका मूलधन न सही, ब्याज तो लौटना ही चाहिए। उधर जब गुजारा कठिन पड़ रहा है तो घर के लिए कहाँ से भेजा जाये ? न भेजने पर छोटे सभी लड़के बागी होते हैं और चित्र-विचित्र तर्कों के सहारे वे भी ग्रेजुएट बनकर

कम से कम दो लाभ तो उठाना ही चाहते हैं। एक तो कम पढ़ों के सामने अपनी योग्यता का बखान करना और इसी आड़ में किसी खाते-पीते घर की लड़की देहज समेत हथिया लेना।

सच बात यह है कि आज की परिस्थितियों में ऊँची शिक्षा दिलाना और उपयुक्त नौकरी दिलाने के लिए पढ़ाई के समतुल्य ही रिश्वत देने का इन्तजाम करना, यह हर किसी के बूते की बात नहीं रही। चपरासियों की जगह खाली होने पर ग्रेजुएटों की अर्जियों का ढेर लग जाता है। उनमें से भी किसी एकाध का तुक बैठता है, शेष इसी प्रतीक्षा में निर्धारित आयु समाप्त कर बैठते हैं। जन्मभर मेहनत करने का अभ्यास न होने से घर का कृषि, शिल्प आदि का काम बन नहीं पाता। सरकार से कर्ज लेकर कोई धन्धा आरम्भ करने पर ऐसे लोग १९ प्रतिशत असफल होते हैं। यह मान्यता असत्य नहीं है कि साहब लोग हुकम चला सकते हैं, कलम घिस सकते हैं, पर व्यापार नहीं कर सकते। उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा हाथ में लिया हुआ बस व्यवसाय, स्कूटर निर्माण, चीनी मिल आदि निरन्तर घाटा दे रहे हैं। ऐसी दशा में अनुभवहीन कॉलेजों के लड़के कर्ज लेकर कोई व्यवसाय सफल कर सकेंगे, यह आशा करना दुराशा मात्र है। जमानत में गिरवी रखी हुई घर की जमीन नीलाम होने की नौबत आती है और सारा घर हैरान होता है।

स्थिति को देखते हुए हर अभिभावक को सोचना चाहिए कि लड़कों को ऊँची पढ़ाई पढ़ाना उनके भाग्य के साथ जुआ खेलना है। जुए में भी कमाते कम और हारते ज्यादा हैं। यही बात लाटरी के सम्बन्ध में भी है और ऊँची नौकरी के सम्बन्ध में भी। इसलिए अच्छा हो कि औसत दर्जे के स्नेह-मैट्रिक तक, तब तक पढ़ाएँ, जब तक लड़का १८ वर्ष का नहीं हो जाता। इसके बाद किसी कारोबार में लगा देना चाहिए। अच्छा यह है कि नया धन्धा ढूँढ़ने की अपेक्षा पैतृक धन्धा अपनाया जाये। व्यापार में अनुभव मुख्य है। वह अनुभव अभ्यास से बढ़ता है। धन्धा कारोबार पढ़े-लिखे लड़कों से वही कराना चाहिए जिससे उनके सलाहकार, सहायक समय-समय पर सही सलाह दे सकें और अनुभवहीनता के कारण जो कठिनाइयाँ आती हैं, उनसे पार होने का तरीका बता सकें। अब हर किसी को यह समझ लेना चाहिए कि कड़े परिश्रम को अपनाये बिना पार होने का कोई चारा नहीं। पंखे के नीचे, कुर्सी-मेज पर बैठकर साहब बनने और मजा उठाने का जमाना अब चला गया। रिश्वत, बेईमानी के बल पर ही गुलछर्रे उड़ाये जा सकते हैं पर उसका जमाना अब तेजी से जा रहा है। अब समझदारी और मेहनत के सहारे ही कोई अपनी जिन्दगी पार कर सकेगा। अभिभावकों का कर्तव्य है कि कच्ची उम्र के अपने लड़कों को इसी प्रकार का उचित परामर्श दें। उनके बालहठ पर ध्यान न दें।

कन्याओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। आमतौर से उन्हें गृहस्थी चलानी होती है। परिवार के साथ निर्वाह उनका सबसे बड़ा गुण है। अपना शरीर, दाम्पत्य जीवन, शिशु पोषण, अर्थ-व्यवस्था इन्हीं के आधार पर कोई लड़की गृहलक्ष्मी बनती है और सबका सम्मान पाती है। आज की कॉलेज-शिक्षा में इन नितान्त आवश्यक विषयों का कोई समावेश नहीं है। कॉलेज में पैर रखते ही उनके दिमाग में मेमसाहब बनने, किसी अफसर की पत्नी बनकर मोटरकार में उड़ी फिरने के सपने घूमने लगते हैं। किन्तु साधारण गृहस्थी में जब उन्हें वैसा वातावरण नहीं मिलता तो उनकी मनःस्थिति असंतुलित हो उठती है। हिस्टीरिया, हत्याएँ, आत्महत्याएँ ऐसी ही उद्दिग्न मनःस्थिति में होती हैं—तलाक़े भी।

इसलिए कन्या-शिक्षा के सम्बन्ध में भी आज के अभिभावकों को नये सिरे से विचार करना चाहिए। अठारह वर्ष की आयु में प्रायः मैट्रिक हो जाती है। इससे कम आयु की किसी लड़की को विवाह करना भी नहीं चाहिए अन्यथा वह अपना स्वास्थ्य भी गँवा बैठेगी और प्रतिभा भी। इसके उपरान्त उसे क्या करना है ? यह निश्चय करना चाहिए। विवाह करना हो तो मध्यवर्ती परिवार में निर्वाह करने का—हाथ बँटाने का सलीका सीखना चाहिए। नौकरी करनी हो तो विवाह के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। बड़ी नौकरियों की बात दूसरी है अन्यथा अध्यापिका स्तर की मामूली नौकरी करते हुए गृहस्थ का संचालन और बच्चों का परिपोषण बहुत भारी पड़ता है और घोषित या अघोषित तलाक़ की नौबत आ जाती है।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि भारत की परिवार व्यवस्था में फिट होने और उसे उच्चस्तरीय बनाने की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। तथाकथित गुरुकुलों में भी नहीं। ऐसी दशा में अच्छा हो कि सुलक्षिणी महिलाएँ ही सयानी कन्याओं को गृहलक्ष्मी बनाने का पाठ्यक्रम स्वयं चलायें और विभिन्न परिस्थितियों में आने वाली विभिन्न घटनाओं को, मोड़-मरोड़ों को सुलझाने की विधि-व्यवस्था सिखाएँ। ऐसी शिक्षा, कहीं बन पड़े तो किसी अच्छे अनुशासन के अन्तर्गत उसे चलाने का प्रबन्ध करना चाहिए। यों सुसंस्कृत परिवारों की रीति-नीति से अवगत होने के उपरान्त चतुर लड़कियाँ स्वयं भी अपने जीवन की रूपरेखा बना लेती हैं। सुसंस्कारिता की ओर ही हर लड़की का ध्यान मोड़ा और महत्त्व समझाया जाना चाहिए।

विवाह योग्य लड़की को समझाया जाना चाहिए कि सिनेमाओं में देखा गया या दिखाया गया स्वप्नलोक नितान्त अवास्तविक और अव्यावहारिक है। उसी प्रकार लड़ू होकर लड़की स्वयं देखकर पसन्द करने की बाल हठ के पीछे अँधी दौड़ नहीं दौड़नी चाहिए। भारत में मध्यम स्तर का रंग-रूप ही लड़कियों का होता है। उसकी गरिमा सुसंस्कारिता पर निर्भर है। नृत्य-गायन पर नहीं। उन्होंने यदि परलोक के सपने सँजो रखे होंगे तो व्यावहारिक धरातल

पर उतरते ही प्रतीत होगा कि उनके बच्चे गृहस्थ जीवन में जिस शालीनता की आवश्यकता है, उससे वंचित रहेंगे और ठोकड़ों पर ठोकड़ें खाते फिरेगे।

दहेज, दिखावा, शान से तो दूर रहना चाहिए पर सुसंस्कारी घर-परिवार पसन्दगी का केन्द्र-बिन्दु बनाना चाहिए। अत्यधिक ऊँचे या अत्यधिक नीचे परिवारों की लड़कियाँ गृहस्थी को उस तरह नहीं चला पातीं जिस प्रकार कि सभ्य समुदाय में चलना या चलाया जाना चाहिए। इस प्रकार लड़की तलाश करते समय उसका स्वभाव देखना चाहिए। यह शिक्षा, सम्पदा दोनों से अधिक बहुमूल्य है। ऐंठ, अकड़, शेखीखोर, नशेबाज, कुसंगी लड़के भले ही उच्च शिक्षित हों या धनवान, उन्हें कानी-कौड़ी जितना भी महत्त्व नहीं देना चाहिए। संस्कारवान, सहनशील, हँसमुख, मितव्ययी, पश्चिमी, दूरदर्शी लड़के ही गृहस्थ जीवन को सही तरीके से चला या निभा पाते हैं।

बालकों को जन्म ही न दीजिए उनका निर्माण भी करिए

मनोवैज्ञानिकों ने अनेकों परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि बालक के व्यक्तित्व निर्माण की आधारशिला उसके जीवन के प्रथम पाँच वर्ष होते हैं। इस समय जो भी संस्कार उसके मानस-पटल पर बन जाते हैं—उन्हीं का भविष्य में विकास होता है। अतएव ये प्रारम्भिक वर्ष माता-पिता, अभिभावकों की कसौटी स्वरूप ही होते हैं। परिवार का जैसा वातावरण वे बनाये रखेंगे, शिक्षा-दीक्षा बच्चे को देंगे—वही भविष्य में उभरकर सामने आयेगी।

केवल बच्चे पैदा करके ही माता-पिता के कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती अपितु बालक के जन्म के पश्चात् उनकी कर्तव्य-कसौटी समुख आती है। बच्चे उत्पन्न करना तो सरल है परन्तु उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास करना—उन्हें सदगुणी, सदाचारी, सुकर्तव्यवान नागरिक बनाना अत्यन्त श्रम तथा कष्टसाध्य है। लेकिन उत्तरदायी माता-पिता बालकों पर प्रारम्भ से ही सुसंस्कार डालने में, समुचित शिक्षा-दीक्षा देने में सचेष्ट, सजग रहते हैं।

प्रायः बालक एक वर्ष की आयु तक अपने चारों ओर के पर्यावरण को देखने-समझने लगता है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होने लगता है परिवार के लोगों से हिलता-मिलता जाता है। परिवार के पर्यावरण का, उसके सदस्यों का प्रभाव बच्चे के ऊपर अपरिहार्य रूप से पड़ता है। उसकी ग्रहणशक्ति अत्यन्त तीव्र होती है तथा उचित-अनुचित का ज्ञान न रहने के कारण जो कुछ भी वह देखता है—सीखता जाता है। अतएव अभिभावकों का यह प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि बच्चे को समुन्नत बनाने से पूर्व वे स्वयं अपने आचार-व्यवहार को सुधारे तथा उसके सम्मुख कोई भी अवांछनीय व्यवहार न करें।

ज्यों-ज्यों शिशु बढ़ता जाता है उसे भी बड़ों की भाँति साधियों की तलाश रहती है। बालक के प्रथम साथी बनते हैं खिलौने। यों अधिकांशतः माता-पिता खिलौने को मनोरंजन का साधनमात्र कहकर उनके चयन में उपेक्षा बरतते हैं तथा उन पर तनिक भी धन व्यय करना अनावश्यक भार मात्र ही समझते हैं। परन्तु यह वृत्ति उचित नहीं है।

खिलौने के माध्यम से बच्चों को सरलता से जीवनोपयोगी वस्तुओं का ज्ञान कराया जा सकता है तथा उसकी रुचि-रुझान को अभिप्रेत दिशा में मोड़ा जा सकता है। अमेरिका आदि प्रगतिशील देशों में अभिभावक छोटे-छोटे बालकों को खिलौने के माध्यम से विविध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करा देते हैं तथा अनेक जीवनोपयोगी वस्तुओं का परिचय कराते हैं परिणामतः बालक अल्पायु में ही व्यावहारिकता में पारंगत बन जाते हैं।

थोड़ा बड़ा होने पर बच्चे अपने हमउम्र बालकों के साथ खेलने में रुचि लेने लगते हैं तथा खिलौनों के प्रति उनका आकर्षण कम हो जाता है। वस्तुतः यह देखा जाये तो बालक के सामाजिक विकास में समवयस्क साधियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण हाथ रहता है। उनके साथ जहाँ वह विभिन्न खेल सीखता है—वहाँ दूसरी ओर बहुत सारी सामान्य जानकारीयों भी प्राप्त करता है। मित्रों से वह खुलकर विविध विषयों पर वार्तालाप करता है तथा उनके दृष्टिकोण से परिचित होता है। साधियों के बीच में रहते हुए बालक में उदारता तथा मिल-जुलकर कार्य करने की वृत्ति भी आती है।

बालक जैसे साधियों में रहता है, वैसा प्रभाव उस पर पड़ता है। माता-पिता का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे बालक के लिए उचित साधियों का चुनाव करें। अभिभावकों को चाहिए कि वे न केवल अपने बालक को ही अपितु बालक के मित्रों को, पड़ोसी बच्चों को भी शिष्टाचार सिखायें तथा उनकी रुचियों को परिष्कृत करें। आज के बालक ही कल राष्ट्र के कर्णधार बनेंगे। अतएव उन्हें सममार्गगामी, सद्गुणी, सचरित्रवान बनाना राष्ट्र की महती सेवा है।

सन्तान को जन्म ही नहीं, संस्कार भी दें

संस्कारवान माता-पिता बच्चों के चरित्र की नींव बाल्यावस्था में ही डालते हैं, जबकि दिक्भान्त कर आचरणहीन बनाने में भी प्रमुख हाथ उन्हीं का रहता है। उनके निर्माण में सबसे बड़ा हाथ अभिभावकों का है। बच्चों के स्थूल शरीर तथा संस्कार उन्हीं से पूर्णरूपेण प्रभावित रहते हैं। कोई भी बच्चे न तो जन्मजात महापुरुष होते हैं, न असफल व्यक्तित्व। ये दोनों ही परिस्थितियाँ

बाल्यावस्था की नींव के आधार पर विकसित होती हैं, जो परिवार की छत्रछाया में सजती, सँवरती हैं।

बच्चों में नया उत्साह रहता है इसे चाहे जिस दिशा में नियोजित किया जा सकता है। एक पक्ष सृजनात्मक है, दूसरा ध्वंसात्मक। वर्तमान समाज के निर्माण में उनसे नयी आशाएँ की जा सकती हैं, तो इसके विपरीत इनकी वृद्धि करने की परिस्थितियाँ भी निर्मित हो सकती हैं। यह उनकी दिशा-निर्देशन पर आधारित है। रचनात्मक दिशा के अभाव में यह शक्ति भटककर निरर्थक ही व्यय हो जाती है। अभिभावकों द्वारा घर की पाठशाला में इसके सदुपयोग हेतु प्रयास किया जा सकता है, जो आज आवश्यक है। नवयुवकों में बढ़ी हुई उच्छृंखलता, उद्दण्डता, अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचारिता एवं बुराइयों को उत्पन्न होने का मूल कारण अन्यत्र नहीं उसके अभिभावक में है। यह उनकी सन्तान के प्रति गैर जिम्मेदारी का ही प्रतिमान है।

सन्तान की अनैतिकता, उद्दण्डता का रोना रोने वाले अभिभावकों की कमी नहीं है। वे इसका दोष सामाजिक वातावरण पर मढ़कर स्वयं पाक साफ बचना चाहते हैं। किन्तु समाज का यह दूषित वातावरण कहाँ से आ टपका ? आखिर जो इसे दोषी ठहराते हैं उनका भी तो सहयोग इसमें अभिन्न रूप से जुड़ा है। सभी अभिभावक इस ओर ध्यान दें और स्वयं ही जिम्मेदारी समझते हुए अपनी सन्तान को सही दिशा देने लगें तो आज की निम्न प्रतिकूल अवस्थाएँ स्वयमेव ही अनुकूल बन जायेंगी।

बाल-सुलभ चपलता के कारण बच्चे तो स्वतन्त्रता पसन्द करते हैं। अभिभावकों की ओर से उन्हें आजादी दिया जाना जितना आवश्यक नहीं उतना उनके भविष्य के प्रति सतर्क रहना। इस दिशा में उदासीनता का दुष्परिणाम स्वयं बच्चों के अभिभावकों को भी भुगतना पड़ता है। अतः इन्हें आजादी के साथ उनकी दिनचर्या के प्रत्येक क्रिया-कलापों का निरीक्षण उनमें आवश्यक सलाह, उनकी सूझ-बूझ को प्रोत्साहन देते रहना तथा अपनी रुचि रखना उनके निर्माण हेतु महत्वपूर्ण है। बाल अनुशासन के नाम पर मात्र कुछ नियमों का बना देना तथा उन पर कर्तव्यों का भार लाद देना ही पर्याप्त नहीं। हमेशा ही निषेधात्मक प्रक्रिया अपनाते रहने से उनमें मानसिक कुण्ठा बन जाती है। समय-समय पर अच्छे कार्य किये जाने पर प्रशंसा तथा पुरस्कार आदि देना इस दिशा में प्रोत्साहन के लिए जरूरी है।

बच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति सहज होती है। उनको उपदेश से नहीं अपने व्यवहार से भी शिक्षा दी जा सकती है। विकृत व्यवहारों का प्रशिक्षण भी वे अपने अभिभावकों से सीख लेते हैं। अतः उनके उचित-अनुचित निर्माण में माता-पिता का पूर्ण उत्तरदायित्व है। बहुत-से माँ-बाप बच्चे को पैदा करके उनके खिलाने-पिलाने तथा पढ़ने भेज देने में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझते

हैं। खिलाना-पिलाना तथा बच्चों का संरक्षण तो पशु भी करते हैं, मानवता इससे ऊँची है। वह सुसंस्कारों में निहित है। यह अधिकतर उपेक्षित रहती है। कुसंस्कारी सन्तान से नहीं, सुसंस्कारी से माता-पिता के गौरव की बात है। उनके आत्म-सम्मान की भी। इसके लिए प्रारम्भ से ही उन्हें सजग रहना चाहिए और अपने निश्चित दायित्वों का अनिवार्य रूप से पालन करना चाहिए।

बालकों का चारित्रिक विकास

सद्गुणों से

बच्चों के शारीरिक, मानसिक एवं शैक्षणिक विकास के लिए माता-पिता जितने प्रयत्नशील रहते हैं, उतना ही उन्हें उसके चारित्रिक विकास पर ध्यान देना चाहिए। बड़े होने पर जिन गुणों और अवगुणों को हम खिले फूल के समान देखते हैं—उनका बीजारोपण बचपन में ही होता है। चरित्र पर वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है। माता-पिता के रूप, गुण और स्वभाव को बच्चा जन्म से ही लेकर उत्पन्न होता है। यह दूसरी बात है कि अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण के कारण वे अधिक विकसित हों या मुरझा जायें। इसलिए इस बात की बहुत आवश्यकता है कि चरित्र की बुनियाद ऐसी मजबूत और सुन्दर डाली जाये कि आगे जाकर उसका उपयुक्त विकास हो सके।

बचपन से ही इस पर समुचित ध्यान न देने का कुपरिणाम यह होता है कि बच्चों में अनेक दुर्गुणों का समावेश हो जाता है। माता-पिता की अधिक लापरवाही, भूल और अधिक लाड़-प्यार या कठोरता से भी छोटा बच्चा भी जिद्दी, भोंदू, चिड़चिड़ा, स्वार्थी, डरपोक तथा क्रोधी बन जाता है। पिता क्रोधित होकर बच्चे को बिगाड़ने का सारा दोष माता पर मढ़ने लगता है और माता अपने को निर्दोष साबित करके पिता पर सारा दोष लगाती है।

बच्चे करखाने के पुर्जे नहीं हैं, इसलिए एक विशेष नमूने के अनुसार उनके चरित्र को ढालने की बात सोचना उपयुक्त नहीं, साथ ही गुण, कर्म, स्वभाव में बच्चा एक-दूसरे से मिलता नहीं है। इसलिए माँ-बाप को चाहिए कि उसकी विशेषताओं का अध्ययन करके इस बात की चेष्टा करें कि उन्हीं के आधार पर अपने चरित्र को इस तरह ढालें कि वह अपने घर में, समाज में एक उपयोगी व्यक्ति प्रमाणित हो सके। उपयोगी, आदर्श नागरिक एवं परिजन बनने के लिए दया, विनम्रता, निःस्वार्थता, सहनशीलता, धीरता, दूसरे के अधिकारों के प्रति सम्मान और सहानुभूति की भावना आदि गुण आवश्यक हैं। उन सद्गुणों का बालकों में आरोपण करने का उत्तरदायित्व अभिभावकों पर ही होता है।

जिस घर में माता-पिता में परस्पर प्रेम और सहयोग है, अन्य बच्चे तथा परिजन आपस में सहयोग और मेल से रहते हैं, जिस घर में व्यवस्था और शान्ति है, वहाँ बच्चे के चरित्र का विकास सहज रूप से होता है, परन्तु जिस घर पर अनियमित दिनचर्या चलती है एवं स्थिति डावाँडोल रहती है, वहाँ बच्चों के चरित्र का विकास अधूरा रह जाना स्वाभाविक है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे समाज में ही रहना होता है। वह घर और समाज में ठीक से निभ सके, अपने सहयोग से जीवन को सुखी बनाये, आस-पास भी प्रसन्नता बिखरे इसी में उसके जीवन की सफलता है। इसी ध्येय की प्राप्ति की दृष्टि से अभिभावकों एवं अध्यापकों को मिलकर बच्चे का चरित्र निर्माण करना होगा। उसमें निम्नलिखित गुण पैदा करने का प्रयास बचपन से ही किया जाना चाहिए।

१. सदा प्रसन्न रहना—प्रसन्न बच्चे हमेशा स्वस्थ रहते हैं, जबकि चिड़चिड़े बच्चे हमेशा रोगी ही दीखते हैं। जहाँ माता-पिता बच्चे के स्वास्थ्य की चिन्ता करते हैं, वहाँ वे इस बात की भी चेष्टा करें और साधन जुटाएँ कि बच्चे के आस-पास का वातावरण प्रसन्नता बढ़ाने वाला हो। उसको हँसायें, खिलायें तथा सिखायें कि किस प्रकार प्रसन्न रहा जाता है ?

२. साहस—प्रायः माताएँ बच्चों को रोने, ज़िद करने, अपनी बात मनवाने आदि के समय कल्पनिक हौआ जुजू, भूत, प्रेत, कुत्ता-बिल्ली, सिपाही आदि से डराती हैं। मन पर भय का आतंक बन जाने से वह सदा के लिए डरपोक बन जाता है। साहस का उसमें अभाव हो जाता है। ऐसे बच्चों से भला समाज के आदर्श नागरिक बनने की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

३. निःस्वार्थता—बच्चे को स्वार्थी और मतलबी बनने की सीख नहीं देनी चाहिए। इससे वह अपने बहिन-भाइयों से और बड़े होकर माँ-बाप से भी चालाकी करने लगता है। संकीर्ण स्वार्थपरता मनुष्य को हेय-स्तर का बनाती है। परिवार में विघटन का प्रमुख कारण उसके सदस्यों की बढ़ी हुई स्वार्थपरता ही होती है। इसके लिए वह ज्यों-ज्यों बड़ा हो उसे अपने संगी-साथियों और अड़ोस-पड़ोस के संग मिलकर अपने खिलौनों से खेलना सिखाया जाय। उसके हाथ से अन्य बहिन-भाइयों और साथियों को मिठाई, प्रसाद या उपहार बँटवाया जाय। सुख-दुःख में एक-दूसरे की मदद करने की प्रेरणा दी जाय। इन सबसे उसमें निःस्वार्थता का विकास सुगमता से किया जा सकता है।

४. दया और सहानुभूति—कई बच्चों को लँगड़े-लुले व जानवरों या मोहताज भिखमंगों को परेशान करने में आनन्द आता है। किसी पगली या अन्धी बुढ़िया को सब मिलकर परेशान करते हैं। बच्चों की ऐसी वृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। पशु-पक्षी पर दया करना

अथवा किसी असहाय की मदद करना उन्हें सिखाया जाय। दया और परोपकार की वृत्ति की कहानियों आदि के माध्यम से बच्चों में विकसित करने का प्रयास करना चाहिए।

५. **उत्साह और दिलचस्पी**—बालक अपनी दिनचर्या, खेल-कूद, कपड़े, खिलौने, खान-पान आदि में दिलचस्पी लें इसके लिए प्रत्येक कार्य को मनोरंजक और आकर्षक बनाया जाय अन्यथा बच्चों में सुस्ती आने लगती है उनमें प्राकृतिक सजीवता व जिन्दादिली नहीं रह जाती। वे निराशावादी होकर प्रत्येक कार्य को अनुत्साहपूर्ण ढंग से करने लगते हैं। आगे चलकर थोड़ी-सी भी असफलता उनके लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में अवरोधक बन जाती है, उनमें खिलाड़ी स्प्रिट जाग्रत करनी चाहिए।

६. **आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्भरता**—योग्यता होते हुए भी आत्मविश्वास के अभाव में बच्चा यत्न नहीं करता। अपने साथियों में वह झेंपू, चिपकू और पिछड़ा हुआ रहता है। बच्चा जितना अधिक आत्मनिर्भर होगा उसका आत्मविश्वास उतना ही बढ़ता जायेगा। अतः बच्चे में स्वावलम्बन वृत्ति को विकसित करके उसे आत्मनिर्भर व आत्मविश्वासी बनाने का प्रयास किया जाय।

७. **नेतृत्व गुण का विकास**—बच्चे में इस गुण के विकसित हो जाने से उसका झेंपू और दबूपन दूर हो जाता है। बच्चे को दम्भी तो न बनने दिया जाय, पर उसके आत्म-सम्मान को आघात न पहुँचाया जाय। उन्हें अपनी योग्यता के प्रदर्शन के लिए प्रोत्साहित किया जाय, हर समय किसी का पिछलग्गू बनने से बच्चे का व्यक्तित्व छिप जाता है और तरक्की रुक जाती है।

८. **सद्गुणों का विकास**—बच्चे में सद्गुणों का विकास हो, वे चरित्रवान बनें इसके लिए घर के वातावरण, बड़ों के उदाहरण तथा बच्चों की संगति इन तीनों को विशेष महत्त्व देना होगा, क्योंकि ये ही चरित्र-विकास की आधारशिला हैं। बच्चे को कड़े नियमों से जकड़ने के बदले प्रेम से अनुशासन सिखाना अधिक कल्याणकारी है। इसके अतिरिक्त स्वच्छता, व्यवस्थाप्रियता, समय पर काम करना आदि बातें भी बच्चों को बचपन से ही सिखायी जानी चाहिए।

प्रायः माता-पिता बच्चे के शारीरिक-स्वास्थ्य की ओर सजग रहते हैं, किन्तु उसके मानसिक स्वास्थ्य को परखने की चेष्टा नहीं करते। जिस प्रकार शारीरिक बल, शारीरिक स्वास्थ्य की भित्ति पर खड़ा रहता है, उसी प्रकार चरित्र की आधारशिला मानसिक-स्वास्थ्य है, वह जितना मजबूत होगा, बच्चे का चरित्र भी उतना ही दृढ़ होगा और उसमें सद्गुणों का सुन्दर विकास होगा। सद्गुणों का अभिवर्द्धन ही उत्कृष्टता की दिशा में बढ़ने का श्रेष्ठ-चरित्र निर्माण का सम्बल होता है। बच्चे में इनका समावेश किया जाना यदि सम्भव हो सके, तो उनका भविष्य उज्ज्वल समझा जा सकता है।

सत्य एवं शील

बाल-मनोविज्ञान के प्रसिद्ध यूरोपीय विशेषज्ञ डाक्टर नील ने अपनी पुस्तक बाल-समस्या में एक मनोरंजक घटना का वर्णन किया है। वह लिखते हैं कि एक व्यक्ति अपने बच्चे को मेरे पास लाया और कहने लगा कि इसे चोरी करने का दुर्व्यसन लग गया है, आप इसका सुधार करें। मैंने बच्चे के अध्ययन के लिए उसे अपने पास ठहरा लिया। मुझे मालूम हुआ कि बच्चे की आयु १३ वर्ष की थी। इसके बावजूद उसके पिता ने उसके लिए आधी टिकट खरीदी और रेलवे को जान-बूझकर धोखा दिया। यह लिखते हुए नील प्रश्न करता है कि जो बाप स्वयं अपने बच्चे के सामने झूठ बोलकर पूरे के बजाय आधी टिकट खरीदता है और रेलवे को धोखा देकर हानि पहुँचाता है, वह अपने बच्चे से यह गलत आशा क्यों करता है कि वह चोरी की आदत छोड़ दे।

हम यदि अपने दैनिक जीवन पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि हम स्वयं ही जान-बूझकर या अनजाने में अपने बच्चे को झूठ बोलने की शिक्षा देते हैं। उदाहरण के तौर पर, जब कोई ऐसा व्यक्ति हमारे घर आये जिससे हम मिलना नहीं चाहते तो हम किसी बच्चे के गुँह से कहलवा देते हैं कि 'घर नहीं है' यद्यपि हम उस समय घर पर ही होते हैं या कभी कोई व्यक्ति कोई वस्तु माँगने आता है, तो हम उसे कह देते हैं "यह तो अमुक व्यक्ति माँगकर ले गया है।" ऐसे अवसर पर हम यह नहीं सोचते कि घर में जितने बच्चे हैं, वे सब हमारे व्यवहार से झूठ बोलना सीख रहे हैं। मजे की बात तो यह कि हम दूसरों से नहीं स्वयं अपने बच्चों से भी झूठ बोलते हैं। झूठे वादे करते हैं और इस प्रकार उनके मन में यह बात बिठा देते हैं कि सत्य का कोई महत्त्व नहीं।

परन्तु यह हमें समझ लेना चाहिए कि आज का बच्चा ही कल का प्रौढ़ है और किसी व्यक्ति को सफलता इसी बात से नहीं मिल जाती कि उसने अपने स्वभाव के अनुकूल पेशा चुन लिया है। काम में प्रवीणता प्राप्त कर लेना भी सफलता के लिए पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक व्यवसाय के कुछ विशेष नियम और ढंग होते हैं, यदि उनका ध्यान न रखा जाए तो प्राकृतिक सुझाव और प्रवीणता आदि गुण कुछ सहायता नहीं कर सकते। बहुत सम्भव है कि इन गुणों के बावजूद भी असफलता का गुँह देखना पड़े और सारा जीवन दयनीय दशा में बीते। संसार केवल वह नहीं देखता कि कोई व्यक्ति अपने काम के विषय में कितनी निपुणता प्राप्त किए हुए है, वह यह भी देखता है कि वह अपने पेशे के व्यावहारिक नियमों से भी परिचित है अथवा नहीं।

कोई भी व्यवसाय हो उसे व्यापार से भिन्न नहीं समझा जा सकता। एक टोकरी उठाने वाला मजदूर भी

वास्तव में एक व्यापारी है। वह अपना शारीरिक श्रम बेचकर जीवनयापन करता है। दफ्तर में काम करने वाला क्लर्क भी एक व्यापारी है। वह अपने मानसिक परिश्रम का मूल्य लेता है और दुकानदार तो व्यापारी है ही। वह अपना माल देता है और दाम पाता है। इसी प्रकार वकील, डाक्टर, इंजीनियर सभी व्यापारी हैं। प्रत्येक व्यक्ति संसार की मण्डी में अपना माल बेचकर अपना पेट पाल रहा है। अतः यह कहना गलत नहीं कि व्यापार के नियम प्रत्येक पेशे के आधारभूत नियम होने चाहिए। किसी पेशे को इन नियमों से मुक्त नहीं कहा जा सकता।

ईमानदारी सर्वोपरि—व्यवसाय के व्यावहारिक नियमों के जिक्र में सर्वप्रथम स्थान ईमानदारी का है। इसलिए नहीं कि यह एक धार्मिक आज्ञा है और सभी धर्मों ने इसको बहुत महत्व दिया है, वेदशास्त्रों और धार्मिक ग्रंथों में सत्य की बड़ी महिमा गाई है, वरन् इसलिए कि ईमानदारी सर्वोत्तम नीति है। इससे ठोस और दृढ़ परिणाम निकलते हैं। इसमें उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है। ईमानदारी से अच्छा कोई विश्वास नहीं। इससे अच्छी कोई साख नहीं। यह मनुष्य के मानसिक और भौतिक विकास का अमूल्य नियम है।

संसार में ईमानदार व्यापारियों और कर्मचारियों की सदा माँग रही है। वह फर्म, वह दुकान, वह क्लर्क और वह मजदूर बड़ा भाग्यवान है, जिसके साथ बरतने वाले लोग उसे ईमानदार समझते हैं। असफलता अधिकतर उन्हीं लोगों के हिस्से में आती है, जो लेन-देन के खरे नहीं होते। जो अपने आसामियों, ग्राहकों और मालिकों को धोखा देते हैं। जो समय में, धन में, माल में बेईमानी को अपना स्वभाव बना लेते हैं।

कारोबार या पेशे का उद्देश्य लोगों को बुद्ध बनाकर अपना उल्लू सीधा करना नहीं है। यह ठीक है कि कुछ लोग चालाकी और धोखे से भी सफल हो जाते हैं। परन्तु उनकी सफलता वास्तव में कोई सफलता नहीं। एक पुरानी लोकोक्ति है और उसके ठीक होने में कोई सन्देह नहीं है कि “काठ की हाँडी बार-बार नहीं चढ़ती।” बेईमानी और धोखे का भाँडा एक न एक दिन अवश्य फूटता है।

एक वृद्ध व्यापारी को मैं वर्षों से जानता हूँ। उनका देहान्त हो चुका है। ईमानदारी उनके कारोबार का आधारभूत नियम था। वह अपने कारखाने में बढ़िया से बढ़िया माल तैयार करते थे। उनके पास जो ग्राहक आता वह बच्चा हो या बूढ़ा, अज्ञात व्यक्ति हो या अपना सम्बन्धी, सबके साथ समान व्यवहार करते। ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई प्रियजन उनके निश्चित दामों में कोई कमी करवाने में सफल हो सका हो। ऐसा भी कभी नहीं हुआ कि किसी अनजाने व्यक्ति से उन्होंने कभी अधिक दाम लिये हों।

लोगों को उनके तैयार किये हुए माल और उनके लगाए दामों पर पूरा भरोसा था। उनका प्रत्येक ग्राहक उनका चलता-फिरता विश्वास था। दूर-दूर से व्यापारी उनसे माल खरीदने के लिए आया करते थे और वह केवल इसलिए कि उनकी ईमानदारी प्रसिद्ध थी।

ईमानदारी मित्र बनाने में सहायता करती है और मित्र सफलता का मुख्य आधार समझे गये हैं। एक बार मेरे एक मित्र ने बताया कि वे एक बार एक पुस्तक विक्रेता की दुकान पर गये, उससे कुछ पुस्तकें खरीदीं। वापस आते समय वे अपना बहुमूल्य कलम उसकी दुकान पर भूल आये। उन्हें याद भी न रहा कि कलम कहाँ रखकर भूल गये हैं। कई सप्ताह बाद उन्हें फिर उस दुकान पर जाने का अवसर हुआ। दुकानदार ने उन्हें देखते ही मेज की दराज खोली और कलम निकालकर उनके हवाले कर दिया। मेरे मित्र के मन पर उसकी ईमानदारी का गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस घटना को कई वर्ष बीत गये परन्तु वे इसे आज तक नहीं भूले और न ही कभी भूल सकते हैं। साथ ही वे उस दुकानदार के स्थायी ग्राहक बन गये।

हम देखते हैं कि अंग्रेजी, जर्मनी तथा अमेरिकन माल की बाजार में बड़ी माँग रहती है। उनका मूल्य चाहे अधिक हो लेकिन भारतवासी भी उसी को खरीदना पसन्द करेंगे। इसका एकमात्र उत्तर यही है कि उनके माल में सच्चाई है। जो कुछ लिखा रहता है माल उसी तरह का होता है। इसके विपरीत हमारे देश की कम्पनियों में प्रायः अधिकांश धोखे पर अपने व्यापार को आधारित करती हैं। दियासलाई जैसी छोटी वस्तु से लेकर बड़ी-बड़ी वस्तुओं में, दवाओं में, खाद्य पदार्थ आदि सब में सजावट ज्यादा दिखती है। यही कारण है कि अपने कारोबार को न तो ख्याति दे पाते हैं, न उससे स्थायी रूप से धन ही कमा पाते हैं।

बच्चे सत्यनिष्ठ कैसे बनें—यह बात भी विश्वास करने योग्य है कि सदा ही सत्य सरल और असत्य कठिन होता है। झूठ बोलने में, बेईमानी करने में, ठगने में, चोरी करने में, व्यभिचार में, चालाकी में, चतुराई में होशियारी और पेशाबन्दी की बड़ी आवश्यकता है। इसके विपरीत सच बोलने में, पूरा तौलने में, ईमानदारी बरतने में, सदाचारी रहने में किसी खट-खट की जरूरत नहीं। लेकिन संचित संस्कारों, पुरानी आदतों और वातावरण के दुष्प्रभावों के कारण समार्ग पर चलते-चलते पैर फिर जाता है, आदमी सत्य के विपरीत झूठ का अवलम्बन लेता है। इसलिए आवश्यक है कि बचपन से ही सत्य बोलने की आदत डाली जाए।

(१) बच्चे में सत्य बोलने की आदत डालने हेतु जो सबसे बड़ा प्रयास करना है, वह यही कि माँ-बाप स्वयं सच बोलें। झूठे माँ-बाप अपने बच्चे से सत्य के प्रति आस्था पैदा ही नहीं कर सकते। महात्मा गाँधी ने

सत्य का पाठ अपने पिता से पढ़ा था। उनके पिता राजकोट रियासत के दीवान थे परन्तु सदैव सत्यता के मार्ग पर चलना उन्हें पसन्द था। एक बार सत्य बोलने के लिए उन्हें राजा का कोपभाजन भी होना पड़ा और वे जेल तक भेज दिये गये। परन्तु उन्हें छोड़ दिया गया उनकी स्थायी ख्याति हो गई। व्यक्तिगत उदाहरण सबसे महत्त्वशाली और प्रभावकारी माना गया है। बच्चा चाहे हजार पुस्तकों में सत्य की महिमा का प्रतिपादन करने वाले श्लोक, चौपाइयाँ और दोहे क्यों न पढ़ ले लेकिन यदि कोई व्यक्ति अथवा उसका वातावरण सत्य की महिमा को स्वीकार नहीं करता, तो वह भी सत्य के प्रति आस्थावान नहीं बन सकेगा। माँ-बाप के ज्वलन्त उदाहरण ने बालक मोहनदास करमचन्द गाँधी में सत्य के प्रति निष्ठा पैदा कर दी। पाठशाला में जब निरीक्षक आया तो अपने मास्टर के संकेत करने पर भी उन्होंने अपने साथी विद्यार्थी की कापी से देखकर 'स्पेलिंग' ठीक नहीं किया। यह केवल उनके माता-पिता का प्रभाव था।

(२) सत्य के लिए वातावरण चाहिए। माता-पिता के उदाहरण के साथ-साथ परिवार एवं बच्चे के साथियों को भी ऐसा होना चाहिए, जो सच्चाई को जीवन नीति समझते हों। धार्मिक भाषा में इसी को 'सत्संग' शब्द से सम्बोधित किया गया है। जिन बच्चों को आदर्श व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का सुअवसर बचपन से मिल जाता है, उनका चरित्र हीरे के समान चमकदार बनता जाता है। यद्यपि आज सच बोलने वालों की तुलना में झूठे लोगों की बहुतायत है, फिर भी ऐसा नहीं माना जा सकता कि सच्चे लोग हैं ही नहीं। हर क्षेत्र और हर गाँव में ऐसे लोग होते ही हैं। माँ-बाप को चाहिए कि गाँव, मुहल्ले अथवा नगर के ऐसे लोगों, जिनको वह भली-भाँति जानते हों, के पास अपने लड़के को कभी-कभी ले जाकर परिचय करा दें। बच्चे के दिल में उनके प्रति आस्था पैदा करके उन्हें यह उपदेश भी दे दें कि वह कभी-कभी इनके पास अवश्य आया करे, ताकि उनके सम्पर्क से उसे बहुत कुछ शिक्षा मिले। दूर रहने वाले सत्यवादी और आदर्श लोगों से बच्चे का पत्र सम्बन्ध कराना चाहिए। दो-चार लोगों के नाम, पते यदि पिता अपने बच्चे को बताकर किसी तात्कालिक समस्या पर अपने बच्चे से उनको पत्र लिखावे तो उत्तर आने से बच्चे में स्वयं उन लोगों के प्रति रुचि पैदा होगी। तब वह उनको पत्र लिखना आरम्भ करेगा और धीरे-धीरे उनके चरित्र का प्रभाव बच्चे पर पड़ता रहेगा।

(३) बच्चे के संगी-साथी ऐसे होने चाहिए जैसा कि आप अपने बच्चे को बनाना चाहते हैं। लोफर, गुन्डे या फैशनपरस्त, लड़कों के साथ उठने-बैठने अथवा खेलने या टहलने की अनुमति आप बच्चे को कदापि न दें चाहे आपको कुछ कड़ाई ही क्यों न बरतनी पड़े ? आप

बच्चे की मुँहदेखी न कर उसे बुरे लड़कों के साथ सम्पर्क रखने से मना करें।

साधारणतया १४, १५ वर्ष की अवस्था होती है जब बच्चे के अन्दर उमंग होती है। वह हर अच्छाई-बुराई का मजा चखने की चेष्टा करता है। सभी के सम्पर्क में आने की चेष्टा करता है। इसमें उसे कोई दोष नहीं मालूम होता। जब माँ-बाप उसे किसी विशेष सोसायटी में जाने से रोकते हैं, सिनेमा अथवा नाटक देखने से रोकते हैं, तो वह तरह-तरह के तर्क देकर अपनी श्रेष्ठता एवं दुर्भावना को सिद्ध करने की चेष्टा करता है, माँ-बाप के निर्देशों के औचित्य का अपने तर्कों से खण्डन करके अपनी बात को सही सिद्ध करता है। इस आयु में बच्चे की तर्कशक्ति बढ़ जाती है। ऊँची शिक्षा और अनुभव वाले व्यक्ति तो अपने बच्चों पर तार्किक दृष्टि के प्रभाव डालने में सफल हो जाते हैं, लेकिन साधारण योग्यता वाले माँ-बाप बच्चे के प्रभाव में आ जाते हैं। इसलिए इस अवस्था में चाहे थोड़ी-कड़ाई करना पड़े मगर बच्चे को बुरी सोसायटी में उठने-बैठने, खेलने आदि की अनुमति न दी जानी चाहिए। उसे खेलने, घूमने, टहलने तथा मनोरंजन का अवसर दिया जाए, लेकिन बुरी सोसायटी के साथ नहीं।

(४) सत्यता के मार्ग पर चलकर कठिनाईयों पर विजय प्राप्त कर सफलता पाने वाले भूत तथा वर्तमानकालीन व्यक्तियों के उदाहरण भी बच्चे के सामने रखने चाहिए। ऐसे लोगों के जीवन चरित्र पढ़ने के लिए बच्चों को पुस्तकें भी उपलब्ध करनी चाहिए तथा उन्हें उत्साहित भी करना चाहिए।

(५) सत्य बात कहने, सत्य आचरण करने अथवा सत्यता का कोई उदाहरण प्रस्तुत करने पर बच्चे की प्रशंसा करने से कभी भी चूकना न चाहिए। यदि किसी समय बच्चे ने सत्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है तो उसकी पीठ ठोकिए, सार्वजनिक रूप से उसकी प्रशंसा कीजिए और उसे उपयोगी वस्तुएँ, पुरस्कार भी दीजिए।

(६) बच्चे प्रायः भय के कारण झूठ बोलने का आश्रय लेते हैं। बच्चों से भूलें तो हो ही जाती है। मान लीजिए अनजान में उन्होंने कोई वस्तु तोड़ डाली। उनके मन में भय पैदा होगा कि पिताजी अथवा माताजी को जब मालूम होगा तो वे सजा देंगी। इसी भय के कारण वे तुरन्त इन्कार कर देंगे कि उनसे अमुक वस्तु नहीं टूटी है। मैंने बचपन में एक दिन सहसा बाहर से आकर एक बड़े पत्थर से घर की 'सिल' को तोड़ डाला। यद्यपि मैं उसे तोड़ना नहीं चाहता था परन्तु अनजाने में वह पत्थर उस सिल पर इतनी जोर से पड़ा कि उसके दो टुकड़े हो गये। मैंने उसे उठाकर एक कोने में खड़ी कर दी और स्वयं बाहर बाग में चला गया। शाम को जब वापस आया तब तक सिल टूटने की बात प्रकट हो चुकी थी और मैं मुजरिम भी घोषित हो चुका था। मुझसे

जब पूछा गया तो साफ इन्कार कर दिया। लेकिन अन्त में पकड़ा गया। इस प्रकार बच्चे भय के कारण झूठ बोलते हैं। माँ-बाप यदि उन्हें भय रहित करें और प्रोत्साहित करें कि कोई भूल होने पर भी वे यदि सत्य बोलेंगे तो उन्हें सजा नहीं मिलेगी तो बच्चों को सत्य बोलने का प्रोत्साहन मिलेगा। इसी प्रकार विद्यालय में अध्यापक भी यदि सत्य बोलने पर, बच्चे को भयभीत करने के बजाय उसके साथ सहानुभूति दिखावें तो बच्चे के मन में सत्य के प्रति आस्था पैदा होगी।

गोस्वामी जी ने सत्य को, ध्वज को, शील को पताका की उपमा दी है। पताका के सहारे ही ध्वज लहराता है। बिना पताका का ध्वज रखा हुआ साधारण वस्त्र मात्र है। इसी प्रकार सत्य की शोभा शील से होती है, अँगूठी में नग जिस प्रकार अँगूठी की शोभा बढ़ाता है, उसीप्रकार शील सत्य की शोभा बढ़ाता है। दोनों एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं।

केवल सत्य से सत्यभाषी के हृदय में अहंकार उत्पन्न होता है। सत्यभाषी यदि शील का सहारा न ले तो वह अहंकारी हो जाता है। नग्न सत्य प्रायः कटु होता है। इस प्रकार का सत्यभाषी को श्रेय मार्ग पर ले जाने के बजाय उसे नाना प्रकार के कलहों में फँसा देता है। वह व्यक्ति अपने पास-पड़ोस वालों की आँखों में खटकने लगता है। सभी लोग उसके विरुद्ध एक मोर्चा जैसा बना लेते हैं। फिर उसका सारा समय आपसी प्रतिद्वन्द्विता में ही लगने लगता है और सत्य भाषण का पूरा-पूरा लाभ उसे नहीं मिल पाता। इसीलिए कहा गया है कि “सत्यं ब्रूयात् प्रियम् ब्रूयात्।”

‘सत्य बोलो लेकिन प्रिय बोलो, ऐसा सत्य न बोलो जो प्रिय न हो।’

महात्मा गाँधी का सत्य, शील से ओत-प्रोत रहता था। जीवन भर उन्होंने सत्य और अहिंसा का प्रचार किया लेकिन दोनों को प्रेम पर ही आश्रित किया। वे अपनी सत्यता पर हिमालय के समान दृढ़ और अचल रहते थे, भारी से भारी विपत्तियाँ भी उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती थीं। परन्तु व्यवहार में वे अपने विरोधी से भी रुई के समान मुलायम थे। कभी भी उन्होंने रूखेपन से बात नहीं की। वार्ता के समय सदैव उनके होंठों पर प्रसन्नता नाचती रहती थी। वे अपनी बात को इस प्रकार कहते थे कि सुनने वाले को कर्णकटु न लगे, वरन्, वह उसकी वास्तविकता को हृदय से स्वीकार करें, दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मीठी वाणी से वे अपने विरोधी के हृदय तक अपनी बात को उतार देने में सफल हो जाते थे।

सद्व्यवहार और शालीनता—ठीक इसी प्रकार हमें अपने बच्चों को अभ्यास कराना चाहिए। एक सबसे बड़ी कमी जो हमें अपने समाज में देखने को मिलती है, वह यही है कि अधिकांश लोग बातचीत का ढंग नहीं जानते।

बच्चे तो इससे और भी अधिक अनभिज्ञ हैं। कोई बात कहेंगे तो आधी बात अपने मुँह में रख लेंगे, जल्दी-जल्दी इस प्रकार अपनी बात कह डालेंगे कि सुनने वाला समझ ही नहीं पायेगा कि यह व्यक्ति कह क्या रहा है ? हाइ-स्कूल एवं इण्टर पास विद्यार्थियों को आप देखें उन्हें अपनी बात ढंग से प्रकट करने की योग्यता नहीं होती। बी. ए. में पहुँचते-पहुँचते अभिमान की टोपी उनके सिर पर लग जाती है। चलेंगे तो अकड़कर इधर-उधर कपड़ों को देखते हुए, बातें करेंगे तो अकड़ कर, मानो वे बहुत बड़े उच्चाधिकारी के पद पर पहुँच गये हों। अपने अध्यापकों के सामने तो हर वाक्य के साथ ‘जी’ जोड़ेंगे मगर किसी बाहर वाले से उनकी बात सुनिये तो इतना बहककर, अकड़ और उच्छ्वल बातें करेंगे मानो जमीन-आसमान का कुलाबा मिला देने की क्षमता उनमें आ गई हो।

ठीक ढंग से बातचीत करने के प्रभाव अपार हैं। बात का मर्म जानने वाले को किसी जादूगर से कम नहीं समझना चाहिए। वह हर एक से अपना काम बना लेता है। हमारे विद्यालय में एक लड़का है वैसे तो वह काम करने में अधिक सक्रिय नहीं है लेकिन बातचीत करने का ढंग उसे मालूम है, सत्यभाषी भी है। मीठी-मीठी बोली बोलकर अपना कार्य बना लेने की कला में निपुण। एक बार उसे एक अन्य स्कूल से टी. सी. लानी पड़ी। जब वह वहाँ गया तो लिपिक ने तीन दिन के बाद ‘टी. सी.’ देने को कहा। वास्तव में नियम भी यही है और वह उस समय कार्य व्यस्त भी था। परन्तु कुछ देर चुप बैठने के बाद इस लड़के ने अपनी बात का जादू ‘लिपिक’ पर चढ़ाना शुरू किया। वह इससे इतना प्रसन्न हो गया कि स्कूल बन्द होते-होते टी. सी. बनवाकर प्रधानाचार्य के हस्ताक्षर कराकर इसे दे ही दिया।

बात तलवार से भी अधिक शक्तिशाली होती है। जिसे बात करने की कला का ज्ञान हो गया, उसकी शक्ति राजा की शक्ति से भी बड़ी माननी चाहिए।

यह बात आती है ‘शील’ के अभ्यास से। बचपन से ही आप बच्चे को ठीक ढंग से बातचीत करने का अभ्यास बनाएँ। शील का प्रत्यक्ष प्रदर्शन विनम्रता से होता है। शीलवान व्यक्ति विनम्र होता है, वह जब भी अपनी बात कहेगा, बड़ी विनम्रता से कहेगा, क्रोध के अवसर पर भी अकड़कर अपनी बात न कहना विनम्रता है।

महात्मा गाँधी अपनी सत्य बातों को कहते समय दूसरों की सुनते भी थे और बड़े तरीके से सबकी बातों का उत्तर देते थे।

मधुर भाषण कैसे सिखायें ?—बच्चों को आप जहाँ सत्यभाषी बनाने का अभ्यास बनाएँ, वहाँ उन्हें ठीक

ढंग से बात करने का तरीका भी बताएँ, जिसे आप निम्नलिखित उपायों से कर सकते हैं—

(१) 'शील' की बात 'शील' से ही समझानी चाहिए। कभी-कभी जब माँ-बाप को अपने व्यस्त जीवन में अवकाश मिले, सायंकाल का समय इसके लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है, तब अपने बच्चों को एक साथ बिठाकर उससे बातचीत करना चाहिए। इसी बातचीत के दौरान में उन्हें विनम्रतापूर्वक बात करने का तरीका समझाना चाहिए। उदाहरण द्वारा उन्हें समझाना चाहिए और जीवन में उसकी उपयोगिता भी बतानी चाहिए। यह क्रम एक ही दो बार न चले वरन् महीने में दो एक बार जिस दिन आपको भी अवकाश हो और बच्चे के स्कूल में छुट्टी हो तभी होना चाहिए। सायंकाल आप अपने बच्चों को लेकर टहलने जाएँ, घर भर का मनोरंजन भी होगा और बातों-बातों में उन्हें आप बात करने का ढंग सिखायेंगे।

(२) आप स्वयं उनसे कोमलतापूर्वक हँस-हँसकर बातें कीजिए। जिस समय आप उन्हें सिखा रहे हैं अथवा अवसरों पर भी, आपके बात करने का तरीका बहुत ही सुधरा हुआ होना चाहिए। उसकी कसौटी यह है कि बात करते समय आपका चेहरा प्रसन्न रहे, ऐसा कभी प्रकट न हो कि आप क्रोधावस्था में बातें कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि आपकी बात से आत्मीयता, सहानुभूति एवं सच्चाई की झलक आती हो। यह तीनों गुण ऐसे हैं जो स्वयं श्रोता पर अपना प्रभाव डाल देते हैं। यदि आपकी बात में यह तीनों बातें हैं तो यह हो नहीं सकता कि उसका प्रभाव न पड़े। बच्चे का हृदय भी खुलेगा और वह घुल-मिलकर आपसे बात करना प्रारम्भ करेगा। तब आप देखते रहें कि बच्चे के बात करने में क्या दोष है ? उन दोषों को भी आप धीरे-धीरे समझा-बुझाकर ठीक करें।

(३) बात करने में किन शब्दों पर अधिक जोर दिया जाना चाहिए किन पर कम, किस समय क्या बात कहनी चाहिए ? श्रोता के 'मूड' को देखकर उसी के अनुसार बातें करनी चाहिए। इन रहस्यों को भी आप क्रियात्मक रूप से बच्चे को सिखाते रहें।

(४) आपके घर में जब मेहमान आवें अथवा कोई भी मिलने-जुलने वाले आवें, आप कहीं अपने बच्चों को लेकर जाएँ, टेन में यात्रा करें अथवा किसी भोज आदि में जाएँ, तो ऐसे स्थानों पर आप ज्यादा से ज्यादा अपने बच्चों को बात करने का अवसर दें। आप कम बोलें अथवा अपनी समान आयु वाले से चाहे आप ज्यादा बात करें लेकिन बच्चे को बात का अवसर अधिक दें। घर पर आने वालों को नाश्ता कराने, खिलाने, कोई चीज लेने का अधिकांश कार्य आप बच्चे से लें। जिस प्रकार राजा अपने बड़े पुत्र को युवराज बनाकर राजकार्य में उसे हिस्सा बाँट देता है, प्रजा से सम्बन्ध स्थापित करना, सेना

संचालन, प्रशासकीय कर्तव्यों में उसका विधिवत् सक्रिय सहयोग लेता है, उसी प्रकार आपका १५ वर्षीय पुत्र आपका उत्तराधिकारी है। अपने घर के आप राजा हैं तो वह युवराज है। उसे अपने सब कर्तव्यों को सिखाइये। जब आपके सामने वह गृहस्थी के कामों में हिस्सा बाँटने लगेगा तो उसका अनुभव बढ़ेगा और जिम्मेदारी आवेगी।

कर्तव्यों को निभाने में सबसे बड़ी बात जो बच्चे को सिखानी है, वह है सच्चाई के साथ बातचीत करके दूसरों की सहानुभूति प्राप्त कर लेना। यदि आपका बच्चा अपनी बातों से दूसरों को मित्र बनाने और बड़ों की सहानुभूति प्राप्त करने में सफल होने लगे, तो आप निश्चित हो जाइये और इस बात पर विश्वास कर लीजिए कि वह आपका योग्य उत्तराधिकारी निकलेगा।

(६) घर में अपने साथियों से, बहनों से तथा माँ से व घर की अन्य स्त्रियों से वह किस प्रकार बातें करता है, इस पर भी आपको ध्यान रखना है। प्रायः यह भी होता है कि बच्चों की जिनसे पटती है या जिन लोगों से वह अपनत्व अनुभव करता है, उनसे तो उसके बात करने का तरीका दूसरे ढंग का होता है और जिनसे उसकी पटती नहीं है, उनसे वह अकड़-अकड़कर, तैश में आकर बातें करता है। आप इन बातों को चुपके-चपके देखते रहें और फिर बच्चे को समय पाकर प्रेम से समझावें कि उसे हर एक से ठीक ढंग से, सलीके से बातें करनी चाहिए। चाहे उससे अपनी पटती हो या नहीं। विचार-भिन्नता रखना दूसरी बात है, लेकिन बेढंगे तरीके से बात करना किसी भी प्रकार शोभनीय नहीं है।

(७) इसी प्रकार आप बच्चे के बाहरी क्षेत्र की देख-भाल करते रहें। अब तो घर से अधिक उसका कार्यक्षेत्र बाहर है। स्कूल, बाजार, मोहल्ला आदि सबमें उसका आना-जाना है, वह अपने मित्रों के परिवारों से भी सम्बन्ध रखता है, उनके घर आता-जाता है। बाहरी दोस्तों से पत्र-व्यवहार भी करता है। इन सब पर आपकी निगाह रहनी चाहिए। कभी-कभी जब आप स्कूल जाएँ तो शिक्षकों और बच्चे के सहपाठियों से पता लगायें कि उसका आपसी व्यवहार कैसा है ? यदि वह सत्य और शील और अपने आचरण में अपनाये है तो निश्चित जानिए कि उसके शिक्षक, सहपाठी सभी उससे प्रसन्न होंगे और उसके प्रति उनकी सहानुभूति होगी। इसी प्रकार बाजार-मुहल्ला अथवा गाँव में भी आप जानकारी रखें। एक सी. आई. डी. के समान पता लगाने का कार्य न करें, क्योंकि इसका पता लगाने पर आपका बच्चा आपसे द्वेष-भाव रख सकता है, तब आपकी किसी बात का प्रभाव उस पर न पड़ेगा लेकिन वैसे ही चलते-फिरते, बात-चीत करते अगर आप अपने बच्चे का जिक्र ले आते हैं तो उससे सत्य बातें प्रकाश में आ जाती हैं। आपको पता चल सकता है, तब आप भली प्रकार सोचिए कि जो बातें आप उसे सिखा रहे हैं उस पर वह कहाँ तक

अमल कर रहा है ? यदि उसमें किसी प्रकार की कमी दीख पड़े तो उसे सुधारने की चेष्टा कीजिए।

इस प्रकार धीरे-धीरे परन्तु धैर्यपूर्वक आप अपने बच्चे को सत्य और शील रूप निधियों को उत्तराधिकार रूप में देने में यदि सफल होंगे तो आपका बच्चा भी जीवन भर सुखी रह सकता है और आपको भी सन्तोष करने का अवसर मिलेगा। एक कहावत है—

तुलसी भीठे वधन से सुख उपजत छहुँ ओर।

वशीकरण एक मन्त्र है तज दे वधन कठोर॥

मीठी बोली बोलने का अभ्यास कर बच्चा अपनी जीवनयात्रा सुख, शान्ति और प्रसन्नतापूर्वक पूर्ण करेगा।

शौर्य और धैर्य

देवी सम्पत्तियों में से सबसे पहला गुण है 'साहस'। साहस मनुष्य का सबसे बड़ा सम्बल है। साहसी व्यक्ति अन्धकार में भी अपना मार्ग ढूँढ़ लेता है। कोई उसे अपने पथ से डिगा नहीं सकता।

एक राजा था जिसके ऊपर शत्रुओं के निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। उसे ६ बार पराजय का मुँह देखना पड़ा था। अन्त में वह निराश होकर अपनी जान बचाने के लिए भागकर जंगल के एक कुएँ में छिप गया। वहाँ उसने देखा कि एक मकड़ी अपना जाल बुन रही है, लेकिन बार-बार उसका जाला एक-दूसरा कीड़ा तोड़ देता है लेकिन मकड़ी ने हिम्मत न हारी। एक बार बुनने पर उसका जाला जैसे टूटता कि वह बिना विलम्ब किये फिर बुनना प्रारम्भ कर देती। अन्त में वह जाला बुनने में सफल हो गई। राजा छिपे-छिपे यह देखता रहा उसके मन में भी आवाज उठी कि यदि मकड़ी कई पराजय के बाद अपने उद्देश्य में सफल हो सकती है तो क्या मैं सफल नहीं हो सकता ? राजा कुएँ से निकला और जाकर अपनी बची-खुची सेना इकट्ठी की। अन्त में सातवीं बार उसे विजयश्री मिल ही गई।

जिस मनुष्य में साहस नहीं उसे हम कायर कहकर सम्बोधित करते हैं। 'कायर' किसी काम का नहीं, साहसी एक अमूल्य रत्न के समान है। उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं। सफलतापूर्वक जीवनयापन के लिए साहस रूपी रत्न का धनी होना परमावश्यक है।

जगद्धिख्यात वीर नैपोलियन तो साहस का प्रतीक था। बड़ी से बड़ी मुसीबत आ जाने पर वह कभी घबड़ाता नहीं था। एक बार अपनी सेना की छोटी टुकड़ी लिए अन्धकारपूर्ण रात्रि में आक्रमण करने जा रहा था। मार्ग में एक छोटा पुल था लेकिन दुश्मनों ने उसे तोड़ दिया था। पुल को टूटा हुआ देखकर सेना हिचकिचाई। नीचे ज़मीन दलदल थी। नैपोलियन ने एक मिनट भी सोचने में न लगाया। तुरन्त नीचे कूदा और दलदल में

आगे-आगे चलने लगा। अपनी सेना को सम्बोधित कर कहा। आओ जवानों ! तुम्हारा नायक आगे-आगे चल रहा है, घबड़ाने की कोई बात नहीं। सेना भी कूद पड़ी और थोड़ी देर में पूरी सेना उस दलदल के पार खड़ी थी।

उसके साहस की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं कि जब उसने अपने साहस से पराजय को विजय में बदल दिया। अन्धकार में प्रकाश खोज लिया।

अपने अन्तिम दिनों में जब उसे पराजित करके 'सेंट हेलेना' नामक टापू में बन्दी बना दिया गया था, तब भी उसने अपने साहस का अपूर्व परिचय दिया। उसके चारों ओर कड़ा पहरा था। रात्रि में घोर तूफान आया, वर्षा होने लगी कि पहरे के सारे सैनिक इधर-उधर आत्मरक्षा के लिए छिप गये। नैपोलियन चुपके से निकलकर उसी अँधियारे में फ्रांस की ओर माल ले जाने वाले जहाज में पीछे छुप गया। इधर तूफान निकलते ही उसकी कड़ी खोज होने लगी परन्तु वह तो फ्रांस पहुँच चुका था। जहाज के किनारे लगते ही वह उतरकर चुपके से जंगलों में घुस गया। जब सबेरा हुआ तो सारे फ्रांस में नैपोलियन के भाग जाने का समाचार फैल चुका था। सेना सतर्क कर दी गई थी। लेकिन नैपोलियन भी तो विचित्र धातु का बना था। दिन निकलते ही पेरिस को जाने वाली सड़क पर अकेले ही चल पड़ा। मार्ग में लोग उसे मिलते-देखते मगर साहस की अपूर्व झलक का परिचय देने वाली आँखों के सामने उसका विरोध समाप्त हो जाता। दौड़कर नैपोलियन के पीछे हो जाते। यों पेरिस के किनारे तक पहुँचते-पहुँचते उसके पीछे कई हजार लोगों की भीड़ चलने लगी। जब वह पेरिस के निकट पहुँचा तो सम्राट की सेना नैपोलियन का मुकाबला करने को खड़ी थी। वीर वेष में मार्च करता हुआ नैपोलियन आगे बढ़ रहा था। जैसे ही सेना के निकट पहुँचा तो कड़क कर कहा 'वीरो मैं आ गया, मेरा आदेश है तुम पेरिस के राज्यसिंहासन पर अधिकार करो।' यह वही सेना थी जिसने वर्षों तक नैपोलियन का आदेश माना था। सबकी नसों में बिजली कौंधी। नैपोलियन की वाणी सुनते ही वह सेना एक साथ पेरिस की ओर घूम गई थोड़ी देर में नैपोलियन पुनः पेरिस के राज्यसिंहासन पर विराजमान दिखाई पड़ा। केवल साहस ने यह परिवर्तन कर दिखाया।

प्रथम महायुद्ध में हिटलर जर्मनी के सम्राट विलियम कैसर का एक साधारण सैनिक मात्र था। घमासान युद्ध हो रहा था। मोर्चे पर अचानक हिटलर अकेला पड़ गया था कि उसे शत्रुओं की एक टुकड़ी का उधर से आना सुनाई पड़ा। हिटलर को विश्वास हो गया कि तनिक भी हिचकिचाने से वह बन्दी बना लिया जायेगा। इस समय उसने साहस नहीं छोड़ा। एक तरकीब सोची और तुरन्त बड़ी जोर-जोर से "लैफ्ट-राइट" "लैफ्ट-राइट", "अबाउट टर्न" के आदेश देने लगा। स्वयं ही अपने बूटों की

आवाज करता और तेज आवाज में आदेश बोलते हुए आगे बढ़ने जैसा प्रदर्शन कर रहा था। हिटलर की आवाज जब शत्रु सेना के कान में पड़ी तो उसे अनुमान हुआ कोई बड़ी टुकड़ी इधर ही आ रही है। हवलदार ने अपनी टुकड़ी को तुरन्त मुड़ने का आदेश दिया और दूसरी ओर तेजी से चला गया। हिटलर अपनी बुद्धिचातुरी और साहस के सहारे खतरे से बचा। आगे यही सैनिक जर्मनी का भाग्य निर्माता तानाशाह बना। भले ही उसे पराजय मिली हो लेकिन उसके एक अद्वितीय वीर होने में कोई सन्देह नहीं कर सकता।

साहस के सामने हिंसक-पशु भी नतमस्तक हो जाते हैं। मनुष्य में जब कायरता उत्पन्न होती है, तभी बाह्य शक्तियाँ उस पर आक्रमण कर सकती हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती जब हिमालय पर तप कर रहे थे। एक दिन सहसा इन्हें एक शेर बिल्कुल निकट सामने ही दिखाई पड़ा। शेर को देखकर दयानन्द जी ने अपना साहस न छोड़ा। उसकी ओर आँखें किये हुए अचल भाव से खड़े रहे। थोड़ी देर तक तो शेर इनकी ओर खड़ा ताकता रहा, तत्पश्चात् हारकर जंगल में चला गया। यदि स्वामी जी भयभीत हो जाते तो निश्चय ही शेर उन पर आक्रमण कर देता।

साहस को धर्म का पहला लक्षण माना गया है। गीता ने इसे दैवी सम्पत्ति के रूप में प्रथम स्थान दिया है। तुलसीदास ने धर्म-चक्र का पहिया माना है। गाड़ी पहिये के सहारे चलती है। इसी प्रकार व्यक्ति साहस रूपी धुरी पर टिककर संसार में अपने सभी कामों को सम्पादित करता है।

देश के उत्थान और पतन में साहस को विशेष महत्त्व देते हैं। जब तक देश के नागरिकों में शौर्य रहा विदेशी शक्तियाँ कुछ भी बिगाड़ नहीं सकीं। बर्बर जातियों के आक्रमण हुए उन सब चोटों को वीरतापूर्वक सहन किया। गुप्तवंशीय सम्राट स्कन्दगुप्त की कहानी हमें मालूम है। सीमा पर मंगोलों के आक्रमण हो रहे थे। इस साहसी युवक ने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक मंगोलों से देश की रक्षा नहीं कर लूँगा, भूमि शयन करूँगा और विवाह न करूँगा। अन्त में सफल भी हुआ।

शिवाजी के पास क्या था ? औरंगजेब जैसे प्रतापी मुगल सम्राट से मोर्चा लेने के लिए उसके पास न तो सेना ही थी और न युद्ध-सामग्री। मगर था उसका साहस। उसी साहस ने शिवाजी को सदैव विजय दिलाई। मरहटों में जान फूँक देने का काम वे साहस के बल पर ही कर सके।

वीर छत्रसाल की माँ का नाम 'रानी सारन्धा' था वह भी साहस और स्वाभिमान की पुतली थी, तभी तो छत्रसाल जैसे पुत्र को जन्म दे सकी।

शाहजहाँ का जमाना था। सारन्धा के भाई बुन्देला सरदार अनिरुद्धसिंह के पास घुड़सवारों और पियादों का एक छोटा-सा, मगर सजीव दल था। इसी से वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा करता रहता था। श्री प्रेमचन्द जी अपनी कहानी में लिखते हैं कि "उसे कभी चैन से बैठना नसीब न होता था। तीन वर्ष पहले उसका विवाह शीतलादेवी से हुआ, मगर अनिरुद्ध विवाह के दिन और विलास की रात पहाड़ों पर काटता था और शीतला उसके जान की खैर मनाने में। अनिरुद्ध लड़ाई में था। अँधेरी रात में शीतलादेवी पलंग पर पड़ी करवटें बदल रही थी और उसकी नन्द सारन्धा फर्श पर बैठी हुई थी।"

इतने में द्वार खुला और एक गठे बदन में रूपवान पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यह अनिरुद्ध था। उसके कपड़े भीगे थे और बदन पर कोई हथियार न था। सारन्धा ने पूछा—

भैया, यह कपड़े भीगे क्यों हैं ?

अनिरुद्ध—नदी तैरकर आया हूँ।

सारन्धा—हथियार क्या हुए ?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी ?

अनिरुद्ध—सबने वीरगति पाई।

शीतला ने दबी जवान से कहा—“ईश्वर ने ही कुशल किया।” मगर सारन्धा के तेवरों पर बल पड़ गये और मुख-मण्डल गर्व से सतेज हो गया। बोली “भैया ! तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी न हुआ था।”

सारन्धा भाई पर जान देती थी। उसके मुँह से यह धिक्कार सुनकर अनिरुद्ध लज्जा और खेद से विकल हो गया। वह वीराग्नि जिसे क्षण भर के लिए अनुराग ने दबा दिया था, फिर ज्वलन्त हो गई। वह उलटते पाँव लौटा और यह कहकर बाहर चला गया कि “सारन्धा ! तुमने मुझे सदैव के लिए सचेत कर दिया। ये बातें मुझे कभी नहीं भूलेंगी।”

अनिरुद्ध किले से बाहर निकला। पल भर में नदी से उस पार जा पहुँचा और फिर अन्धकार में लुप्त हो गया।

इस घटना के तीन महीने पीछे अनिरुद्ध मसरोला पर विजय करके लौटा। सारन्धा के साहसपूर्ण वाक्यों ने उसकी पराजय को विजय में बदल दिया।

यही नहीं खेती-बारी, व्यापार, नौकरी सबमें साहस की आवश्यकता है। अर्थशास्त्र में किसी उद्योग को सफल बनाने के लिए पाँच आवश्यक तत्त्व बताए गये हैं—१. पूँजी, २. भूमि, ३. श्रम, ४. व्यवस्था और ५. साहस, साहस के बिना ये चारों बेकार हो सकते हैं। वही व्यापारी सफल हो सकता है, जिसने साहस का परिचय दिया। साहसी मारवाड़ी सुदूर प्रदेशों में पहुँच-पहुँचकर

२.४४ हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण

अपने व्यापार को जमाने में सफल हुए। साहसी अंग्रेज व्यापारियों ने संसार भर में दूर-दूर तक अपना झण्डा फहरा दिया। मुट्ठी भर अंग्रेज आर्षे भूमण्डल के स्वामी बन बैठे।

१२, १५ वर्ष के बच्चों की अवस्था गुणों के बीजारोपण की अनुकूल अवस्था है। इसलिए इस आयु में हर सम्भव उपायों से आप उनमें साहस रूपी सम्पत्ति दान करिए।

बच्चों में साहस भाव को कैसे जाग्रत किया जाए ?—कुछ निश्चित नियमों को अपनाकर बच्चों में शौर्य भाव जाग्रत किया जा सकता है। जैसे—

(१) बच्चों को कहानी बहुत प्रिय लगती है। माता-पिता साहसी वीरों की कहानियाँ उनमें साहस के भाव जगा सकते हैं। रात्रि में सोने से पूर्व उन्हें वीरों की गौरव-गाथाएँ सुनानी चाहिए।

(२) बच्चे के व्यक्तित्व का आदर करना बहुत आवश्यक है। थोड़ी-थोड़ी भूलों पर उसे बहुत ज्यादा डाँट-फटकार बताने से अथवा बुरी तरह पीटने से बच्चों का शौर्यभाव दब जाता है। वे कायर, डरपोक और दबू बन जाते हैं। बच्चे को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए। उसका उतना ही आदर होना चाहिए जितना युवराज का होता है। आप यदि उससे सम्मानपूर्वक वार्ता करेंगे, उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनेंगे, उसकी उचित माँगों को यथाशक्ति पूरा करने की चेष्टा करेंगे तो वह एक साहसी बालक बनेगा।

(३) बहुत-सी माताएँ अथवा पिता ऐसे होते हैं जो अकारण बच्चे को अपशब्द कहा करते हैं, 'तू नालायक है,' तुझ से कुछ भी न हो सकेगा, तूने तो खानदान का नाम डुबो दिया, घर में बैठा-बैठा मक्खी मारा करता है आदि शब्द बच्चों को यथाशक्ति न कहना चाहिए।

(४) स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि 'जो माता-पिता दिन-रात बच्चों के लिखने-पढ़ने पर जोर देते रहते हैं, कहते हैं इसका कुछ सुधार नहीं होगा, 'यह मूर्ख है, गधा है आदि-आदि उनके बच्चे अधिकांश वैसे ही बन जाते हैं। बच्चों को अच्छा कहने से और प्रोत्साहन देने से, समय आने पर वे स्वयं ही अच्छे बन जाते हैं।'

(५) दैनिक कार्यों में बच्चों का सहयोग लीजिए, कभी-कभी उनको उनकी सामर्थ्य से अधिक का भी कुछ काम करने को दीजिए। प्रोत्साहन देकर उनसे काम पूरा कराइये, यदि कोई कठिनाई आवे तो उससे पार निकलने की तरकीब भी बताइए, उनका मार्गदर्शन कीजिए। जब वह काम पूरा कर लें तो उनकी पीठ ठोकिए, शाबाशी दीजिए, इससे उनका साहस बढ़ेगा। समय आने पर वह बड़े से बड़ा काम अपने हाथों में लेने से न हिचकेंगे।

(६) उनके स्वाभिमान को भूलकर भी ठोकर मत मारिए। एक छोटी घटना याद आती है। एक सिपाही के एक लड़का था। एक दिन वह बच्चा किसी से रूठ गया और लाठी उठाकर उसे मारने के लिए दौड़ा। वह व्यक्ति भाग रहा था और सिपाही का बच्चा उस खेद रहा था। सिपाही ने जब यह देखा तो वह अपने बच्चे के पीछे-पीछे दौड़ा। उसे समझा-बुझाकर वह हाथ से लाठी लेने का प्रयत्न कर रहा था। बड़ी दूर तक पीछे समझाते हुए जाने पर तब कहीं बच्चा माना। उसने रुककर लाठी अपने बाप को दे दी। लोग इस घटना को देख रहे थे, उन्होंने सिपाही से पूछा कि बच्चे की उद्दण्डता देखकर आपने उससे तुरन्त लाठी को क्यों नहीं छीन लिया ? सिपाही ने उत्तर दिया कि ऐसा करना तो सरल था परन्तु इससे बच्चे का साहस कुचल जाता, मैं उसमें विवेक-बुद्धि उत्पन्न कर उसे बुरे कामों से रोकना चाहता हूँ, लेकिन उसके साहस को कुचलना नहीं चाहता।

(७) देशाटन कराने, ऐतिहासिक स्थलों को दिखाने तथा वीर पुरुषों के सम्पर्क में लाने से बच्चे का शौर्य-भाव जाग्रत होता है। जब भी आपको समय मिले आप उसे अच्छे स्थानों के दिखाने के लिए ले जाइये।

(८) सबसे बड़ा आदर्श तो आप स्वयं उपस्थित कर सकते हैं। रात में चूहे की खड़बड़ाहट से भयभीत होने वाले माता-पिता भला अपने बच्चे में साहस के भाव कैसे भरेंगे ?

(९) साहस के भाव को दृढ़ करने के लिए सफलता प्राप्त करना आवश्यक है। जब खेल में बच्चे की जीत होती जाती है, तो उसका साहस बढ़ जाता है, निर्भयता आने लगती है और आत्मविश्वास बढ़ने लगता है, इसी प्रकार परीक्षा में सफलता मिलने पर, बच्चे के अन्दर से भय की भावना कम होती है, उसका साहस बढ़ने लगता है। अतः आप सदैव यह प्रयत्न करें कि खेल में उसके साथी ऐसे हों जो उसके समवयस्क हों, अर्थात् प्रतिद्वन्द्विता में उसके जोड़े के हों। परीक्षा में सफल कराने के लिए आप उसकी शक्ति को तौल लें। प्रायः ऐसा होता है कि बहुत कच्ची उम्र में कुछ लोग अपने बच्चे से आशा करने लगते हैं कि वह दो-दो प्रारम्भिक कक्षाएँ एक साथ पास करे। इसके लिए पैसे वाले लोग कई-कई ट्यूशन लगाकर उस पर और बोझ लादते जाते हैं। पढ़ाई का बोझ जब बच्चे पर अधिक हो जाता है तो दो-तीन कक्षाओं में तो वह तेजी दिखाता है और आगे चलकर उसकी गति मन्द पड़ जाती है। वह कूचर बैल की तरह अगली कक्षाओं का बोझ उठाने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। तब परीक्षा में अनुतीर्ण होने के अतिरिक्त और क्या चारा हो सकता है ? माता-पिता तब बच्चे को बुरा-भला कहकर उसकी हिम्मत को पस्त करने लगते हैं, वे इस बात को नहीं समझते कि दोष तो उन्हीं का है। इसलिए यदि आपका बच्चा कक्षा में

कमजोर चल रहा है, तो उत्तम तो यह होगा कि आप उसे आगे की कक्षाओं में जाने से रोककर उसकी कमजोरी को दूर करिए। शिक्षकों को लालच दिखाकर सिफारिश पहुँचाकर अथवा किन्हीं अन्य अनुचित उपायों से उसे कच्ची तरक्की दिलाना कदापि हितकारी सिद्ध न होगा। बच्चे को भी आप समझा-बुझाकर यही परामर्श दीजिए कि यदि वह उसी कक्षा में जिसमें वह कमजोर है, एक वर्ष और पढ़कर अपनी पिछली कमजोरी मिटा लेगा तो फिर आगे कभी फेल होने की सम्भावना न रहेगी। यदि आप बच्चे से ऐसा करा लेते हैं तो उसका साहस कभी कम नहीं हो सकता।

पहले जैसी स्थिति तो अब नहीं है जिसमें वीर सैनिकों के उदाहरण काम में आयें। लेकिन खेतीबारी, व्यापार, पढ़ाई, नौकरी एवं उद्योग-धर्मों में जिन लोगों ने अपूर्व साहस का परिचय देकर अपने बिगड़े कारोबार को जमाया हो, ऊसर खेती को आबाद कर उसे अन्नपूर्ण बनाया हो, निर्धनता रूपी पिशाचिनी से मोर्चा लेते हुए जिन लड़कों ने अपनी पढ़ाई को जारी रखकर आखिर में सफल हुए हों, ऐसे लोगों के उदाहरण बच्चों के सामने रखने चाहिए। यदि हो सके और ऐसे लोग अपने क्षेत्र में हों तो कभी-कभी अवसर पाकर अपने बच्चों को उनसे मिलाना, उनके प्रेरणात्मक सम्पर्क में लाना हितकर होता है।

बच्चों को सामूहिक सेवा के कार्यक्रम में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। स्काउटिंग, रेडक्रास, सेण्ट जॉन्स एम्बुलेंस अथवा सेवा-समितियों के कार्यों में भाग लेने से कभी न रोकना चाहिए। उनको प्रोत्साहित भी करना चाहिए। स्काउटिंग बच्चों के लिए बड़ा उपयोगी साधन होता है।

(१०) नदी, पहाड़, जंगल, प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन जहाँ एक ओर बच्चे में व्यावहारिक ज्ञान भरते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे कल्पित धारणाओं, भयोत्पादक शंकाओं का निवारण करते हैं। अतः समय-समय इन स्थानों पर बच्चे को ले जाकर जानकारी करानी चाहिए।

(११) साहस के विपरीत अवगुण 'भय' है। भय कभी-कभी तो सत्य परिस्थितियों से पैदा होता है परन्तु अधिकांशतः शंकाओं के आधार पर उत्पन्न हो जाता है। भूत-प्रेत का भय, देवी-देवताओं का भय, पुलिस और अफसर का भय, वह सब छोटे बच्चों में अपने माता-पिता, परिवार तथा गाँव वालों से मिलते हैं। हमारे देश में अफवाहें बहुत उड़ती हैं। लोग सत्य बात का पता कम लगाते हैं और मन-गढ़न्त, कपोल-कल्पित बातों पर तुरन्त विश्वास कर लेते हैं। यह सारी बातें उनके हृदयों में भय उत्पन्न करती हैं। उनका साहस दब जाता है। इसलिए जहाँ एक ओर झूठी डींग हाँककर आप बच्चे के हृदय में अविश्वास पैदा न करें, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसके सामने कायरता की बातें न करें।

भविष्य के कर्णधारों को कायर बनाना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है।

धैर्य एक महत्त्वपूर्ण गुण—जीवन रूपी गाड़ी का दूसरा पहिया है—'धैर्य'। अकेला साहस उस समय तक पंगु है, जब तक धैर्य का सुमिलन उसके साथ न हो।

विपत्ति के पहाड़ टूटने पर, चारों ओर से निराशापूर्ण परिस्थितियाँ भले ही हों लेकिन धैर्यवान व्यक्ति उन सबका निवारण कर डालता है। महात्मा गाँधी को अहिंसात्मक सत्याग्रह चलाने में कितनी बार असफलताओं का मुँह देखना पड़ता है। सन् १९२१, ३१, ३३ आदि के सभी सत्याग्रह पूर्ण सफलता नहीं दे सके। बीच में ही कुछ बाधाओं के कारण उन्हें रोकना पड़ा। सन् १९२१ का सत्याग्रह बड़े वेग से चल रहा था, सबकी धारणा बनती जा रही थी कि सरकार आजकल में ही उलटने वाली है लेकिन चौरी-चौरा के हिंसात्मक काण्ड से विचलित होकर गाँधीजी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। सम्पूर्ण देश में एक निराशा एवं शिथिलता का वातावरण फैल गया। मगर क्या वह योद्धा कभी हिम्मत हार सकता था ? सन् १९१४ से १९४७ ई. तक निरन्तर संघर्षरत रहना पड़ा। इन दिनों का उत्साह जगा, कितने निराश हुए लेकिन अविचल गति से परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़ते गये अन्त में सफलता ने उनके पैर चूमे।

थोड़ी-सी कठिनाई पर हिम्मत हार जाने वाले मनुष्य अच्छे नहीं माने जाते। जीवन सदा एकरस नहीं रहता। यह उस नदी की भाँति है, जिसमें कभी तेज चढ़ाव आता है और कभी दिखावे की लहरें ही होती हैं। हमें हर दशा में इसे पार करना है। इसका पानी कम गहरा हो तो बेपरवाही के साथ हँसते हुए और मुस्कराते हुए, चढ़ाव अधिक हो तो बड़ी सावधानी, साहस और धैर्य के साथ।

पालन-पोषण की त्रुटि समझिए या मन की बनावट का दोष। हमसे अनेक लोग ऐसे हैं, जो हर्ष और विनोद के क्षण तो हँसी-खुशी से बिता देते हैं। परन्तु कष्ट और कठिनाई सहन करने की तनिक भी सामर्थ्य नहीं रखते। जैसे ही कोई दुःख या कष्ट सामने आता है, वे घबरा जाते हैं। काँटा भी चुभ जाये तो चिल्लाना शुरू कर देते हैं। कभी जमाने के रूखेपन की शिकायत और कभी साथियों के बेवफाई का रोना। भाग्य, ईश्वर की इच्छा तथा मित्रों का चलन सबमें से उनको शत्रुता की दुर्गन्ध आने लगती है। मानो समस्त संसार उनका शत्रु है।

ऐसे लोगों के जीवन में वास्तविक कठिनाइयाँ इतनी नहीं होतीं, जितनी निराधार शिकायतें। हर समय रोना-चीखना, मुख को उदासीन बनाए रखना, आत्मग्लानि ग्रस्त रहना और शिकायतों का विष उगलते रहना उनके स्वभाव और प्रकृति के अंग बन जाते हैं। जिस कार्यालय या सभा में इस प्रकार का एक भी व्यक्ति बैठा हो, वहाँ के द्वार, दीवार, कमरे में पड़ी प्रत्येक वस्तु और आस-पास के सभी लोगों के मुँह पर निराशा की झलक

दिखाई देने लगती है। एक व्यक्ति का निराश मुख आस-पास के सभी लोगों के मनोरंजन को भंग कर देता है। दर्द भरी एक ही बात सारी सभा को उदासीन कर देती है।

कई साधारण-सी कठिनाइयाँ हमें केवल इसलिए हब्बा बनाकर डराती और हमारे जीवन को कटु बना देती हैं क्योंकि हम उनके साथ समझौता नहीं करते अन्यथा जिस प्रकार हमारे अन्दर यह शक्ति होती है कि जीवित व्यक्तियों से समझौता करके द्वेष को मित्रता और सहृदयता में बदल देते हैं, उसी प्रकार अपने रूठे हुए दुःखों को भी मना सकते हैं। जिस दुःख के साथ समझौता कर लिया जाय, वह हमारे मन में शिकायतों का विष नहीं पैदा होने देता। इसके विपरीत रूठा हुआ दुःख हमारे मन और मस्तिष्क, शरीर और स्वभाव का रक्त तो चूसता ही है, साथ-साथ हमारे साथियों की प्रसन्नता की जड़ें भी काट देता है।

अभिभावकों का कर्तव्य—अपने जीवन से ही धैर्य की शिक्षा दी जा सकती है। बात-बात में रोना, चिल्लाना, प्रकृति और दैव को दोष देने से किसी की मुसीबत कटती नहीं दीखती। संकटों और दुःखों से तो तभी छुटकारा मिल सकता है, जब उससे मुक्ति पाने के लिए प्रयास किया जाए। संसार की सत्यता को समझने के प्रयास से ही यह भाव उत्पन्न होते हैं। जब हम इस तथ्य को समझ लेते हैं तो सबको दुःख-सुख के झूले में झूलना पड़ता है। कभी दुःखों का सामना करना पड़ेगा तो कभी सुख भोगना पड़ेगा। इससे कोई व्यक्ति छुटकारा नहीं पा सकता तभी मैथिलीशरण गुप्तजी की पंक्तियों पर हमें विश्वास होगा कि—

संसार की समरस्थली में धीरता धारण करो।

चलते हुए निज इष्ट पथ पर संकटों से मत डरो॥

खेल-खेल में बच्चों को कभी-कभी निरन्तर पराजय का मुँह देखना पड़ता है। कई बार लगातार हार से कई बच्चे तो हिम्मत हार बैठते हैं लेकिन कुछ उससे निराश न होकर सतत प्रयत्न में लगे रहते हैं, परिणाम यह होता है कि वह अपनी पराजय को विजय से बदलने में सफल हो जाते हैं। हमें यह देखते रहना चाहिए कि बच्चे कहाँ और किस अवस्था में हिम्मत हार रहे हैं ? कम पढ़ाई और परीक्षा की कठिनाता से इनमें दुर्बलता के भाव उठ आते हैं। कभी-कभी आर्थिक तंगी, घर से फीस आदि की व्यवस्था न होने के कारण वे पढ़ने से मन मारकर बैठ जाते हैं। ऐसे अवसर पर आपके थोड़े-से उत्साहवर्द्धक शब्द बिजली जैसा चमत्कार दिखा सकते हैं। किसी बच्चे को आप उदास देखिये और यदि आपसे अपनी विपत्ति का रोना रोने आये तो दुत्कारना, ठुकराना अथवा झिड़ककर उसे भगा नहीं देना चाहिए। आप उसे सहानुभूतिपूर्वक अपने पास बिठा लीजिए। प्रेम से उसकी सब बातों को सुनिये। उसकी कठिनाई कितनी भी छोटी

या मनगढ़न्त क्यों न हो लेकिन आपकी मुखाकृति से यह बात कदापि झलकने न पाए कि आप नकली तरीके से उसकी बातों को सुन रहे हैं। यदि इसका तनिक भी आभास बच्चे को हो गया तो या तो वह आपसे अपने दिल की बात कहेगा ही नहीं और यदि कह भी दिया हो तो आपके उपदेश का उसके ऊपर किंचित्मात्र भी प्रभाव न पड़ेगा। बड़ी तल्लीनता के साथ आप उसकी बात को सुनिए और तब सहानुभूति, प्रेम तथा आत्मीयता के साथ उससे छुट्टी पाने का उपाय बताइए। यदि वह निराश हो चला हो तो उसे आशा बँधाड़िये, धैर्य दिलाइए।

धैर्य की कसौटी दो परिस्थितियों में भिन्न रूप से होती है, एक तो किसी दुर्घटना या आकस्मिक विपत्ति के समय। चलते-चलते किसी रिक्शा-ताँगा से टकरा जाना, गिर पड़ने से चोट लगना अथवा मारपीट की अवस्था आ जाना। इस समय भी घर के लोग घबरा जाते हैं। इतनी बुरी तरह से हाथ-पैर पीटने लगते हैं, मानो ऐसी विपत्ति उन्हीं पर पड़ी है। हिम्मत हार बैठते हैं और दुर्घटना से छुट्टी पाने के लिए जो उपाय करने चाहिए, वे नहीं करते।

छोटी-छोटी टकराहट, पड़ोसी से मारपीट या उद्दण्डता के कारण कोई घटना उत्पन्न कर देना तो बालकों का स्वभाव ही होता है। उनको उसमें आनन्द मिलता है। कहते हैं 'तरुणाई में आँखें अंधी हो जाती हैं, दूसरों से छेड़-छाड़ करने की ओर रुझान अधिक हो जाती है। इस अवस्था में स्कूलों में देखिए, बच्चे आपस में दो दल बनाकर अपनी शक्ति की आजमाइश करने की चेष्टा करते रहते हैं। अकारण दूसरे लड़कों अथवा राह चलने वाले लोगों को छेड़ते हैं। ऐसा करने से नई-नई विपत्तियों का खड़ा हो जाना स्वाभाविक है। परन्तु इन्हीं सबके द्वारा बच्चे अपने 'साहस' का प्रदर्शन करते हैं। यदि उनकी इस प्रवृत्ति को अच्छाई और पुरुषार्थ की ओर मोड़ा जाए तो उसका अच्छा फल निकल सकता है। बच्चों के साहस को मेले, ठेले या सार्वजनिक सभाओं में भीड़ को सुव्यवस्थित करने में, घाटों के किनारे स्नान करने वाले यात्रियों को डूबने या कुचलने से बचाने की व्यवस्था करने में लगाना चाहिए। यदि बच्चों को सार्वजनिक रचनात्मक सेवा कार्यों में लगाया जाए तो उनमें साहस और धैर्य दोनों गुणों का विकास होगा। माता-पिता को चाहिए कि स्कूलों की ओर से इस प्रकार के जो आयोजन हों, उनमें तो बच्चों को शामिल करायें ही, साथ ही स्वयं भी चेष्टा करके बच्चों को इन अवसरों से लाभ उठाने का अवसर दें। उन्हें क्रियात्मक और ज्ञानात्मक दोनों रूप से यह बताने की चेष्टा माँ-बाप को करते रहना चाहिए कि किसी आकस्मिक विपत्ति के आ जाने पर हिम्मत हार बैठना, केवल कायरता है। अधिक रोने-पीटने, गिड़गिड़ाने से विपत्ति से छुटकारा नहीं मिलता।

ऐसे अवसर पर अपने धैर्य को न खोकर उस विपत्ति से बचने के उपाय सोचने चाहिए। कोई भी व्यक्ति यदि विपत्ति के समय शान्तचित्त से उपाय खोजे तो बहुतेरे उपाय निकल सकते हैं।

दूसरी प्रकार की विपत्ति की अवधि लम्बी होती है। आर्थिक कठिनाई, पढ़ने में मन्दबुद्धिता, विमाता का द्वेष अथवा मातृहीन या पितृहीन होने से परिवार के अन्य सदस्यों को उपेक्षा भाव रखना इसके कारण होते हैं।

बालक ध्रुव की कहानी कौन नहीं जानता ? उन जैसे हजारों बालक विमाता के अनुरोध पर पिता की गोद से ठुकराये जाते हैं लेकिन वे अपनी दीनता को सौभाग्य में बदलने की चेष्टा नहीं करते इसीलिए जीवन भर उसी का रोना रोने के अतिरिक्त उन्हें कुछ नहीं मिलता

ध्रुव ने अपने साहस का परिचय दिया। भक्त प्रहलाद की कहानी भी तो हमें यही शिक्षा देती है। पिता हिरण्यकशिपु बालक प्रहलाद के विचारों से क्रुद्ध हो जाते हैं। वे चाहते हैं कि मेरा पुत्र प्रहलाद मुझ को ईश्वर माने, वह ईश्वर की भक्ति न करे, मगर प्रहलाद ने सत्य मार्ग को न छोड़ा। कितनी ही विपत्तियाँ उसके ऊपर ढहाई गई। परन्तु क्या प्रहलाद मरा ? नहीं, उसने हिम्मत न हारी। अन्त में उसको ऐसी विजय मिली जैसी बिरतों को ही मिलती है। नरसिंह रूप में भगवान को आकर उसकी रक्षा करनी पड़ी।

बहुत दूर हम न जायें। शिवाजी ने बचपन ही से तो अपने धैर्य का परिचय दिया। एक छोटा बालक बीजापुर जैसी शक्ति का विरोध करने की तैयारी करे वह भी कुछ जंगली बच्चों को अपना सहयोगी बनाकर। भला यह बात बुद्धि में आने वाली है ? लोग हँसते थे शिवा की मूर्खता पर।

जब शिवाजी की कार्यवाहियाँ बढ़ने लगीं तो बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी के पिता शाहजी को, जो कि उन्हीं के दरबार में एक उच्च पद पर थे, बन्दी बना लिया कि इसी से शिवा भयभीत होकर हमारी आधीनता स्वीकार कर ले। मगर शिवाजी ने हिम्मत न हारी। उन्होंने अपने पिता को छुड़ाया और स्वयं भी अपनी कार्यवाहियाँ जारी रखीं। जन-साधारण को यह नहीं मालूम कि शिवाजी को कितनी विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था, मगर कभी भी उन्होंने अपने धैर्य को न छोड़ा। इसी से वे हिन्दू साम्राज्य के संस्थापक एवं लाखों लोगों के आराध्य देव माने जाते हैं।

मुगल सम्राट अकबर जब केवल १३ वर्ष का था तभी पिता हुमायूँ की मृत्यु से उसे गद्दी पर बैठने का अवसर मिला। तब वह अपने संरक्षक वैरम खाँ की संरक्षकता में था। परन्तु क्या साहसी व्यक्ति कभी किसी का मुँह ताकता रहता है ? उसने अपने सारे बन्धन काटे और अल्पायु में ही वह विशाल साम्राज्य का कुशल

प्रशासक बना। यदि विपत्तियों से घबड़ाकर वह हिम्मत हार बैठता तो क्या उसे चमकने का अवसर मिलता ?

भक्त कवि मीराबाई को क्या हम नहीं जानते ? उनके पति राणा ने उन पर कितनी विपत्तियाँ डालीं ? मगर देवी मीरा ने धैर्यपूर्वक उनको सहन किया। कभी न उन्होंने हिम्मत हारी और न राणा अथवा किसी अन्य विरोधी से बदला लेने में अपनी शक्ति लगाई। वे अचल और अटल बनकर अपने पथ पर चलती गईं। इसी से मीराबाई आज भक्त शिरोमणि नारी कवि कहलाती हैं।

आज भी हम देखें कि पिता की मृत्यु से कितने ही बच्चे हिम्मत हार बैठते हैं, अपनी पढ़ाई को त्यागकर अपने विकास को रोक देते हैं। परन्तु ऐसे भी हैं जो हर दशा में अपना मार्ग खोज ही लेते हैं। अपना काम-काज करते हुए पढ़ाई को चालू रखकर प्राइवेट रूप में बी. ए., एम. ए. एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करके अपने परिश्रम से उच्च पदों पर पहुँचने वालों के उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं।

जीवन के हर क्षेत्र में साहस और धैर्य की आवश्यकता है। जो अपने धैर्य को न खोकर साहस का परिचय देता रहता है, वह धीरे-धीरे दैवी मार्ग की ओर बढ़ता जाता है। अन्त में उच्च पद पर पहुँचकर उसे चमकने का अवसर मिलता ही है।

बच्चे की यह अमूल्य सम्पत्ति है। आप इसे अपने बच्चे को दें तो वह जीवन भर उसे खर्च करके भी कभी भिखारी न बनेगा। ज्यों-ज्यों वह इन सम्पत्तियों को खर्चगा वह और धनी बनता जाएगा।

बल और विवेक

सुखी बनने की क्षमता 'शक्ति' में है। शक्ति ही वास्तविक सम्पत्ति है। जीवन को प्रकाशित, प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न व सुस्थिर बनाने के लिए स्वस्थ शरीर और विवेक अर्थात् दूरदर्शितापूर्ण व्यवहार की आवश्यकता है। कमजोर व्यक्ति चाहते हुए भी कुछ न कर सकने में असमर्थ होते हैं। शरीर बल इसीलिए सबसे बड़ा बल माना गया है कि इसके सहारे जीवन-यात्रा चलती है। बचपन से ही बच्चे के शरीर को स्वस्थ रखने के लिए माँ-बाप को हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। वैसे तो एक समय था जब शरीर-बल पर ही हमारी उन्नति-अवनति निर्भर करती थी लेकिन आज वैसी स्थिति नहीं है। बुद्धि-बल की प्रधानता होती जा रही है। परन्तु शारीरिक बल की आवश्यकता और उपयोगिता से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

अच्छे स्वास्थ्य के लिए अच्छी खुराक, व्यायाम तथा स्वच्छता की आवश्यकता होती है। विटामिन युक्त भोजन बच्चे को दिये जाने की बात पिछले प्रसंगों में कही जा चुकी है। १४, १५ वर्ष की आयु के बच्चों में

बाजार की चटोरी चीजें खाने की लत पड़ जाती है। बाजार में जाने पर बिना चाट खाये उनका जी नहीं मानता। इतनी चमकीली, स्वादिष्ट एवं तत्काल आनन्द देने वाली चीजों का आजकल इतना चलन हो गया है कि उनके आकर्षणों से बच्चे का बच पाना बहुत कठिन है। लेकिन यदि सतर्कता रखी जाये तो इस ओर काफ़ी प्रयास किया जा सकता है। व्यायाम करना, टहलने जाना, स्वच्छता रखने से बच्चे का स्वास्थ्य ठीक रहता है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य की मानसिक स्थिति का उसके शरीर पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी अच्छे-भले युवक को यह भ्रम हो जाये कि वह बीमार है तो उसका बीमार हो जाना सम्भव है। इसके विपरीत यदि कोई लड़का यह विश्वास कर ले कि वह स्वस्थ है तो उसका स्वस्थ हो जाना भी सम्भव है। विचारों की इस शक्ति को रचनात्मक व ध्वंसात्मक परिणामों से कोई इन्कर नहीं कर सकता।

शरीर की अपनी कोई इच्छा नहीं, कोई राय नहीं और कोई अधिकार नहीं। मस्तिष्क सारे शरीर का सम्राट है और इस पर राज्य करता है। उदाहरणतः, जब वह देखता है कि शरीर जिस सड़क पर चल रहा है, उसी सड़क पर सामने से मोटर आ रही है, तो तुरन्त एक ओर हट जाने की आज्ञा देता है। शरीर हट जाता है और खतरे से बच जाता है। हमारे हाथ, हमारे पाँव, हमारी आँखें, हमारा सिर हर खतरे और हर दुर्घटना के समय मस्तिष्क की आज्ञाओं के पालन के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु यदि मस्तिष्क झूठी पर न हो—यह नौद, नशे या अचेतनता की अवस्था में हो तो इसके अतिरिक्त कोई शक्ति ऐसी नहीं जो हमारे शरीर को खतरे या दुर्घटना की चेतावनी दे सके।

मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा—मस्तिष्क जीवन की धुरी है। वातावरण से प्रभावित होकर यह जितना निराशा, दुःख, हर्ष और आनन्द प्राप्त करेगा, उतना ही यह सब शरीर पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालेगा। जिस युवक का मानसिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं, वह सदा चिन्ताग्रस्त रहता है। जो जीवन को आशावादी के बजाय निराशावादी दृष्टिकोण से देखता है, अपने आपको कल्पित खतरे से घिरा समझता है और भविष्य में आने वाले कल्पित दुःखों से भयभीत रहता है, उसने एक प्रकार से जान-बूझकर अपने शरीर में कीटाणुओं को पलने दिया है, जो उसे घुन की तरह खाते रहते हैं, उसके स्वस्थ रहने के विषय में कुछ विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जिसे अपने स्वास्थ्य से प्रेम है, उसे अवश्य ही अपनी मानसिक स्थिति बदलनी पड़ेगी।

मानव-मस्तिष्क की स्वास्थ्य बाधक बहुत-सी विकार युक्त भावनाएँ हैं। क्रोध का प्रभाव पेट पर बुरा पड़ता है। यह रक्त को पानी के समान पतला कर देता है। चिन्ता, घृणा, ईर्ष्या, घबराहट, निराशा, रोष, उदासी, बेदिली और

चिड़चिड़ापन आदि भी भय के ही घातक परिणाम हैं। इसी प्रकार चिन्ता भी शारीरिक स्वास्थ्य की शत्रु है। बहुत-से लोग अपने बच्चों को अच्छा खाना खिलाते हैं, व्यायाम आदि पर भी बल दिया करते हैं, फिर भी वे स्वस्थ नहीं रहते। चिन्ता ने उन्हें रोगी बना रखा है। ऐसी घटनाएँ देखने और सुनने में आई हैं कि चिन्ता के कारण एक ही रात में सारे बाल सफेद हो गये। ईर्ष्या भी मस्तिष्क की स्वास्थ्यघातक अवस्थाओं में शामिल है। किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति के मुँह पर कभी ताजगी और प्रसन्नता दिखाई नहीं दे सकती।

भ्रम और भय का बड़ा निकट सम्बन्ध है। ये दोनों बच्चे के जीवन के बहुत बड़े शत्रु हैं। जिस युवक को कोई भ्रम होगा, उसे कोई न कोई भय अवश्य परेशान करता रहेगा। जिस लड़के ने भ्रम और भय को स्वीकार कर लिया उसकी इच्छाशक्ति और सुरक्षा-शक्ति दोनों ही बेकार होकर रह जाएँगी।

वह युवक बड़ा भाग्यवान है जिसकी मानसिक अवस्था आशापूर्ण और स्वस्थ है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति की मानसिक अवस्था उसके बाल्यकाल के शिक्षण और वातावरण से ऊँची नहीं हो सकती। जो माता-पिता हर समय अपने बालकों को डाँटते-डपटते हैं, उन्हें लज्जित करते और मारते-पीटते रहते हैं, उनके नन्हें हृदयों को कटाक्षों से घायल करते रहते हैं, उन्हें देवों, परियों और जिनों के किस्से-कहानियाँ सुनाकर कायर बना देते हैं, उन्हें प्रशंसा आदर और मनोरंजन से वंचित रखते हैं, उनके बच्चे मानसिक तौर पर जीवन भर बच्चे ही रहते हैं। उनके मस्तिष्क पर हर समय निराशा और उदासी की छटा छाई रहेगी। वे किसी कठिनाई, किसी दुर्घटना और किसी रोग का बहादुरी से सामना नहीं कर सकेंगे और वे अपना सारा जीवन सहम कर ही बिताएँगे।

प्रशंसा, हर्ष और प्रोत्साहन से परिपूर्ण बचपन ही जीवन भर के दृढ़, महान, निर्भीक विचारों और अच्छे स्वास्थ्य की आधारशिला बनता है।

अच्छे स्वास्थ्य के इच्छुक युवक को अपने विचारों की पवित्रता और शिष्टता की ओर भी अवश्य ध्यान देना पड़ेगा। उसे सभी मानसिक बुराइयों से बचना होगा। मेरा अपना अनुभव है कि झूठ बोलने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। झूठ बोलने वाले व्यक्ति को हर समय यह चिन्ता रहती है कि उसकी पोल न खुल जाए। चुगली भी स्वास्थ्य की शत्रु है। चुगली करने वाले को सदा यह भय रहता है कि मैंने जिस व्यक्ति के यश पर धब्बा लगाया है, वह मेरी चुगली को जानकर मेरा शत्रु बन जाएगा। ईर्ष्या और प्रतिक्रिया की भावना बच्चे के उठते रक्त को जला डालती है। इसलिए आवश्यक है कि इन दोषों से स्वयं भी बचा जाए और अपने बच्चों को बचाया जाए। इसके साथ-साथ अपने मन में उच्च

नैतिक विचार भरने चाहिए। प्रसन्नता, क्षमा, सत्यवादिता और ईमानदारी द्वारा अपने स्वास्थ्य की रक्षा की जानी चाहिए।

महात्मा आनन्द स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है कि जिस युवक को स्वस्थ रहने की कामना हो उसे प्रसन्न रहना चाहिए। कठिन से कठिन घड़ियों में अपनी प्रसन्नता को त्यागना न चाहिए। चेहरे पर मुसकराहट साजती रहे। खूब खिलखिलाकर हँसना स्वास्थ्य के लिए बहुत गुणकारी होता है। कुछ भी हो प्रसन्नचित रहना स्वस्थ जीवन की निशानी है। संसार में दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, आराम-तकलीफ, संयोग-वियोग लगा ही रहता है। कौन ऐसा है जिसे इन झूलों में झूलने का अवसर न मिला हो लेकिन विपरीत परिस्थितियों में भी प्रसन्नता को हाथ से न जाने देना चाहिए।

स्वास्थ्य हमारी अमूल्य निधि है। स्वास्थ्य को खोकर बच्चा अपने सुख और सौभाग्य को खो बैठता है। इसलिए हर सम्भव तरीके से इसकी रक्षा करनी चाहिए। केवल खुराक, व्यायाम और स्वच्छता पर ही निर्भर न रहकर महत्तम प्रकृति प्रदत्त शक्ति, विचार और कल्पना से भी लाभ उठाना चाहिए। अपने दैनिक जीवन की प्रत्येक क्रिया में विचार की आत्मा समानी चाहिए। सैर करने निकलें तो यह समझें कि शरीर की नाड़ियों में रक्त की गति तीव्र हो गई। हरे-भरे खेती और दूर-दूर तक फैले हुए दृश्यों को देखते हुए आशा रखें कि आँखें स्वस्थ हो रही हैं।

संसार सागर की यात्रा के लिए हमारा शरीर एक नाव—शरीर के ऊपर हमारा पार उतरना या डूबना, बहुत कुछ निर्भर करता है। जिस तरह छिद्रयुक्त जौर्ण-शीर्ण कमजोर नाव से चंचल, गतिशील, तीव्र संघर्षयुक्त जल-धारा को पार करना कठिन है, उसी तरह रोगी, निर्बल और असमर्थ शरीर से जीवनयात्रा भली प्रकार पूरी करना सम्भव नहीं होता। विजय, सफलता, आनन्द और उल्लासमय जीवन बहुत स्वस्थ एवं बलवान शरीर पर निर्भर करता है। शरीर मनुष्य के लिए एक ऐसी ईश्वरीय देन है, जिसके अभाव की पूर्ति संसार में अन्य कोई भी वस्तु नहीं कर सकती। दुर्बल आँख की क्षति-पूर्ति चश्मा लगवाने से नहीं हो सकती। कमजोर एवं खोखले दाँतों के स्थान पर नकली दाँत लग तो जायेंगे परन्तु वे प्राकृतिक दाँतों की तुलना कहाँ कर सकते हैं ? केवल मुँह को पोपला लगाने से बचाये रख सकने भर की सामर्थ्य उनमें होती है।

एक महात्मा के पास एक गरीब निर्धन व्यक्ति गया। गिड़गिड़ाकर अपनी दीनता की कहानी सुनाते हुए दुःख दूर करने की याचना की। पैरों पर गिरकर कहण कहानी सुनाने लगा कि “सायंकाल भोजन के लिए भी एक पैसा नहीं है, कोई साधन नहीं कि जिससे कोई रोजगार करके जीविका निर्वाह कर सकूँ।” महात्माजी

चुपचाप सब सुनते रहे फिर बोले “तू तो कई हजार का माल अपने पास रखे है फिर मेरे सामने भिखारी बनने का स्वाँग क्यों करता है ?” गरीब बेचारा चौंका और बोला “महाराज मैं आपसे असत्य नहीं बोल रहा हूँ, मेरे पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है।” महात्मा ने कहा “अच्छा सुन तू अपने दोनों हाथ मुझे दे दे और बदले में २ हजार रुपये नकद मुझ से ले ले।” भिखारी बेचारा सोचने लगा, फिर थोड़ी देर बाद बोला, “नहीं, स्वामीजी दो हजार लेकर मैं अपने हाथ देकर जीवन भर के लिए लूला बनना नहीं चाहता।” तब महात्माजी ने कहा “अच्छा ! अपने दोनों पैर ही दो हजार में मेरे हाथ बेच डाला।” गरीब फिर सोच में पड़ गया, थोड़ी देर बाद उसने उत्तर दिया “नहीं। स्वामीजी, दो हजार रुपये लेकर जीवन भर के लिए पंगु बनना स्वीकार नहीं है।” तब फिर महात्मा बोले “अच्छा ले चार हजार देता हूँ अपनी दोनों आँखें दे दे।” भिखारी ने फिर सोचकर इन्कार कर दिया। अन्धे बनकर जीवन काटना उसने किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार महात्मा ने अन्य अंगों का मूल्य लगाया लेकिन किसी पर भी वह भिखारी देने को राजी न हुआ। तब अन्त में महात्मा ने कहा—“अरे मूर्ख ! तू कई हजार का ही नहीं, कई लाख, कई करोड़ कीमती सामान रखे रहकर अपने को भिखारी कहता है। यदि तू इन सबका सदुपयोग कर, उनका मूल्य समझ ले तो अपनी गरीबी के साथ सैकड़ों की गरीबी दूर करने की सामर्थ्य तुझमें छिपी है।”

वास्तव में हम अपने शरीर की कीमत नहीं करते। किसी अंग विशेष का मूल्य हमें तब मालूम होता है जब वह हमसे छिन जाता है। आँख फूटने के बाद आँख का, दाँत टूटने के बाद दाँत का, बहरे होने पर कान का मूल्य हमें मालूम होता है।

“अब पछताए होत का जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।”

बुढ़ापे में अंधे, बहरे और पंगु बनकर रोने से क्या लाभ ? बचपन से चेते। अपने बच्चे को उसके हर अंग की महत्ता बताओ, उनकी उपयोगिता समझाओ और उनके सामने उन लोगों के उदाहरण रखो, जिन्होंने मूर्खता में पड़कर अपने अंगों के साथ खिलवाड़ करके उन्हें नष्ट कर डाला है, कृत्रिम दाँत वाले को दिखाकर आप अपने बच्चे को दाँत की उपयोगिता बताइये। अन्धे को दिखाकर आँखों की उपयोगिता का भान कराइये। हाथ-पाँव से दुर्बल व्यक्ति को दिखाकर इन अंगों को सुरक्षित रखने की तरकीब समझाएँ।

देखकर, सुनकर और समझकर यदि बच्चा काठ का पुतला नहीं है तो अवश्य शिक्षा प्राप्त करेगा। अपने अंगों की सुरक्षा रखने की ओर वह सतर्क रहेगा और फिर उसे दीर्घकाल तक इनके उपयोग का आनन्द मिलेगा।

शरीर को दुर्बल न होने दिया जाय—शास्त्रकारों ने शरीर को ही सब धर्मों का साधन बताते हुए कहा है—“शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।” स्वस्थ शरीर के द्वारा ही जीवन और जगत के धर्म कर्तव्यों का भार वहन किया जा सकता है। वस्तुतः बिना मजबूत शरीर के न हम किसी का ऋण चुका सकते हैं, न अपना कर्तव्य पूर्ण कर सकते हैं। दुर्बल शरीर से न किसी की सेवा ही हो सकती है। बापू ने कहा है, “शरीर आत्मा के रहने की जगह होने से तीर्थ जैसा पवित्र है।” आवश्यकता इस बात की है कि हम इसे तीर्थ की तरह ही स्वच्छ-सुन्दर विकारशून्य बनाने का प्रयास करें।

शरीर के माध्यम से ही जीवन और जगत के सौन्दर्य-आनन्द का लाभ उठाया जा सकता है। शरीर में जब भरपूर उछल-कूद, मन में अपार उत्साह होता है तो यह संसार क्रीड़ा भूमि-सा दीखता है, स्वर्ग-सा लगने लगता है और जब शरीर अमसर्ष, अयोग्य, बलहीन हो जाता है तो यह संसार नरकतुल्य जान पड़ता है। जीवन भार स्वरूप लगने लगता है। पाश्चात्य विद्वान बीचर ने कहा है “शरीर वाणी है और आनन्द संगीत। यह जरूरी है कि यन्त्र दुरुस्त रहे। आनन्द का संगीत स्वस्थ शरीर में ही स्पन्दित होता है।”

शरीर का रोगी जीर्ण-शीर्ण कमजोर होना अपने आप में एक बहुत बड़ा पाप है। जार्ज बर्नार्डशा ने कहा है, “यदि कोई बीमार पड़ेगा तो मैं उसे जेल भेज दूँगा।” बीमारी सजा है प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने की। रोगी होना अपने आप में अपराधी होना है। रोगी होकर जहाँ मनुष्य अपने लिए नरकतुल्य जीवन का द्वार खोलता है, वहाँ समाज की उन्नति में भी बाधा डालता है क्योंकि एक ओर तो वह व्यक्ति समाज के लिए जो कुछ करता है वह रुक जाता है, दूसरे अन्य लोगों का समय, श्रम, धन रोगी को लिए लगने लगता है।

स्वस्थ, बलवान शरीर वाले बच्चे पर फटे कपड़े भी शोभा देते हैं। रोगी और निस्तेज बालक सुन्दर कपड़ों के सौन्दर्य को भी भद्दा बना देता है। उसे कितना ही सजाएँ वह अनाकर्षक और कुरूप ही लगेगा।

वैयक्तिक जीवन में शरीर के बाद नम्बर आता है—हृदय और बुद्धि का। शरीर के साथ-साथ हृदय व बुद्धि का भी अपने-अपने क्षेत्र में स्वस्थ, सतेज होना आवश्यक है। इसी को हम कहते हैं ‘विवेक’ जिसका साधारण अर्थ यह हो सकता है, कि ‘सोच समझकर काम करने की शक्ति’।

अक्सर देखा जाता है कि कई व्यक्ति शरीर से स्वस्थ होते हैं, लेकिन उनके हृदय, बुद्धि अविकसित ही रह जाते हैं। बहुत-से पहलवान कहाने वाले लोग बुद्धि के ‘ठस’ और हृदय के प्रेम, आनन्द, निर्मलता से शून्य होते हैं। लोगों को प्रायः यह धारणा बन गई है कि जो शरीर

से तगड़ा होगा वह बुद्धि से कमजोर होगा और जो बुद्धिमान होगा उसका शरीर दुर्बल होगा लेकिन वस्तुतः यह विश्वास गलत है।

अकबर के दरबार में दो हट्टे-कट्टे राजपूत नौकरी के लिए आये। अकबर ने कहा कि अपनी ताकत की परीक्षा दो। दोनों राजपूतों ने अपनी तलवारें एक-दूसरे से मुकाबले के लिए खींच लीं। थोड़ी देर में एक ने दूसरे का सिर काट लिया और दूसरे ने पहले के पेट में तलवार भोंक दी। दोनों की लाश नदी में फिंकवा दी गई। यह भी स्वस्थ शरीर के नमूने थे। लेकिन इनमें विवेक-बुद्धि नहीं थी। स्वस्थ शरीर की पहचान है कि हृदय में उमंग हो, कुछ कर डालने को जी चाहता हो, लेकिन उसके साथ सोच-समझकर कुछ अच्छा कार्य करने की ओर शारीरिक शक्ति को लगाने की क्षमता भी बच्चे में होनी चाहिए, अन्यथा उसका शरीर अकबर के दरबार वाले क्षत्रियों जैसा हो सकेगा।

कहावत है कि ‘जोश के साथ होश भी हो।’ बिना होश का जोश दो कौड़ी का होता है। मध्यकालीन इतिहास के पृष्ठ होश रहित जोश के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। आल्हा-ऊदल की लड़ाईयाँ होशरहित जोश के नमूने थे। अकारण दूसरे राज्यों से झगड़ा मोल ले बैठते थे। काश, उनकी शक्ति यदि देश सेवा अथवा राज्य सेवा में लगती तो वे कैसे होते ? पृथ्वीराज चौहान के दरबार में उनके एक कका थे, उनके सामने यदि कोई मुछों पर हाथ फेर दे तो वे उसे बिना मार डाले न छोड़ते। एक दिन पृथ्वीराज के ससुराल के लोग आये थे। दरबार में सभी लोग बैठे थे। अचानक उन्होंने ‘मुछों’ पर हाथ फेरा, बस कका की तौरियाँ चढ़ गईं। वे अपने को सँभाल न सके और तलवार खींचकर उनका सिर ही काट डाला।

ऐसे स्वस्थ युवक किस काम के जिनमें जोश हो लेकिन होश न हो। हड़ताल करना, ट्रेनों की जंजीरों खींचना, सरकारी कर्मचारियों को मार-पीट देना, आपस में हाकियाँ चटकाना आदि अनुशासनहीन कार्य ही उनसे बन पड़ेंगे। उठती जवानी का यह समय भारी नियन्त्रण चाहता है। शारीरिक शक्ति यदि गलत दिशा की ओर लग गई तो अग्नि-दुर्घटना की तरह घर भर का सत्यानाश करके ही छोड़ेगी। अनुचित दिशा में लगी शक्ति सिनेमा, नाच, रंग, फैशनपरस्ती में शरीर को स्वाहा करती है और घर का पैसा उसमें ईंधन बनता है।

इसलिए माँ-बाप का यह कर्तव्य है कि जहाँ वे बच्चे के शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए उसके खान-पान, स्वच्छता, मनोरंजन, व्यायाम आदि पर आवश्यकतानुसार ध्यान दें। उसके शरीर को हष्ट-पुष्ट बनावें, वहाँ उसके मस्तिष्क को भी परिष्कृत करने, उसमें सोच-समझकर समयानुसार कार्य करने की शक्ति पैदा करें। यह एक आवश्यक कार्य है, जो एक दिन में बड़े प्रयत्न

से पूरा नहीं हो सकता। आपको हमेशा कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता—विचार शीघ्र बदले जा सकते हैं लेकिन जीवन का दृष्टिकोण धीरे-धीरे बनता है। उसमें परिवर्तन भी धीरे-धीरे ही हो सकता है। हर व्यक्ति बचपन से ही अपने विषय में सोचता-विचारता रहता है। उस सोचने-विचारने के ढंग के अनुसार अपने तथा समाज के विषय में उसकी एक धारणा बन जाती है। फिर उसके समस्त कार्य उसी 'धारणा' की धुरी से संचालित होते रहते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चे को शुरू से ही सही दिशा में सोचने और दृष्टिकोण बनाने में सहायता दी जाए।

समाज में अन्धविश्वास का बोलवाला है। बहुत-सी मिथ्या बातों का प्रचलन है। रूढ़िवाद, जाति-पाँति, छुआछूत के भेदभाव के नाम पर लाखों लोग अपमान की चक्की में पिसते रहते हैं तो बहुतेरे ऐसे हैं, जो इन मान्यताओं का लाभ उठाकर बिना परिश्रम किए मौज उड़ाते हैं। चूँकि हमारी निश्चित मान्यता बन गई है कि यह बातें सही हैं। इसलिए हम आँख से देखते हुए भी बुरा नहीं कहते फिर उसमें परिवर्तन की बात कैसे सोचें ?

संसार की बदली हुई परिस्थितियों में हमारी निर्जीव मान्यताएँ भावी पीढ़ी को प्रगति की ओर ले जाने में सहायक नहीं होती। जब बच्चा घर पर तो अपनी पुरानी मान्यताओं के अनुसार कार्य करता है और स्कूल में पुस्तकों से, उसमें दूसरे अन्तर्द्वन्द्व उठने स्वाभाविक हैं। यही अन्तर्द्वन्द्व, असन्तोष, कलह और विचार-भ्रमता के रूप में प्रकट होता है। इसीलिए माता-पिता को चाहिए कि बच्चे को हर अच्छी-बुरी मान्यताओं को जैसी की तैसी स्वीकार कर लेने के लिए कभी उत्साहित न करें। जिस प्रकार गणित के नियम सही और खरे हैं, उनके विपरीत चलने से प्रश्न का सही उत्तर नहीं निकल सकता। ठीक उसी प्रकार हमारा धर्म भी वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। उसकी हर बात को आँख मूँदकर मनवाने से क्षति ही होगी। अतः जो भी परिस्थिति सामने आये और बच्चा उसे समझने अथवा जानने की चेष्टा करे तो आप उसकी वास्तविकता को कभी छिपायें।

कोई त्वाँहार क्यों मनाया जाता है, यह आप बच्चे को समझाइये। जाति प्रथा क्यों प्रचलित हुई, उससे क्या लाभ थे, यह बच्चे को बताना चाहिए। आज उसकी क्या उपयोगिता है, यह भी बताइए। बदली परिस्थिति में उसमें क्या परिवर्तन लाना चाहिए, इस पर भी बच्चे को सोचने और सम्मति देने का अवसर दीजिए। विशेष रीति-रिवाज को क्यों मनाया जाता है, इस बारे में भी आप बच्चे को बताइए। बच्चे में विचार शक्ति और तर्क शक्ति जाग्रत कीजिए। हर काम को करने से पहले उसके परिणाम को सोचने-विचारने के लिए कहना चाहिए। आँख मूँदकर

अपनी आज्ञा को मनवाना बुद्धिमान माँ-बाप का काम नहीं है। यदि, आप बच्चे में हर काम के परिणाम, साधन, उपयोगिता एवं करने के ढंग के विषय में सोचने-विचारने का मौका देंगे और उसे सहायता भी देंगे तो उसमें विवेक-बुद्धि जाग्रत होगी। वह कभी ऊँची मान्यता की भित्ति से नीचे गिरने का अवसर न आने देगा।

इंग्लैण्ड का प्रधानमन्त्री 'लार्ड डिजरायली' कहा करता था कि मेरे छह महान शिक्षक हैं, जिनसे मैंने सब ज्ञान सीखा है। वे शिक्षक कौन हैं ? उनसे बताया कि—(१) क्यों ? (२) कैसे ? (३) कब ? (४) किस प्रकार ? (५) कौन ? और (६) किसके द्वारा ? यही छह तर्क उसके शिक्षक थे।

हर काम को करने से पहले यही छः प्रश्न आप अपने से पूछिये, उत्तर स्वयं निकल आवेगा। उन्हीं उत्तरों से मार्गदर्शित होकर आप कार्य करें। यही आदत बच्चों में डालनी चाहिए। यदि उनकी आदत इस प्रकार जानने-बूझने की पड़ जायेगी तो वे समाज के आदर्श नागरिक बनेंगे।

स्वावलम्बीयता का लक्ष्य—दूसरे, अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में उदारवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दीजिए। जैसे युवकों के मन में शुरू से ही यह धारणा बनती रहती है कि पढ़-लिखकर वे नौकरी करेंगे। माँ-बाप भी उनकी इस धारणा को पुष्ट करते रहते हैं। वे बच्चों को बताते रहते हैं कि अगर वह पढ़ लेगा तो कहीं नौकरी मिल जायेगी, ठाट से घुमेगा, अन्यथा खेती करते-करते घास छीलेगा, हल जोतना पड़ेगा। व्यापारी भी अपने बच्चे को इसी प्रकार से गलत दिशा में सोचने का अवसर देता है। यह बातें बच्चे के हृदय में नौकरी के प्रति ऊँची धारणा और खेती तथा व्यापार के प्रति हीनभावना उत्पन्न कर देती हैं। परिणाम यह होता है कि पढ़ने-लिखने के बाद बच्चे को जब तक नौकरी न मिले वह घर पर बेकार पड़ा रहना पसन्द करेगा परन्तु खेती में परिश्रम करना उसे नहीं भायेगा। हम नित्य देखते हैं कि कितने ही युवक इस मिथ्या धारणा के कारण ६००) मासिक वेतन पर दिनभर कार्यालय की फाइलों से जूझ-जूझकर अपने प्रतिभा को नष्ट करने में आत्मसन्तोष का अनुभव करते हैं लेकिन उससे आधा परिश्रम करके ही अधिक पैसा कमाना अथवा स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी जीवन बिताना पसन्द नहीं करते, इससे बड़ा देश का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ? परिस्थिति यह है कि शिल्प, उद्योग एवं कृषि की ट्रेनिंग करने वाले लोग भी उसी विभाग में नौकरी को ही जीवन का स्वर्ण समझते हैं।

बच्चों की इस मिथ्या-मान्यता को बदलना है। उन्हें यह कल्पना देनी है कि स्वावलम्बी जीवन बिताकर अपने शरीर, बल एवं बुद्धिबल का परीक्षण करके उसके आधार

पर जीविक निर्वह करना नौकरी से कई गुना श्रेष्ठ है। नौकरी फिर नौकरी ही है, चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो।

सोच, समझ एवं उचित परिणामों के आधार पर निश्चय करने का मौका दीजिए। जब बच्चे में विवेक-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, सत्यासत्य का निर्णय करने की शक्ति उनमें जाग्रत होने लगती है, तब वह धीरे-धीरे अपनी हर समस्याओं के प्रति एक सही दिशा अपनाने को सोचता है, जिससे उसमें ओजस्विता एवं स्वावलम्बन के गुण पैदा होते हैं।

भ्रातृभावना कैसे जगाई जाय ?

समाज में जितने बच्चे हैं, जो कि किसी न किसी पाठशाला में पढ़ने जाते हैं, उन सबकी आर्थिक दिशा समान नहीं हो सकती। कुछ अति अमीर घराने के होते हैं तो बहुतेरे बच्चे ऐसे मिलेंगे जिनके माता-पिता अत्यन्त गरीबी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनको शाम तक भरोपेट भोजन मिलना भी कठिन रहता है। फिर अपने बच्चों को वे किस प्रकार अच्छे वस्त्र पहनाकर स्कूल भेज सकते हैं ?

जिस युग में हम लोग रह रहे हैं वह स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृभावना का युग है। हमारे देश के संविधान ने अपने प्रथम अध्याय में भारत में निवास करने वाले सभी नागरिकों के लिए समानाधिकार, स्वतन्त्रता एवं समान व्यवहार प्रदान करने की घोषणा की है।

यह भाव है कि सब प्राणी समान हैं, सभी ईश्वर के बन्दे हैं, अतः न तो अमीर को गरीब से घृणा करना चाहिए और न बुद्धिमान को बुद्धिहीन को नीची निगाह से देखना चाहिए। वरन् उन्हें अपने से नीचे वाले को सहयोग देकर, सहानुभूति प्रदान कर अपनी शक्ति एवं सम्पत्ति का थोड़ा अंश देकर उन्हें भी ऊँचा उठाना कर्तव्य है। नागरिकों में यह भाव तभी जाग्रत हो सकते हैं, जब बचपन से ही उनमें गरीबों के प्रति दया, अपने साथी के प्रति प्रेम के अंकुर का बीजारोपण किया जाय। उन्हें सिखाया जाय कि सबको सहयोग से रहना ही जीवन जीने का सही रास्ता है। अपने साथी की हर सम्भव सहायता करने से अपनी सहायता होती है। बिना दिये कुछ मिलता भी नहीं है। लेना और देना दोनों इस संसार के साथ-साथ चलते हैं।

फिर बचपन से यह अंकुर कौन वपन करेगा ? उत्तर स्पष्ट है कि माता-पिता और विद्यालय। यही दो संस्थाएँ हैं, जो हर अच्छे-बुरे भाव बच्चे में भरते हैं।

बच्चों में भ्रातृभावना और समानता विद्यालय और माता-पिता के सहयोग से ही लाई जा सकती है।

प्राचीनकाल की गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में यह बात हम देखते हैं कि राजा और रंक दोनों के बच्चे गुरु के आश्रम में भेज दिये जाते थे। वहाँ उनके साथ आश्रम में समान व्यवहार होता था। सान्दीपनि ऋषि के आश्रम में गरीब ब्राह्मण सुदामा भी शिक्षा पाता था और मथुरा के कर्मठ युवराज कृष्ण भी वहीं शिक्षा प्राप्त करने गये थे।

बच्चों में सादगी और समानता—स्कूल जाने वाले बच्चों को देखने से ऐसा लगता है जैसे किस रंग-बिरंगी दुकान में विभिन्न प्रकार के गुट्टे-गुड़ियों को देखते हैं। अमीर अपने बच्चों को कीमती कपड़ों से सजाते हैं। बचपन में ही उन्हें घड़ी खरीद देते हैं। रोज कपड़ा बदलवाते हैं। गरीबों के बच्चे बेचारे फटी धोती-कुर्ता या कमीज पहनकर आते हैं। जूते उन्हें पहनने को नहीं मिलते। इसका एक दुष्परिणाम यह होता है कि कीमती कपड़े पहनने वाले बच्चे में अपने पास फटे या साधारण वस्त्र पहनने वाले की तुलना में मिथ्याभिमान के भाव जगते हैं, उसमें उच्चता और अहंकार के भाव पैदा होते हैं, वह समझने लगता है कि मैं अपने पड़ोसी की तुलना में अधिक धनवान तथा बड़ा हूँ। दूसरी ओर फटे-पुराने वस्त्र धारण करने वाले बच्चे भी अपने को निम्न स्वीकार करने लगते हैं। उनमें हीनता के भाव पैदा होने लगते हैं। यह दोनों स्थितियाँ आदर्श नागरिक निर्माण के मार्ग में रुकावट हैं। आवश्यकता यह है कि विद्यालय में विद्याध्ययन करते समय सब बच्चे समान भाव से भावित हों। अहंकार, विनाशकारी है और हीनता भी प्रगति में बाधक है। यही बच्चे बड़े होकर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन के भेदभाव फैलाते हैं। इन्हीं के कारण समाज में हजारों प्रकार की जातीय समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं।

इस ओर अमीर और गरीब दोनों प्रकार के माता-पिता के कुछ कर्तव्य हैं। अमीरों को चाहिए कि वे अपने बच्चों को सादे कपड़े पहनाकर स्कूल भेजें। इसमें उन्हीं का लाभ है। छोटे बच्चे जब घड़ी या सोने के कोई छोटे जेवर अथवा कीमती कपड़े पहनकर स्कूल या खेलने जाते हैं तो वे समाज के धूर्त, चोर, बदमाश लोगों की निगाह में गड़ जाते हैं। थोड़े-से पैसे या वस्त्रों के लोभ में बच्चों की जान तक ले लेने में उन्हें लेशमात्र भी दया नहीं आती। बहराइच मॉडल स्कूल के प्रधानाध्यापक महोदय का इकलौता बच्चा सोने की छोटी-छोटी दो बालियाँ अपने दोनों कानों में पहने था। उन्हीं बालियों के लोभ में एक दुष्ट ने बच्चे को बहकाकर और एकान्त में ले जाकर उसे मार डाला और बालियाँ निकाल लीं। बताइए ! यह सोना, पैसा या वस्त्र बच्चे के प्राणों का घातक बना।

इसी प्रकार की घटनाएँ आये दिन हुआ करती हैं। फिर हर बुद्धिमान का फर्ज है कि बच्चों को ऐसी कीमती चीजें न पहनावें। अब भी चलन मिटता जाता है लेकिन कुछ समय पहले छोटे बच्चों के हाथों और पैरों में चाँदी के कड़े पहनाये जाते थे। अब भी देहातों में अहीर या कुछ अन्य जातियों में इसका प्रचलन है।

समान ड्रेस से समान भाव बनने में सहायता मिलती है। शिक्षा-विभाग की ओर से भी इस आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है। इसीलिए किसी-किसी विद्यालयों में, जिनमें प्रधानाचार्य उत्साही हैं, बच्चों के लिए समान वेश-भूषा अनिवार्य कर दिया है। यह एक अच्छी प्रथा है, सुविधानुसार वस्त्रों का चुनाव तो विद्यालय ही कर सकते हैं लेकिन जब अमीर-गरीब सब बच्चों के ड्रेस समान हो जाते हैं तो स्कूल में एक नया जीवन दिखाई पड़ता है, बालकों में भी एकता व समानता के भाव बनते हैं। इसलिए अभिभावकों का यह कर्तव्य है कि जब जिन स्कूलों में उनके बच्चे पढ़ते हैं, वहाँ यदि समान वेश-भूषा की योजना लागू की जाय तो उसमें उत्साहपूर्वक सहयोग देना चाहिए। इसे अतिरिक्त व्यय मानकर बोझ समझने का कोई कारण नहीं, फिजूल में खर्च होने वाले काफी पैसों की बचत हो जाती है। जहाँ यह योजना न लागू हों वहाँ भी अभिभावकों को सम्बन्धित अध्यापकों एवं प्रधानाचार्यों से कहकर उन्हें समान वेश-भूषा का अनिवार्य नियम अपने विद्यालय में लागू करना चाहिए।

इस नियम से अमीर-गरीब दोनों को ही लाभ हो जाता है। गरीबों का यह कर्तव्य है कि कितने भी कम कीमत वाले वस्त्र वह अपने बच्चों को क्यों नहीं पहनायें परन्तु उन्हें स्वच्छ और साफ रखने के नियम का तो वे पालन कर ही सकते हैं। इसमें तो धन नहीं श्रम की आवश्यकता है। धोबी से कपड़े न धुलाये जाकर रविवार के अवकाश के दिन बच्चों से ही उनके कपड़े धोने के लिए कहना कोई अनुचित बात नहीं है। सप्ताह में एक दिन का अवकाश इसलिए मिलता है ताकि बच्चे अपने वस्त्रों, सामान आदि सबको ठीक कर लें। बच्चों में यदि अपने कपड़े साफ करने की आदत डाल दी जाय तो यह स्वावलम्बन और सफाई हर दृष्टि से उपयोगी आदतें होंगी। आगे चलकर यह बच्चे कभी भी छोटे-बड़े किसी काम के लिए दूसरों का मुँह नहीं ताकेंगे। इसलिए माँ-बाप को छोटी-छोटी बातों से महानता का पाठ बच्चों को पढ़ाना चाहिए।

पुरुषार्थ और परिश्रम

युग के अनुसार 'मान्यताएँ एवं धारणाएँ' परिवर्तित होती रहती हैं। कालचक्र हर अच्छे-बुरे को फलने-फूलने का अवसर देता रहता है। आज से कई वर्ष पूर्व परमहंस बाबा राघवदास जी भूदान-पदयात्रा में हमारे जनपद में

आये थे। अपने प्रवचन में उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कहा कि 'प्राचीनकाल में वह व्यक्ति समाज का आदर्श माना जाता था जो धनुर्विद्या में सर्वश्रेष्ठ होता था। मध्यकाल में तलवार का धनी व्यक्ति श्रेष्ठ माना जाता रहा। अंग्रेजी शासनकाल में हमारी मान्यता ने फिर क़रवट ली। न तो धनुषधारियों की महिमा रह गई और न तलवारधारियों की, वरन् जो भाषण देने की कला में प्रवीण हो, वह श्रेष्ठ माना जाने लगा। दूसरे इस काल में बाबूगिरी को प्रोत्साहन मिला। समाज का बड़ा आदमी वह बना जो अपने हाथों से कोई काम न करे। जिसके यहाँ कोई खिदमतगार सेवा के लिए लगा हो, जों अपने हाथ से एक तिनका भी न छुए। इस मर्यादा ने सब पर अपना अभाव डाला। बच्चों का पालन-पोषण भी इसी दृष्टि से होने लगा, वे अधिक से अधिक नाजुक बेदन बनाए जाने लगे। अक्षरज्ञान में प्रवीणता की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और रचनात्मक प्रतिभा अथवा क्रमकाज करने की ओर कम। खेती, वाणिज्य, व्यवसाय आदि पेशे निम्नकोटि के माने जाने लगे। इनको करने वाले, छोटे किसान और व्यापारी सर्विस पेशा वालों के सामने नीचे माने जाने लगे। लेकिन युग तो क़रवट लेता रहता है। मान्यताएँ बदलती रहती हैं। एक के गर्भ से दूसरे का जन्म होता रहता है। स्वतन्त्र भारत के साथ कुछ नई मान्यताएँ बनीं। अब 'श्रम और सेवा' का युग आया है। जो व्यक्ति अपने हाथों अधिक से अधिक काम करता है वह समाज का आदर्श पुरुष माना जाने लगा है और जिसने समाज की सेवा में अपने व्यक्तित्व सुख और सम्पन्नता का परित्याग किया, उन्हें समाज ने श्रेष्ठता की उपाधि से विभूषित किया।

अधिक बोलने वालों की महिमा अब धीरे-धीरे कम हो रही है। जनता यह स्वीकार करने लग गई कि वे केवल 'वाचाल' हैं। नित्य-प्रति देखते हैं कि जिस प्रकार आज से दस वर्ष पूर्व नेताओं की मीटिंगों में भीड़ इकट्ठी होती रहती थी, अब नहीं होती। बड़े-बड़े नेता आते हैं परन्तु जनता में कोई उत्साह नहीं होता। लोग मीटिंगों और सभाओं से ऊब गये हैं। अब उन लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी है जो रचनात्मक प्रतिभा अपने में रखते हैं और जन-साधारण की सच्ची सेवा करके उनके स्तर को उठाने की ओर कार्यरत हैं। वह समय लट गया जब काम न करने वाले और दूसरों पर अधिकाधिक आश्रित रहने वाले ऊँचे माने जाते थे। ऐसे राजाओं, महाराजाओं के लड़के अब बाजारों में इधर-उधर घूमा करते हैं, कोई उन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देखता। अब युग आया है कि अपने हाथों काम करने वाले और स्वावलम्बी जीवन बिताने वाले समाज के श्रेष्ठ पुरुष माने जाते हैं। यह निश्चित है कि स्वतन्त्र भारत के विकास के साथ इस मान्यता की अधिकाधिक पुष्टि होगी।

घर का धन्य भी देखें—बच्चों को इसी मान्यता के अनुसार ढालने की जरूरत है। इसके लिए सबसे बड़ा काम यह है कि शुरू से ही बच्चों में काम करने की आदत डालें। जिसके यहाँ जो पेशा होता हो, अपने बच्चों को उसमें लगाने की चेष्टा करनी चाहिए। १४-१५ वर्ष का बच्चा इस योग्य होता कि माँ-बाप के काम में कुछ हाथ बँटा सके। मेरे यहाँ एक अच्छे कृषक पाण्डेय जी का बच्चा पढ़ता है। जब भी हमें उनके घर जाने का अवसर मिला, हमने यही देखा कि कहीं वह लड़का भैंस बाँध रहा है, कहीं बैलों को चारा दे रहा है तो कहीं खेत में सिंचाई कर रहा है। पढ़ाई के समय के बाद नित्य सबेरे-शाम वह अपने गृहस्थी के कामों में हाथ बँटाता है। उसकी यह आदत हमें बहुत अच्छी लगी। इसके विपरीत ऐसे भी युवक मिले हैं जिनके माँ-बाप आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न नहीं हैं। बेचारे शाम तक कड़ी मेहनत करके अपनी जीविका चलाते हैं, पेट काटकर किसी प्रकार बच्चे को ऊँची शिक्षा दिलवाने में प्रयत्नशील हैं लेकिन उनके बच्चे के मन में यह धारणा बैठ गई है कि अब तो वह बी. ए. में पहुँच गया। बड़ा आदमी बन गया है। अपने हाथों काम करने में उसके मित्र उसकी हँसी उड़ायेंगे। इसी मिथ्या धारणा में वे छुट्टियों के दिन घर पर पड़े-पड़े सोया करेंगे या गाँव में इधर-उधर मटरगस्ती में अपना समय काट डालेंगे। उनकी आँखों के सामने ही घर के अन्य लोग बेचारे मेहनत करते रहेंगे लेकिन वे उनके कामों में तनिक भी हिस्सा बँटाने की इच्छा तक प्रकट न करेंगे। उनके इस दोष के कारण घर वाले भी उन्हें सम्मान अथवा प्यार की दृष्टि से नहीं देखते, गाँव के भी सभ्य लोग इस बात को अच्छा नहीं समझते। इसलिए माँ-बाप को बचपन से ही इस ओर ध्यान देना चाहिए। पढ़ाई कोई कोल्हू के बैल जैसी तो है नहीं कि उससे छूटने के बाद बैल से कोई काम न लिया जाय। सरकार भी अब इस ओर अधिक ध्यान दे रही है। स्कूलों में प्रसार योजनाएँ चालू की गई हैं। कुछ न कुछ कृषि की शिक्षा हर स्कूलों के साथ इसीलिए लगाई गई है ताकि भारत का मुख्य पेशा कृषि की ओर बच्चों का ध्यान आकर्षित किया जाय। अब तरह-तरह के उद्योग खोलकर बच्चों को उसमें लगाया जाता है। गाँधीजी के बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त 'कर्म द्वारा शिक्षा' को सबने सही स्वीकार किया है और उसके अनुसार स्कूलों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ भी है।

१. सरकारी प्रयास तभी कुछ सफलीभूत हो सकता है जब अभिभावकों का पूरा-पूरा सहयोग उसे मिले और अभिभावकों का सबसे बड़ा सहयोग यह है कि बच्चों को अपने व्यवसाय एवं गृहस्थी के कामों में अवश्य लगावें। स्कूल से सबेरे-शाम मिलाकर चार-पाँच घण्टे का समय मिलता है, इसमें से बच्चों के विश्राम एवं मनोरंजन व खेलकूद के लिए भी समय दिया जाना चाहिए लेकिन कम से कम एक-दो घण्टा तो नित्य उन्हें कृषि, गौ-सेवा,

दुकानदारी अथवा कला-कौशल के कामों में लगाना ही चाहिए। इस बात की सतर्कता माँ-बाप अवश्य बरतें कि उनके निर्बल कंधों पर कोई भारी बोझ न डाल दें। जैसे—कृषक अपने बच्चों से बोझ ढोने अथवा सिर के ऊपर कोई वजनदार चीज लाने-ले जाने का काम न सौंपे। सिर पर बोझा ढोने का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है, जिससे उसका विकास अवरुद्ध होता है और परिणामतः बच्चा मन्द-बुद्धि हो जाता है। दूसरे भारी काम करने से बच्चे की रुचि भी उस ओर से हटने लगती है।

२. बच्चों में अपने पैतृक पेशे के प्रति रुचि भी पैदा करनी चाहिए। बच्चे को ही तो थोड़े समय बाद अपने पिता की सारी जिम्मेदारी सँभालनी है। यदि वह प्रारम्भ से उसमें रुचि नहीं लेता और ठीक प्रकार की जानकारी नहीं रखता तो थोड़े समय बाद सहसा पिता की मृत्यु अथवा किसी अन्य कारण से अचानक कोई संकट आने पर हाथ-पाँव ढीले हो जाते हैं। वह हताश हो जाता है और कुछ कर नहीं पाता। इसलिए पिता को चाहिए कि वह अपने बच्चे को सब कुछ सिखाता जाए। कृषक के लड़के को पिता के साथ खेतों को देखने जाना चाहिए, पैदावार की जानकारी रखनी चाहिए। अपने गाय, बैल, भैंसों आदि की संख्या तथा उनकी अच्छाई-बुराई को समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि गृहस्थी के दिन-प्रतिदिन के समस्त कामों का साधारण ज्ञान बच्चे को धीरे-धीरे अवश्य करा देना चाहिए ताकि वह भावी जिम्मेदारी को सँभालने के लिए सक्षम बन सके।

३. घर और परिवार की आर्थिक परिस्थिति कितनी भी अच्छी क्यों न हो और घर में चाहे कई नौकर काम के लिए लगे हों, पुत्र इकलौता होने का कारण बड़ा दुलारा हो, लेकिन समझदार माता-पिता को यही चाहिए कि बच्चे को अपने निज के सब काम करने को प्रोत्साहित करें। जैसे स्नान के बाद धोती धोने का काम नौकर को नहीं, बच्चे को स्वयं करना चाहिए। हाथ-मुँह धोने तथा नहाने के लिए पानी नल अथवा कुएँ से उसे स्वयं निकालना चाहिए। अपना बिस्तर स्वयं बिछाना चाहिए। अपने छोटे-छोटे काम बच्चे को स्वयं करते रहने की आदत पड़े। इससे उनमें स्वावलम्बन की भावना आती है, बच्चा परमुखापेक्षी नहीं होता। आगे चलकर आज की यह छोटी आदतें उसके बड़े काम की सिद्धि होती हैं। जो माता-पिता दुलार की अधिकता के कारण बच्चे को तो कुछ नहीं करने देते और स्वयं उसके सब कामों को करके उसके प्रति स्नेह-भाव का प्रदर्शन करते हैं, वे स्वयं जान-बूझकर बच्चे के पैर में कुल्हाड़ी मारते हैं। उसके भावी-जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने के लिए उसे स्वावलम्बी बनना आवश्यक होता है।

४. बच्चे के दृष्टिकोण को बदलना चाहिए—ग्राम के प्रति जो उपेक्षा-भाव आज व्याप्त है, लोग उसे नीची निगाह से देखते हैं, यह हीन-भावना बदलनी चाहिए।

अपने बड़प्पन की कसौटी अब 'काहिली' नहीं 'कर्मठता' होनी चाहिए। जो आदमी बड़ा काहिल, अपने हाथों अपना कोई भी कार्य कर सकने में असमर्थ, वह बड़ा नहीं, वरन् दो कौड़ी का है, यह विचार अच्छी तरह बच्चे के हृदय में बिठा देने चाहिए। चलते समय, अपने छोटे-छोटे सामान अपने हाथों उठा ले जाने से युवकों को शर्म और संकोच करने की अब जरूरत नहीं है और न उनकी प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार की आँच आती है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के जीवन से आज के युवकों को शिक्षा लेनी चाहिए। वे विद्या के सागर थे मगर सदैव साधारण वेष-भूषा में रहना उन्हें प्रिय था। प्रथम साक्षात्कार में देखने मात्र से उनकी योग्यता एवं महानता का परिचय लगाना कठिन था। वे एक दिन ट्रेन से किसी बड़े शहर को जा रहे थे। जब गाड़ी रुकने पर वे वहाँ उतरे तो क्या देखा कि एक युवक भी उसी गाड़ी से उतरा है, उसके पास एक अटैची है, जिसे स्टेशन से थोड़ी दूर आगे तक ले जाने के लिए वह कुली की खोज कर रहा है। युवक द्वारा थोड़ी देर प्लेटफार्म पर जोर-जोर से पुकारने पर भी कोई कुली न मिल सका। युवक बेचारा बड़ा निराश-सा लगने लगा था। इतने में ईश्वरचन्द्र जी उसके सामने आये और उसकी अटैची उठाकर अपने कंधों पर रखकर युवक से चलने का संकेत किया। युवक ने समझा कि कोई कुली होगा। वह आगे-आगे चलने लगा और पीछे-पीछे अटैची लिए हुए विद्यासागर जी। जब युवक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचा तो अटैची उतरवा ली और वह विद्यासागर जी को पैसे देने लगा लेकिन उन्होंने न लिए। दूसरे दिन उसी शहर में विद्यासागर जी का भाषण होने वाला था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जी के नाम तथा योग्यता से सभी पढ़ा-लिखा समुदाय परिचित था। वह युवक भी उनके भाषण को सुनने के लिए गया। अपार भीड़ थी उनके दर्शनों के लिए। जब विद्यासागर जी मंच पर आये तो जहाँ हजारों ने उन्हें देखकर करतल-ध्वनि की, उस युवक बेचारे के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने देखा कि यह तो वही कुली है, जो कल मेरी अटैची लाया था। शर्म के मारे वह बेचारा धरती में गड़ गया। जब सभा समाप्त हुई तो वह अपने हृदय की भारी वेदना को लिए, जाकर विद्यासागर जी के चरणों में गिर गया। विद्यासागर जी ने पहचानकर उसे गले लगाया और कहा—“बेटा, तुम राष्ट्र के कर्णधार हो, तुम्हारे ऊपर ही देश की भारी जिम्मेदारियाँ आने वाली हैं। यदि तुम अटैची का हल्का बोझ अपने कंधों पर नहीं उठा सकते तो देश की भावी जिम्मेदारियों का बोझ कैसे उठा सकोगे ?” युवक ने सब कुछ समझ लिया। उस दिन से उसने अपना सारा काम स्वयं करने का संकल्प किया, जिससे उसकी योग्यता तथा प्रतिभा में भी निखार आया।

आज के युवकों को भी विद्यासागर जी के आदर्श से प्रेरणा लेनी है। आज दासता वाला युग लद गया। एक समय था, जब हम अपनी सारी कठिनाइयों के लिए अंग्रेजी सरकार का मुँह ताका करते थे। उसे ही दोष भी दिया करते थे। अब तो देश स्वतन्त्र है, हम अपने भाग्य के निर्माता स्वयं हैं। अपनी सारी परेशानियों, कष्टों, अभावों को स्वयं ही तो दूर करना है। अपने ही पैरों पर खड़ा होने से अपनी मंजिल तय होगी। अपने ही हाथों करने से अपने कार्य-पूरे होंगे, अपने ही सोचने और समझने से बुद्धिमानी का मार्ग प्रशस्त होगा, फिर क्यों न भावी भारत की सुन्दर कल्पना के लिए हम अपने युवकों को उस दिशा में समुचित प्रेरणा दें ?

सहयोगवृत्ति का कैसे विकास हो?

इस युग को हम यदि सहकारिता का युग कहें तो अनुचित न होगा। चारों ओर सहकारिता की आवाज गूँज रही है। सहकारी समितियाँ, सहकारी दुकानें, सहकारी क्रय-विक्रय समिति, सहकारी खेती आदि की चर्चा आये दिन अखबारों में पढ़ने को मिलती है। सहकारिता सरकारी यशोनी की एक विभाग ही है, जिसका बहुत बड़ा जाल सारे भारत में फैला है। इतने कर्मचारी जनता में सहकारिता का प्रचार करते हैं और सहकारीतौर पर काम करने की आदत डालने में सहयोग देते हैं। सरकार की ओर से सहकारीतौर पर खेती, व्यापार कुछ भी करने पर अनुदान या ऋण मिलता है।

यह सब इसीलिए किया जाता है ताकि जनता में मिल-जुलकर काम करने की आदत पड़े। संगठित शक्ति ही अपना तथा राष्ट्र का कल्याण कर सकती है। अपने एक हजार वर्ष के अतीत के इतिहास की ओर यदि मुड़कर देखें तो अपनी सारी मुसीबतों, कठिनाइयों, दुर्दिनों, अपमानों तथा पराजय से उत्पन्न समस्त प्रकार की बुराइयों का एकमात्र कारण यही दिखाई पड़ेगा कि हममें मिल-जुलकर काम करने की आदत का अभाव हो गया। स्वार्थ-भाव और व्यक्तिवाद प्रबल हो उठा। जब पृथ्वीराज पर मुहम्मद गौरी का आक्रमण हुआ तो देश के अन्य राजा तमाशा देखते थे। उनके मतानुसार गौरी का आक्रमण केवल पृथ्वीराज पर था न कि देश पर। अन्त में सारे तमाशाबीनों की भी एक-एक कर वही दशा हुई जो पृथ्वीराज की हुई थी।

आज से कुछ समय पूर्व जबकि कानून द्वारा सहकारिता फैलाने की बात नहीं थी, तब सहकारिता हमारे दिलों में थी। गाँव के लोग, विरादरी के लोग, जाति के लोग एक-दूसरे से मिले-जुले रहते थे। विरादरी की पंचायतें होती थीं, उनका चौधरी होता था, उसके फैसले को कोई टाल नहीं सकता था। मजिस्ट्रेट से भी अधिक अधिकार उसे प्राप्त होता था। लोग एक-दूसरे के काम-काज को अपना समझते थे। शादी-विवाह, शुभ

अवसरों पर न्यौता देने का चलन क्या उत्तम प्रकार के सहकारिता का द्योतक नहीं है ?

यह सब इसीलिए था कि सहकारिता हमारे दिलों में थी। उसका श्रीगणेश तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में ठीक समय से, ठीक आयु में होता था। संयुक्त परिवार प्रथा थी, एक-एक परिवार में पचास-पचास, साठ-साठ व्यक्ति होते थे, परिवार का एक मुखिया होता था, वह सबके दुःख-दर्द का ख्याल रखता था, स्वयं दो बड़े दातून करता था, लेकिन बच्चों को सबेरे भोजन करवाने का प्रबन्ध करता था। अपने लिए वह मिरजई, सलूका या बहुत हुआ तो कुरता पहनने को रखता था परन्तु घर के अन्य प्राणियों के पास काफी कपड़े रहते थे। तब चलती थी गृहस्थी और सहकारिता की अमिट छाप बच्चों पर पड़ती रहती थी। गाँव में एक का छप्पर उठाना हुआ तो मुहल्ले भर को आवाज लगाई, सब पहुँच गये और मिलकर छप्पर उठा दिया। किसी का खेत बोने को पिछड़ गया तो गाँव की पचासों बैलों की जोड़ियाँ एक दिन उसके खेत में चलने लगीं। पचास हाथ एक साथ खेत बुवाई का काम करने लगे, तो फिर उसका खेत एक ही दिन में क्यों न बो जाये ?

इन सारी परम्पराओं, रीति-रिवाजों से बच्चा बचपन से ही प्रेरणा लेता रहता था। छप्पर उठाते समय वह भी दूर से खड़ा देखता था कि मेरे काका का छप्पर सब लोग मिलकर उठा रहे हैं। आज उसके दादा अपनी बैल की जोड़ी लेकर रामआसरे का खेत बोआने गये हैं। क्योंकि इस वर्ष लड़के के मर जाने के कारण उनका खेत बोने से पिछड़ गया है, बच्चे भी पीछे-पीछे जाकर रामआसरे की मेंडों पर बैठकर भीड़-भाड़ भी देखते थे और घरौंदे बनाकर खेलते भी थे। गाँव में चाहे जिसके यहाँ ब्याह हो, ब्याह वाले घर के द्वार पर बच्चों की भीड़ तीन दिन पहले से इकट्ठी होनी शुरू हो जाती थी। अपने-अपने बाप, भाइयों को भी वे दौड़-दौड़कर सब काम कराते देखते थे। ब्याह के दिन एक स्थान पर न्यौता चढ़ाते देखते थे, तो क्या इन सबका प्रभाव उन अबोध बालकों के हृदय पर नहीं पड़ता था ? अवश्य पड़ता था।

परन्तु आज कहाँ देखने को मिलते हैं बच्चों को यह दृश्य ? फिर आदर्शानुकरण की बात कैसे सम्भव हो सकती है ?

सहकारिता की आदत कैसे पड़े ?—बचपन से जबकि बच्चा स्कूल जाने लगता है, तब आप सहकारिता की आदत उसमें डालिए। इसके लिए कुछ छोटे-छोटे उपाय ही आपको करने पड़ेंगे। कोई बहुत बड़ी योजना बनाने की आवश्यकता नहीं और न कुछ धन ही उसके लिए खर्च करना पड़ेगा। केवल आपकी सतर्कता, बुद्धि-चातुरी और देख-रेख आपके बच्चे में सहकारिता के

भाव भरने में बड़े सहायक बनेंगे। वे उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) अपने घर के समस्त बच्चों को आप एक साथ बैठकर खाना खिलाने की आदत डालिए। बच्चे सबेरे का नाश्ता, दोपहर तथा शाम का भोजन एक साथ करें, यदि किसी कारण किसी बच्चे को कहीं जाना हो तो चाहे पहले खाना खिला दीजिए, कोई हर्ज नहीं, लेकिन साधारण स्थिति में एक साथ खाने का ही नियम रखना चाहिए।

(२) सभी बच्चों को समान कपड़े पहनाइए। जिस रंग की कमीज बनवाई, सब बच्चों के लिए बनवाई। हो सकता है कि छोटी-बड़ी आयु के अनुपात से उनमें कुछ भेद करना पड़े मगर वह भेद आयु के आधार पर ही होना चाहिए। लगभग समान आयु के बच्चों के लिए समान कपड़े बनवाना चाहिए।

(३) घर के समस्त बच्चे एक साथ खाएँ, एक जैसा कपड़ा पहनें तो एक साथ खेलें भी। खेल में वे अपने मुहल्ले के बच्चों का भी सहयोग ले सकते हैं। एक साथ खेलने से मित्रता बड़ी घनिष्ट होती है। एक-दूसरे को सहयोग प्रदान करने की भावना का जागरण होता है। खेल के मित्रों की एकता अटूट होती है। यह सब लोग जानते हैं कि खेल के संगी साथी एक-दूसरे के लिए मर मिटने को तैयार हो जाते हैं। खेल-खेल में सहकारिता का सच्चा विकास होता है। समूहवाद का उदय खेल से ही होता है। प्रायः मुहल्ले और घरों में झगड़े-झंझट भी बच्चों को निमित्त बनाकर होते हैं, उसी प्रकार घर और परिवार में एकता भी बच्चों को निमित्त बनाकर लाई जा सकती है।

परिवार के सब बच्चे यदि एक साथ खेलें, मुहल्ले के बच्चे उनके साथी बनें तो फिर एक-दूसरे के यहाँ से आना-जाना शुरू हो जायेगा। बिना सोहन को बुलाये लल्लू खेलने जायेगा ही नहीं, अगर सोहन को चलने में कुछ देर है, वह अभी कपड़े पहन रहा है तो लल्लू उसके घर जाकर बैठा रहेगा, प्रतीक्षा करेगा और जब सोहन तैयार हो जायेगा तब दोनों साथ-साथ चलेंगे। बच्चों के प्रेम और एकता के अटूट सम्बन्ध के सामने बड़ों के बैर-भाव भी तिरोहित होने लगते हैं। मान लीजिए कि मुहल्ले के दो परिवारों में आपस में दुश्मनी चल रही है, मुकद्दमेबाजी भी ठनी है, लेकिन दोनों के यहाँ के बच्चे एक साथ खेलने जाते हैं, पढ़ने जाते हैं तो उन सबका एक-दूसरे के यहाँ आना-जाना शुरू हो जायेगा। तब यदि माँ अपने बच्चे को फल खाने के लिए दे रही है, उसी जगह पड़ोसी का बच्चा भी बैठा है, वह अपने साथी को खेलने जाने के लिए बुलाने आया है तो कठोर हृदय माँ भी उस बच्चे को थोड़ा फल अवश्य खाने को देगी। इस प्रकार थोड़ी-थोड़ी बातों से प्रेम-भाव जगेगा और दोनों परिवारों के दिलों में नरमी आनी शुरू होगी, वे सोचने

लगेगे कि यार बेकार में झगड़े कर रहे हैं, आपस में मिलकर रहना चाहिए। चार दिन की जिन्दगी में सबसे बुरे सिर पर क्यों लादें ? दोनों ओर से उठी हुई यह चाह दो परिवारों को मिला देगी।

(४) संकट या कष्ट के समय क्रियात्मक सहयोग एवं सहानुभूति प्रदर्शन करना चाहिए। जो बच्चे घर में एक साथ खाने, एक जैसा कपड़ा पहनने एवं एक साथ खेलने की आदत डालेंगे, वही विद्यालय में भी अपनी कक्षा और स्कूल के बच्चों के साथ मिलकर काम कर सकेंगे।

अब प्रश्न आता है 'सहयोग भावना' को क्रियात्मक रूप देने का, जब बच्चों में सच्चा प्रेम पैदा हो जाता है तो 'सहयोग' की प्रवृत्ति अपने आप जाग्रत हो जाती है, लेकिन माता-पिता को भी प्रेरित करते रहना चाहिए। अपने बच्चे को कक्षा में जो पास-पड़ोस के बच्चे पढ़ते हैं उनसे थोड़ी-बहुत जानकारी तो माता-पिता और परिवार वालों को हो ही जाती है, फिर यदि बच्चे का सहपाठी बीमार पड़े तो उसकी सूचना मिलते ही माँ-बाप को अपने बच्चे को उसे देखने जाने के लिए अवश्य भेजना चाहिए। बच्चा अपने सहपाठी की बीमारी की अवस्था में देखने जाये और उसके किनारे बैठकर घुल-मिलकर बातें भी करें। अस्वस्थ सहपाठी की सेवा-सुश्रूषा में उसके माता-पिता का हाथ भी बँटावे।

पारस्परिक सेवा का धर्म-कर्तव्य—मान लीजिए सभी बच्चे स्कूल से वापस लौट रहे हैं, सड़क पर किसी रिक्शे या ताँगे से टकराकर किसी बच्चे को गहरी चोट आ गई, तो अन्य सभी बच्चों का यह नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वे उसे तुरन्त प्राथमिक सहायता पहुँचाकर उसे अस्पताल तक ले जायें और उसके माता-पिता को भी सूचित करें। उस समय यदि घायल बच्चे को ले जाने आदि में कुछ पैसे खर्च करने पड़ें तो सब बच्चों को स्वेच्छा से सहयोग करना चाहिए। यदि कभी ऐसी घटना घटे और आपका बच्चा अपने सहपाठी की प्राथमिक सहायता हेतु व्यस्त रहने, उसे अस्पताल ले जाने आदि कार्यों में फँस जाने के कारण देर से घर लौटे तो सही उत्तर जान लेने के बाद माता-पिता को बच्चे के देर से वापस लौटने के अपराध में बिगड़ना या नाराज होना नहीं चाहिए। ऐसा तो स्वार्थी प्रकृति वाले ही करते हैं। उस समय अभिभावकों को बच्चों के कार्य की प्रशंसा भी करनी चाहिए।

यदि ऐसे अवसरों पर आप केवल बच्चे को उत्साहित कर देंगे उनके कार्यों के प्रति अपनी स्वीकृति देंगे तो यह निर्विवाद सत्य है कि उनकी सहयोग भावना का समुचित विकास होता चला जायेगा। लेकिन यदि कहीं मूर्खता या स्वार्थवश अपने बच्चे को झिड़क दिया कि तुम्हें तो चोट नहीं लगी थी, तुम क्यों देर से आये, अस्पताल क्यों गये ? रास्ते में कुछ हो जाता तो ?

स्कूल से छुट्टी पाते ही सीधे घर आया करो, इधर-उधर के झंझटों में फँसने की जरूरत नहीं है आदि कहकर आप बच्चे की उठती कली को मसल दे रहे हैं तो वे निश्चयात्मक रूप से स्वार्थी प्रकृति के बनते चले जायेंगे, उनकी जीवन-दिशा बदल जायेगी। ऐसे ही बच्चे बड़े होकर स्वार्थी और मतलबपरस्त होते हैं। उनको दूसरों के दुःख-दर्द से कोई लगाव नहीं होता, उनका हृदय गरीबों की अवस्था से द्रवित होना जानता ही नहीं। ऐसे उदाहरण हजारों की संख्या में देखे जा सकते हैं। कई आदमी साथ-साथ बाजार घूम रहे हैं, स्वयं दुकान पर जाकर मोठा मोल लेकर खा लिया, अपने साथियों को पूछने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। दरवाजे पर बैठे खाने-पीने का बहुत-सा सामान रखे खा रहे हैं, चाहे थाली में बच जाये उसे कुत्ते खा लें मगर एक अपंग बेचारा द्वार पर आवाज लगा रहा है। उसे हाथ उठाकर एक रोटी देना उचित नहीं समझेंगे। ऐसे ही स्वार्थी लोग मुनाफाखोर, जखीराबाज आदि गुणों से विभूषित होते हैं। यह समाज के कान वाले बहरे, आँख वाले अन्धे और जबान वाले गूंगे होते हैं।

हृदयहीन स्वार्थपरता—चारों ओर मतलबपरस्तों को देखकर आश्चर्य होता है। एक सज्जन ऐसे ही नेपाल स्टेट के एक जमींदार साहब की कहानी सुना रहे थे। वे बताते थे कि आम की फसल में मैंने जाकर देखा तो उनके कोठार में कोई १०००० आम पड़ा सड़ रहा था। यह सज्जन उस जमींदार की प्रशंसा में ये बातें कर रहे थे कि वह बहुत बड़ा जमींदार था। दस हजार आमों के पड़े सड़ते रहने की बात सुनकर मैंने कहा—कि जमींदार साहब इन आमों को अपने गाँव वालों में क्यों नहीं बँटवा देते, क्योंकि सड़ने से अच्छा तो यह है कि वे लोग जिन बेचारों के यहाँ आम की फसल नहीं है, खाने को पा जाते। इसका बड़ा बढ़िया उत्तर उन्होंने दिया जो मुझे आज तक याद है। उन्होंने बताया कि जमींदार साहब उन आमों को इसलिए नहीं बँटवाते क्योंकि इससे उनके गाँव के लोगों में तब आम खाने की आदत पड़ जायेगी जब उन्हें नहीं मिलेगा तो बाग से चोरी से तोड़कर खायेंगे। आप सोचेंगे, कितना सुन्दर उत्तर यह है ? ये जमींदार साहब बचपन के वही बच्चे हैं, जिनमें इनके माता-पिता ने सहयोग एवं दया-भावना को प्रोत्साहित नहीं किया। इसी प्रकार कई जमींदारों के यहाँ मैंने खुद देखा कि पचासों मन मकई बखार में पड़े-पड़े सड़ जाती है, तब वे उसे कूड़े में फिक्का देते हैं। यह वही अन्न है जिसके लिये न जाने कितने लोग अपने बच्चों को भूखे रखकर सो जाते हैं। मनुष्य जब स्वार्थी हो जाता है तो पशुतुल्य हो जाता है, उसे किसी प्रकार के नीच कर्म करने में कोई हिचक नहीं होती।

'सहयोग-भावना' ही मनुष्यता की पहचान है। जिस व्यक्ति में यह भावना जितने अंश में विद्यमान है वह

व्यक्ति उतने ही अंशों में महान् है। अपने बच्चों के स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण माँ-बाप को करते रहना चाहिए। सहयोग के उपर्युक्त वर्णित अवसर आने पर उनमें हाथ बँटाने के लिए बच्चे को उत्साहित भी करना चाहिए और समय मिलने पर बच्चे को उपदेश भी देना चाहिए।

कृतज्ञता ज्ञापन एवं सहानुभूति—यह भी एक अच्छी आदत है। यदि कोई बच्चा आपके बच्चे को किसी प्रकार का सहयोग प्रदान करता है तो उस समय 'धन्यवाद' कहकर उस सहयोग के प्रति आभार प्रदर्शन करने की आदत भी आप अपने बच्चे में डालें। आप उसे सिखावें कि जब कोई कुछ वस्तु उसे दे तो लेते समय 'धन्यवाद' अवश्य करें। यदि कोई बड़ा, जैसे आपका निजी रिश्तेदार या अधिकारी आपके बच्चे को कोई वस्तु, मिठाई अथवा फल देता है तो लेते समय आपको बच्चे को बता देना चाहिए कि वह वस्तु लेकर 'नमस्ते' अवश्य करे तथा धन्यवाद कहकर आभार-प्रदर्शन करे।

वाणी द्वारा भावों का प्रदर्शन होता है। दूसरी बात आती है—बीमारी या कष्ट के समय सहानुभूति प्रदर्शन की। क्रियात्मक सहयोग तो करना ही चाहिए लेकिन पीड़ित सहपाठी के पास जाते ही शब्दों द्वारा सहानुभूति प्रकट करना भी आवश्यक है 'भैया ! तुम्हारी बीमारी से मुझे बड़ा दुःख है, क्या करूँ, यदि वश चलता तो तुम्हारी आधी बीमारी मैं बाँट लेता, तुम्हें ईश्वर शीघ्र अच्छा कर देगा, घबड़ाने की बात नहीं है, यह तो फसली बुखार है, आजकल बहुत-से लोगों को हो जाता है।' इस प्रकार के शब्द कहकर आपके बच्चे अपने पीड़ित साथी का मन बहलावें। शब्द समय पर बन्दूक और तोप से ज्यादा काम करते हैं, शब्द-विज्ञान की महिमा अपरम्पार है। आप विश्वास करें कि कष्ट के समय कहे गये यह छोटे वाक्य रोगी बच्चे का आधा दुःख दूर कर देंगे और यह भी बात है कि वह बच्चा आपके बच्चे का सच्चा साथी बन जाएगा। उसकी मित्रता जीवन भर के लिए स्थायी बन जायेगी। संसार में सच्चे मित्रों की अत्यधिक आवश्यकता है, सच्चे मित्र प्राण देकर अपने मित्र की रक्षा करते हैं।

ईश-प्रार्थना—घर पर भी नित्य सामूहिक प्रार्थना करनी चाहिए। पाठशाला में स्कूल प्रारम्भ होने के साथ प्रार्थना होती है लेकिन अधिकांश स्कूलों में उसको वह महत्त्व नहीं दिया जाता जो कि दिया जाना चाहिए। इस कारण प्रार्थना एक प्रदर्शन मात्र रह जाता है। भावनाहीन एवं श्रद्धाहीन मन से की गई प्रार्थना का समुचित प्रभाव बच्चों पर नहीं पड़ता। बचपन से ही आप बच्चों के हृदय में आस्तिकता जगावें। सामूहिक पूजा-पद्धति का प्रसार करें। आपके घर के जितने बच्चे हैं उनके साथ पास-पड़ोस के बच्चों को भी शामिल होने का अवसर आप दे सकते हैं। एक समय निश्चित कर दें। मेरा विचार है सायंकाल

६-७ बजे का समय उत्तम रहेगा जब बच्चे खा-पीकर पढ़ना प्रारम्भ करें। सब बच्चे खड़े होकर कोई सामूहिक प्रार्थना करें, तत्पश्चात् पढ़ना प्रारम्भ करें। एक बच्चा कहे और शेष उसके बाद कहें।

यह एक अच्छी आदत रहेगी। इसका प्रभाव कई दृष्टियों से बच्चों पर पड़ेगा। प्रथम तो उनमें आस्तिकता के भाव जागेंगे, दूसरे एक सबसे प्रत्यक्ष प्रभाव आप यह देखेंगे कि उनमें अनुशासन अपने आप आ जायेगा। उद्दण्ड एवं नटखट बच्चे भी प्रार्थना के प्रभाव से धीरे-धीरे सीधे होने लगेंगे। तीसरा लाभ यह होगा कि वे सभी बच्चे एकता के सूत्र में बँधने लगेंगे। उनमें सहयोग भावना एवं सहकारिता पैदा होगी।

इस प्रकार आप कुछ उपायों द्वारा अपने बच्चों में मानव-जीवन के वे महान् गुण उत्पन्न करने में सफल हो जायेंगे, जिनके सहारे यह संसार टिका हुआ है। सहयोग और सहकारिता जिस दिन संसार से उठ जायेंगे उसी दिन संसार छिन्न-भिन्न हो जायेगा। प्रलय की अवस्था आ जायेगी। आदमी-आदमी के खून का प्यासा बन जायेगा, किसी का भी विकास नहीं हो पायेगा।

अतः बच्चों में आप इस गुण को उत्पन्न करने के लिए बड़ी चातुरी से प्रयास करें।

अन्त में अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के शब्द सहयोग भावना की महत्ता प्रकट करने के लिए लिखने उचित होंगे।

उन्होंने कहा है—“मनुष्य को परमात्मा ने समर्थ और बुद्धिमान अवश्य बनाया है पर एक त्रुटि भी उसमें रखी है, वह यह है कि परस्पर सहयोग के बिना उसकी कोई भी विशेषता मूर्तिमान नहीं हो सकती। अन्य जीवों के बच्चे जन्म लेने के उपरान्त बहुत स्वल्पकाल तक माता का सहयोग लेते हैं, तत्पश्चात् वह स्वतन्त्र स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने लगते हैं। मनुष्य को यह स्थिति जीवन के अन्त तक प्राप्त नहीं होती। उसे अपनी छोटी-बड़ी सभी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। क्या कोई मनुष्य ऐसा है जिसने बिना दूसरों की सहायता के अपने लिए अन्न, वस्त्र, मकान, पुस्तक, मनोरंजन, परिवार, वाहन आदि के साधन स्वयं निर्मित करके अपना काम चलाया हो। उसे पग-पग पर दूसरों की सहायता अपेक्षित होती है और इसे जो जितनी मात्रा में प्राप्त कर लेता है, वह उतना ही सफल कहलाता है।”

“बौद्धिक, चारित्रिक एवं सामाजिक प्रगति के लिए भी मनुष्य को पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है। मिल-जुलकर मनुष्य ने अब तक इतनी प्रगति की है। यदि उसे अधिक शक्ति और अधिक प्रगति की आवश्यकता है तो इसके लिए परस्पर अधिक स्नेह, सहयोग के साधन उसे जुटाने ही पड़ेंगे।”

बच्चों को व्यवहारकुशल बनाइए

बच्चों को व्यवहारकुशल बनाने के लिए उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना बहुत आवश्यक है। जिन बच्चों में उत्तरदायित्व का भाव जाग जाता है, वे हर काम बड़ी होशियारी से करते हैं। हर समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनसे कोई काम बिगड़ न जाये। उन पर कोई उँगली न उठा सके अथवा किसी समय वे उपहासास्पद न बन जायें।

व्यवहारकुशलता का सीधा-सा अर्थ है कोई ऐसी बात या कोई ऐसा काम न करना, जिससे किसी को कोई तकलीफ पहुँचे अथवा वे आलोचना या उपहास के पात्र बन सकें।

यद्यपि सारे क्षेत्रों में किसी का पूर्णरूपेण कुशल हो सकना असम्भव के समकक्ष जैसी बात है तथापि समाज में साधारण व्यवहारकुशलता प्राप्त कर लेना सबके लिए सुसाध्य एवं आवश्यक है। जो सामान्य सामाजिक व्यवहार में कुशल नहीं होते वे अन्दर से अच्छे होते हुए भी समाज में उचित स्थान नहीं पा सकते। लोग उनके विषय में यह कहकर आलोचना किया करते हैं कि 'अमुक व्यक्ति हो सकता है अन्दर से अच्छा हो किन्तु व्यवहार से अच्छा प्रतीत नहीं होता' और समाज में इस प्रकार की धारणा लोगों को उसके प्रति शंकालु ही बनाये रखती है।

समाज में विनिमय, वार्तालाप, सम्बन्ध एवं सामंजस्य चार ऐसी बातें हैं, जिनकी पृष्ठभूमि पर ही सारे सामाजिक व्यवहार आधारित रहते हैं। इन चार बातों को ठीक से व्यवहार कर सकने की योग्यता प्राप्त कर लेना ही व्यवहार दक्षता है।

विनिमय का अर्थ है, आदान-प्रदान अथवा लेन-देन। जो पैसे का, वस्तु का, भावनाओं का अथवा विचारों का हो सकता है। विनिमय के व्यवहार में जहाँ तक हो सके सीमान्त स्पष्टता एवं ईमानदारी रखनी चाहिए। जैसे कोई वस्तु खरीदते समय अपनी चतुरता अथवा होलोहज्जत से दुकानदार को साधारण भाव से कम कीमत देने का प्रयत्न न करना चाहिए, क्योंकि इससे दुकानदार अपना नुकसान तो करेगा नहीं उल्टे अच्छा ग्राहक न समझकर ऐसे व्यक्ति के हाथ कोई चीज बेचना पसन्द न करेगा और यदि एक बार, वह ग्राहक बनाने के लिए दब भी जायेगा तो दूसरी बार एक पैसे के दो पैसे वसूल कर लेगा और सबसे पहले घटिया चीज भिड़ाने की कोशिश करेगा। बार-बार ऐसा करने वाले व्यक्ति की साख ग्राहक के रूप में बाजार में कम हो जाती है और हजारों रुपये का सामान खरीदने पर भी वह आदर नहीं पा पाता जो उसे मिलना चाहिए।

अब रही कोई चीज बेचने की बात। कोई वस्तु बेचते समय सामान्य भाव से अधिक पैसे लेने के लिए बढ़ा-चढ़ाकर मूल्य बतलाना, घटिया चीज भिड़ाना या असन्तोषजनक ढंग से विक्रय करने वाले की, दुकानदार

के रूप में साख खराब हो जाती है और वह एक बड़ा दुकानदार होने पर भी न तो अपेक्षित बड़प्पन पा सकता है और न अधिक समय तक अपनी स्थिति बनाये रख पाता है। धीरे-धीरे ग्राहक संख्या कम करता हुआ छोटा-सा दुकानदार रह जाता है।

इसी प्रकार पैसा लेने-देने में समय और परिमाण में यथा-सम्भव हेर-फेर करने का प्रयत्न न करना चाहिए और यदि किसी भ्रम, भूल या परिस्थितिवश ऐसा हो जाये या करना पड़े तो ईमानदारी से उसका स्पर्शकरण करने में संकोच न करना चाहिए।

वार्तालाप में सत्यता, शिष्टता एवं देशकाल का विचार रखना चाहिए। सत्य यदि शिष्ट नहीं है अथवा शिष्टता, सत्यता से परे है या यह दोनों बातें देशकाल के अनुकूल नहीं हैं तो अनुचित ही मानी जायेंगी।

सम्बन्ध मूलतः छोटे, समान, बड़े, पद, योग्यता एवं विशेषता के अनुसार छह प्रकार के होते हैं। जो जिस योग्य हो उससे उसी प्रकार का व्यवहार अपेक्षित है। इसके प्रतिकूल व्यवहार करना किसी भी दशा में ठीक नहीं है। जो जिस योग्य है उसको उसके अनुरूप स्थान देना बहुत बड़ी व्यवहारकुशलता है। छोटे से स्नेहिल, समानों से निःसंकोच और बड़ों से आदरपूर्वक बर्ताव करना चाहिए। पद में बड़े और आयु में छोटे व्यक्ति भी आदर और अदब के अधिकारी होते हैं। अपने से अधिक योग्यता अथवा किसी क्षेत्र में विशेषता (जैसे कला आदि) रखने वाले व्यक्ति भी अपने से बड़े अथवा उच्च पद पर न होते हुए सम्मान एवं सद्व्यवहार के पात्र होते हैं। उनसे व्यवहार करने में इन बातों का ध्यान रखना न केवल आवश्यक है अपितु अनिवार्य भी है।

सामंजस्य का अर्थ है अपने को इस तरह का बनाना कि हर व्यक्ति हर परिस्थिति तथा हर स्थान से समुचित समानता दिखला सके। जैसे दूसरे के दुःख में दुःख, सुख में सुख, परिस्थिति से अनुकूलता स्थान से निरपेक्षता का भाव प्रकट कर सकें। किसी के सुख-दुःख में उदासीन रहना, प्रतिकूल परिस्थिति में अथैय अथवा अयोग्य स्थान पर क्षोभ अथवा घृणा व्यक्त करना ठीक नहीं है। अपने अवांछित मानसिक आवेगों पर नियन्त्रण रखना व्यवहारकुशलता की एक महत्त्वपूर्ण शर्त है।

इस प्रकार इन व्यवहार सम्बन्धी आवश्यक बातों की शिक्षा देते हुए यदि बच्चों का पालन किया जाये तो कोई कारण नहीं कि वे व्यवहारकुशल न बन जायें। प्रारम्भ से ही बच्चों में इसकी चेतना का विकास किया जाना चाहिए, जिससे वे स्वतन्त्र व्यवहार करने की आयु तक पहुँचते-पहुँचते दक्षता प्राप्त कर लेंगे। जिन बच्चों में इन बातों का विकास प्रारम्भ से नहीं किया जायेगा वे बच्चे इस आयु तक आवश्यक दक्षता प्राप्त न कर सकेंगे जिसमें पहुँचकर उनका कोई भी व्यवहार महत्त्व रखता है और अच्छा या बुरा माना जा सकता है।

बच्चे जब कुछ समझदार होने लगे यह कार्यक्रम तभी से शुरू कर दिया जाना चाहिए। सबसे पहले उन्हें परिवार के सदस्यों का परिचय कराया जाना चाहिए और उसी के अनुसार उनसे व्यवहार का अभ्यास। यह माता है, यह पिता है, यह बड़ी बहिन है, यह बड़े भाई हैं आदि बतलाते हुए यह भी बतलाना चाहिए कि उनके चरण छूना, उनके प्रति आदर रखना, उनकी आज्ञा मानना उसका परम कर्तव्य है। जो अपने से बड़े हैं, शिष्ट और अच्छे बच्चे उनसे तुम नहीं आप कहकर बोलते हैं। उनसे गुस्सा नहीं करते और न कभी उनका तिरस्कार करते हैं। इसका अभ्यास करने के लिए जब भी इनमें से किसी को बुलवायें या उसे उनके पास किसी काम से भेजें तब कभी भी ऐसा निर्देश न दिया जाना चाहिए, जिससे उसमें कोई अनादर का भाव पैदा होने की सम्भावना रहे। जैसे ‘‘मुनिया को बुला लाओ,’’ ‘‘विमलेश को आवाज देना’’ या ‘‘देखना, अम्मा क्या करती है ?’’ इसके विपरीत कहना इस तरह चाहिए कि ‘‘अपनी दीदी जी को बुला लाइये’’ ‘‘अपने ददा, बड़े भाई साहब या दादाजी को आवाज दीजिये’’ ‘‘जरा देखकर आइये कि आपकी माताजी क्या कर रही हैं ?’’ कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार निर्देश देने से उसमें उस समय अदब की भावना ताजी हो उठेगी और उन्हीं शब्दों में उनसे बोलेगा, क्योंकि बच्चों के प्रारम्भिक शब्द और सम्बोधन परिवार के गुरुजनों के ही दिये होते हैं। इस प्रकार हर समय इस बात का ध्यान रखने से वह कुछ ही समय में गुरुजनों से आदरपूर्वक व्यवहार करना सीख जायेगा।

व्यवहार में वार्तालाप का एक प्रमुख स्थान है। जिन बच्चों को शुरू में ही शब्दों और स्वर के संयम का अभ्यास करा दिया जाता है, वे आगे चलकर बड़े मधुर तथा उपयुक्त भाषी हो जाते हैं। शब्दों का गलत उच्चारण करना स्वर को अनावश्यक रूप में ऊँचा-नीचा करके बोलना अथवा वाक्यों को पूर्ण और ठीक न बोलना सम्भाषण का आकर्षण समाप्त कर देता है, जिससे दूसरों को उसकी बात न समझ में ठीक से आती है और न वे पसन्द ही करते हैं। अस्तु, शब्द-स्वर और वाक्य-विन्यास ठीक रखने के लिए उसे बहुत पहले से प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

सम्भाषण में नम्रता तथा देशकाल और सम्बन्ध का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्तु जिस भाषण में अधिक से अधिक सत्यता का समावेश नहीं है, वह नम्र और संयत होने पर भी अच्छा ठीक नहीं है। इससे बच्चा दूसरों की नजर में झूठ, गम्भी और अविश्वस्त हो जाता है और समाज में उसका आदर नहीं होता।

इस प्रकार जो बच्चे, विनियम, वार्तालाप, सम्बन्ध और सामंजस्य के ज्ञान से परिपूर्ण कर दिये जाते हैं, वे निःसन्देह व्यवहारकुशल होकर समाज में अच्छे नागरिक बनकर अपना निश्चित स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

बच्चों को शिष्टता का प्रशिक्षण दें

सामाजिक व्यवहार में वार्तालाप, विनियम तथा पारस्परिक सम्बन्ध समाविष्ट रहते हैं। इन तीनों में निपुणता होने पर व्यक्ति को सद्व्यवहारसम्पन्न कहा जाता है। जबकि इनमें अनगढ़पन होने पर व्यवहार में अकुशल माना जाता है।

आन्तरिक शिष्टता की अभिव्यक्ति ही सद्व्यवहार में होती है। जहाँ सहृदयता न हो, वहाँ शिष्टता एवं विनम्रता खोखली प्रतीत होने लगती है। तब उसका दूसरों पर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए व्यक्ति को आन्तरिक रूप से ही शिष्ट-सौम्य होना चाहिए। साथ ही, बाह्य व्यवहार भी उसी के अनुरूप करना चाहिए। शिष्टता भी वस्तुतः एक आदत है। बार-बार के व्यवहार से कोई भी कार्यविधि आदत का अंग बनती जाती है। अतः बचपन से ही शिष्टता का प्रशिक्षण देना अच्छा होता है।

बच्चों की अनुकरणशीलता सर्वज्ञात है। जिस घर में शिष्टता का वातावरण रहेगा, वहाँ बच्चे स्वतः ही वैसा व्यवहार सीखते जायेंगे। यदि घर में लोग सुबह उठकर परस्पर अभिवादन करते हैं, सम्बन्धों के अनुसार प्रणाम आदि करते हैं, इष्टदेवता की मूर्ति के समक्ष जाकर प्रार्थना करते हैं, मृदु-मधुर वार्तालाप करते हैं, कटुवक्तियों—व्यंग्यवाणों से दूर रहते हैं, तो बच्चा भी वही सब सीखता है। सहयोग-सद्भाव भरे वातावरण में बच्चे में भी सहयोग-वृत्ति बढ़ती है। वह मिल-बाँटकर खाना-पीना, मेल-जोल से रहना सीखता है। व्यवहार की मृदुता, सौम्यता, शालीनता और शिष्टता स्वभाव का अंग बन जाती है तथा आगे चलकर लोक-जीवन में सहयोग के आदान-प्रदान का आधार बनती है।

बच्चों को बाल्यावस्था से ही भिन्न-भिन्न सम्बन्धों का उचित निर्वाह सिखाना चाहिए। छोटों से स्नेहपूर्ण, बराबरी वालों से खुला, निस्संकोच, बड़ों से आदर्शपूर्ण ढंग से बोलना एवं व्यवहार करना सिखाया जाय। भोजन, स्कूल आने-जाने, सड़क पर चलने, किसी सोभा-सोसायटी या सामूहिक एकीकरण वाले स्थान में, यात्रा में, सामूहिक भोज के अवसर पर—प्रत्येक जगह शिष्टाचार के भिन्न-भिन्न नियम होते हैं। उनकी जानकारी बचपन से ही दी जानी चाहिए। काम करने के समूह मान्य ढंग को ‘मैनर्स’ कहते हैं। इन ‘मैनर्स’ का भी बहुत महत्त्व है। इन्हें भी जानना चाहिए। किन्तु मात्र ये पर्याप्त नहीं।

दूसरों के साथ वार्तालाप एवं व्यवहार में जब व्यक्ति की शालीनता, सौजन्यता प्रकट होती है, तब वही वास्तविक शिष्टता है। ऐसी शिष्टता में सौजन्यता, मृदुता तो होती ही है, जिसके साथ व्यवहार होता है, उसके प्रति सम्मान एवं संवेदनशीलता भी होती है। दूसरों के अधिकारों पर आघात न किया जाय, उन्हें अकारण अप्रसन्न न किया जाय, अप्रिय या असत्य बात न कही

जाय तथा उनके भी सुख एवं सुविधा का ध्यान रखा जाय, तभी उसे शिष्टता कहेंगे। ऐसी शिष्टता व्यक्तित्व की कई कमियों को पूरा कर देती है क्योंकि उससे दूसरों का हृदय प्रभावित हो उठता है। आपस में मधुरता का संचार होता है। वातावरण सरल बनता है। तनाव-खिंचाव नहीं रह जाता।

यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि सच्चाई भी अशिष्ट तरीके से प्रस्तुत की जाती है, तो वह भी लोगों को पसन्द नहीं आती। जबकि कई बार बुराई तक अस्थायी तौर पर, शिष्टता के आवरण में पसन्द कर ली जाती है। इसलिए शिष्टता को सभी कार्यकलापों में अनुस्यूत रहना चाहिए। शिष्टता और मृदुता लोगों के व्यक्तित्व में शालीनता आती है, व्यवहार में लालित्य आता है। दूसरों में विश्वास पैदा होता है। आपसी समीपता बढ़ती है।

जो जैसा बोता है, उसे वैसा ही कटना होता है। दूसरों से प्रत्येक व्यक्ति शिष्ट व्यवहार की अपेक्षा करता है। यह अपेक्षा तभी पूरी हो सकती है, जब स्वयं भी दूसरों के साथ शिष्टता बरती जाय। भद्रता की प्रतिक्रिया भी भद्र ही होगी; जबकि रूखे, अभद्र व्यवहार से सामने के खुले दरवाजे भी बन्द हो जाते हैं।

बच्चों को बचपन से ही शिष्टता-शालीनता का अभ्यास कराया जाये। शिष्टता का अर्थ आडम्बर नहीं। बाह्याडम्बर का दम्भ अधिक समय तक छिपा नहीं रह पाता। उसके प्रकट होते ही मैनेर्स यानी ऊपरी शिष्टता का सारा प्रभाव समाप्त हो जाता है। इसलिए 'मैनेर्स' से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है विनम्रता।

बच्चों को प्रत्यक्षतः व्यावहारिक शिक्षण देना होता है। अवकाश के समय उनसे बातचीत करते हुए शिष्टता के तौर-तरीके समझाये, बताये जायें। साथ ही जीवन में उसकी उपयोगिता भी समझा दी जाय। यह क्रम कुछ दिनों के अन्तराल से चलता रहे। अपने वार्तालाप के ढंग से भी बच्चों को शिक्षण दिया जाय। बात करते समय किन शब्दों पर अधिक जोर दिया जाना उचित है, किस पर कम, किस समय किस ढंग से क्या बात करनी चाहिए, यह सब बच्चा बड़ों के क्रियात्मक रूप से अभिव्यक्त व्यवहार से ही सीखता है।

घर में जब पड़ोसी-परिचित, मित्र-परिजन, मेहमान आते हैं, उस समय बच्चे द्वारा सीखी गई शिष्टता को जाँचने-परखने का मौका मिलता है। बच्चे के व्यवहार को ध्यान से देखना चाहिए और आवश्यक सुझाव बाद में यथावसर देना चाहिए। घर-बाहर अपने भाई-बहनों, साथियों-सहयोगियों तथा घर के सदस्यों से बच्चा किस प्रकार व्यवहार करता है ? यदि उसके व्यवहार में अपनत्व, शालीनता, सुधरता नहीं है तो समय पाकर उसे प्रेम से समझाते हुए यह सब सिखाना चाहिए।

वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय में भी बच्चा शिष्टता का ध्यान रखे, यह देखना चाहिए। बच्चे की संवेदना पैनी होती है। धीरे-धीरे इन्हीं व्यवहारों से उसकी रागात्मक संवेदना जुड़ती जाती है। वे उसके स्वभाव का अंग बनते जाते हैं। शालीनता-विनम्रता की यह आदत जीवनपर्यन्त काम आती है। उनका व्यक्तित्व शिष्टता के सौरभ से महकता रहता है। बातचीत द्वारा दूसरों का मर्म जानना और जीतना उनके लिए कठिन कार्य नहीं रह जाता, जबकि उद्धत व्यवहार से आसपास तनाव बढ़ता है और तनाव की स्थिति किसी के भी हित में नहीं होती। हमेशा व्यंग्यात्मक ढंग से बोलने, उपहास करने, खिल्ली उड़ाने तथा उपेक्षा प्रदर्शित करने से तनाव और मनोमालिन्य का विषम चक्र चारों ओर चलता है तथा हर एक को अशान्त बनाता है।

बच्चों को सामान्य शिष्टाचार भी ध्यान से सिखाना चाहिए। जूते निश्चित स्थान पर उतारें, भोजनालय एवं पूजन-कक्ष में हाथ-पैर धोने के बाद ही प्रवेश करें, मलमूत्र उचित स्थान पर ही त्यागें, छिलके-कागज के टुकड़े आदि निश्चित स्थान पर ही रखें—यहाँ-वहाँ न फेंकें, गन्दगी न फैलायें, ये सब सुव्यवस्था सम्बन्धी गुण शिष्टता का भी अंग है।

खाँसते-छीकते या जम्हाई लेते समय रूमाल या हाथ का सहारा लेना, सबके सामने ऊँचे स्वर में डकार न लेना, इधर-उधर न धुकना, ये सब शिष्टता के बाहरी व्यवहार हैं। सामूहिक भोज एवं पार्टियों के समय भी शिष्टता के प्रचलन नियम होते हैं, उन्हें सिखाया जाय।

नाखून कुतरना, कमीज या फ्राक के बटन घुमाते रहना—ये कुछ ऐसी आदतें हैं, जो बच्चों में घर कर जाने पर बड़े होने तक बनी रहती हैं। बचपन में जहाँ ये कुटेव के रूप में होती हैं, वहीं बड़े होने पर ये अशिष्टता कहलाने लगती हैं। दूसरों पर इनका अनुचित प्रभाव पड़ता है। जिससे बात कर रहे हैं, वह अपने से बड़ा है, उसी के सामने नाक साफ करने के लिए छीकने-छिनकने लगना या नाखून कुतरने लगना—उसकी उपेक्षा-अवहेलना कहला सकती है।

यहाँ यह तथ्य भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि शिष्टाचार सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों के बच्चों द्वारा यदा-कदा उल्लंघन से माता-पिता को अधिक अधीर एवं चिन्तित नहीं हो उठना चाहिए। यदि घर का वातावरण श्रेष्ठ है और बाहर की संगति भी अच्छी होती है तो थोड़े ही समय बाद वह शिष्टाचार का अनुसरण स्वयं ही करने लगता है।

कर्म, व्यवहार और वाणी की मधुरता एवं शिष्टता तथा दूसरों के प्रति संवेदनशीलता प्रत्येक बच्चे को सिखाई जानी चाहिए। ताकि उसे आगे भी सभी लोग प्यार करें, सहयोग दें और वह सफल एवं सार्थक जीवन जिये।